१९९१

सुधानिधि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक : वैद्य गोपाल शरण गर्ग

मूल्य-राज संस्करण - ५५-००
साधारण - ३८-००

प्रकाशकीय

●

सुधानिधि प्रकाशन के १८ वर्ष बाद प्रकाशकीय लिखने का यह मेरा पहला अवसर है। इससे पूर्व यह दायित्व मेरे स्वर्गीय पिता श्री तथा ज्येष्ठ भ्राता श्री ही उठाते रहे थे। जैसा कि फरवरी, मार्च के अंक से पाठक जान चुके हैं कि १ अप्रैल १९९१ से सुधानिधि के सम्पादन के साथ-साथ इसके प्रकाशन का स्वतन्त्र भार भी मेरे पास आ गया है अतः इस विशेषांक की प्रकाशकीय लिखने का दायित्व भी मुझे निभाना पड़ रहा है।

सुधानिधि के जन्म से लेकर विभाजन तक का पूरा विवरण हम फरवरी + मार्च के अंक में प्रस्तुत कर चुके हैं अतः यहां पुनः उसकी चर्चा उचित नहीं है। केवल अपने उन सहृदय पाठको को इस प्रकाशकीय के माध्यम से अपना आभार प्रदर्शित करना चाहते हैं जिन्होंने फरवरी + मार्च के अंक में मेरे द्वारा लिखित सम्पादकीय को पढ़कर मुझे व्यक्तिगत पत्र लिखकर साहस प्रदान किया है। इस अंक के मिलने के बाद पाठकों के जो सैकड़ों पत्र मुझे मिले हैं और मिल रहे हैं उन्हें पढ़कर मेरी आंखें नम हो जाती हैं। लगभग सभी पत्रों में मुझे हिम्मत से काम करने का परामर्श तथा अपनी हार्दिक शुभकामनायें अर्पित की गयी हैं। इस संकट के समय सुधानिधि के पाठकों का यह स्नेह मैं जीवन भर नहीं भुला सकूगा। पाठकों के पत्रों से मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है कि सुधानिधि से उसके पाठकों का सम्बन्ध केवल व्यापारिक सीमा में बंधा हुआ नहीं है अपितु उससे कहीं अधिक अटूट स्नेह रज्जु से जुड़ा है। पहली सम्पादकीय में मैंने सुधानिधि के नवीन ग्राहक बनाने तथा सुधानिधि की सहयोगी संस्था गर्ग वनौषधि भण्डार की औषधियों के आदेश के लिये भी प्रार्थना की थी, मुझे प्रसन्नता है कि पाठकों ने मेरी इस अपील पर भी ध्यान दिया और कार्यालय में औषधियों, पुस्तकों एवं विशेषांकों के आदेशों का अम्बार लग गया। हम एक बार पुनः उन सभी का आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने हमारे इस संकट के समय अपना सहयोग प्रदान कर अपने स्नेह से हमें अविभूत कर दिया है।

विशेषांक लेट हो गया

प्रस्तुत निदान चिकित्सा विज्ञान (पंचम भाग) पाठकों को आशा से कहीं विलम्ब से प्राप्त होगा जिससे उनका अप्रसन्न होना स्वाभाविक है। इसलिये इस सम्बन्ध में अपना स्पष्टीकरण देना उचित समझते हैं। सुधानिधि तथा धन्वन्तरि कार्यालय के विभाजन की रूपरेखा जनवरी माह के प्रारम्भ में यकायक बनी जिसके कारण विशेषांक के मुद्रण पर एक साथ व्यवधान पड़ा। फिर पाठकों को विशेषांक भेजने से पूर्व विभाजन की सूचना देने के लिये फरवरी + मार्च का अंक प्रकाशित करना पड़ा, जिसमें १ माह का समय निकल गया। १ अप्रैल से विभाजन के कारण लगभग १५ दिन आफिस स्थानान्तरण आदि में व्यर्थ निकल गये। इन सभी कारणों से यह विशेषांक हमारी आशा से ४० दिन विलम्ब से छप पाया। हमें विश्वास है कि इन अपरिहार्य कारणों से विशेषांक प्रकाशन में जो विलम्ब हुआ है उसके लिये पाठक हमें क्षमा करेंगे तथा अपना कृपापूर्ण सहयोग बनाये रखेंगे। हम पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहेंगे कि भविष्य में सुधानिधि समय पर प्रकाशित हो यह हमारी सबसे पहली प्राथमिकता रहेगी। इस व्यवस्था में हम जुट गये हैं आशा है पाठकों को आगामी अंक समय पर उपलब्ध होते रहेंगे।

प्रस्तुत विशेषांक

प्रस्तुत विशेषांक 'निदान चिकित्सा विज्ञान शृंखला' का पंचम भाग है। जैसाकि पाठक जानते हैं कि इस शृंखला के पूर्व प्रकाशित ४ भागों ने आयुर्वेद जगत् में अत्यन्त प्रशंसा प्राप्त की है। अकारादि क्रम से रोगों के विषय में विस्तार से वर्णन होने के कारण यह विशेषांक शृंखला रोग विषयक निदान और चिकित्सा की एक अप्रतिम शृंखला बनती जा रही है। इन विशेषांकों का सम्पादन हम आयुर्वेद जगत् के मूर्धन्य विद्वानों से करा रहे हैं। इस पंचम भाग का सम्पादन पाठकों के पूर्व परिचित एवं अनेक ग्रन्थों के प्रणयता डा० महेश्वरप्रसाद द्वारा कराया गया है और हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि उनके सम्पादन में प्रकाशित यह निदान चिकित्सा। (पंचम भाग) इसके पूर्व भागों से कहीं अधिक उत्तम तथा संग्रहणीय बन गया है। लगभग प्रत्येक लेख के साथ रोग विषयक सम्पादकीय टिप्पणी ने विशेषांक में चार चांद लगा दिये हैं। हमें विश्वास है पाठक इस विशेषांक का खुले हृदय से स्वागत करेंगे। विशेषांक की सम्भावित सूची में हमने जिन रोगों का उल्लेख किया था उनमें से अनेक रोगों का समावेश विशेषांक में नहीं हो सका है। वह सभी लेख अब आगामी छटवें भाग में प्रकाशित किये जावेंगे।

इस वर्ष के लघु अंक

सुधानिधि के इस वर्ष ४ लघु अङ्क प्रकाशित किये जावेंगे। जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) प्रतिश्याय अनुसंधान अंक [द्वितीय भाग]

गतवर्ष इसका प्रथम भाग प्रकाशित किया गया था। इस वर्ष जून माह में इसका द्वितीय भाग प्रकाशित किया जावेगा, जिसके सम्पादक डा० महेश्वरप्रसाद 'प्राणाचार्य' होंगे। इस अंक में प्रतिश्याय के सम्बन्ध में एक शोध-पत्र भी प्रकाशित किया जावेगा। प्रतिश्याय नाशक अनुभूत योग भी इसमें लित किये जावेंगे।

(२) योगासन अंक [प्रथम भाग]

योगासनों का आजकल बहुत प्रचलन होता जा रहा है। इस विषय पर सारगर्भित एवं सचित्र विवरण इस लघु अंक में प्रकाशित किया जावेगा। इस लघु अंक के सम्पादक 'विभव प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र' आगरा के मुख्य चिकित्सक तथा सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डा० कृष्णचन्द्र गौड़ होंगे। यह लघु अंक अगस्त माह में प्रकाशित किया जायेगा।

(३) एड्स रोग अंक

एड्स रोग वर्तमान में विशेष प्रचलित रोग है। इसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण लघु अंक आयुर्वेद जगत् के मूर्धन्य विद्वान् वैद्य जहानसिंह चौहान के सम्पादन में अक्टूबर माह में प्रकाशित किया जावेगा। इस लघु अंक में आयुर्वेद मत से एड्स रोग की मीमांसा प्रस्तुत की जावेगी।

(४) रति रहस्य अंक

"सुधानिधि" काम विषयक कई महत्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित कर चुका है। इसी शृंखला में इस वर्ष दिसम्बर माह में रति रहस्य अंक नाम से एक लघु अंक प्रकाशित किया जावेगा जो अब तक के काम विषयक सभी अंकों से उपयोगी होगा। इस लघु अंक का सम्पादन वैद्य विद्याभूषण द्विवेदी करेंगे।

यह सभी लघु अंक बहुत उपयोगी तथा संग्रहणीय होंगे।

आगामी विशाल विशेषांक

सुधानिधि का वर्ष १९९२ में वनौषधि रत्नाकर अंक का चतुर्थ भाग प्रकाशित किया जायेगा। यह विशेषांक शृंखला आयुर्वेद जगत् के मूर्धन्य विद्वान् वैद्यराज गोपीनाथ पारीक "गोपेश" द्वारा लिखी जा रही है। इस विशेषांक का लेखन कार्य चल रहा है यदि पाठक कोई सुझाव आदि उन्हें भेजना चाहें तो वैद्य गोपीनाथ पारीक मु० पो० प्रचार (सीकर) राज० के पते पर भेज सकते हैं।

१९९३ में कैंसर रोगांक

सुधानिधि द्वारा वर्ष १९९३ में "कैंसर रोगांक" नाम से एक वृहद एवं सचित्र विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है। यह विशेषांक सुधानिधि द्वारा प्रकाशित पूर्व विशेषांकों में सर्वाधिक सुन्दर एवं संग्रहणीय होगा। इसकी तैयारी अभी से प्रारम्भ कर दी गयी है इस विशेषांक के सम्पादन का भार डा० महेश्वर प्रसाद प्राणाचार्य को सौंपा गया है। वह इस विशेषांक में कैंसर विषयक सम्पूर्ण विवरण अपनी लेखनी से प्रस्तुत करेंगे।

लेखकों से अनुरोध

सुधानिधि के लेखक परिवार से भी हम सक्रिय सहयोग की प्रार्थना करते हैं क्यों कि उनकी कृतियों से ही सुधानिधि को सजाने और सवांरने का कार्य हम करते हैं। सुधानिधि के साधारण अंकों को हम इस तरह प्रकाशित करना चाहते हैं कि उनसे साधारण आयुर्वेद की जानकारी रखने वाले पाठक भी लाभ उठा सकें अतः लेखकों से अनुरोध है कि वह साधारण अंकों के लिये हमारे नये स्तम्भों के अनुरूप सरल भाषा में अपने लेख प्रेषित करें। लघु अंकों के लिए भी लेखकों से अनुरोध है कि वह अपने उपयोगी लेख हमें प्रेषित करें।

पाठकों से विनम्र अनुरोध

सुधानिधि के पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वह अपना सक्रिय सहयोग सुधानिधि परिवार को अवश्य प्रदान करें। यह सहयोग आप कई तरह से प्रदान कर सकते हैं। (१) सुधानिधि के १-२ नवीन ग्राहक बना कर आप अपना सबसे अधिक उपयोगी सहयोग हमें प्रदान कर सकते हैं। (२) धर्म वनौषधि भण्डार द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक औषधियां तथा अन्य पेटेण्ट औषधियां मंगाकर सहयोग कर सकते हैं। (३) सुधानिधि कार्यालय द्वारा बिक्री की जाने वाली पुस्तकों, वैद्योपयोगी उपकरण एवं प्रमाणपत्र मंगाकर सहयोग कर सकते हैं। (४) यदि आप लेखक हैं तो सुधानिधि के लिये अपने लेख भेजकर अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं। आशा है आपका सहयोग हमें किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होगा। सुधानिधि के सम्बन्ध में जब कोई भी पत्र व्यवहार करें तब 'सुधानिधि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)' का पता लिखना न भूलें।

यदि आप हमें अपना कोई उपयोगी सुझाव प्रदान करना चाहें तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी। आपके सहयोग तथा स्नेह का सदैव अभिलाषी, —गोपाल शरण गर्ग।

निदान चिकित्सा विज्ञान (पंचम १

की

विषयानुक्रमणिका

निदान चिकित्सा विज्ञान (पंचम भाग) के

विशेष सम्पादक

डा0 महेश्वर प्रसाद "प्राणाचार्य" का

संक्षिप्त जीवन परिचय

नाम—आचार्य डा० महेश्वर प्रसाद।

जन्म स्थान—दुधुपुरा बाजार मंगलगढ़, पो० मंगलगढ़ (समस्तीपुर)। पिन: ८४८२०८ (बिहार)

पिता का नाम—स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सेनानी आयुर्वेद विशारद राजवैद्य स्वर्गीय डा० सूर्यनारायण

पितामह का नाम—वैद्यराज स्व० श्री ईश्वरीलाल।

प्रपितामह का नाम—राजवैद्य स्व० गुलाव लाल महोदय।

शैक्षणिक योग्यता—एम० एस-सी०, जी० ए० एम० एस० (ऑनर्स), ऑनर्स इन टॉक्सिकोलोजी एण्ड मेडिकल ज्यूरिसप्रूडेंस, एम० डी० (ए०), एम० एस०, सर्जन, डी० एस-सी० (ए०) डी० लिट् (ए०), डी० ए० एम० एस०, आयुर्वेदाचार्य, प्राणाचार्य, आयुर्वेद वाचस्पति, आयुर्वेद वारिधि आयुर्वेद बृहस्पति, आयुर्वेद सम्राट, आयुर्वेद चक्रवर्ती, योगब्रह्मर्षि अपूर्व दृष्टियोग एवं अनहद नाद साधना, समाधि एवं कुण्डलिनी जागरण एच० एम० डी० एस०, प्रथम श्रेणी स्वर्णपदक प्राप्त होमियोपैथिक चिकित्सा शास्त्र वक्ता।

अनेक चिकित्सा विज्ञान के ज्ञाता होते हुए भी आयुर्वेद के अकिंचन एवं विनम्र आयुर्वेद-सेवक एवं विदुषामनुचर।

सम्मानित पद—

निदेशक—विश्व चिकित्सा शोध संस्थान, मंगलगढ़।

भूतपूर्व मेनेजिंग डायरेक्टर—एम. ए. वी. फार्मस्युटिकल्स, मंगलगढ़ (दरभंगा)

चीफ सर्जन—एम. हास्पीटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

भूतपूर्व प्रधान चिकित्सक—आयुर्वेद शोध चिकित्सालय रसायनशाला आयुर्वेद इन्जेक्शन सप्लाई एजेन्सी, मंगलगढ़ (दरभंगा)

रिसर्च स्कॉलर—कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा।

निदेशक—आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

प्राचार्य—महात्मा गांधी आयुर्वेद महाविद्यालय, वेनी.

लेखक एवं सम्पादक—अनेक पुस्तकों के लेखक तथा सुधानिधि के कई लघु विशेषांकों के विशेष सम्पादक तथा अनेक लेखों के लेखक।

शुभ-कामनायें

आचार्य वृहस्पतिदेव त्रिगुणा

भू० पू० अध्यक्ष

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

सराय कालेखां, निजामुद्दीन, दिल्ली

प्रिय गर्ग,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सुधानिधि मासिक इस वर्ष निदान चिकित्सा विज्ञान (पंचम भाग) का प्रकाशन कर रहा है। सुधानिधि को आयुर्वेद-जगत् में पर्याप्त ख्याति प्राप्त है तथा इसके विशेषांकों को विशेष सम्मान मिलता रहा है। वर्तमान में आयुर्वेद के ज्ञान को चिकित्सकों तथा जन साधारण तक पहुंचाने के सद् उद्देश्य से प्रकाशित होने वाले इस विशेषांक की सफलता की मैं कामना करता हूं तथा आशा करता हूं कि इससे आयुर्वेद चिकित्सकों का पर्याप्त मार्ग-दर्शन हो सकेगा।

—वृहस्पतिदेव त्रिगुणा।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

एम० ए० (द्वय) ए० एस० एस० साहित्याचार्य

भू० पू० निर्देशक स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान

भू० पू० प्रमुख-आयुर्वेद संकाय

भू० पू० विभागाध्यक्ष-द्रव्य गुण विभाग,

भू० पू० अध्यक्ष-चिकित्सा इतिहास परिषद्

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

३ई, गुरुधाम कालोनी

वाराणसी–१०
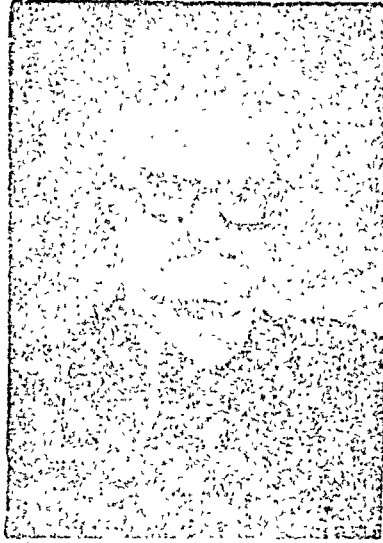
प्रिय श्री गर्ग,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सुधानिधि इस वर्ष निदान चिकित्सा विज्ञानांक पंचम भाग प्रकाशित करने जा रहा है। सुधानिधि के विशेषांकों की अपनी एक अलग परम्परा है। मुझे विश्वास है कि उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए यह पंचम भाग भी प्रकाशित होगा।

मैं इस अङ्क की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ-कामनाएं प्रेषित करता हूं।

भवदीय

प्रियव्रत शर्मा

प्रो० वैणीमाधव अश्विनीकुमार शास्त्री

मानद चिकित्सक–महा० महि० राज्यपाल म० प्र०

सदस्य–केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद्,

ग्वालियर (म० प्र०)

★

प्रिय गर्ग,

तुम्हारा पत्र मिला, यह जानकर प्रसन्नता हुयी कि तुम इस वर्ष सुधानिधि द्वारा निदान चिकित्सा विज्ञान का पांचवां भाग प्रकाशित करने जा रहे हो। इसके पूर्व इसके चारों भाग बहुत उपयोगी प्रकाशित हुये हैं आशा है उसी तरह यह पंचम भाग भी आयुर्वेद-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बनावेगा। समय मिलने पर मैं भी इस विशेषांक के लिये कुछ साहित्य भेजूंगा।

आचार्य त्रिवेदी जी के निर्देशन तथा तुम्हारे सम्पादन में सुधानिधि सर्वदा फलता फूलता रहे, इन शुभ-कामनाओं के साथ।

भवदीय

वैणीमाधव

वैद्य सीताराम मिश्र
अध्यक्ष–नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ
२३६-ए, वनीपार्क, जयपुर–६

प्रिय श्री गर्ग जी,

सप्रेम जय आयुर्वेद। आपका पत्र मिला, मुझे प्रसन्नता है कि सुधानिधि का निदान चिकित्सा विज्ञान विशेषांक आपके सम्पादन में प्रकाशित किया जा रहा है। सुधानिधि मासिक पत्रिका का यह प्रशंसनीय कार्य है। पूर्व में भी सुधानिधि इस तरह के उपयोगी विशेषांक प्रकाशित करता रहा है। आज के युग में इस तरह के विशेषांकों के प्रकाशन से आयुर्वेद का अधिक प्रचार एवं प्रसार होगा।

मैं विशेषांक की सफलता की हार्दिक शुभ कामना करता हूं।

वैद्य सीताराम मिश्र

वैद्य श्री गुलजार शर्मा, मिश्र
नई शुक्रवारी, सरस्वती सदन
महाल, नागपुर–२
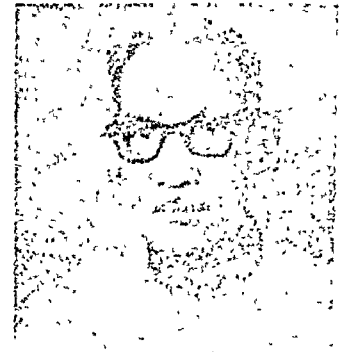
मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुयी कि आयुर्वेद-जगत् के अग्रणी पत्र सुधानिधि द्वारा १९८१ में निदान चिकित्सा विज्ञान पंचम भाग प्रकाशित किया जा रहा है। वर्त्तमान में इस विषय में विशेषांक का प्रकाशन बहुत सामयिक है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में आयुर्वेद के प्रति जिज्ञासा बढ़ रही है, आशा है इस दिशा में यह विशेषांक पर्याप्त ज्ञान अपने पाठकों तक पहुंचावेगा।

मैं विशेषांक के सम्पादक महोदय को धन्यवाद देते हुए इसकी सफलता की कामना करता हूं।

भवदीय

गुलजार शर्मा

प्रस्तावना

कर प्रणाम तेरे चरणों में लगता हूं अब तेरे काज।
पालन करने को आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूं आज ॥
अन्तर में स्थित रहकर मेरी बागडोर पकड़े रहना।
निपट निरंकुश चंचल मन को सावधान करते रहना ॥
अन्तर्यामी को अन्तःस्थित देख सशङ्कित होवे मन।
पाप-वासना उठते ही हो नाश लाज से वह जल-भुन ॥
जीवों का कलरव जो दिन भर सुनने में मेरे आवे।
तेरा ही गुणगान जान मन प्रमुदित हो अति सुख पावे ॥
तू ही है सर्वत्र व्याप्त हरि तुझमें यह सारा संसार।
इसी भावना से अन्तर भर मिलूं सभी से तुझे निहार ॥
प्रतिपल निज इन्द्रिय समूह से जो कुछ भी आचार करूं।
केवल तुझे रिझाने को, बस, तेरा ही व्यवहार करूं ॥

"सुधानिधि" पत्रिका के हर वर्ष एक विशेषांक निकालने की परम्परा अद्वितीय एवं परम मनभावनी रही है। इस वर्ष इसके द्वारा "निदान चिकित्सा विज्ञान" के पञ्चम भाग का प्रकाशन किया जा रहा है जिसमें उच्चकोटि के लेखकों ने अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर हमें प्रोत्साहित किया है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। इस क्रम में हम लोगों से यदि किसी भी प्रकार की कोई त्रुटि हुई हो तो विद्वत् जन हमें अवश्यमेव क्षमा करने का कष्ट करेंगे।

वर्तमान परिस्थितियां एवं आयुर्वेद

आयुर्वेद प्राणी के शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग आयु का परम उपयोगी एवं सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान है, जो विश्व में अद्वितीय सिद्ध हुआ है। मुगल शासनकाल तथा ब्रिटिश आधिपत्यकाल में इसका अप्रत्यक्ष विरोध, जन-साधारण में दासता का भाव रहने के कारण इसके प्रति उदासीनता, राजकीय सम्मान एवं राज्याश्रय नहीं मिलने के कारण इसकी अवहेलना होने एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान का कार्य अवरुद्ध हो जाने के कारण इसकी अनुपम प्रगति रुक गयी थी, शोधकार्य नहीं हो रहे थे तथा इस परम उपयोगी, निरापद एवं भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व की कल्याणकारक चिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद पर से अधिकांश लोगों की आस्था उठ गई थी। किन्तु जब भारत परतन्त्रता की बेड़ी को काट फेंककर स्वतन्त्र हुआ तो लोगों, अनेक नेताओं की महात्मा गांधी, डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद, मोरारजीभाई देसाई आदि महापुरुषों को आयुर्वेद की परम उपयोगिता, निरापदता, "जिस देश का जो प्राणी है, वहां की वनौषधियां और चिकित्सा विज्ञान ही उसे लाभ पहुंचा सकती हैं" इस तथ्य की सार्थकता एवं महत्ता को समझते देर न लगी और महात्मा गांधी ने तो यहां तक कह दिया कि आयुर्वेद ही स्वतन्त्र भारत की एकमात्र चिकित्सा पद्धति स्वीकार की जायगी तथा आयुर्वेद को हर प्रकार का राजकीय सम्मान, राज्याश्रय एवं हर प्रकार के रिसर्च करने की सुविधायें उपलब्ध करायी जायेंगी। किन्तु मुख की बातें, मुख में ही रह गयीं। हत्यारे ने

सारिणी : व्याधि विनिश्चयार्थ निदान-पञ्चक एवं नाड़ी परीक्षा बोधक तालिका

साथ ही दर्द का वेग होते ही पेड़ू पर अनार के फूल, हरे माजू, बड़ी माई, सुपारी, गेरू, अनार का छिलका प्रत्येक ३-३ ग्राम तथा अफीम ५०० मि० ग्रा० —इन सबको जल से पीसकर लेप करें। रुग्णा को शीघ्र पचने वाला पेय यथा गर्म दूध, अनार, सन्तरा, मौसमी का निचोड़ा रस पिलायें।

यदि गर्भाशय का मुख तो खुल जाता है तथा गर्भस्थ शिशु का सिर भी मुंह पर आया हुआ प्रतीत होता है (इसकी जांच गर्भाशय में परिचारिका द्वारा अंगुली डालकर या टॉर्च से देखकर की जा सकती है) तो प्रतापफार्मा का प्रसवा सूचीवेध अथवा पाश्चात्य अर्वाचीन इंजेक्शन "पिच्यूट्रिन" (Pituitrin) त्वचा या मांस में लगायें अथवा ५० मि० लि० डेक्स्ट्रोज २५% में घोलकर धीरे धीरे शिरा में अन्तःक्षेपित करें। आवश्यकता एवं रुग्ण के सहन सामर्थ्य के अनुसार इसे पुनः २५-२५ मिनट के बाद प्रसव नहीं होने पर लगा सकते हैं। कृष्ण सर्प की केंचुली का धुआं मोटी नलिका के द्वारा योनि के अन्दर गर्भाशय मुख में करने से अथवा स्त्री की कमर में काले धागे से अपामार्ग की जड़ को बांध देने तथा प्रसव होते ही तत्क्षण उसे हटा देने से भी शीघ्र प्रसव हो जाता है।

यदि गर्भस्थ शिशु का सिर बड़ा रहता है तो विसंक्रमित (Sterilized) रबड़ के दस्ताने पहन हाथ और ट्रैक्शन फॉरसेप्स की सहायता से या (शल्यकर्म योनि द्वार को अल्पमात्र बड़ी सावधानी से काट, बड़ा बनाकर) द्वारा बच्चा को बाहर निकालना चाहिए। इसी प्रकार शिशु श्रोणि में फंसा रहने के कारण बाहर नहीं निकल पाता हो या शिशु अपने पैर, नितम्ब या शरीर के किसी अङ्ग की प्रथम उपस्थिति के साथ असामान्य रूप से प्रसवित होने वाला हो किन्तु प्राकृत रूप से सिर की ओर से प्रसवित नहीं होने के कारण पर्याप्त कठिनाई हो रही हो किन्तु प्रसव नहीं हो रहा हो तो उपर्युक्त रबड़ के दस्ताने युक्त हाथ, विसंक्रमित ट्रैक्शन फॉर्सेप्स आदि यन्त्रों की सहायता से गर्भस्थ शिशु को सामान्य स्थिति में लाकर प्राकृत स्थिति में या जैसी सुविधा जान पड़े वैसी स्थिति में धीरे-धीरे खींचकर प्रसव कराना चाहिए।

यदि गर्भाशय में शिशु मर गया है, या मूर्च्छित हो गया है या मरे हुये अधिक समय होने के कारण उसकी विषाक्तता से मां को मूर्च्छा आ जाती है, हाथ-पैर की पिंडलियां ऐंठने लग जाती हैं, सिर में चक्कर आने लग जाते हैं तो उपर्युक्त विधियों एवं उपचार द्वारा प्रसव कराकर जीवित या मृत शिशु को बाहर निकालना चाहिये तथा मां को औषधियों यथा—मूर्च्छान्तक नस्य, बृहत् कस्तूरीभैरव, बृहत् वातचिन्तामणि रस, प्रवालपिष्टी सिद्ध मकरध्वज आदि का लक्षणानुसार उचित अनुपान के साथ सेवन अथवा बाह्य प्रयोग करना चाहिये।

यदि गर्भाशय में दो शिशु हों, दोनों या कोई एक अप्राकृतिक स्थिति में हो तो विभिन्न प्रसूति यन्त्र-उपकरणों द्वारा बड़ी सावधानी से सतर्क विधि-विधान का पालन करते हुये उन्हें सम्भालकर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिये।

यदि मिथ्या प्रसव वेदना होती हो किन्तु प्रसव नहीं होता हो तो रुग्णा तथा उसके अभिभावकों से, यह पता लगाना चाहिये कि वस्तुतः प्रसव की अवधि कब पूरी होती है, यदि वे बता नहीं सकें या गलत बतावें तो अनुमान से ज्ञात कर तदनुसार यथोचित व्यवस्था एवं उपचार करना चाहिये। आवश्यकतानुसार प्रसूति यन्त्रों का भी उपयोग जटिल अवस्था में किया जा सकता है।

यदि प्रसव का समय पूरा नहीं होता किन्तु तीव्र प्रसव वेदना होती हो तो खूब सोच समझकर लक्षण, स्थिति, समय, आवश्यकता एवं वेदना के प्रकार के अनुसार वेदनाशामक औषधि यथा—वेदनान्तक रस, भुनी कटकरंज की मींगी का चूर्ण, दशमूलारिष्ट, शूलगजकेशरी आदि का सेवन यथोचित मात्रा में कराना चाहिये।

के साथ सेवन कराना विशेष प्रतिशत लाभकारी प्रमाणित हुआ है। पाश्चात्य चिकित्सा में रेडियम सेंक, शस्त्र कर्म एवं कीमोथेरापी क्षणिक लाभप्रद हैं।

प्लीहा शोथ

यह व्याधि उपर्युक्त कारण से प्लीहा में चोट लगने पर अथवा अधिक विदाही पदार्थ सेवन एव अति रक्तात्पता के कारण उत्पन्न होता है। इससे प्लीहा में दाह, सूजन एवं वेदना उत्पन्न हो जाती है। इसकी चिकित्सा नुसार सत्व, कुमार्यासव, पुनर्नवादि मण्डूर, शोथ कालानल रस, शरपुंखा चूर्ण आदि से करना अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। प्लीहशार्दुल रस ३७५ मि० ग्रा० और ज्वराशनि रस ३७५ मि० ग्रा० सरपुंखा रस एवं मधु से देना गुणप्रद है।

फक्क रोग

इस व्याधि को बालशोष, सूखा, मसान, रिकेट्स (Rickets) या मैरास्मस (Marasmus) कहते है।

कारण—आहार दोष, पाचन विकार, कृत्रिम दुग्ध द्वारा पोषण, आन्त्र में व्याधि कीटाणु की प्रविष्टि आदि।

लक्षण—अजीर्ण अतिसार, बच्चा दिन-प्रतिदिन सूखकर कांटा होता चला जाता है, उदर बड़ा और गर्दन पतली होकर रात्रि मे प्रायः ज्वर, अस्थियां पैर और नितम्ब की निकल आती है।

चिकित्सा—आहार मां का दूध एव फलों का रस, बकरी का छना और उबाला दूध दें, दूषित आहार को बन्द कर दें। विशिष्ट चिकित्सार्थ जहरमोहरा खताई, पिप्टी, गुलाब के पुष्प का जीरा, कमलगट्टे की गिरी, छोटी इलायची बीज, पीत हरीतकी का छिलका, नीले वर्ण का उत्तम वंशलोचन, दरियाई नारियल प्रत्येक ६-६ ग्राम तथा अनविधे मोती ५०० मि० ग्रा०—इनमें से पहले मोती को केवड़ा के द्रव के साथ एक प्रहर तक कृष्ण पत्थर के खरल मे दृढ़ हाथों से घोटें। इसके पश्चात् बाकी औषधि द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण कर एक-एक करके मिलाकर समयवंश खरल करें। तब जल से इनकी ६२ मि० ग्रा० की गोलियां निर्माण करें। एक-एक गोली प्रातः साय मां के दूध में मिलाकर खिलायें। वासावलेह ५ ग्राम को मोती भस्म १० मि० ग्रा० तथा स्वर्ण भस्म २० मि० ग्रा० के साथ मिलाकर प्रातः, सायं आहार के बाद चटायें। द्राक्षासव १५ से २५ बूद दिन में दो बार पिलायें।

फिरंग

यह व्याधि पाश्चात्य देशीय है जिसकी प्रविष्टि भारत में शतकों वर्ष पूर्व फिरंगी कहलाने वाले फ्रांसीसियों के संसर्ग से हुई थी। यह पाश्चात्य चिकित्सा के मत से हार्ड शंकर (Hard Chancre) है जो आयुर्वेद में 'उपदंश' कहलाने वाले सॉफ्ट शंकर (Soft Chancre) से भिन्न है। यह व्यभिचारादि कारणों से उत्पन्न होने वाली संक्रामक व्याधि है जो स्पिरिला जाति के 'ट्रपोनीमा पैलाइडम' जीवाणुओं के चर्म या श्लैष्मिक कला के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होने पर उत्पन्न होती है। यह इतनी भयानक है कि हर प्रकार का उपद्रव उत्पन्न कर सकती है तथा रुग्ण को उन्मादी अर्थात् पागल तक बना सकती है। इसके संक्रामक काल को प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अवस्था में बांटा जाता है। हर अवस्था में पृथक्-पृथक् लक्षण रहते हैं। त्वचा पर रक्ताभ चने की दाल से लेकर ५० पैसे के सिक्के के आकार का दाग (Macule), त्वचा चमकीली, एवं रबड़ सदृश (Papul), अल्प विस्फोट जल से अल्पावित (Vescice), विस्फोट पूय-युक्त आदि लक्षण एक क्रम से प्रकट होते हैं। त्वचा एवं श्लैष्मिक कला के संगम पर गोभी के पुष्प के आकार का व्रण हो जाता है। व्याधि की अवहेलना करने पर जीर्ण हो यह एक बड़े और विशिष्ट आकार का गमा:सौत्रिक व्रण चिह्न तथा जिह्वा के ऊर्ध्व भाग में शोथ उत्पन्न कर देता है।

पर पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और रोगी कराहने लगता है एवं श्वास धीरे-धीरे लेने लगता है। वह विकृति शुष्क और आर्द्र अर्थात् तरल स्वरूप दो प्रकार की होती है। शुष्क में सूखी खांसी छाती में दर्द, उठता श्वास ये तीनों लक्षण और स्टेथस्कोप से श्रवण करने पर फुफ्फुसों में घर्षण ध्वनि (Pleural rule) सुनाई पड़ती है तथा एक्स-रे से कभी-कभी अभिव्यक्ति होती है।

इस व्याधि की चिकित्सा एवं उपचार भी दो प्रकार से किया जाता है। यथा—बाह्य और आभ्यन्तरिक। बाह्य में कर्पूर मिले उष्ण जल का सेक, उपनाह, पुल्टिश, हल्की मालिश लांगिली तैल से तथा आभ्यन्तर चिकित्सा में शृङ्ग भस्म, आरोग्यवर्द्धनी वटी, षड्गुण बलिजारित मकरध्वज, स्वर्णयुक्त महालक्ष्मी विलास रस, शतपुटी अभ्रकभस्म, नागभस्म, सोमनाथी ताम्रभस्म (अमृतीकरण की हुई), रससिन्दूर, सहस्रपुटी अभ्रक भस्म, मोती भस्म, स्वर्ण भस्म, रवण चन्द्रोदय, पिप्पलीमूल चूर्ण, लौहभस्म यथोचित मात्रा मे देना अति लाभप्रद है। पथ्य मे पौष्टिक तथा सुपाच्य भोजन, साबूदाना, उबाला गो दुग्ध, मूत्रल एवं कब्जहर आहार, २४ घण्टे उबाले जल का प्रयोग, अंगूर स्वरस, तरल पेयो का अधिक सेवन करायें। एक वर्ष तक पथ्य सेवन करे। निषेध स्वरूप शीतल जल पीना या स्नान, स्त्री प्रसंग (मैथुन), दिन में सोना, क्रोध चिन्ता, वाद विवाद, दौड़ना, तेज चलना, श्रम करना, संगीत, मुखवाद्यवादन यथा—बांसुरी, ठण्डक मे घूमना मधुर पदार्थ, मिष्ठान सेवन करना, अति मधुर पेय पीना आदि त्याग दें।

फुफ्फुस विद्रधि

मिथ्या आहार-विहार, व्रण रक्त विकार, उपदंश, उष्णवात के संक्रमण, वक्ष प्रदेश पर आघात, पुराने ज्वर, फुफ्फुस शोथ आदि कारणो से फुफ्फुस में विद्रधि अर्थात् फोड़े निकल आते है जिससे छाती मे असह्य दर्द, दाह, ज्वर, सूखी खांसी, सांस लेने में दर्द और कष्ट, वक्ष प्रदेश में गुरुता एवं जकड़ाहट आदि लक्षण व्यक्त होते हैं।

चिकित्सार्थ वमन, विरेचन, उपनाह, नीम के पत्तों के काढ़े मे लोबान सत्व मिलाकर वक्ष पर गरम-गरम सेंक कर वस्त्र या रुई के गद्दे से ढंक देना, नीम तैल, कपूर और सरसो तैल को गर्म दशा मे मिलाकर छाती पर मालिश, रसमाणिक्य, आरोग्यवर्द्धिनी वटी, निम्बादि चूर्ण, व्रणविद्रधि विनाशिनी महेश्वरम् रसायन, नीम पत्र एवं शरपुंखा मूलत्वक् के समभाग का क्वाथ, व्याधि हरण रसायन, कैशोर गुग्गुलु आदि का मौखिक सेवन लाभप्रद है। यदि रुग्ण प्रतिदिन नीम और शरपुंखा के क्वाथ का एनिमा अर्थात् गुद वस्ति प्रतिदिन प्रातः ले तो उत्तम है।

फुफ्फुस का कर्कटार्बुद

धूम्रपान सेवन, फुफ्फुस की पुरानी व्याधि, फुफ्फुसगत जीर्णव्रण, जीर्णविद्रधि, सिगरेट, चुरूट, गांजा, विषाक्त धुआं का अत्यधिक अन्तर्ग्रहण, तम्बाकू सेवन आदि कारणों से फेफड़ो मे कैन्सर की उत्पत्ति होती है। वक्ष मे पीड़ा, भारीपन, रक्तनिष्ठीवन व मुख और नासिका द्वारा फेफड़े के छिछड़, रक्त, पूय, बैंगनी रङ्ग के मांस धातु के टुकड़े आना आदि लक्षण प्रकट होते है। रुग्ण व्यक्ति हर समय उद्विग्न और व्यथित रहता है, शरीर दुर्बल होते-होते अस्थिपिञ्जर होता चला जाता है उत्साह, साहस और धैर्य घटकर मनोबल गिर जाता है। चिकित्सार्थ, वमन और विरेचन कराकर 'कैन्सर विनाशिनी महेश्वरम्' नामक नव आविष्कृत दिव्य रसायन रक्त रोहीतक, नीम की छाल, अमरलता, कुटकी और स्वर्णक्षीरीमूलत्वक्—समभाग के विधवत् क्वाथ के साथ प्रातः-सायं सेवन करायें। रसमाणिक्य, कैशोरगुग्गुलु, अमृतभल्लातक अवलेह, कांचनारगुग्गुलु, आरोग्यवर्धिनी वटी भी लाभप्रद है।

इनके अतिरिक्त फुफ्फुस की अन्य व्याधियों की उनके कारण एवं लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

एवं कर्ण के रोग में लाभ पहुंचता है। कब्ज को दूर किये रहें। वमन, विरेचन से कोष्ठों की शुद्धि करते रहें। विशिष्ट औषधि में लहसुन पाक, अभ्रकभस्म शतपुटी, चन्द्रप्रभा वटी, च्यवनप्राशावलेह, आमलकी-रसायन, रसोन पिण्ड, अविपत्तिकर चूर्ण आदि का मौखिक सेवन लाभप्रद है।

बाल व्याधियां

बच्चों को सूखा रोग (बालशोष), अतिसार, वमन, हृल्लास, कब्ज, संग्रहणी, धनुपटंकार, श्वसनक ज्वर, विषम ज्वर, कास, प्रतिश्याय, आन्त्रिक ज्वर, क्षय, फुफ्फुसावरणशोथ, बाल-पक्षाघात, (पोलियो) बालापस्मार, सर्वाङ्गशोथ, चेचक, उपदंश, आमवात, रक्तातिसार, हृदय व्याधि, वृक्कशोथ, अण्डकोष-वृद्धि, वृषणशूल, मूत्राघात, स्मृतिमान्द्य, मूकत्व, बाधिर्य, शारीरिक वृद्धि की कमी, मन्दाग्नि, अजीर्ण, मस्तिष्क दौर्बल्य, कृशता, यकृत विकृत आदि अनेक व्याधि सताती हैं।

नीचे कुछ प्रमुख बाल व्याधियों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

बालपक्षाघात

विविध तन्त्रिका सम्बन्धी विकृतियों के कारण बच्चों को बाल पक्षाघात व्याधि घर दबाती है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र का पोलियो रोग इससे सादृश्यता रखता है।

इसकी चिकित्सार्थ अभ्याङ्गार्थ बला तैल पीड़ित स्थान पर लगायें। प्रातः, सायं बलातैल ६ ग्राम (३ से ६ ग्राम तक) को माषादि क्वाथ और गोघृत के साथ सेवन करायें। भल्लातकावलेह २ ग्राम से ४ ग्राम बच्चों कों गोघृत के साथ सेवन करायें। दोपहर और रात को महायोगराज गुग्गुल ८ भाग तथा समीरपन्नग १ भाग इन्हें एकत्र खरलकर इसकी ६२ से २५० मि० ग्रा० वय के अनुसार घी और मधु (असमान भाग) के साथ चटाकर ऊपर से महारास्नादि क्वाथ ५ से १० मि० लि० पिलायें। जटिल और जीर्ण व्याधि में वृहत वात चिन्तामणि १५ मि० ग्रा० से ६० मि० ग्राम असमान घी और मधु से चटकार ऊपर से महारास्नादि क्वाथ पूर्वक्त पिलायें। महामाष तैल (निरामिष) बाल पक्षाघात से आक्रान्त अङ्गों पर दिन में २-३ बार लगायें।

बालातिसार

दूषित आहर, मां के दूध की विकृति अजीर्ण आदि कारणों से शिशुओं और बालकों को अतिसार हुआ करते हैं। इसकी चिकित्सा के लिये अतीस को मां के दूध में घिसकर पिलायें। नागरमोथा, इन्द्रयव, अतीस, सुगन्धवाला, बिल्व (बालबिल्व) का क्वाथ दें। वच, मोथा, अतीस, इन्द्रयव का क्वाथ पिलायें। जीर्ण और जटिल बालातिसार में बालबिल्व मज्जा कल्क और कृष्ण तिल (भूसा रहित) कल्क समभाग को ताजी दही की मलाई के साथ दिन में २-३ बार सेवन करायें। इनके अतिरिक्त लाजमण्ड, चांगेरीपत्र स्वरस, भुवनेश्वर रस, सिद्ध प्राणेश्वर रस भी यथावश्यक दें।

बालापस्मार

यह व्याधि बच्चों की मृगी नाम से लोक में विख्यात है जिसको बालापस्मार, शिश्वाक्षेप, बालकों का आक्षेप, बल्बक, उर्दू में बच्चों का तशन्नुज, तशन्नुज अत्फाल उमुस्सिब्यान, सरअ अत्फाल फजउस्सि-ब्यान आदि अरबी में तथा इन्फैण्टाइल कन्वल्शन या एपिलेप्सी (Infantile Convulsion or Epilepsy) अंग्रेजी में पर्याय हैं।

कारण—कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, दौर्बल्य, उदर के आध्मान, दन्तोद्भेद, मस्तिष्क विकार, स्नायुविक कमजोरी, उदर कृमि, उदरशूल ज्वर का आरम्भ गरिष्ठ आहार सेवन आदि हैं।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से शिशु या बच्चों के तन्त्रिका संस्थान की क्रियाएं असंतुलित एवं अनियमित हो जाती हैं, स्नायु दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है तथा निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

विशिष्ट चिकित्सार्थ—प्रातः, सायं समीरगजकेशरी और वातगजांकुश रस प्रत्येक २५० मि.ग्रा. और अश्वगन्धाघृत ६ ग्राम मिला चटाकर ऊपर से दशमूल क्वाथ और माष क्वाथ १५-१५ मि. लि. मिला पिला देवें। कल्याणघृत १० ग्राम दिन और रात में भोजन के बाद खिलायें। दोपहर और रात में सोते समय पंचामृत लोह गुग्गुल २-२ वटी खिलाकर ऊपर से बलामूल क्वाथ १२५ मि. लि. तथा महानारायण तैल १५ मि. लि. मिलाकर पिला देवें।

विसर्प

परिचय—यह व्याधि एक उष्ण पैत्तिक त्वचा की विकृति है जो विशिष्ट माला गोलाणुओं के संक्रमण से लालिमा, चमक, शोथ, दाह युक्त पीड़ा वाले चर्मशोथ को उत्पन्न कर देता है जिसके साथ ज्वर और तृषा भी रहती है। इसे परिसर्प, (सं०), सुर्खबाद (उर्दू, फारसी) विसर्प (संस्कृत), हुमर (अरबी) तथा इरिसिपेलस (अंग्रेजी-Eryrcipelas) कहते हैं।

चिकित्सा—सर्वप्रथम उपवास कराकर रूक्ष द्रव्यों का सेवन, दोषानुसार वमन, विरेचन, परिषेक और रक्तमोक्षण कराकर अविदाही द्रव्यों का सेवन, द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज में कुष्ठ व्याधि प्रकरण में वर्णित औषधि सिद्ध घृत, चूर्ण, क्वाथ, रसायनादि का मौलिक सेवन लाभप्रद है।

विशिष्ट औषधियों में—रास्नादि लेप, कसर्वादि लेप, प्रपौण्डरिक लेप, आरग्वधादि लेप, दशांग लेप, करंजादि तैल, शतधौत घृत लेप आदि वाह्य प्रयोगार्थ और पीने के लिये अमृतादि क्वाथ, भूनिम्बादि क्वाथ और खाने के लिये महातिक्त, घृत, सोमराजी घृत, रस माणिक्य, तालकेश्वर रस देवें। पथ्यापथ्य पर पूरा ध्यान रखें।

बुद्धिभ्रंश

परिचय—वस्तु या स्थिति के वास्तविक स्वरूप की जानकारी दिलाने वाली निश्चयात्मक विवेक के विकृत अधःपतित, स्थानच्युति अथवा लुप्त होने की क्रिया को 'बुद्धिभ्रंश' कहते हैं। यह स्वतन्त्र व्याधि न होकर मानसिक व्याधियों के लक्षण या कारण हैं।

चिकित्सा—सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन के बाद वमन, विरेचन, वस्ति एवं शिरोविरेचन द्वारा आपाद मस्तक शुद्धि करके संसर्जन करते हैं। पश्चात् मेध्य औषधि रसायन और पथ्यापथ्य का सेवन कराते हैं। इतना ही नहीं मन आह्लादकारी उपदेश, कथा-कहानी सुनाकर और आचार रसायन का पालन कराकर धैर्य, स्मृति ध्यान एवं समाधि की क्रिया सम्पादित कराते हैं।

पंचगव्य घृत, ब्राह्मी, कूष्माण्ड घृत, क्षीर कल्याणघृत, वचा घृत, शंखपुष्पी स्वरस गोदुग्ध से सारस्वतारिष्ट, स्मृतिसागर रस, योगेन्द्ररस, यावन्यादि चूर्ण आदि मुख से सेवन कराकर एवं गन्धराज तैल, हिमांशु तैल, शतधौत घृत, पुरातन घृत आदि में से कोई एक सिर पर मालिश कराकर 'बुद्धिभ्रंश' की विशिष्ट चिकित्सा की जा सकती है।

वृषणशूल

परिचय—वृषण पर चोट लगने, फिरंग, पूयमेह, कनपेड़ आदि के संक्रमण, ठंड लगने, असंयम एवं अति मैथुन आदि कारणों से कभी एक और कभी दोनों वृषण ग्रन्थि में रुक-रुक कर शूल (दर्द) और कभी शोथ हो जाता है।

चिकित्सा—(१) 'निदान परिवर्जनम्' अनुसार प्रधान (मूल) कारण को दूर करें।

(२) मलावरोध दूर करने के लिये पंचसकार चूर्ण ६ ग्राम गर्म जल से प्रातः और रात को सोते समय खिलायें जिससे कोष्ठों की शुद्धि हो।

के ताजे पत्तों या भाग के पत्तों या जलभंगरा की लुगदी निर्माण कर भगन्दर पर बांधें अथवा पीपल वृक्ष के ताजे पत्ते की लुगदी २४ घण्टे गुदा पर बांध लंगोट कस लें तो भगन्दर दूर हो जाता है। इस प्रकार कृष्ण सर्प का सिर जलाकर उसकी राख दिन में दो बार व्रण के अन्दर भर दिया करें तो भगन्दर दूर हो जाता है। मुख से सेवन योग्य औषधियों में भगन्दरहर रस, नवकार्षिक गुग्गुल, नारायण रस, चित्रविभाण्डक रस, सप्तविंशति गुग्गुल, खदिरारिष्ट, विडंगारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, वर्कीहरताल ३० ग्राम एवं भल्लातक २१ संख्या में से पहले भल्लातक को कूटकर हड़ताल में मिला देवें, फिर उनको ३ दिन बंडा यूहर में साथ खरल करें सूखने पर विधिवत सत्व डालें। यह सत्व १५ मि. ग्रा. गोघृत ३० ग्राम के साथ दिन में मात्र एक बार खिलाये तो १५ दिन में उत्तम लाभ होगा। सेवनकाल में पाचनशक्ति के अनुसार पर्याप्त घी खायें तथा नमक से परहेज रखें। पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान रखें।

भगशोथ

परिचय—इसे योनि की सूजन कहते हैं। विभिन्न कारणों से स्त्री के गुप्ताङ्ग योनि में अत्यधिक शोथ और दाह हो जाता है जिससे मूत्र विसर्जन काल में वेदना होती है तथा बार-बार मूत्र त्याग की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्सा एवं उपचार—रुग्णा को सुखपूर्वक शय्या पर लिटाये रखें। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक दो बार प्रतिदिन करके उबाले उष्ण जल (सहन सामर्थ्य के अनुसार गर्म जल) में दस मिनट तक बैठाये रखें। पित्तपापड़ा, गुलाब पुष्प की पंखुड़िया, मकोय के पत्ते, कासनी के बीज, उतमी के पुष्प तथा नीलोफर के पुष्पों की पंखुडियां प्रत्येक ७-७ ग्राम और उन्नाव दाना संख्या में ५ लेकर नित्य क्रिया से निवृत्त होकर यदि स्नान भी करलें तो उत्तम है, ऊपर की औषधि को मलकर तथा वस्त्र से छानकर उसमें ५० मि. लि. शर्बत नीलोफर मिलाकर पिलायें। चौथे दिन कब्ज दूर करने के लिए विरेचन दें। योनि के अभ्यन्तर और बाह्य नीम के पत्र और निर्गुण्डी के पत्रों के क्वाथ से उत्तर वस्ति एवं प्रक्षालन करें। अन्य लाभप्रद फलवर्ति एवं लेप का प्रयोग करें।

भस्मक

परिचय—जो कुछ भी अल्प या अधिक मात्रा में खाये वे सब पचकर भस्म हो जाय और अजीर्ण न उत्पन्न करे उसे भस्मक व्याधि कहते हैं। ऐसे व्याधि से ग्रस्त पेटु व्यक्ति क्षमा करेंगे, खाने के लिये जीते हैं जीने लिये नहीं खाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने परिवार को ले डुबोते हैं दरिद्रता के कगार पर छोड़ जाते हैं, सबका हिस्सा आप ही चट कर जाते हैं।

चिकित्सा—जैसी यह निराली व्याधि है वैसी इसकी चिकित्सा भी निराली है। सर्वप्रथम स्नेहन वमन विरेचनादि पंचकर्म करवाकर कोष्ठों की शुद्धि करें। तब अपामार्ग का बीज की मींगी अर्थात् अपामार्ग के स्वच्छ छिलका रहित चावलों को २ ग्राम से ५ ग्राम की आवश्यकतानुसार मात्रा में दिन में १-२ बार जल से खिलावें। स्नेह घृत आदि बृंहण औषधि द्रव्यों से सिद्धकर विधि-विधान से सेवन करायें। यथाशक्ति कम से कम भोजन करने का अभ्यास डालें। पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान दें।

भूतोन्माद

परिचय—भूतोन्माद प्रज्ञापराध के कारण भूतादि द्वारा उपसृष्टि मन की ऐसी स्थिति है जिसमें मन तक ही विभ्रम न होकर मन की उच्चतम अवस्था बुद्धि भी भ्रमित होकर दूषित हो जाती है परिणामस्वरूप व्यक्ति को ज्ञान, स्मृति, भक्ति, शील, स्वभाव, चेष्टा एवं आचार भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

चिकित्सा—(१) निदान परिवर्जनम् उक्ति के अनुसार मूलभूत कारणों को दूर करें, पूजा, यज्ञ, होम, प्रार्थना, भजन कीर्तन आदि द्वारा मानसिक शान्ति प्रदान करें मन्त्रोच्चारण द्वारा मस्तिष्क के नियमित

तथा शमित कर मनोबल को बढ़ायें। विशिष्ट चिकित्सा में —सत्संगति, आप्तोपदेश, धार्मिक तथा कहानी कहकर मन को प्रबोधित करने, संयम में लाने का प्रयत्न करें। चेतस घृत, ब्राह्मी घृत, सारस्वतारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, मण्डूक-पर्णी, सह मधु, शंखपुष्पी स्वरस सह समभाग मधु-गोघृत, वचा स्वरस सह मधु का विधिवत मौखिक सेवन तथा नस्य प्रधमनादि का बाह्य प्रयोग करायें।

मक्कलशूल

परिचय—यह प्रसूता के रूक्ष शरीर में वात एवं रक्त की दुष्टि से उत्पन्न शिर, उदर, हृदय, आन्त्र एवं बस्ति कोष्ठों में शूल विशेष के रूप में उपस्थित अत्याधिक दुःखदायक व्याधि है।

विशिष्टचिकित्सा—पंचकोल एवं पिप्पली तथा दशमूल के साथ घृत एवं तैल का प्रयोग, घृत भर्जित शुद्ध हिंगु, यवक्षार, पिप्पली मूल-चूर्ण आदि का सेवन तथा शास्त्रोक्त औषधि कुमारिका वटी, सूतिका-रोगान्तक कषाय, संजीवनी अर्क, महावात विध्वंसन रस, दशमूल क्वाथ देवदार्वारिष्ट, बृहत् योगराज गुग्गुलु, प्रताप लंकेश्वर रस, दशमूलारिष्ट सह मृतसंजीवनी सुरा का सेवन उत्तम लाभ पहुँचाता है। विदाही एवं वातवर्धक खाद्य पेय का सेवन न करने दें। लाल मिर्च, खटाई मिठाई से परहेज रखें।

मज्जामेह

परिचय—'मज्जामेहो मधु प्रभः', आचार्य शार्ङ्गधर की इस उक्ति से मज्जामेह वह व्याधि है जिसमें मूत्र मधु के सदृश अधिक कषाय और रूक्ष होता है। आचार्य सुश्रुत ने इसके स्थान पर सर्पिमेह तथा चरक वाग्भट एवं माधव ने मज्जमेह का उल्लेख किया है। इसे पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्री एल्बुमिनमेह या एल्बुमिन्यूरिया (Albuminuria) कहते हैं।

चिकित्सा—कृश रुग्ण की बृंहण तथा स्थूलकाय एवं शक्तिशाली रुग्ण की प्रथम वमन, विरेचनादि संशोधन चिकित्सा कर फिर सन्तर्पण चिकित्सा करें। संशोधन अयोग्य रुग्ण की भी शमन चिकित्सा करें। विशिष्ट चिकित्सार्थ—प्रातः कदल्यादि घृत १२ से २५ ग्राम एक पाव गोदुग्ध से दें। दो घण्टे बाद कूठ, कुटज की छाल, शुद्ध हिंगु, पाढ़ और कुटकी समभाग में लें वस्त्रपूत चूर्ण ३ ग्राम को खिलाकर ऊपर से गुडूची एवं चित्रक समभाग के क्वाथ ६० मि. लि. में मधु ३० मि. लि. मिलाकर सेवन करावें। साथ ही मेघनाद रस, बृहत् बंगेश्वर रस, चन्द्रप्रभावटी, वसन्त कुसुमाकर रसायन, मार्कण्डेयादि अवलेह, विजयसारस्थक चूर्ण, गिलोय सत्व गिलोयकाण्ड स्वरस, शु० शिलाजीत, मण्डूरमेह पनरस, बिल्वपत्र स्वरस, करेला फल स्वरस, नीम पत्र स्वरस, नीम तैल तथा अतिलाभप्रद नव आविष्कृत औषधि 'मधु-मेहश्वरम् रसायन' कीपचूल विधि-विधान से सेवन करायें। पथ्य में भुने यव के सत्तू, यव का आटा भुना हुआ, जामुन, करेला की सब्जी आदि खिलायें।

मंजिष्ठामेह

परिचय—यह व्याधि पित्तज प्रमेह का एक भेद है जिसमें मजीठ वर्ण के सदृश रक्तवर्ण का मूत्र स्नाव होता है तथा उससे आम दुर्गन्ध आता है। यदुक्तं—'पित्त' मंजिष्ठमेहेन मंजिष्ठासलिलोपमम्।'

—माधव निदान।

चिकित्सा—प्रथम कृश एवं संशोधन के अयोग्य को बृंहण, लंघन तथा स्थूलकाय एवं बलवान को पहले संशोधन चिकित्सा करके तब सन्तर्पण चिकित्सा करनी चाहिये। पश्चात् 'मधुमेहेश्वरम्' रसायन सेवन कराना लाभप्रद है। विशिष्ट चिकित्सा—प्रातः चन्द्रप्रभा १ वटी दार्व्यामृत या मक्खन से खिलाकर ऊपर से मजीठ, रक्तचन्दन समभाग से क्वाथ बना ६० मि.लि. में मधु १५ मि. लि. मिलाकर पिलावें। कुशादि दिन और रात में सोते समय १५ मि. लि. समभाग जल से दें। दो घंटे दिन चन्द्रकला रस १ वटी, [illegible]

हल्दी स्वरस एवं आंवला स्वरस प्रत्येक १५-१५ मि. लि. एकत्र मधु के साथ सेवन करायें तथा सायं में द्राक्षा पाक (यो. र.) १२ से २५ ग्राम एक पाव गोदुग्ध से दें। पथ्यापथ्य का विशेष ध्यान रखें।

मदात्यय

परिचय—मद्य अविधि से पीने पर घोर भयंकर मदात्यय व्याधि को व्यक्त करता है किन्तु होमियोपैथिक औषधि के सदृश अति सूक्ष्म मात्रा मे विधिपूर्वक योग्य काल, अनुपान, अच्छी औषधि या खाद्यान्न-पेय के साथ अत्यन्त हर्ष के साथ सेवन करने पर अमृत के समान लाभ पहुंचाता है। होमियोपैथिक औषधियां मद्यसार अर्थात् एल्कोहल आधार पर ही निर्मित होती है जो तत्क्षण उत्तम और निरापद प्रभाव शरीर पर डालती है क्योंकि मद्य अन्न के सदृश ही देहधारक है। होमियोपैथी का 'नक्सवोमिका' एवं 'एनाकार्डियम' नामक औषधि क्रमशः कुचला और भिलावा को मद्य में घोंटकर निथारकर और छान कर बनाया हुआ मद्यसार अर्क है जो कितना गुणकारी, निरापद है, प्रायः सभी लोग जानते हैं।

चिकित्सा—मदात्य की सर्वोत्तम चिकित्सा वमन कराकर पुनर्नवाश्वेत की जड़ का क्वाथ, दूध और मुलहठी के कल्क से सिद्ध घृत का सेवन १२ से २५ ग्राम की मात्रा में कराकर ऊपर से गाय का उबाला ईषत् उष्ण दूध २५० मि. लि. से ५०० मि. लि. पिलावें। यदि रुग्ण मद्य से अत्यधिक बेहोश है तो उसके शिर पर ठंडे जल की निरन्तर धार डलवायें।

मधुमेह

परिचय—मधुमेह व्याधि से कौन वैद्य महानुभाव परिचित नहीं होंगे? मूत्र मधु के समान, मूत्र-परीक्षा ले मूत्र में शर्करा की उपस्थिति, रक्त में भी शर्करा की उपस्थिति, प्यासाधिक्य, शक्तिक्षीणता की प्रतीति, मूत्र गंदला, मधु के समान रूक्ष और अधिक कषाय आदि लक्षणों से इसके रुग्ण तुरन्त पहचान लिये जा सकते है।

चिकित्सा—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के शोध से उपलब्ध नीम तैल, जामनगर आदि शोध-संस्थानों में आविष्कृत सप्तरंगी, ममाजक घनसत्व, करैला का ताजा स्वरस, शु० शिलाजीत, जामुन के बीज की मींगी, नीमपत्र, बिल्वपत्र, मेथी के बीज आदि तो मधुमेह में लाभप्रद हैं ही, इनके अतिरिक्त महेश्वर विज्ञान शोध संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर) में नव आविष्कृत दिव्य औषधि 'मधुमहेश्वरम् रसायन' मधुमेह व्याधि में अत्युत्तम लाभप्रद सिद्ध हुई हैं। अब इनका 'सूचिकाभरण रस' निर्माण करने पर शोधकर्म चल रहा है जो निराले, निरापद एवं निःशंक रूप से 'इन्सुलिन' का सर्वोत्तम विकल्प प्रमाणित होगा।

मनोदौर्बल्य

परिचय—मनोबल घटकर मन की शक्ति क्षीण हो जाती है, किसी कार्य में पूर्ण लगनशीलता नहीं आती, उत्साह नही आता तथा मन आलस्य मे पड़ा हुआ रहता है।

चिकित्सा—वमन, विरेचन, शिरोविरेचन आदि से शरीर एवं मस्तिष्क का संशोधन करें, सदुपदेश, सत्संगति, आप्तोपदेश, कथा-वार्ता आदि के द्वारा मानसिक परिमार्जन एवं सन्तर्पण करें। पश्चात् विशिष्ट चिकित्सार्थ अश्वगन्धा चूर्ण, स्मृतिसागर रस, बचाचूर्ण घृत एवं गोदुग्ध के साथ, पेठे के बीजों का चूर्ण गोघृत के साथ, सारस्वतारिष्ट के साथ अश्वगन्धारिष्ट एवं बलारिष्ट, शर्बत शंखपुष्पी, योगेन्द्र रस, चन्द्रप्रभा वटी, नव आविष्कृत औषधि रसायन 'महाबला पुष्टई' जो स्वानुभूत एवं स्वआविष्कृत है का निरन्तर सेवन करातें :

मन्थर ज्वर

परिचय—यह आन्त्रिक ज्वर या टायफाइड है जिसमें रुग्णा के उदरप्रदेश में मोती सदृश दाने निकल आते हैं। यह कभी वातोल्वण तथा कभी पित्तोल्वण, कभी कफपित्त युक्त रहता है। यह सुविख्यात ज्वर है जिसे प्रायः सभी वैद्य जानते हैं। यह 'सन्निपातात्मक सन्तत' ज्वर है।

मलावरोध

परिचय—मिथ्या आहार-विहार, आलस्य, कफ की अधिकता, गरिष्ठ भोजन, चिरपाकी खाद्यान्न पेय के अति सेवन, मानसिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने, मलोत्सर्ग के लिए सचेत नहीं रहने, सुस्त सोये या पड़े रहने, समस्त शरीर की दुर्बलता तथा अर्श रोग आदि के कारण अन्त्रों की मलोत्सर्गकारिणी क्षमता क्षीण हो जाती है और मलावरोध हो जाता है।

चिकित्सा—सर्वप्रथम घृत मिश्रित मूंग की खिचड़ी खिलायें। दूसरे दिन या उसी दिन को रात में सोते समय पंचसकार चूर्ण (धन्वन्तरि वि०) ५-६ ग्राम उष्ण जल से अथवा जीर्ण एवं जटिल कोष्ठबद्धता में इच्छाभेदी रस (धन्वन्तरि कार्या० विजयगढ़) १ से २ गोली जल से निगलवाकर सुला दें। प्रातः बहुत सवेरे २-४ पतले दस्त होकर कोष्ठों की शुद्धि होगी। कफ एवं वात की उल्वणता में मलावरोध होने पर बाल हरीतकी चूर्ण ५-६ ग्राम, शिवाम्बु (स्वमूत्र) या गोमूत्र १०० मि. लि. के साथ प्रातः सेवन करायें तो १-२ दस्त होकर कब्ज दूर होगा। मलावरोध होकर आनाह होने पर एरण्ड तैल ५० मि. लि. साबुन १२ ग्राम और सैंधव लवण ३ ग्राम—इन्हें एक लिटर जल में भलीभांति मिलाकर गुदमार्ग से वस्ति देवें। इससे मल विसर्जित होकर अन्त्र शुद्ध हो आनाह दूर हो जाते हैं। तदनुसार द्रव ५-५ बूंद जल में मिलाकर पिलायें।

प्रस्तुत "निदान चिकित्सा विज्ञानांक" (पंचम भाग) को आप सुधी पाठकों, विद्वान् आयुर्वेदज्ञों तथा आयुर्वेद प्रेमी महानुभावों के कर-कमलों में प्रकृति समक्ष प्रदान करने में अत्यधिक प्रसन्नता होती है कि इतने महान् संकटकाल, प्रकृति के द्वारा प्रदत्त शीत लहरी, विश्व में खाड़ी युद्ध के कारण फैली हुई विभीषिका तथा केन्द्रीय विशेषकर राज्य विहार में अनियन्त्रित शासन के कारण उत्पन्न अराजकता, राष्ट्र के नागरिकों के, जीवन, धन और अस्मिता की असुरक्षा तथा मेरे स्वास्थ्य में गड़बड़ी के बाद भी जिस उत्तरदायित्व को माननीय श्रीयुत गोपालशरण जी गर्ग महोदय ने मेरे दुर्बल कन्धों पर सौंपा था, वह ईश्वर कृपा एवं गुरुजनों के शुभाशीर्वाद से आज उत्तम रीति से पूरा हो रहा है। इस परम पवित्र कार्य में मुझे कहां तक सफलता मिली इसकी समीक्षा तो आप महानुभाव ही कर सकेंगे।

इस विशेषांक में प्रकाशनार्थ जिन विद्वान् लेखकों, आयुर्वेद महाविद्यालयों के प्राध्यापकों, स्नातकोत्तर अध्येताओं और छात्रों, माननीय वैद्य महानुभावों एवं अनुसन्धानाधिकारी विद्वान् महोदय एवं विदुषी महिलाओं ने अपना बहुमूल्य समय देकर उपयोगी लेख लिख भेजकर 'सौ हाथ जगन्नाथ' की लोकोक्ति चरितार्थ कर संयुक्त प्रयास किया है, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूं तथा आशा करता हूं कि 'सुधानिधि' को उन महानुभावों का सहयोग भविष्य में भी मिलता रहेगा तथा वे सभी एक जुट होकर आयुर्वेद की बड़ी से बड़ी समस्या का हल भी ढूंढ सकेंगे। 'संघे शक्ति कलियुगे' की उक्ति तभी चरितार्थ होगी।

इनके अतिरिक्त जिस किसी भी व्यक्ति, संस्था, ग्रन्थ, आयुर्वेदीय पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, रूसी, अमेरिकन पत्र पत्रिकाओं, विशेषांकों, बहुमूल्य ग्रन्थ-रत्नों, लेखों, निबन्धों, शोध पत्रों आदि से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अल्पमात्र भी सहायता ली गई हो तो उनके श्रद्धेय सम्पादकों, माननीय प्रिय लेखकों एवं मान्य प्रकाशक महानुभावों को मैं हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूं तथा उन सहयोगी व्यक्ति एवं संस्था के संचालक का भी हृदय से आभारी हूं।

अन्त में मैं सुधानिधि के प्रकाशक, सम्पादक, व्यवस्थापक एवं अन्य-अन्य सहयोगी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करना कर्तव्य समझता हूं कि जिनके अहर्निश अथक प्रयास से यह विशेषांक इस सुन्दर और निराले कृति केप रूप में आप सुधी पाठकों के कर कमलों में आयेगा।

न मे कामये राज्यं न भोगानि सुखानिच कामये दुःख तप्तानां प्राणिनांमार्तिनाशनम्।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

—आयुर्वेद बृहस्पति आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद।

प्रसवकालीन उपद्रव एवं उपचार

डा० विमलारानी, विमला नर्सिंग होम, बुलन्दशहर

इस शब्द को सुनने में जो आनन्द का अनुभव होता है वह केवल माता ही बता सकती है फिर भी इस प्रश्न पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि यह प्रसव है क्या ? प्रसव—अर्थात् बच्चे को जन्म देना। वास्तव में तो यह एक ईश्वर प्रदत्त प्राकृतिक क्रिया है जिसको पाने का सौभाग्य स्त्री जाति को ही मिला है। सन्तान के बिना नारी अधूरी है उसका मातृत्व अधूरा है। इसी पूर्णता को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक स्त्री सन्तान प्राप्ति की लालसा रखती है। बच्चे को जन्म देना जहां गौरव की बात है वहीं स्त्री ऐसा करके सृष्टि की वृद्धि करने में भी सहायक होती है। माता बनकर स्त्री अपने को गौरवमयी अनुभव करती है उसे स्वयं व परिवार वालों को असीम आनन्द की अनुभूति होती है। इसी उपलब्धि को पाने के लिए कभी-कभी माता को अति भयानक व कठिन परीक्षा से निकलना पड़ता है उन्हीं परिस्थितियों का विचार यहां उल्लेखनीय है।

प्रसव दो प्रकार का माना गया है।

१. स्वस्थ प्रसव   २. विकृत प्रसव

विकृत प्रसव की अनेक कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए हमें स्वस्थ प्रसव के बारे में भी जान लेना अति आवश्यक है। क्योंकि स्वस्थता के ज्ञान के बिना विकृति का ज्ञान भी दुष्कर है। चिकित्सक का कार्य कठिनता से सुगमता की ओर ले जाना है, चाहे कैसे भी बन पड़े उसको प्राप्त करना है।

साधारण रूप से प्रसव—यह प्राकृतिक क्रिया है जिसके द्वारा समय आने पर भ्रूण, गर्भोदक, अपरा तथा आवरणकलाएँ गर्भाशय से जुदा करके बाहर फेंक दी जाती है। जिस प्रसव में सिर प्रथम आवे, अन्य कोई उपद्रव न हो, माता को अधिक कष्ट न हो और प्रसवकालीन तीनों अवस्थायें चौबीस घण्टे में समाप्त हो जायें वह स्वस्थ प्रसव होता है। प्रसव को हम बच्चे के पैदा होने की पूरी क्रिया अर्थात् आवी प्रारम्भ होने से अपरा के निकलने तक तीन अवस्थाओं में विभक्त करते हैं। प्रसव प्रारम्भ होने पर स्त्री को वेदना के साथ-साथ अंगों में शिथिलता, मुख का मुरझाना, बच्चे का उदरप्रदेश से नीचे आ जाना, वस्ति व वस्तिप्रदेश में ढीलापन आना, वस्ति प्रदेश, कमर, पीठ का भारी होना दर्द अधिक होना, कुछ भी खाने में अनिच्छा होना, वमन प्रारम्भ होना, चलने में कठिनाई होना, बार-बार मल-मूत्र त्याग की इच्छा होना, भग का ढीला व नीला हो जाना इत्यादि लक्षण स्त्री में पाये जाते हैं। इस समय प्रजाता स्त्री के उत्पादक अंगों का स्राव बढ़ जाया करता है।

प्रथमावस्था—गर्भाशय के सिकुड़ने से जो वेदना उत्पन्न होती है उसी से प्रसवारम्भ का ज्ञान होता है। इस वेदना का नाम आवी है। पहले तो यह आवी देर-देर में कुछ क्षण के लिये आती है। बाद में इसका अन्तर कम होता जाता है। यह वेदना कटि, पीठ से प्रारम्भ होकर उदर व जाँघ की ओर जाती प्रतीत होती है। इस अवस्था को प्रथम अवस्था कहते प्रसा-

रण काल कहते। यह अवस्था वारह से अठारह घण्टे तक रहती है। कभी-कभी प्रथमवार में २-३ दिन भी हल्का दर्द वना रहता है। आवी प्रारम्भ होने के वाद से गर्भाशय का मुख पूर्णतया खुलने तक इस अवस्था को माना जाता है। इसी समय जरायु विदीर्ण होकर गर्भोदक भी वहने लगता है।

प्रथमावस्था में होने वाली विकृति—

१. समय पूरा होने पर भी आवी देर-देर में आती रहे।

२. आवी तीव्र हो परन्तु गर्भाशय ग्रीवा का मुख न खुले।

३. आवी उत्पन्न होने के तुरन्त वाद जरायु विदीर्ण हो जाये।

४. अधिक वेदना होने पर भी जरायु न फटे।

५. आवी प्रारम्भ होने के साथ-साथ रक्तस्राव होने लगे।

६. आवी प्रारम्भ होने के साथ-साथ रोगिणी भी घवराकर मूर्च्छित हो जाये।

७. आवी की प्रारम्भिक अवस्था में गलत औषधि प्रयुक्त हो जाये जिससे गर्भाशय फैलने के स्थान पर सिकुड़ने लगे।

८. श्वास की गति अति तीव्र व अति कम हो जाये।

९. गर्भ के हृदय की गति का अवरोध हो जाये।

१०. किसी कारणवश गर्भाशय विदीर्ण हो जाये।

उपरोक्त विकृतियां गर्भावस्था ठीक होते हुए भी तुरन्त हो सकती है इन सवको चिकित्सक पहले ही ध्यान रख और चिकित्सा के लिये तैयार रहे। क्योंकि यदि विकृति पहले से है (मूढगर्भ आदि) तो पहले से तैयारी भी होती है परन्तु आकस्मिक उपद्रव के लिए तो चिकित्सक की तुरन्त वुद्धि ही काम देती है।

द्वितीयावस्था—जरायु के फट जाने से वेदना में कुछ शान्ति होती है परन्तु कुछ ही देर में तुरन्त वेग से प्रारम्भ हो जाती है। इस समय गर्भाशय के साथ-साथ उदर की अन्य मांसपेशियां भी आकुंचन करने लगती हैं। इस समय प्रसूता स्त्री किसी वस्तु को हाथ में पकड़कर दवाती है। लम्वे-लम्वे सांस लेती है और पीड़ा की तीव्रता को न सहने पर चीखती है। यदि मल-मूत्र का स्थान खाली न हो तो इस समय दर्द के साथ-साथ मलमूत्र निकलता रहता है इसलिए प्रथमावस्था में ही एनीमा द्वारा मल स्थान को शुद्ध कर देना चाहिए। इन तीव्र वेदनाओं से वच्चे का सिर वस्ति-गुहा में आ जाता है। इस समय मल द्वार व भग फैल जाते हैं। वच्चे के सिर का चौड़ा भाग सामने दिखाई देने लगता है। इस समय असह्य पीड़ा होती है सिर वाहर आ जाता है। कुछ क्षण के लिए शान्ति होती है फिर दर्द से वच्चे का सिर घूम जाता है तथा कन्धे व सारा शरीर वाहर आ जाता है। इस समय वचा गर्भोदक वह निकलता है। इसे द्वितीयावस्था अथवा निर्हरण काल कहते हैं। अव गर्भाशय सिकुड़कर नाभि के नीचे आ जाता है। इस समय माता को सांत्वना युक्त शब्द कहने चाहिए जिससे अपरा निकलने तक वह अपनी शक्ति को कम अनुभव न करे।

दूसरी अवस्था में होने वाले उपद्रव—

१. आवी की तीव्रता के साथ वच्चा तिरछा हो जाये।

२. गर्भ में जीवनशक्ति की कमी हो जाये।

३. गर्भाशय की दीवारों में उत्तेजना जन्य खिचाव में कमी हो जाये।

४. गर्भोदक समय से पहले निकल जाये।

५. गर्भ के सिर में जल एकत्रित हो जाये।

६. गर्भ के अन्तिम दिनों में माता के रक्त में कार्वन डाईआक्साइड की मात्रा अधिक हो जाये।

७. किसी कारणवश आवी की तीव्रता में कमी हो जाये।

८. अचानक वच्चे की मृत्यु हो जाये।

९. किसी कारणवश स्त्री मूर्च्छित हो जाये।

१०. इस समय चिकित्सक अथवा नर्स से भग स्थान पर विदीर्ण हो जाये।

प्रसवकाल में शिशु के जन्म के ठीक पहले, होते समय या उसके ठीक बाद जो विकृतियां या रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें आयुर्वेद में "प्रसवव्यापद" की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं प्रसवकालीन रोगों के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया है। प्रसवकालीन रोगों में गर्भसंग (Retention of the foetus), अपरासंग (Retention of Placenta) प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Postpartum haemorohage) विलम्बित प्रसव (Prolonged labour) आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। वस्तुतः इन रोगों के बारे में विस्तृत और गहन जानकारी स्त्री रोग विशेषज्ञों के लिये जरूरी है लेकिन अन्य चिकित्सकों को भी इन उपद्रवों के बारे में सामान्य जानकारी होनी चाहिये। इसलिए यह विषय विशेषांक में सम्मिलित किया गया है। वैसे भी कई बार जब स्त्रीरोग विशेषज्ञ की सहायता तुरन्त रोगिणी को उपलब्ध नहीं होती तो सामान्य चिकित्सकों को भी अपनी जिम्मेदारी निभाना पड़ता है। प्रस्तुत लेख में योग्य लेखिका ने इसी दृष्टि से चिकित्सकों की सामान्य जानकारी के लिये प्रसवकालीन रोगों पर विचार प्रस्तुत किया है। स्त्रीरोग विशेषज्ञों को तो इन रोगों की जानकारी के लिये इस विषय के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों में प्रसवकालीन रोगों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध नहीं है फिर भी संहिता ग्रन्थों में इन उपद्रवों का जो उल्लेख मिलता है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

प्रसव की प्रथम अवस्था में जब प्रसव वेदना के प्रारम्भ हो जाने के बाद भी गर्भ जब बाहर नहीं निकलता तो उस अवस्था को आयुर्वेद ने गर्भसंग की संज्ञा दी है। अष्टांग हृदय ने "त्रिविधस्तु सङ्गो भवति। शिरस्यंस जघने वा" लिखकर इसके ३ भेद भी बताये हैं कि गर्भसंग शिर से, कन्धों से या जघन प्रदेश से हो सकता है। गर्भसंग की अवस्था में क्या उपचार करना चाहिये, उसके बारे में सुश्रुत कहता है—"गर्भ सङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्ण सर्प निर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धैरण्य पुष्पीमूलं हस्तपादयोर्धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा।" सु० शा० १०/१०। अर्थात् गर्भसंग में योनि को काले सांप की केंचुली या मदनफल को जलाकर उसके धूप से धूपित करें, हाथ-पैरों में लांगली की जड़ बांधें अथवा विशल्या (गुडूची) को मणि के समान गले में धारण करें तो गर्भसंग से मुक्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गर्भसंग के उपचारार्थ कुछ योग उपलब्ध होते हैं जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं—(१) अपामार्ग या अभाव में काकजंघा की जड़ को कमर में बांधने से गर्भसंग में लाभ होता है। (२) पीपल तथा वच को जल में पीसकर उसमें एरण्ड तैल मिलाकर नाभि स्थान पर लेप करने से गर्भसंग से मुक्ति मिलती है। (३) बिजौरा नीबू की जड़ तथा मुलहठी के समान भाग मूल को घृत के अनुपान से सेवन करने पर गर्भसंग से रोगिणी मुक्त होती है। अपरासंग की चिकित्सा के विषय में भी सुश्रुत ने विस्तार से वर्णन करते हुए अनेक उपाय बताये हैं—जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—(१) बालों को अंगुलि में लपेटकर उससे गर्भिणी के कण्ठ में गुदगुदी करें, (२) कटुतुम्बी, कटु तोरई, सरसों तथा सांप की केंचुली को कड़वे तैल में मिलाकर रोगिणी की योनि में धूपन करें। (३) गर्भिणी के तलुओं तथा हथेलियों पर लांगली की जड़ का लेप करें। (४) श्वेत सरसों, कूठ, लांगली तथा मदार के दूध मिलाकर सिद्ध किये गये तैल से उत्तरबस्ति दें तो अपरासंग से मुक्ति मिलती है। सुश्रुत के उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त चरक तथा वाग्भट ने अपरा मुक्ति हेतु निम्न उपाय भी बताये हैं—(१) दाहिने हाथ से नाभि के ऊपर बलपूर्वक दबाकर बायें हाथ से पीठ को पकड़कर जोर-जोर से हिलायें या हिलाकर दें अथवा भुजाओं को ऊपर उठाकर हिलायें तो अपरापात ठीक होता है। (२) एड़ी से श्रोणि पर बार-बार दबाव डालें। (३) दोनों नितम्बों को कसकर दबायें तो भी अपरा की गर्भाशय से मुक्ति होती है। इनके अतिरिक्त योनि में धूपन, सेचन, पूरण, पिचुधारण, उत्तर बस्तियां आदि के लिए अनेक योग भी आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। लेकिन आधुनिक विज्ञान में अपरा के निष्कासन, [illegible] की विधियों का विस्तार

—शेषांश पृष्ठ [illegible] पर।

इनमें से कोई भी विकृति अचानक उत्पन्न हो सकती है। इनकी चिकित्सा के बारे में आगे लिखेंगे।

तृतीयावस्था—बच्चे के बाहर निकल जाने पर पुनः कुछ देर के लिये शान्ति हो जाती है। अब पुनः गर्भाशय सिकुड़ने लगता है पेट पर हाथ रखने से गर्भाशय ठोस प्रतीत होता है। वेदना के समय कुछ-कुछ रक्तस्राव होने लगता है। इससे समझना चाहिए अपरा आने वाली है। फिर एक दो वेदना तीव्र होकर अपरा गिर जाती है। सामान्यतया इस कार्य में १५-२० मिनट लगते है। कभी-कभी कुछ मिनटों में और कभी-कभी एक घन्टे का समय भी लग जाता है। इसे तीसरी अवस्था अथवा विशल्यावस्था कहते है। हमारे शास्त्रों ने इसे विशल्यावस्था का नाम इसीलिए दिया है कि इस समय अपरा एक शल्य की भांति अन्दर होती है। वैसे तो यह सारा ही प्रसव कर्म प्राकृतिक कार्य है फिर भी किसी प्रकार की अड़चन पैदा होने पर यही सरल कार्य कितना दुरूह व प्राणघाती हो जाता है यह कितनी ही बार देखने में आया है।

तृतीयावस्था में होने वाले उपद्रव—

(१) अत्यधिक पेशीश्रम के कारण स्त्री संज्ञाहीन हो जाये।

(२) अधिक पसीना आकर क्लेद की अवस्था हो जाये।

(३) कभी-कभी कुछ क्षण के लिए रक्तदबाव अतिक्षीण हो जावे और प्रजाता अति शीतल हो जाये।

(५) अपरा समय पर न निकले और वेदना भी समाप्त हो जाये।

(५) अपरा निकलने पर अत्यधिक रक्तस्राव हो जाये।

(६) अपरा यदि तीन घण्टे तक न निकले, रोगिणी का दम फूलने लगे।

(७) अपरा का कुछ अंश रहने से स्राव अति तीव्र रहे।

(८) रुग्णा में गन्दगी से अत्यधिक बदबू आये अर्थात् संक्रमण की स्थिति प्रारम्भ हो जाये।

यह तीनों अवस्थाओं की होने वाली विकृतियां मेरे अनुभव की बात है। यदि शास्त्र में इसका प्रमाण न मिले तो भी मैं इसके लिए उत्तरदायी नहीं हूं। इनमें से विशेष विकृतियों की चिकित्सा का वर्णन नीचे किया जायेगा।

प्रसवावस्था में होने वाला रक्तस्राव—प्रसव की प्रथम व द्वितीय अवस्था में आवी के प्रारम्भ होने पर या तीव्र होने पर रक्तस्राव होने लगे तो उसके लिए निम्न कारण हो सकते है। किसी भी कारणवश जरायु विदीर्ण हो जाये, अपरा एक ओर समय से पहले ही उखड़ जाये, अपरा पतली अथवा अनियमित आकार की हो, अपरा में नाभिनाल बीच में न जुड़कर एक ओर जुड़ी हो, गर्भाशय ग्रीवा आवश्यकता से अधिक रक्ताधिक्य वाली व मृदु हो, प्रसूता को पहले से हीं गर्भाशय या उसके पास विद्रधि या अंगुरीमोल हो तो प्रसव के समय रक्तस्राव हो जाता है। गर्भाशय, गर्भाशय ग्रीवा अथवा श्रोणी में किसी भी प्रकार का व्रण अथवा विदार हो तो भी रक्तस्राव हो जाता है।

अपरा निकलने के समय रक्तवाहिनियां विदीर्ण हो जाती है इस समय रक्तस्राव होना भी स्वाभाविक है। इस समय गर्भाशय को कम करने और फालतू रक्त बाहर फेंकने के लिए धमनीगत आंकुचन भली प्रकार होते रहे तो इन धमनियों का मुंह स्वतः ही बन्द हो जाता है परन्तु यदि प्रसूता थक जायें और धमनियों के चारों ओर फैला संकोचक सूत्रों का जाल किसी कारण से क्षतिग्रस्त हो जाये तो योनि से रक्त लगातार आता रहता है। ऐसी स्थिति में कभी तो औषधियों से ही थोड़ी देर में लाभ प्रतीत होने लगता है और कभी-कभी तो उदर पाटन के द्वारा नाड़ियों का मुख बन्द करना पड़ता है।

प्रसव की प्रथमावस्था आंकुचन की कमी हो तो प्रसव के बाद रक्तस्राव की आशका रहती है अतः उन्हें सही बल देने का प्रयत्न करना चाहिए। द्वितीयावस्था में होने वाले रक्तस्राव मे तुरन्त कृत्रिम प्रसव की व्यवस्था करानी चाहिए। यदि शिशु बाहर आ चुका है और अपरा नहीं आई है तो अपरा को तुरन्त निका-

[पृष्ठ ४२ का शेषांश]

से वर्णन उपलब्ध होता है उनकी सहायता से अपरा का निष्कासन अब अधिक दुष्कर क्रिया नहीं रही इसलिये उपरोक्त योग अप्रासंगिक हो गये हैं लेकिन जब यह विधियां उपलब्ध नहीं रही होंगी तब इन्हीं क्रियाओं और योगों से स्त्रियों को इन उपद्रवों से मुक्त किया जाता होगा। इसी तरह विलम्बित प्रसव भी प्रसवकालीन उपद्रवों में एक महत्वपूर्ण उपद्रव है। प्रसव में सामान्य से अधिक समय लगने पर उसे विलम्बित प्रसव या दीर्घ प्रसव की संज्ञा दी जाती है। आधुनिक विज्ञान ने तो विलम्बित प्रसव के अनेक कारण बताये हैं लेकिन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका प्रमुख कारण वात की विकृति से प्रजननांगों का संकुचित होना बताया गया है। योग रत्नाकर में इसके कारणों तथा उपचार के सम्बन्ध में कहा गया है—

वातेन गर्भसङ्कोचात् प्रसूत समयेऽपि या।
गर्भं न जनयेन्नारीं तस्याः शृणु चिकित्सितम्॥
कुट्टयेन्मुशलेनैषा कृत्वा धान्य मुलूखले।
विषमं चाऽऽसनं यानं सेवेत प्रसवार्थिनी॥

अर्थात् धान को ऊखल में डालकर मूसल से कूटने से। (२) विषम आसन का प्रयोग अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा होकर बैठने से। (३) तेज सवारी पर यात्रा करने से प्रसव हो जाता है। वस्तुतः इन क्रियाओं का उद्देश्य यही है कि गर्भिणी के उदर तथा श्रोणि प्रदेश पर जोर पड़े तथा वहां की पेशियों में हलचल उत्पन्न होकर गर्भाशय संकोचक गतियां उत्पन्न होकर प्रसव की क्रिया प्रारम्भ हो। आजकल विलम्बित प्रसव का अवसर ही नहीं आता जैसे ही गर्भ का समय पूरा हुआ चिकित्सक शल्यकर्म के द्वारा गर्भ क्रिया कराना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

प्रसवकालीन उपद्रवों में प्रसवोत्तर रक्तस्राव एक गम्भीर उपद्रव है जिसमें अनेक प्रसूताओं का जीवन संकट में पड़ जाता है। प्रसव के बाद २४ घण्टे में सामान्य रूप से २० औंस तक का रक्तस्राव सामान्य माना जाता है लेकिन इससे अधिक रक्त का निकलना विकार सूचक माना जाता है। इसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी की आवश्यकता रहती है। प्रसूता को तत्काल कोई गर्भ संकोचक औषधि देनी होती है और यदि अपरा या उसका कोई अंश गर्भाशय में रह गया हो तो उसे अतिशीघ्र बाहर निकालने का प्रयास करना होता है। प्रसूता की नाड़ी, रक्तदाब का विशेष ध्यान देना भी जरूरी रहता है और यदि रक्तस्राव न रुके और प्रसूता की हालत गिरती चली जावे तो रक्ताधान भी कराना होता है। आयुर्वेद में प्रसवोत्तर रक्तस्राव की पृथक् से कोई चिकित्सा नहीं दी गई है और जो असृग्दर रक्तपित्त की चिकित्सा उल्लिखित है वही प्रसवोत्तर रक्तस्राव में लाभदायक होती है। इस हेतु कुछ अनुभव के योग यहां प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) पंचतृण मूल २५ ग्राम, बकरी का दूध ५०० मि० लि० एवं जल १ लिटर लेकर पकावें और दुग्ध मात्र शेष रहने पर उतारकर छान लें और रोगिणी को पिलावें तो रक्तस्राव में लाभ होता है।

(२) बकरी के दूध या अनार के फूलों के रस को मिश्री मिलाकर उत्तरबस्ति देने से प्रसवोत्तर रक्तस्राव में लाभ होता।

उपरोक्त दो योगों के अतिरिक्त तृणकान्तमणि पिष्टी प्रसवोत्तर रक्तस्राव में विशेष लाभदायक प्रमाणित हुई है यह रुधिर स्राव को तुरन्त बन्द करने हेतु निरापद तथा श्रेष्ठ औषधि है।

प्रसवकालीन उपद्रवों के विषय में लेखिका ने प्रस्तुत लेख में संक्षेप में परन्तु व्यावहारिक ज्ञान प्रस्तुत किया है। इस लेख की लेखिका डा० विमलारानी लम्बे समय से अपने लेखों के द्वारा आयुर्वेद वाङ्मय की सेवा कर रही हैं। वर्तमान में आयुर्वेद पत्रिकाओं के लिये लिखने वाली योग्य लेखिकाओं का अभाव हो गया है इस अभाव की पूर्ति डा० विमलारानी अपने लेखों द्वारा कर रही हैं। हम आपसे भविष्य में भी सतत् सहयोग की कामना करते हैं।

—गोपालशरण गर्ग।

लने का प्रयत्न करे जिससे स्राव को कम किया जा सके। यदि अपरा निकालने के प्रयत्न से या निकालने के बाद भी अधिक रक्तस्राव होता रहे तो प्रतिबन्धक उपाय करने चाहिए। उष्णजल में डिटाल डालकर उत्तरवस्ति दे। उदर की मालिश करके गर्भाशय को कम करें। यदि अपरा का कोई टुकड़ा रह जाय तो उसे निकाल देने से रक्तस्राव कम हो जाता है। यदि गर्भाशय प्रसव के एक घण्टे बाद भी कम न हो तो विकार का सूचक होता है। यदि शलाका से गर्भाशय की शुद्धि करनी पड़े तो इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि गर्भाशय भित्ती न फट जाय। यदि ऐसा हुआ तो तीव्र रक्तस्राव होकर गर्भाभिघात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और रुग्णा की तत्काल मृत्यु हो सकती है। जो भी स्थिति चिकित्सक के सामने आये उसी के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। यदि अपरा आगे बनी हो और बच्चा पीछे हो तो वेदना का दवाव पड़ने पर रक्तस्राव हो जाता है। यदि अपरा ने सारा मुख ढक लिया है तो तुरन्त ही आपरेशन द्वारा बच्चे को निकाल लेना चाहिए। यदि इस समय तुरन्त चिकित्सा न मिले तो तीन विशेष उपद्रवों से रुग्णा की मृत्यु हो सकती है। संक्रमण से, गर्भाभिघात से अथवा अवसाद से।

किसी भी प्रकार का रक्तस्राव हो तुरन्त ही उसके कारण का नाश करे यदि कारण ज्ञात न हो क्योंकि कभी-कभी विना किसी स्पष्ट कारण के भी रक्तस्राव हो जाता है। प्रसूता का पायताना ऊंचा कर दें, मुख द्वारा प्रचुर पोषण के साथ-साथ रक्तरोधक दवाईयों का प्रयोग कराये। रोगी को गर्म रखे। शिरा द्वारा पिटोसीन, स्टेप्टोक्रोम, स्टेप्टोविट आदि किसी एक का इन्जेक्शन दे। ग्लूकोज सेलाईन शिरा द्वारा प्रयुक्त कराये। आवश्यकता होने पर कोरामिन और रक्त भी दिया जा सकता है।

गर्भोदक का अति मात्रा में बढ़ जाना या कम होना—यदि जलीय अंश अधिक हो जाता है तो बच्चे के लिए स्थान की कमी हो जाती है इससे बच्चा पूर्णतया पुष्ट नहीं हो पाता। जल अधिक होने से बच्चे की स्थिति भी स्थिर नहीं रहती क्योंकि बच्चा घूमता रहता है। इस समय पेट कठिन रहता है, बच्चे के अंगों का ज्ञान नहीं होता। गर्भिणी का अपूर्णकाल में प्रसव होते देखा जाता है। गर्भाशय का बल कम पड़ जाने से प्रसवोत्तर रक्तस्राव भी देखा जाता है। इस समय थोड़ा-सा अफारा भी जीवन के लिए खतरा पैदा कर सकता है। इसमें प्रधान लक्षण शीघ्रता से शूल बढ़ता है। रोगी को छर्दि की शिकायत भी सदैव बनी रहती है। दवाव के कारण श्वासकृच्छ्र, उदरशूल और पादशोफ भी मिल सकता है। कभी-कभी रोगी के मूत्र में संक्रमण भी पाया जाता है। इसके प्रभाव से जरायु विदीर्ण व नाभि नाल भ्रंश भी पाया जाता है।

यदि प्रसव के समय श्वासकृच्छ्रता होने लगे तो गर्भोदक की कुछ मात्रा सूचीवेध से निकाल देनी चाहिए। यदि हृदयावसाद की स्थिति मिले तो तुरन्त कृत्रिम प्रसव कराकर प्रसूता की रक्षा करनी चाहिए। इस अवस्था में गर्भ के हृद्स्पन्दन की अपूर्णता पाई जाती है।

यदि गर्भाशय में गर्भोदक बिलकुल ही कम मात्रा में पाया जाय तो अतःजरायु बच्चे के साथ चिपक जाता है और प्रसवकर्म में बाधा मिलती है। बच्चे की त्वचा सूखी, मोटी व सिकुड़ी हुई होती है। इस समय प्रायः गर्भाशय की हीनवलता पाई जाती है प्रायः ऐसी अवस्था में आपरेशन द्वारा ही बच्चे को निकालना पड़ता है। ऐसा विकार बहुत कम देखने में आता है। प्रायः गर्भोदक अधिक का ही विकार सामने आता है। उसमें रोगी को हरे शाक, पोषक भोजन, लवण बिल्कुल नहीं, घी बिल्कुल नहीं और आरामयुक्त विस्तर होना चाहिए क्योंकि इसका ज्ञान गर्भावस्था में ही हो जाता है।

गर्भाशय विदार—गर्भाशय में व्रण हो, गर्भाशय भित्ती किसी चोट आदि से कमजोर हो, गर्भपात के तुरन्त बाद गर्भ स्थिति हो जाये तो प्रसव अवस्था में अथवा गर्भ की अन्तिम अवस्थाओं में गर्भाशय विदीर्ण हो जाता है। विकृत प्रसव अथवा मूढ़गर्भ में इस स्थिति की सम्भावना अधिक रहती है। बाधायुक्त प्रसव में नीचे की ओर तने भाग में, माता के उदर की शिथि-

प्रसव के लिए प्रस्तुत पूर्णकालिक गर्भ
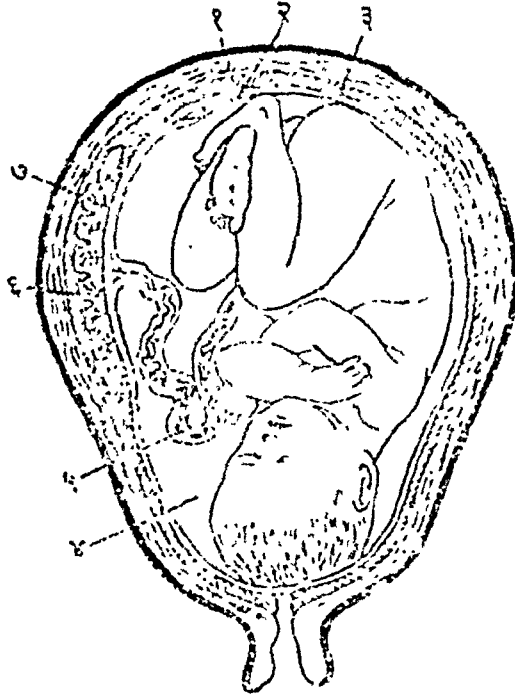
१. जरायु (Chorion), २. उल्व (Amnion), ३. पतनिका (Decidual membrane). ४. उल्वोदक से भरी उल्व-गुहा (Cavity of amnion filled with amniotic fluid), ५. नाभिनाल (Umbilical cord), ६. अपरा का मातृ-नाल (Maternal part of placenta), ७. अपरा का भ्रूण-नाल (Foetal part of placenta)

लता होने पर ऊपरी दीवाल में तथा तिरछे गर्भ में पार्श्व की दीवार में गर्भाशय विदार होने की सम्भावना रहती है। गर्भाशय विदार होने पर रक्तस्राव बाहर दिखाई नहीं देता क्योंकि रक्त उदरगुहा में ही रहता है। गर्भाशय विदार सांघातिक अवस्था है इसमें प्रायः शिशु व माता की मृत्यु हो जाती है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में इसका ज्ञान हो जाये तो तुरन्त उपचार गर्भाशय सींवन कर्म है यदि सीने योग्य न हो गर्भाशय का छेदन करके ही रुग्णा को बचाया जा सकता है।

यदि गर्भाशय ग्रीवा में विदार हो तो इसे योनिमार्ग से ही सीं देना चाहिए। इसमें कोई भी लक्षण उग्र रूप से नहीं पाये जाते और न ही यह घातक होता है। कभी-कभी मूलाधार में विदार आ जाता है। यदि विदार बड़ा हो तो गुदा तक पहुंच जाता है। अपरा के निकल जाने के बाद ही सींवन क्रिया करनी चाहिए। इस सभी क्रिया को करते समय जीवाणु नाशक दवाओं का प्रयोग करें क्योंकि इस समय संक्रमण की अधिक आशंका रहती है।

योनि अथवा मूलाधार का विदार होने से कभी-कभी गर्भाशय बाहर निकल आता है। उसे अन्दर करके सींवन क्रिया करें। रक्तस्राव हो तो उसे बन्द करने की चिकित्सा करें। इसके लिये हमारे शास्त्रों में बहुत सी औषधियां लिखी हैं।

संक्रमण—अपत्यमार्ग में यह संक्रमण प्रसव से पूर्व मध्य अथवा पश्चात् काल में पहुंच सकता है। इसी प्रकार गर्भस्राव, गर्भपात अथवा पूर्ण प्रसव हो, सभी में जीवाणु की पहुंच हो सकती है। वैसे तो स्वस्थ गर्भाशय व योनि अम्लग्राही होने से किसी प्रकार के जीवाणु को प्रवेश नहीं देती, परन्तु प्रसूतावस्था में गर्भोदक निकलने से क्षारीय प्रक्रिया शुरू हो जाती है और अम्लीय प्रक्रिया दब जाती है जिससे जीवाणु सरलता से पनप सकते हैं।

प्रसवावस्था में कृमिसंश्लिप्ट के मुख्यतया तीन रूप हैं।

प्रथम तो प्रसव की पहली अवस्था में कृमि घुस गये हों और समय पाकर अन्दर प्रविष्ट हो जायें।

२. उस समय काम आने वाले वस्त्र, शस्त्र व हाथों के द्वारा जीवाणु उपसर्ग हो जायें।

३. प्रसूता के किसी स्थान पर व्रण हों वहां से रक्त संवहन द्वारा उपरी क्षेत्र में जीवाणु पहुंच जायें।

बाह्य जीवाणुओं का प्रवेश परिचारक अथवा चिकित्सक के छींकने, थूकने आदि से भी जीवाणु उपसर्ग हो जाता है। इस समय अपत्यमार्ग तुरन्त संक्रमित हो जाता है। कई बार शल्यागार की गन्दगी व गर्भिणी के पुरीष से भी जीवाणु प्रविष्ट हो जाता है। फिर भी मूलाधार व योनि के विदार उपसर्ग के प्रथम क्षेत्र बन जाते हैं। प्रसूता में यदि एक बार जीवाणु प्रविष्ट हो जाये तो उसे अन्दर फैलने और बढ़ने के लिए पर्याप्त स्थान मिल जाता है। कभी-कभी रक्त संवहन द्वारा कृमि प्रविष्ट कर लेते हैं और रक्तगत जीवाणुमयता पैदा हो जाती है यह अवस्था बड़ी गम्भीर होती है। क्योंकि इस प्रकार दूर के अवयव भी दूषित हो जाते हैं। यदि संक्रमण एक स्थान पर स्थिर रहता है तो लक्षणों में भी तीव्रता नहीं रहती परन्तु यदि सारे शरीर में फैल जायें तो लक्षण भी उग्र रूप धारण कर सामने आ जाते हैं।

इसमें सर्वप्रधान लक्षण तो ज्वर ही सामने आता है। इसमें गर्भाशय सुकड़ता नहीं है। स्थान भी पिलपिला व पीड़ायुक्त रहता है। इस पूयमेयता में स्राव की मात्रा बढ़ जाती है। कभी-कभी स्राव बिल्कुल बन्द भी हो जाता है। स्राव अनेक वर्णों में व दुर्गन्धयुक्त होता है। हांथ, पांव, मुख पर सूजन आने लगती है। अधिक प्रसार होने पर स्थान-स्थान पर विद्रधि होने लगती है। इसमें ज्वर का वेग तीव्र रहता है। यदि उदरकला अथवा गर्भाशय कला में शोथ हो तो स्थान बहुत पीड़ायुक्त होता है। स्तन कड़े हो जाते हैं और दूध सूख जाता है। इस प्रकार की पूयमेयता में साध्य व असाध्य दोनों ही प्रकार के रोगी पाये जाते हैं फिर भी मेरे विचार में यह व्याधि साध्य ही है बस समय पर उचित चिकित्सा की आवश्यकता है। आज-

फल इनकी निरोधक औषधियां हैं कि स्थिति पर तुरन्त ही काबू पाया जा सकता है।

पहले तो चिकित्सक का यही कर्तव्य है कि वह यथासम्भव उपाय से बाह्य साधनों से आने वाले उपसर्ग पर रोकथाम करें। यदि गर्भकाल में कहीं व्रण आदि हों तो प्रसव से पहले ही चिकित्सा करें। रक्ताल्पता हो तो उसकी चिकित्सा भी प्रसव से पूर्व करें। गर्भकाल व प्रसवकाल में अत्यावश्यक न हो तो योनि परीक्षा न करें। प्रसव में आने वाली सभी चीजें विशोधित हों। परिचायक व चिकित्सक किसी प्रकार के रोग से पीड़ित न हों। प्रसूता स्त्री को अन्य किसी रोगी के साथ न रखें। प्रसूता को यदि कहीं विदार है तो उसकी भली प्रकार चिकित्सा करें रोगी को पूर्ण विश्राम दें। यदि अनिद्रा की शिकायत हो तो थोड़ी मात्रा में नींद लाने वाली औषधियां प्रयोग करें। रोगी को प्रकाश व पोषण उचित मिलना चाहिए। ज्वर की चिकित्सा में कोई रेचक औषधि न दें, नहीं तो रोगी को अतिसार की शिकायत हो जाती है जो ठीक नहीं रहता।

चिरप्रसव—प्रसव के समय में अधिक समय लगना। यह किसी भी कारण से हो सकता है। बहुप्रजाता स्त्री में पेशीबल कम हो जाने से प्रसव में देर लग जाती है। आवी का वेग कम होने पर भी प्रसव में देर लग जाती है। इसके लिए काले सांप की केंचुली का धुआं योनि में देना चाहिए। कलिहारी की जड़ को हाथ-पैर में बांध दें। स्त्री को उठकर चलने फिरने को कहें। जंभाई, छींक, बालों के गुच्छे को स्त्री के नाक(?) से छुआयें। कटि व [illegible] दबायें। सिर पर [illegible]। [illegible], कूठ, भोजपत्र, सांप की केंचुली, [illegible] योनि व भग पर लेप करें। [illegible] । कूठ, [illegible] योनि में रखें। स्त्री को [illegible] सुनायें।

योनि संकोच—यदि [illegible] से ही योनि संकोच अथवा [illegible] होने पर ज्ञात हो तो ऑपरेशन की तैयारी करनी है। परन्तु यदि पहले से इसका ज्ञान न हो और स्त्री प्रसव की अवस्था में है तो उस समय चिकित्सा के लिये तीन बातें ध्यान में रखनी चाहिए। माता की स्थिति, बच्चे की स्थिति, और योनि किस कारण से संकुचित है। यदि आवी प्रारम्भ होने पर प्रसूता चिकित्सक के पास आये और योनि संकोच का ज्ञान हो, स्त्री की नाड़ी साफ सामान्य हो, बच्चे के हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई दे तो उदर पाटन क्रिया द्वारा जच्चा व बच्चा की रक्षा करनी चाहिये।

यदि वेदना उत्पन्न हुए काफी समय हो गया है स्त्री क्लान्त, नाड़ी तीव्र अथवा क्षीण हो, संक्रमण से तीव्र ज्वर हो, साधारण दशा गिरी हुई जान पड़े तो ऑपरेशन भयानक साबित हो जाता है। इस अवस्था में बच्चे के सिर का भेदन करके योनिमार्ग से शिशु को निकालकर माता की रक्षा करें। इस समय उपसर्ग न हो इसका विशेष ध्यान रखें। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गर्भाशय ग्रीवा का प्रसार ठीक है योनि संकुचित है, सिर बाहर निकलने में कठिनाई हो रही है तो मूलाधार भेदन कर प्रसव क्रिया पूर्ण कर माता व शिशु दोनों की रक्षा करें।

यहां कुछ विशेष उपद्रवों का संक्षिप्त विवरण दिया है। यह विषय इतना गम्भीर व विकट है कि जितना भी हम कार्य करते हैं रोज ही कुछ न कुछ सीखते हैं। इसको शब्दों में वर्णन करना भी कठिन है। अन्त में यही कहूंगी कि यदि माताएं चाहें तो गर्भस्थापन होने से ही इस प्रसव कर्म के लिये मन व शरीर से अपने आप को तैयार करें और सुगम प्रसव की अवस्था से व्यतीत होकर अपने सौन्दर्य व आनन्द को बनाये रखें। क्योंकि यह कार्य प्रकृति की ओर से सृजन की ओर अग्रसर है। इसके लिये केवल दो बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। एक पौष्टिक आहार दूसरा उचित व्यायाम। यह विषय [illegible] है और [illegible] इस विषय में कुछ लिखना है। फिर भी यह विषय [illegible] है। इसलिये [illegible] से देखे चाहिये। [illegible] है।

प्रसूतिका ज्वर

डा० जहानसिंह चौहान, डी० एस० सी० ए०, मु० पो० ठठिया (फर्रुखाबाद)

परिचय—इसे प्रसूति बुखार, सेप्टीसीमिया, रक्त-दुष्टि ज्वर, स्पर्शाक्रामक ज्वर या छुतहा बुखार, प्रसूतिका-सूतिका आदि नामों से भी जाना जाता है। साधारण बोलचाल में इसे 'सौरी का बुखार' भी कहते हैं।

यह ज्वर स्त्रियों में बच्चा पैदा होने के बाद होता है। प्रसव अथवा गर्भपात के पश्चात् १४ दिन के अन्दर शरीर का तापक्रम १०० डि० फा० से अधिक होने को सूतिका ज्वर कहते हैं। विष गर्भाशय तथा आभ्यन्तरिक एवं बाह्यभाग आदि से प्रवेश कर खून में मिल जाता है। अर्थात् प्रसव के पश्चात् स्त्री को जो ज्वर होता है उसे 'सूतिका ज्वर' कहते हैं।

यह सौरी घर की प्रसूताओं की एक भयंङ्कर बीमारी है। प्रसव के समय प्रसव द्वार में चोट लगकर कोई जगह छिल जाने और गर्भाशय के भीतर ही सड़कर रक्त जहरीला होकर अथवा रक्त बन्द होकर यह बीमारी होती है। प्रसव के दो-तीन दिन बाद ही प्रायः यह ज्वर आता है, कभी-कभी ६-७ दिन बाद भी ज्वर आता है। सभी व्याधियों में ज्वर सबसे अधिक कष्ट-दायी होता है। यथा—

सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः।

—काश्यप संहिता खिलस्थान–११

निज (वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज) तथा (स्तन्योत्थ एवं ग्रहोत्थ) के विभाग से प्रसूता स्त्रियों को ६ प्रकार के ज्वर होते हैं। यथा—

षड्विधस्तु प्रसूतानां नारीणां जायते ज्वरः।
निजागन्तु विभागेन निदानं च॥

—का० सं० खि०

इस रोग में शरीर के अवयवों में पीड़ा, कम्पन, प्यास, शरीर में भारीपन, शोथ, अतिसार आदि लक्षण मिलते हैं।

सूतिका ज्वर निदान

सामान्य निदान—महर्षि 'चरक' ने द्वन्द्वज एवं सन्निपातिक ज्वर के निदानान्तर्गत लिखा है कि—

स्त्रीणां च विषमप्रजननात् प्रजातानां च मिथ्योपचारात् यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदानं। द्वन्द्वानामन्यतमः सर्वे वा त्रयो दोषा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तयैवानुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति॥

—च० नि० १/२८

अर्थात् स्त्रियों में सामान्य रूप से प्रसव न होने अथवा प्रसव के पश्चात् अनुचित आहार-विहार करने एवं पूर्वोक्त कारणों (दोष प्रकोपक विशिष्ट कारणों) के मिश्रित होने से निदानुसार दो-दो अथवा तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हों उसी प्रकार का ज्वर उत्पन्न कर देते हैं।

आचार्य 'सुश्रुत' ने आगन्तुज ज्वर के निदानागंत लिखा है कि असामान्य रूप से प्रजाता स्त्री को अहित सेवन से ज्वर हो जाता है। यथा—

स्त्रीणांम्प्रजातानां उजातानां तथाहितैः।

—सु० उ० ३९/८

सूतिका रोगों में सूतिकाज्वर सबसे अधिक कष्टप्रद होने से आयुर्वेद में इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हुए कहा गया है 'सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्ट तमोमतः' (का० सं० खिल ११)। प्रसूतिकाज्वर के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख में विस्तार से आयुर्वेदिक तथा आधुनिक पक्ष विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत किया है। प्रसूतिज्वर के चिकित्सा उपक्रम के सम्बन्ध में हम अपने अनुभव यहां लिख रहे हैं—

सूतिकाज्वर एक गम्भीर परिस्थिति है जिसमें वात तथा कफ दोषों का ध्यान विशेष रूप से रखकर चिकित्सा उपक्रम किया जाना चाहिये। वातप्रधान सूतिकाज्वर में शमन उपचार तथा कफप्रधान में लंघन चिकित्सा क्रम अपनाना चाहिये। शमन चिकित्सा में यह ध्यान देने योग्य है कि संचित दोषों के पाक होने पर और ज्वर की तीव्रता कम होने पर ही चिकित्सा करनी चाहिये। प्रसूता में शोधनकर्म नहीं कराना चाहिये और न तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग ही करना चाहिये क्योंकि ज्वर की ऊष्मा से संतृप्त शारीरिक धातुओं का तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग से अधिक पाक होने का भय रहता है फिर भी विशेष अवस्थाओं में मृदु वमन तथा नस्य देकर शोधनकर्म किया जा सकता है। चिकित्सा में औषधकल्प के रूप में क्वाथ, तैल तथा रस योगों का प्रयोग विशेष रूप से आयुर्वेद में किया जाता है। दशमूलक्वाथ तथा देवदार्वादि क्वाथ योग सूतिकाज्वर में चिकित्सकों द्वारा सामान्य रूप से प्रयोग किये जाते हैं। दशमूल क्वाथ तो एक ऐसा औषधिकल्प है जिसे बिना चिकित्सक की सलाह के हर घर में प्रसूता को प्रयोग कराया जाता है। बम्बई के सुप्रसिद्ध 'बोम्बे हॉस्पीटल' के एक प्रसिद्ध स्त्रीरोग विशेषज्ञ डाक्टर के पर्चे पर जब मैंने प्रसूता रोगिणी को दशमूलक्वाथ का निर्देश पढ़ा तो मैं दंग रह गया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसूता स्त्रियों को दशमूल क्वाथ या दशमूलारिष्ट का प्रयोग बहुतायत से किया जाता है। प्रसूतिज्वर में दशमूल तैल, नारायण तैल का अभ्यंगार्थ प्रयोग भी विशेष लाभदायक रहता है। सूतिकाज्वर में एक ऐसा रस योग है जिसे आयुर्वेदिक चिकित्सक अमोघ शस्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं जो प्रतापलंकेश्वर रस के नाम से जाना जाता है। निःसन्देह प्रतापलंकेश्वर रस सूतिका रोगों विशेषकर प्रसूतिज्वर की अव्यर्थ औषधि है। इस योग में घटकों का जो सम्मिश्रण किया गया है उससे यह योग सर्वाधिक उपयोगी बन गया है। इसमें वत्सनाभ है जो स्वेदल तथा ज्वरघ्न होने से ज्वर की तीव्रता कम करता है। इसमें चित्रकमूल तथा कालीमरिच होने से यह दीपन पाचन होने से रोगिणी के कोष्ठ को शुद्ध करता है तथा अभ्रकभस्म और लोह भस्म युक्त होने से रोगिणी को दुर्बलता, रक्तहीनता तथा कफज विकारों से मुक्त करता है। प्रतापलंकेश्वर रस के साथ संजीवनी वटी, लक्ष्मीविलास रस तथा सौभाग्य वटी का प्रयोग भी सूतिकाज्वर में विशेष लाभदायक रहता है। यदि ज्वर की तीव्रता हो तो संजीवनी वटी या लक्ष्मी-विलास का प्रयोग न कर प्रतापलंकेश्वर के साथ जयमंगल रस का प्रयोग करें। जीर्ण सूतिकाज्वर में पुटपक्व विषमज्वरान्तक लोह का प्रयोग विशेष हितावह रहता है। प्रसूताज्वर में प्रलाप की अवस्था में सूतिकाहर रस, शोथ की अवस्था में सूतिकारस (ताम्रयुक्त योग) विशेष उपयोगी औषधकल्प है।

व्यवहार में सूतिका रोग की दो अवस्थायें देखने को मिलती हैं तीव्र तथा जीर्ण। उपरोक्त सभी योग तीव्र प्रसूतिकाज्वर में ही विशेष लाभदायक रहते हैं। जीर्ण सूतिका रोगिणी का बल, मांस तथा अग्नि क्षीण हो जाने से क्षय की तरह चिकित्सा करनी चाहिए। इसके लिए स्वर्णवसन्तमालती रस तथा मृगांक रस का प्रयोग ही रोगिणी की प्राणरक्षा करता है। अभ्यंगार्थ चन्दनबला लाक्षादि तथा शतावरी तैल का प्रयोग भी नहीं भूलना चाहिये।

प्रस्तुत लेख के लेखक डा० महानसिंह चौहान किसी भी परिचय के मोहताज नहीं हैं। वर्षों से उनकी लेखनी से निकलती रही ज्ञान-गङ्गा आयुर्वेद जगत् को आप्लावित करती रही है। किसी भी रोग के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करने में जो हिमायत उन्हें प्राप्त है वह बड़े-बड़े विद्वानों में भी देखने को नहीं मिलती। विशेषांक में प्रस्तुत इस उपयोगी लेख के लिए हम उन्हें साधुवाद देते हैं।

—गोपालशरण गर्ग।

'काश्यप' का कथन है कि वेगों को धारण करने, रूक्षता (रूक्ष आहार एवं विहार से), व्यायाम, अत्यधिक रक्तस्राव, शोक, अग्नि के अत्यधिक संताप के सेवन, कटु-अम्ल एवं उष्ण पदार्थों के अति सेवन, दिवा-स्वप्न, पूर्व दिशा की वायु का अति सेवन, गुरु-अभिष्यन्दी भोजन, गृहबाधा, अजीर्ण एवं प्रसव में कठिनाई अथवा असामान्य प्रसव होने से स्त्रियों में हेतु-भेद से ६ प्रकार का ज्वर होता है। जैसा कि का०सं० खिलस्थान ११ के ४०वें और ४१वें श्लोक में प्रतिपादित किया गया है—

वेगसंधारणाद्रौक्ष्याद्व्यायामदत्यसृक्क्षयात्।
शोकादत्यग्निसन्तवापात् कटवम्लोष्णातिसेवनात् ॥४०॥

दिव्यास्वनात् पुरोवाताद्गुर्वभिष्यन्दि भोजनात्।
स्तन्यागमाद्ग्रहबाधादजीर्णाद्दुष्प्रजापनात् ॥४१॥

आयुर्वेदिक कारण एक ही दृष्टि में—

मलमूत्र आदि के वेगों को रोकने	शोक।
रूक्षता	दिन में सोना।
व्यायाम	नये स्तन्य का उतरना।
अतिरक्तस्राव	गृहबाधा।
रक्त का अति संताप	अजीर्ण।
कटु-अम्ल और उष्ण पदार्थों का अति सेवन	प्रसव ठीक से न होना।
पूर्व दिशा की वायु सेवन।	
गुरु एवं अभिष्यन्दी पदार्थों का अति सेवन।	

पूर्वरूप में—विरोधी तथा अहितकर पदार्थों तथा स्नेहों का सेवन।

शीतल जल से स्नान एवं शीतल जल का पान तथा शीतल आहार के सेवन से कष्टसाध्य ज्वर उत्पन्न होता है।

प्रसव के समय के कारण—सावधानी एवं शुद्धता के साथ प्रसव न कराने से।

दूषित अन्नादि के सेवन करने से।

मानसिक कष्ट।

विषम एवं अजीर्णकारक आहार अथवा अपरिपक्व भोजनसे।

आधुनिक कारण—सूतिकाज्वर के दो कारण माने गये हैं—

(१) प्रधान कारण, (२) सहायक कारण।

(१) प्रधान कारण—प्रसूति ज्वर का उपसर्ग विशेष रूप से जीवाणु जन्य माना गया है। इसके उत्पादक कारण 'स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस' जीवाणु प्रमुख हैं। रक्तनाशी मालागोलाणु या स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस के बाद सामान्य रूप से मिलने वाला दूसरा उपसर्ग स्ट्रेप्टोकोकल है। इसके अतिरिक्त 'नॉन-हीमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकाई' भी मृदुस्वरूप का उपसर्ग पैदा करता है। "वी कोलाई" सीधे रूप में उपसर्ग पैदा नहीं करता है बल्कि मूत्रसंस्थान में शोथ पैदा करता है जिसके परिणामस्वरूप सूतिकाकाल में ज्वर हो सकता है। 'स्ट्रेप्टोकोकस ओरियस' तथा एल्वस भी कभी-कभी मृदुस्वरूप का रोग पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रोग पैदा करने वाले जीवाणु क्लोस्ट्रिडियम वेल्ची भी हैं।

प्रसूति ज्वर उत्पादक जीवाणु

प्रधान जीवाणु	सामान्य रूप से मिलने राला जीवाणु	मृदुस्वरूप रोग उत्पादक जीवाणु	उपरोक्त रूप में रोग उत्पादक जीवाणु
↓	↓	↓	↓
स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलिटिकस	स्ट्रेप्टोकोकल	नॉनहीमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकाई	वी कोलाई
			↓
			मूत्र संस्थान में शोथ के द्वारा उपसर्ग

प्रसवोत्तर रक्तस्राव की अधिकता—प्रसव के पश्चात् अधिक रक्त निकल जाने से भी इस रोग की सम्भावना रहती है।

प्रसूता को मलावरोध होने पर भी इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है।

नोट—प्रथम प्रसूता को यह रोग अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—जीवाणु अपत्य-मार्ग स्थित क्षतों में प्रविष्ट होकर वहा पर पूय एव कोथ पैदा करते है। यदि यह जीवाणु वही पड़े रहते है और आगे प्रसारित नही होते है तब सक्रमित रोगिणी मे तीव्र विषमयता के लक्षण पैदा हो सकते है। सक्रमित होने वाले भाग के आस-पास की धातुओ की शिराओ अथवा लसिकावाहिनियो के द्वारा जीवाणु फैलते है, तत्पश्चात् उससे होते हुए उदर्याकला मे फैल जाते है और पेरीटोनाइटिस पैदा कर देते है। यदि प्रथम सक्रमित स्थल अपरा क्षेत्र, ग्रीवा या योनि का घाव रहा है तो पैल्विक सैलूलाइटिस की अधिक सम्भावना रहती है।

ये सभी विकृतिया जीवाणुओं के 'स्थानिक प्रसार' में होती है।

सार्वदैहिक प्रसार में—जीवाणुओं का प्रवेश रक्तवाहक संस्थान में होता है जिससे 'सेप्टीसीमिया' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति प्रसूता स्त्री की गम्भीरता की परिचायक है।

कई वार दूरस्थ विभिन्न अंगों मे विद्रधि भी बन जाती है जो अन्तर्विद्रधियो के रूप में होती है। इस अवस्था को 'पायमिया' कहते है।

संक्षेप में—जब उपसर्ग एक ही जगह पर सीमित रहता है तब विषमयता के लक्षण कम तीव्र होते है। इसके विपरीत जब उपसर्ग रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैलता है तब विषमयता के लक्षण अति तीव्र प्रकार के होते हैं।

रोग लक्षण—आयुर्वेद मे ६ प्रकार के सूतिकाज्वरों का वर्णन मिलता है। यह लक्षण काश्यपसंहिता के अनुसार निम्न है—

(१) वातज सूतिका ज्वर के लक्षण—विषम ऊष्मा अर्थात् शरीर के किसी स्थान में अधिक किसी में कम उष्णता या क्षण में अधिक या क्षण में कम ताप का होना, अङ्गमर्द, जम्भाई, रोमहर्ष, मुख में कषाय स्वाद एवं विरसता, शीत पदार्थों से अनिच्छा, उष्णपदार्थों की इच्छा, दन्तहर्ष, प्रलाप, सूखे उद्गार (बिना वमन के), निद्रानाश, आध्यमान तथा अङ्गो में संकोच आदि वातज सूतिकाज्वर के लक्षण है। जैसाकि काश्यप संहिता के खि० स्थान ११ में ५४, ५५ और ५६ के श्लोकों में प्रतिपादित किया गया है—

> विषमोष्माऽङ्गमर्दश्च जृम्भथू रोमहर्षणम् ॥५४॥
> कषायविरसास्यत्वं शीतद्विषोष्णकामते ।
> दन्तहर्षः प्रलापश्च शुष्कोदगारः प्रजागरः ॥५५॥
> आध्यमानसङ्गसङ्कोचो वातज्वर निदर्शनम् ॥५६॥
> —(क० सं० खि०–११)

२–पित्तज सूतिका ज्वर लक्षण—तृष्णा, दाह, प्रलाप, वमन, मुख का कडुवापन, मुख-नख-दन्त-अक्षि-मल तथा मूत्र का पीला दिखाई देना, कण्ठ सूखना, सभी कुछ जलता हुआ प्रतीत होना, भ्रम तथा शीत पदार्थों की अभिलाषा आदि पित्तज सूतिकाज्वर के लक्षण है।

> तृष्णा दाहः प्रलापश्च वमथुः कटुकास्यता ।५६।
> पीतास्यनखदन्ताक्षिविण्मूत्रत्वं च लक्ष्यते ।
> कठस्य शोषः सर्वच प्रदीप्तमिव मन्यते ॥५७॥
> भ्रमःशीताभिलाश्च पित्तज्वर निदर्शनम् ॥५८॥
> –(क० सं० खि०–११)

इसमें प्रसूता को प्यास अधिक लगती है। सम्पूर्ण शरीर में जलन, जलन की अनुभूति, भ्रम एव शीत वस्तुओं की इच्छा का होना–ये विशेष लक्षण देखने को मिलते हैं।

३–श्लेष्म सूतिका ज्वर लक्षण—इस प्रकार के सूतिका ज्वर में उष्ण पदार्थों की इच्छा, कास, शिरःशूल, शरीर में भारीपन, मन्द ऊष्मा (अपेक्षाकृत कम तापमान वृद्धि), प्रतिश्याय, मूत्र-पुरीष की श्वेतता निद्रा, तन्द्रा, शीत-विद्वेष (शीत पदार्थों की अनिच्छा) ष्ठीवन, मुख में मीठेपन की अनुभूति, गात्र-साद एवं अन्न विद्वेष आदि लक्षण होते है। यथा—

से आक्रान्त होती है। जैसाकि महर्षि काश्यप ने काश्यपसंहिता के खिलस्थान ११ में श्लोक ६६, ६७, ६८, ६९ के अन्तर्गत प्रतिपादित किया है—

ग्रहावलोकितत्रासवाताधातावधूननैः।
ज्वर्यते चेत प्रसूता स्त्री तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
उद्वेयको निष्टननं चक्षुषो विभ्रमः श्रमः।
कम्पनं हस्तनोमाणां हारिद्रमुखनेत्रता ॥६७॥
क्षणेन श्यावताऽङ्गानाम् क्षणेन च सवर्णता।
सुप्रबोधः सह कोशः केशलुच्चनम् ॥६८॥
पवनज्वररूपाणि भूयिष्ठानि करोति च।
विधिर्ग्रहघ्नोऽस्य हितः क्रमो यश्चानिलज्वरे ॥६९॥
—(का० स० खि०–११)

आधुनिक दृष्टि से सूतिका ज्वर के सामान्य लक्षण

ज्वर तीसरे दिन से सातवें दिन के अन्तर्गत प्रारम्भ होता है। कभी-कभी यह प्रसव के १२ घण्टे पश्चात् से लेकर प्रसवकाल के द्वितीय सप्ताह तक प्रारम्भ होता है। ज्वर अचानक ही प्रवल हो जाता है। जाड़ा लगकर ज्वर चढ़ता है, पर कभी-कभी ज्वर चढ़ने के वाद जाड़ा लगता है तो कभी जाड़ा लगकर फिर ज्वर चढ़ता है।

ज्वर में सीढ़ी जैसा क्रम पाया जाता है। अर्थात् प्रतिदिन क्रमशः कुछ-कुछ वढ़ते हुये उच्चतम स्तर (Maximum) पर पहुंच जाता है। इस स्तर तक पहुंचने में कई दिन लग जाते हैं। कुछ में यह ज्वर शनैः-शनैः वढ़कर कुछ दिनों वाद उच्चतम स्तर पर पहुंच जाता है। ज्वर की तीव्रता निरन्तर बनी रहती हैं और कभी-कभी अनियमित रूप का हो जाता है। तापक्रम १०२ से १०८ डि० फा० तक हो जाता है।

ज्वर के साथ नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। ज्वर की तीव्रता के अनुसार नाडी की गति १००-१२० वार अथवा १४०-१५० वार या १६० वार तक प्रति-मिनट हो जाती है।

श्वास जल्दी से जल्दी तथा मधुर गन्ध वाली होती है।

जिह्वा प्रारम्भ में मैली एवं तर जो आगे चलकर काली पड़ जाती है।

प्रारम्भ में उदर वेदना नहीं। परन्तु उदयकिला-शोथ अथवा पेल्विक सेलूलाइटिस के परिणामस्वरूप निम्न उदर वेदना एवं स्पर्शसह्यता मिलती है।

आध्मान। दवाने से शिरःशूल।

प्लीहा वढ़ जाती है। स्पर्शमात्र से पीड़ा की अनुभूति।

मुख मलिनता।

आंखें अन्दर को धस जाती हैं।

कोई-कोई प्रसूता वकने लगती है। अथवा कोई-कोई वेहोश हो जाती हैं पर अन्तिम अवस्था तक ज्ञान रहता है।

प्रायः वमन की अनुपस्थित। अतिसार मिलता है। वमन एवं अतिसार का रङ्ग काला होता है।

गर्भाशय के ऊपर दवाने पर पीड़ा की अनुभूति। यही एक ऐसा लक्षण है जो इस रोग को पहिचानने में विशेष सहायक होता है।

ज्वर के प्रारम्भ एवं विसर्गकाल में स्वेद की अधिकता।

प्रसव के पश्चात् रक्त मिश्रित जल कम परिमाण में और वदवूदार निकलता है। अथवा विल्कुल ही वन्द हो जाता है।

मानसिक स्थिति स्वच्छ और चैतन्ययुक्त, जो मृत्यु समय तक वनी रहती है।

श्रोणि-अतिशोथ (Pelvic cellulitis) के कारण मूत्रकष्ट एवं प्रवाहिका के लक्षण उपस्थित।

स्तनों में दुग्ध की अल्पता।

स्वेद की अधिकता के कारण शरीर पर फुंसियों का मिलना।

किसी-किसी में ज्वर प्रारम्भ से ही उच्च तापक्रम पर सतत् वना रहता है और किसी-किसी में शीत एवं कम्प का अभाव रहता है। किसी-किसी में ज्वर विषम स्वरूप का मिलता है। कई वार ज्वर के न होने पर भी नाड़ी की गति तीव्र रहती है।

ज्वर का काल भी भिन्न-भिन्न मिलता है। कुछ प्रसूताओं में ज्वर ४८ घण्टे के पश्चात् सामान्य स्थिति पर आ जाता है। कभी-कभी यह सप्ताहों तक वना

रहता है। ऐसी अवस्था में 'श्रोणि अतिशोथ' तथा श्वेत पाद (Femoral Thrombosis) की सम्भावना रहती है।

अन्तिम अवस्था के लक्षण—

नाड़ी की गति सूक्ष्म धागे की भांति।

उदर में आनाह और श्वास की गति विपरीत।

सूतिका की दशा अत्यन्त गम्भीर। कभी-कभी मृत्यु तक सम्भव।

कभी-कभी सम्पूर्ण लक्षण एक साथ नहीं मिलते हैं। अधिकांश तया 'सेप्टीसीमिया' होने की अधिक सम्भावना रहती है।

सामान्य लक्षण एक दृष्टि में—

तापक्रम, नाड़ी और श्वास का धीरे-धीरे बढ़ना।

निम्न उदर के पीछे की ओर वेदना।

सूतिकास्राव (Lochia) का निरन्तर और दुर्गन्ध-युक्त निकलना।

गर्भाशय के ऊपर दबाने से अत्यधिक पीड़ा का मिलना।

पाण्डुता।

सामान्य अस्वस्थता (General malaise)।

प्रसव के अनन्तर पूर्ववत् शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के विपरीत रुग्णा की दुर्बलता और क्षुधामांद्य की अनुभूति का मिलना।

सेप्टीसीमिया जनित लक्षण—

यह एक भयंकर अवस्था है। किन्तु आजकल रासायनिक चिकित्सा और जीवाणु नाशक औषधियों से कम घातक हो गई है। सेप्टीसीमिया जनित सूतिका ज्वर में निम्न लक्षण एवं चिह्न मिलते हैं।

दूसरे या तीसरे दिन तापक्रम, नाड़ी और श्वास का अचानक बढ़ना।

ज्वर का १०५ फा० तक होना। जो १०२-१०५ डि० प्रतिदिन बना रहता है।

शीत और कम्प के साथ ज्वर का चढ़ना।

बेचैनी और निद्राल्पता की उपस्थिति।

सूतिकास्राव का अभाव। अथवा निकलने वाला स्राव, लाल, पतला और दुर्गन्धी होता है।

स्तन्यस्राव का रुक जाना।

वमन, जिह्वा की मलिनता, मलावरोध, मूत्राल्पता एवं स्थानिक वेदना की उपस्थिति।

प्रकार भेद के अनुसार लक्षण

(१) साधारण प्रकार—प्रसव के तीसरे दिन से—शीत, ज्वर (१०२ से १०४ डि० फा० तक), मलपेट में अतिशय पीड़ा, स्वेदयुक्त गात्र एवं उसके अन्त में बदबूदार स्राव, गर्भाशय में सामान्य रूप की सिकुड़न का अभाव, पेट का भारी दिखायी देना, सफेद लेपदार जीभ, मुंह से बदबू का आना, मितली, कै एवं गर्भाशय में संचित रक्त की सड़न आदि लक्षण होते हैं।

(२) सांघातिक प्रकार—प्रसव के २-३ दिन बाद—शीत, ज्वर (१०२-१०४ डि० फा०), सफेद युक्त स्राव एवं बदबू। कभी-कभी ज्वर १०७ डि० फा० तक। आध्मान, अङ्गमर्द, उदर के निम्न भाग में पीड़ा एवं सूजन, प्यास की अधिकता, मूत्राल्पता, नाड़ी की गति १००-१०४ तक प्रति मिनट, मुंह का सूखना, जीभ श्वेत लेपदार, पाण्डुता। उचित चिकित्सा के अभाव में रोगिणी की १० दिन में मृत्यु।

(३) विलम्बित प्रकार—प्रसव के ४-५ दिन पश्चात्—शीत एवं कम्प के साथ ज्वर का आना, तापक्रम १०४ से १०५ डि० फा० तक रहना, निम्न उदर तथा जंघाओं को दबाने पर पीड़ा आदि लक्षण होते हैं।

नोट—मलेरिया-विषमज्वर से इसका भ्रम हो जाता है।

प्रसूति ज्वर के उपसर्ग

१. सेप्टीसीमिया—गर्भाशय पर तीव्र वेदना, शीत लगकर बुखार का आना, अतिसार, आध्मान, प्लीहावृद्धि आदि होकर ३-४ दिन में मृत्यु।

इसमें जीवाणुओं का संक्रमण होता है।

२. औदर्यकलाप्रदाह—शीत लगकर ज्वर एवं उदर में पीड़ा, गर्भाशय से पीड़ा प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण उदर में फैल जाना, आध्मान, आँतों में [illegible], नाड़ी की गति तीव्र एवं दुर्बलता, [illegible]

को ऊपर उठाये सीधी चारपाई पर पड़ा रहना आदि लक्षण।

सामान्य स्थिति में—मलावरोध। स्थिति गम्भीर होने पर–वदवूदार दस्त, त्वचा का रङ्ग पीला एवं भूरा, श्वास में वदवू की उपस्थिति, प्रारम्भ में उदर वेदना, पर शोथ में पूय वनने पर इसका अभाव। उदर को दवाने पर पीड़ा की अनुभूति। दस्तों के रुकने पर पेट का फूलना।

अत्यन्त गम्भीर स्थिति में रोगी के हाथ-पैर सीधे नहीं होते हैं। नाडी की प्रतीति न होना, वेहोशी आदि रोगिणी की भयानकता की सूचक।

३. सैप्टिक इण्टाविन्सकेशन—अपरा का कुछ भाग गर्भाशय में सड़ने से—शीतयुक्त बुखार (१०२-१०४ अथवा १०६ डिग्री फा० तक), सिर एवं उदर में पीड़ा, वकना एवं सेप्टीसीमिया के लक्षण होते हैं।

४. श्रोणिगति संयोजक अतिशोथ—पेट एवं पेडू की झिल्ली में सूजन हो जाती है। कारण एवं लक्षण पेल्विक पेरीटोनाइटिस के समान होते हैं।

५. श्रोणिगत उदर्याकलाशोथ—शीत एवं ज्वर (१०२-१०४ डि० फा०), पेट को निम्न भाग में किसी एक ओर दर्द, दवाने से पीड़ा।

उदर्याकला में शोथ होने पर वमन, आध्मान, चेहरे की मलिनता।

शोथ के मूत्राशय तथा अन्तडियों तक प्रसारित होने पर—मूत्र त्याग में पीडा, पैर फैलाने में अतिशय कष्ट, कमर तथा जांघ में पीड़ा, ज्वर उतरने पर पसीने का आना।

इस रोग में पेडू का आवरण अत्यन्त कठिन हो जाता है।

६. स्तन्यशोथ—यदि प्रसूता के स्तनों पर सूजन आ जावे तथा तापक्रम १०० डि० फा० हो जावे तो यह निश्चय समझना चाहिये कि रक्त में विप संचार हो गया है।

अन्य—(१) एरिसिपेलस अर्थात् विसर्प ज्वर।

(२) जंधा शिराओं एवं निम्न महाधमनी का घनास्रशिराशोथ।

रोग निदान—प्रसव के पश्चात् दूसरे-तीसरे दिन से लेकर ज्वर के वने रहने तथा २४ घण्टे से अधिक स्थायी रहने पर उसे प्रसूति ज्वर ही मानना चाहिये। इसकी सम्भावना तव तक वनी रहती है जव तक कि सूतिकास्राव के जीवाणु का परीक्षण न कर लिया जाये। इस रोग का निदान शारीरिक चिह्नों की अपेक्षा लक्षणों के ऊपर ही निश्चित करना चाहिये। रोगिणी की सामान्य एवं पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये। उदर एवं स्तनों की विशेष परीक्षा करें।

स्थानिक परीक्षा में—गर्भाशय की स्पर्शनाक्षमता, योनिग्रीवा के विदारों में पीव (Pus) की उत्पत्ति, पूययुक्त दुर्गन्ध की उपस्थित सूतिकाज्वर के निदान में महायक है।

सूतिका ज्वर में चिकित्सा सिद्धान्त—

सर्वप्रथम कारणों का पता लगाकर उसे दूर करने की व्यवस्था करें।

तत्पश्चात् स्थानीय क्षत अथवा विकृति (गर्भाशय या योनिपथ सम्वन्धी) को दूर करें।

विभिन्न पीड़ाओंके उपशमनार्थ लाक्षणिक चिकित्सा आवश्यक है।

पूर्ण विश्राम दें। उसे पौष्टिक सुपाच्य आहार देने की व्यवस्था करें।

महर्षि "काश्यप"—का कहना है कि प्रसूता स्त्री के ज्वर की चिकित्सा में सदैव इस वात का ध्यान रखना चाहिये कि साधारण कारणों से भी वढ़े हुए दोपों को शान्त करना तथा धातुओं का प्रसादन करना आवश्यक है।

"काश्यप"—ने आगे यह भी कहा है कि रुग्णा का शरीर कफ एवं अभिष्यन्द से युक्त हो, स्थूल हो तथा क्लेदरहित एवं अल्पस्राव वाला (मन्दाग्निवश) हो तो उसे स्नेहन कराके लंघन करावे।

शरीर कृशता, रूक्षता एवं पर्याप्त रक्तनाश, शरीर कान्तिहीन एवं वातज्वर लक्षणों से युक्त में शामक औपधि चिकित्सा आवश्यक है।

कफज में लंघन क्रम से, वातज में लघु आहार की क्रम से व्यवस्था करनी चाहिये। स्वेद, युक्तिपूर्वक अप-

२५० मि०ग्रा० देना चाहिए। शतावरी तैल, बलातैल, चन्दनबलालाक्षादि तैल शरीर पर मालिश के लिए प्रयोग किया जा सकता है। जीर्ण सूतिकाज्वर की चिकित्सा में विद्वानों ने एक प्रमुख चिकित्सा-क्रम निकाला है जिसका प्रयोग दीर्घकाल से होता चला आ रहा है। इस चिकित्सा-क्रम का अविलम्बन एक माह तक कराना चाहिए।

चिकित्सा-क्रम प्रतिदिन—

प्रातः ६ बजे प्रतापलंकेश्वर रस २४० मि०ग्रा०, वसन्तमालती १२० मि०ग्रा० एक मात्रा पीपल चूर्ण २५० मि०ग्रा० मधु के साथ दें।

दोपहर १२ व सायं ७ बजे दशमूलारिष्ट ५० मि० ली० समभाग जल मिलाकर भोजनोपरान्त दें।

दिन के २ बजे अपरिसूतिकारि रस अथवा सूतिकाभरण रस, वृ० सर्वज्वर लौह २५०-२५० मि०ग्रा० तीनों मिला एक मात्रा बनाकर हारसिंगार की पत्ती के स्वरस, या मधु से दें।

सायं ६ बजे सूतिकाघ्न रस २५० मि०ग्रा०, मुक्ता पंचामृत १२५ मि०ग्रा० की एक मात्रा। ऐसी १ मात्रा प्रतिदिन अतीस चूर्ण ५०० मि०ग्रा० मधु के साथ दे।

सूतिका दशमूल तैल अथवा शतावरी तैल (शा० सं०) प्रतिदिन दिन में एक बार अभ्यंगार्थ।

अन्य विशिष्ट औषधियों में—

खाने के लिये—सूतिकाविनोद रस, महाभ्रवटी, प्रतापलंकेश्वर रस, जीरकादिमोदक, सौभाग्यशुण्ठी, दशमूल क्वाथ, अमृतादि क्वाथ, सहचरादि क्वाथ, सूतिका दशमूल क्वाथ, देवदार्व्यादि क्वाथ, पंचजीरक गुड़, सूतिकाहर रस, सौभाग्य वटी, सूतशेखर, हेमगर्भ पोटली, दशमूलारिष्ट, जीरकाद्यरिष्ट, कुमार्यासव आदि प्रमुख शास्त्रीय औषधियां हैं।

शरीर पर अभ्यंगार्थ तैल—धात्र्यादि तैल, सूतिका दशमूल तैल एवं शतावरी तैल।

इसके अतिरिक्त योगराज गुग्गुल, सूतिकाभरण रस, सूतकान्त रस, रससिन्दूर, वृ० चिन्तामणि रस, पूर्ण चन्द्रोदय आदि उचित मात्रा में देने से शीघ्र लाभ मिलता है।

यदि रुग्णा अधिक दुर्बल हो गई हो तो—बृहत् कस्तूरीभैरव रस १२५ मि०ग्रा० की मात्रा में दशमूलासव के साथ देनी चाहिए। साथ ही बढ़े हुए तापक्रम को कम करने के लिए ब्राह्मीवटी (स्वर्ण युक्त) अथवा संजीवनी वटी (शा० सं०) २-२ गोली अर्क बनफ्सा के साथ दें। पसीना आने तथा हाथ-पैर ठण्डे होने की स्थिति में स्वर्ण वसन्तमालती तथा जयमङ्गल रस देना अधिक उपयुक्त रहता है।

सूतिकाज्वर की प्रथमावस्था में—वातगंजांकुश पान के रस, मधु के साथ दें, ऊपर से दशमूल क्वाथ पिलावें। लाभ न मिलने पर यदि वात-कफ की अधिकता हो (शरीर भारीपन एवं मलावरोध से युक्त) हो तो रास्नादि क्वाथ सेवन करावें।

शिरःशूल की स्थिति में—लक्ष्मीविलास रस दें।

शोथ की स्थिति में—पुनर्नवाष्टक क्वाथ अथवा पुनर्नवादि चूर्ण उपयोगी रहता है।

अजीर्ण तथा रुग्णा को भूख न लगने में—अग्निकुमार रस या भुवनेश्वर रस दें।

अतिसार की स्थिति में—सर्वाङ्गसुन्दर रस या महागन्धक दें। लाभ न मिलने पर सिद्धप्राणेश्वर, लवंगादि चूर्ण दें।

कास की स्थिति में—चन्द्रामृत रस या तालीसादि चूर्ण दें।

रक्तस्राव की अधिकता में—दार्व्यादि क्वाथ या चन्दनादि चूर्ण दें।

ज्वर के साथ यदि प्रलाप एवं बेहोशी भी हो तो—प्रतापलंकेश्वर रस का प्रयोग श्रेयष्कर रहता है। इसे १२० से ७२० मि०ग्रा० की मात्रा में दिन में दो बार मधु के साथ दिया जाता है। साथ ही दशमूलारिष्ट अथवा दशमूल का क्वाथ या दशमूल का अर्क ३०-६० मि० ली० की मात्रा में दिन में दो बार दें। शरीर पर शतावरी तैल की मालिश दिन में एक बार की जानी चाहिए।

पेडू में भारीपन अथवा पीड़ा की अधिकता में—उदर पर दशांग लेप करें। योनि प्रक्षालन

गुड़पिप्पली। आध्मान तथा अतिसार में लवणभास्कर चूर्ण तथा भूख की कमी में हिंग्वष्टक चूर्ण, अग्निमुख चूर्ण दें।

का० सं० में लिखा है कि नागर, अमरदारु से पकाया जल पीने को देना चाहिए। पटोल, धान्यक, मुस्ता, मूर्वा, पाठा, निदिग्धका इन द्रव्यों को समान भाग लेकर क्वाथ बनाकर मधु के साथ पीना। उचित काल में दशमूल घृत का सेवन लाभकारी बताया है।

(४) सूतिका के सन्निपातिक ज्वर की चिकित्सा—इसमे देवदार्व्यादि क्वाथ परम हितकारी होता है। मासरस तथा यूष के द्वारा संस्कृत किये हुए पुराने घी का प्रयोग प्रशस्त हैं। काश्यप संहिता में लिखा है कि कल्याणक या महाकल्याणक अथवा पंचगव्यघृत का उचित काल मे प्रयोग सन्निपातिक ज्वर का नाश करता है। मंगलक घृत भी अमृत के समान लाभकारी बताया गया हे। —का० सं० खि० ११

(५) सूतिका के स्तन्योत्थ एवं ग्रहोत्थ ज्वर की चिकित्सा—स्तन्य की सशुद्धि से स्तन्योत्थ ज्वर तथा ग्रहघ्न विधि एवं वातज्वर नाशक (पूर्व वर्णित) चिकित्सा करने से ग्रहोत्थ ज्वर का शमन होता है।

सूतिकाज्वर की आधुनिक चिकित्सा—लाईसोल आदि जन्तुघ्न विलयनो से गर्भाशय प्रक्षालन करना चाहिए। एकीफ्लेविन ३% का ग्लिसरीन घोल भी प्रयोग किया जा सकता है। टिंक्चर आयोडीन मिटिस अथवा वेटाडीन के भी योनिपथ तथा गर्भाशय का प्रक्षालन दिन में दो बार किया जा सकता है।

रुग्णा को पूर्ण विश्राम दे। पीने के लिये केवल दूध एवं 'हृदयोत्तेजक' योग दे। "पेनिसिलिन", 'प्रोकेन पेनिसिलिन' एवं सल्फोनामाइड्स का उपयोग उत्तम है। जीवाणु संवर्धन (Culture) द्वारा निदान करके आवश्यकतानुसार 'स्ट्रेप्टोमाइसिन' या 'ओरियोमाइसिन' का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही स्तनों को दृढ़तापूर्वक बांध कर रखना चाहिए। कुछ विद्वान् पेनिसिलीन तथा सल्फाड्रग्स का प्रयोग साथ-साथ करने की सलाह देते हे।

यदि जीवाणु पेनिसिलीन तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रतिरोधी हो गये हों तो टेट्रासाइक्लिन जैसे—रेविरिन २५० मि० ग्रा० की मात्रा में शिरामार्ग (I.V.) द्वारा अथवा टैरामाइसिन (फीजर) ०.५ ग्राम की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर देना। 'क्लोरम्फेनिकाल' ०.२५ ग्राम की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर देना श्रेयष्कर रहता है। 'एक्रोमाइसिन' भी लाभकारी है।

'एम्पिसिलिन,' सल्फामेथोक्साजोल (पे० औषधि—सेप्ट्रान, ओरीप्रिम, सिपलिन, बेक्ट्रिम आदि), । सिफेलेक्सिन आदि अति आधुनिकतम औषधियां विशेष लाभकारी है।

संक्रामक सूचिकाज्वर में सूचिकाभरण विधि से स्ट्रेप्टोकोकस सीरम का त्वचा में सूचीवेध पर्याप्त लाभकर होता है।

अनिद्रा की स्थिति में एण्टीबायोटिक चिकित्सा के साथ-साथ अहिफेनघटित प्रयोगों का समुचित प्रयोग करना चाहिये।

पेट एवं पेडू में पीड़ा होने पर-आयोडीन मलकर बी० आई० फ्लोजिसस्टीन प्लास्टर लगावें। साथ ही सोनाल्जिन (एम० बी०) १-२ गोली दिन में ३ बार दें।

खून की कमी होने पर लौह—फैरस सल्फेट, ग्लूकोनेट अथवा जेक्टोफर सूचीवेध का प्रयोग लाभकर होता हे। माइक्रोफोलिन आयरन (ग्लैक्सो) अधिक उपयुक्त है। गम्भीर अरक्तता की स्थिति में—रक्तधान आवश्यक होता है।

सेप्टीसीमिया की चिकित्सा—उपरोक्त एण्टीबायोटिक चिकित्सा लाभकारी है। मेथिसिलिन, क्लोक्सासिलिन, एरिथ्रोमाइसिन आदि का उपयोग लाभकारी सिद्ध हुआ है।

स्तनशोथ—आक्रान्त स्थान पर आयोडेक्स मलकर बी० आई० फ्लोजिस्टीन प्लास्टर लगायें। साथ ही पेनिसिलीन का सूचीवेध ५-१० लाख यूनिट की मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिए।
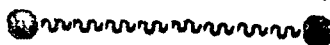
प्रसवोन्माद

डा० जहानसिंह चौहान, आयुर्वेदरत्न, ठठिया (फर्रुखाबाद)

परिचय—प्रसूता का यह एक मानसिक रोग है। इसमें मानसिक एवं संवेगात्मक क्रियाओं के असन्तुलन के कारण रोगिणी में अपनी देख-रेख करने की शक्ति तथा सामाजिक अभियोजन (Social adjustment) की शक्ति लुप्त हो जाती है। इस विकृति से ग्रस्त रोगिणी को सामान्य रूप से प्रथम दृष्टि में ही पहचान लिया जाता है। क्योंकि उसके लक्षण पूर्णतया स्पष्ट हो जाते हैं। उसका व्यवहार निरर्थक एवं विचित्र हो जाता है।

रोग के प्रकार—

(१) अवसादी विक्षिप्तता (Maniac Depressive Psychosis)।

(२) असामयिक मनोह्रास।

(३) विषमयताजन्य संभ्रम—मनोविक्षिप्त (The Toxic Confusional Psychosis)।

प्रथम दो प्रकारों को ही वास्तविक उन्माद माना गया है। जिनके कारण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) परिस्थितिजन्य परिणाम—प्रसूता की सामाजिक, आर्थिक एवं Environmental कारणों का उसकी मानसिक स्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उसमें पति, शिशु एवं अन्य पारिवारिक व्यक्तियों से मन की सन्तुष्टि न होने पर उन्माद होने का भय रहता है।

(२) गर्भकालीन शारीरिक कुपोषण।

(३) रक्तस्राव के कारण रक्ताल्पता एवं दौर्बल्य।

(४) [illegible] प्रयोग।

(५) गर्भाधान या गर्भस्थिति की आन्तरिक अनिच्छा।

(६) प्रसूता के पति का युद्ध के समय विदेश में रहना।

(७) सूतिका के उपसर्ग के कारण।

(८) जो रोगिणियां स्वभाव से ही उदासीन रहती हैं, उनमें इसके होने की अधिक सम्भावना रहती है।

(९) मानसिक संघर्ष।

लक्षण—प्रसूता में सर्वप्रथम अनिद्रा, मन्दाग्नि, भोजन की अनिच्छा, पति के प्रति विद्वेष की दबी हुई भावना, शिशु की चाह न होना आदि लक्षण मिल सकते हैं।

साध्यासाध्यता—रोग का परिणाम मनोभावों के विकार, शारीरिक विकार एवं परिस्थितिजन्य प्रभावों के ऊपर निर्भर करता है।

प्रसवोन्माद में चिकित्सा-सिद्धान्त—

(१) रोगिणी को परिवार के अन्य व्यक्तियों से पृथक् रखना चाहिये।

(२) प्रसव के पश्चात् शिशु को माता से पृथक् रखना चाहिये। साथ ही रोगिणी के पास किसी छोटे से छोटे बच्चे को भी नहीं जाने देना चाहिये।

(३) रोगिणी को [illegible] के [illegible] स्वतंत्र रूप से रखना चाहिये। उसके पास किसी भी [illegible] आदि [illegible] रखना चाहिये। अन्यथा वह [illegible] कर सकती है।

(४) रोगिणी की परिचर्या के लिये दिन में दो व्यक्ति और रात्रि में एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है।

(५) रोगिणी को सादा भोजन तथा दूध पर्याप्त मात्रा में दें।

(६) यदि रोगिणी में मलावरोध हो तो उसे दूर करें।

(७) निद्रानाश के लिये रोगिणी को दिन-रात खुली हवा में रखें। उसे निद्राकारक औषधियां दें।

(८) रोगमुक्तावस्था में दुर्बलता के लिये—आयरन टॉनिक्स, कैल्शियम, विटामिन-बी कॉम्प्लेक्स, मल्टीविटामिन, लिवर एक्स्ट्रेक्ट आदि औषधियां दें। थायराइड-एक्स्ट्रेक्ट का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(९) यदि रोगिणी को पूर्व के प्रसव में भी यह रोग हुआ हो और उसके जीवित सन्तानों की संख्या २-३ हो तो गर्भकाल में ही अकाल प्रसव करा देना उत्तम रहता है।

(१०) यह रोग प्रायः प्रसव के प्रथम पक्ष में ही होता है। अतः प्रसवकाल में रोगिणी को पूर्ण विश्राम देकर पौष्टिक आहार देना चाहिये। साथ ही ऐसी अवस्था करें जिससे प्रसूता कमजोर न होने पाये।

(११) उदासीनता की अवस्था में विद्युत चिकित्सा भी लाभकारी होती है।

(१२) रोगिणी को चिकित्सक द्वारा पूर्ण सान्त्वना मिलनी चाहिये, जिससे उसकी मनःस्थिति ठीक रहे।

आधुनिक औषधि चिकित्सा—

इस रोग में निंद्रा की काफी कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति में रोगिणी को निद्रापक औषधियां (Hypnotics) देकर निद्रा लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

सुरक्षात्मक दृष्टि से निद्रापक औषधियों को अल्पतम मात्रा में देना प्रारम्भ करना चाहिये। निट्राजिपान (Nitrazipan) जो बाजार में मोगाडोन (Mogadon) के नाम से मिलती है, वह अपेक्षाकृत सुरक्षित Hypnotic औषधि है। जिसके अधिक मात्रा में सेवन के उपरान्त भी कोई हानिकारक प्रभाव नहीं होता है। इसके साथ-साथ इस रोग में बार्बिटोन सपोजिटरी (Barbitone Supposirory) का भी प्रयोग उत्तम रहता है। इसका प्रयोग गुदामार्ग से होता है। इन औषधियों का व्यवहार दोपहर तथा रात्रि में भोजन के बाद रोगिणी के शयनकाल में करना चाहिये।

निद्रापक औषधियों में सामान्य रूप से क्लोरडियाजिपॉक्साइड (Chlordiazepoxide) का १० मि०ग्रा० की मात्रा में तथा युवा रोगिणियों में Promazine ५०-१०० मि०ग्रा० की मात्रा में दी जा सकती है। इनके प्रयोग से रोगिणी में Confusion तथा चिन्ता का बढ़ाव रुक जाता है।

पैरेल्डीहाइड १-३ ड्राम तक जैतून के तैल में मिलाकर दिन में एक या दो बार गुदा द्वारा दिया जा सकता है। अथवा मेडिनाल १५ ग्रेन की मात्रा में दें। फीनोबार्बिटोन $\frac{1}{2}$-१ ग्रेन की मात्रा में दी जा सकती है।

यदि उत्तेजना की अवस्था अति तीव्र स्वरूप की हो तो अहिफेन $\frac{1}{2}$–$\frac{1}{4}$ ग्रेन तक की मात्रा में दें। अथवा हायोसीन हाइड्रोब्रोमाइड को $\frac{1}{100}$–$\frac{1}{50}$ ग्रेन की मात्रा में दें।

यदि रोगिणी में क्लान्ति के चिह्न अधिक हों तो शक्तिवर्द्धक औषधियां, विशेष रूप से यीस्ट टेबलेट अथवा विटामिन–बी के योगों का सेवन करावें। विटामिन–बी तथा निकोटिनिक एसिड का प्रयोग मांसपेशी सूचीवेध द्वारा करें।

भूख की कमी होने पर इन्सुलिन (Insulin) ५ यूनिट की मात्रा में दें।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

(१) सर्पगन्धा चूर्ण ६० ग्राम में जवाहरमोहरा पिष्टी ६ ग्राम मिलावें। इस चूर्ण को ६-६ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार देने से लाभ होता है।

(२) ब्राह्मी ३ भाग, शंखपुष्पी २ भाग, सर्पगन्धा १ भाग सबको मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार देने से मानसिक रोगों में पर्याप्त लाभ होता है।

(३) ब्राह्मीघृत ३ ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार तथा सर्पगन्धा चूर्ण $\frac{1}{2}$ ग्राम तथा मकरध्वज ३०-

प्रसव के बाद प्रसूता को कभी-कभी मानसिक विकार उत्पन्न होकर उन्माद के से लक्षण दिखाई पड़ते हैं। जिनमें अनिद्रा और बुद्धिभ्रंश के लक्षण विशेष रूप से होते हैं। यह विकार प्रसव के बाद कभी-कभी तुरन्त तथा कभी कुछ दिनों के बाद उत्पन्न होता दिखाई देता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से प्रसव क्रिया में अत्यधिक रक्त के ह्रास होने से प्रसूता में रक्तहीनता उत्पन्न होना इस रोग का प्रमुख कारण माना गया है। इसके अतिरिक्त गर्भकालीन अन्य शारीरिक और मानसिक कारण भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक हो सकते हैं। जो रोगिणियां स्वभाव से ही चिड़चिड़ी तथा मानसिक रूप से अस्वस्थ रहती हैं उनमें इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। इसके लक्षण बहुत स्पष्ट रूप से रोगिणी में देखने को मिलते हैं। रोगिणी बहुत थकी-थकी सी निर्जीव जैसी दीखती है वह अधिकतर मौन रहती है लेकिन कभी-कभी एकदम बक-बक करने लगती है या हंसने लगती है। उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, पल में कुछ और पल में कुछ कहने लगती है। उसके नेत्रों की चेष्टा बदल जाती है उसकी लज्जा जाती रहती है। रोग की जीर्ण अवस्था में वह पहिचानना भी बन्द कर देती है। इस रोग में एक लक्षण विशेष रूप से देखने को मिलता है कि रोगिणी अपने नवजात शिशु के प्रति बिलकुल उदासीन हो जाती है।

इस प्रसवोन्माद की अवस्था में रोगिणी को औषधि चिकित्सा देने के साथ-साथ सान्त्वना तथा मन को दिलासा देना आवश्यक कार्य होता है। इसके लिये उसका पति ही यह कार्य करे तो विशेष लाभदायक होता है। औषधि उपचार की दृष्टि से उन्माद तथा अपस्मार में जो चिकित्सा प्रयुक्त होती है वही प्रसवोन्माद में लाभदायक होती है। उन्मादगजकेशरी, ब्राह्मीवटी, बृ० कस्तूरीभैरव, बृ० वातचिन्तामणि आदि स्वर्णघटित योग रोगिणी को विशेष लाभ पहुंचाते हैं। शंखपुष्पी, वच, कूठ, वायविडङ्ग, ब्राह्मी, गिलोय तथा त्रिफला का मिलित चूर्ण इनमें लाभदायक रहता है। रोगिणी को मलावरोध न रहे इसका विशेष ध्यान देना जरूरी है और इसके लिये हल्का विरेचन देते रहना चाहिये।

इस रोग के विषय में डा० जहानसिंह चौहान ने प्रस्तुत लेख में वह सब कुछ दे दिया है जो रोग के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिये चिकित्सक को आवश्यक है। विशेषांक में प्रकाशित लेखक के अन्य लेखों की तरह पाठक इस छोटे लेख में भी विद्वान् लेखक की अपनी विशिष्ट शैली का दर्शन करेंगे, ऐसा विश्वास है।

—गोपालशरण गर्ग।

६० मि०ग्रा० मिलाकर दिन में तीन बार सेवन करावें। इससे उन्माद की रोगिणी का चित्त शान्त होता है।

(४) सर्पगन्धा के घनसत्व में समान मात्रा में ब्राह्मी तथा शंखपुष्पी का चूर्ण मिलाकर बनाई गई २५० मि०ग्रा० वजन की गोलियां दिन में तीन बार देने से लाभ होता है।

(५) जटामांसी, ज्योतिष्मती बीज तथा सर्पगन्धा सभी द्रव्य समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण की २-३ [illegible] ३० मि० ग्रा० में मिलाकर दिन में तीन बार सेवन करावें।

उपरोक्त औषधियों में से किसी एक के साथ [illegible] दिनों में पूर्ण लाभ होता है।

(६) यदि रोगिणी को मलावरोध हो तो त्रिफला गुग्गुल अथवा एरण्डमूल क्वाथ में एरण्ड तैल मिलाकर विरेचन दें। मलशुद्धि हो जाने के पश्चात् चतुर्भुज रस या [illegible]चिन्तामणि रस दें। सिर के ऊपर चन्दनादि तैल की मालिश करावें तथा [illegible] अथवा सारस्वतारिष्ट या [illegible] पान करें।

रोगिणी के स्वस्थ होने पर [illegible] अथवा [illegible] का [illegible] है। [illegible] का प्रयोग भी लाभकारी होता है।

इस रोग में उन्माद [illegible] का उपयोग भी [illegible] है। कुछ चिकित्सक इसके [illegible] को भी अधिक उपयोगी [illegible] हैं।

प्लीहोदर या प्लीहावृद्धि

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद प्राणाचार्य, विशेष सम्पादक

भोजनोपरान्त तुरन्त यान या वाहन (सवारी) पर आरूढ़ होकर गति करने, शारीरिक चेष्टाओं को अत्यधिक सञ्चालन करते रहने शरीर में संक्षोभ उत्पन्न हो जाने, अत्यधिक मैथुन, अधिक भार वहन करने, बहुत दूर पैदल चलने, वमन अथवा दूसरे किसी भयानक व्याधि यथा विषम ज्वर (मलेरिया), कालज्वर (कालाजार), आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड) आदि दीर्घकाल तक भोगते रहने से (इन व्याधियों में श्वेत रक्त कणिकाओं की वृद्धि न होकर कमी हो जाती है)। शरीर के अत्यधिक दुबला-पतला हो जाने से अथवा रस धातु के बढ़ जाने से अत्यधिक वृद्धि प्राप्त श्वेत रक्त कणिकाएं उदर के वाम पार्श्व में स्थित प्लीहा को अपने स्थान से च्युत कराकर बढ़ा देती हैं, कठोर कर देती है तथा प्लीहा में दर्द उत्पन्न कर देती है। लगभग इसी आशय की उक्ति चरकसंहिता में भी देखने को मिलती है। यथा—

अशितस्याति संक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः।
अतिव्यवाय भाराध्ववमन व्याधि कर्शनैः॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहाच्युतः स्थानात् प्रवर्तते।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत्॥

—च० सं० उदर चि० अ० १३।

इतना ही नहीं दाह उत्पन्न करने वाले एवं दही आदि स्रोत का अवरोध करने वाले अभिष्यन्दी द्रव्य के निरन्तर सेवन करने से उस प्राणी या व्यक्ति के रक्त और कफ अत्यधिक दूषित होकर बढ़ते हैं और बाईं ओर स्थित प्लीहा को भी बढ़ा देते हैं जिसको प्लीहोदर या प्लीहावृद्धि कहते हैं। इस व्याधि को संस्कृत में प्लीहोदर, प्लीहावृद्धि, प्लीहाशोथ यूनानी में तिल्ली बढ़ना, अंग्रेजी में इन्लार्जमैण्ट ऑफ स्पलीन तथा वेस्टर्न मेडीकल टैकनीकल लैंग्वेज (पाश्चात्य चिकित्सीय तकनीकी भाषा) में स्पलेनाइटिस और प्लीहा की विशेष वृद्धि को स्पलेनोमेगैली कहते हैं।

इस व्याधि से आक्रान्त अवस्था में रुग्ण व्यक्ति बहुत कष्ट पाता है; वामपार्श्व में मन्द या असह्य दर्द कभी उदरप्रदेश को दबाने और कभी बिना दबाने पर होता है, मन्द ज्वर रहता है, मन्दाग्नि रहती है, कफ पित्तोदर के सदृश लक्षण के साथ शक्ति क्षीण होकर शरीर का रङ्ग पीला पड़ जाता है। सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि प्लीहोदर वस्तुतः जीर्ण प्लीहावृद्धि है।

इसी तथ्य से प्रायः मिलती-जुलती उक्ति सुश्रुत-संहिता में भी उपलब्ध होती है। यथा—

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ
प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति॥
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र।
मन्दज्वराग्निः कफ पित्त लिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीण, बलोऽति पाण्डुः॥

—सु० सं० नि० स्था०।

प्लीहा (SPLEEN)

प्लीहा नीलाभ युक्त लाल रंग की प्रणालीविहीन ग्रन्थियों (Ductless glands) में सबसे बड़ी संरचना है जो शरीर की मध्यरेखा के बाईं ओर आमाशय के नीचे और बायें वृक्क के ऊपरी भाग में ९वी से ११वी पर्शुकाओं के पीछे स्थित रहती है। यह १०-१२ सें०मी० लम्बी, ७-८ सें०मी० चौड़ी, ४ सें०मी० मोटी तथा प्रायः १८० ग्राम भार में होती है। इसमे रक्तवाहिनियों के जाल प्रसारित रहते हैं तथा इसमें छोटे-छोटे केन्द्र स्थित होते है। सम्पूर्ण प्लीहा उदर्याकला से आच्छादित रहती है। यह प्लीहा तीन कलाबन्धनियो द्वारा अन्य अवयवों के साथ सम्बन्ध में आती है और अपने स्थान में यथोचित रूप से रहती है। प्लीहार्बुद, विषमज्वर, कालाजार में इसकी वृद्धि को टटोलकर स्पर्श किया जा सकता है जबकि स्वस्थ शरीर मे इसको टटोलकर ढूढ़ना थोड़ा कठिन होता है।

प्लीहा रक्त के श्वेत एवं रक्तकणों का निर्माण करती है। रक्त को छानकर स्वच्छ भी करती है, नष्ट-भ्रष्ट रक्तकणो को संचित कर हीमोग्लोबिन को अलग करती है, अनावश्यक रक्तकणों को पूर्णतया समाप्त कर देती हे। भोजन के पाचन काल में इसकी वृद्धि होती है, यूरिक एसिड के निर्माण में सहायता प्रदान करती है, रक्त का संचय करती है। सम्भवतः व्याधि उत्पादक जीवाणु-कीटाणुओं से भी शरीर की रक्षा करती है तथा रक्त का विशिष्ट रूप से निर्माण करती हैं।

व्यक्त होते है। यदि प्रारम्भ में चिकित्सा नहीं करके इसकी उपेक्षा की गई तो यह व्याधि क्रमशः कुक्षि, आमाशय (जठर), अग्न्याशय को घेर लेती है तथा उदर प्रदेश में अत्यधिक वृद्धि उत्पन्न कर देती है।

लगभग इसी आशय के रूप का उल्लेख कुछ चरक संहिता में और कुछ सुश्रुत संहिता में प्राप्त होता हे—

"दौर्बल्या रोचका विपाकवर्चा मूत्रग्रहतमः प्रवेश पिपासाङ्गमर्दच्छर्दि मूर्च्छाङ्गसादकासश्वास मृदु ज्वरा-नाशग्नि नाशकार्श्यास्य वैरस्य पर्वभेद कोष्ठ वात शूलानि, अपि चोदरमरूणवर्णं विवर्ण वा नीलहरित हारिद्रराजिमद्भवति, एवमेव यकृदपि दक्षिण पार्श्वस्थ कुर्यात् तुल्य हेतु लिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवाव-रोध इति, एतत् प्लीहोदरमिति विद्यात् ॥"

—चरक संहिता उदर चि० अ० ११

"मन्द ज्वराग्निः कफ पित्त लिङ्गैरुपद्रुतः क्षीण-बलोऽति पाण्डुः।" —सुश्रुत नि० स्थान

"तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेपादौ वर्धमानः कच्छ-पसंस्थान उपलभ्यतेः स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षि जठर-मग्न्याधिष्ठान च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति।"

—च० सं० उदर चि० अ० १३

रुग्णालयों के अनेक रोगियो के प्रत्यक्ष परीक्षणों के पश्चात् यह देखा गया है कि हृदय की व्याधियों, मासिक रजःस्राव के लोप, मासिकस्राव में अत्यधिक रक्त आना, अर्श के रक्त का अवरोध, रक्त का प्रदूषित हो जाना आदि कारणो से भी प्लीहावृद्धि परिलक्षित होती है। प्लीहावृद्धि व्याधि में लाल रक्त कणिकाओं की संख्या इतनी न्यून हो जाया करती हे कि समस्त शरीर रक्त शून्य या अरक्त एव पीत वर्ण जैसा दृष्टि-गोचर होता है। इस व्याधि के अधिक दिनों तक झेलते रहने पर अरक्तता, श्वेत रक्त कणिकाओं की असम्यक् वृद्धि, सर्वाङ्गशोथ, दांतों की जड़ एवं मसूढ़ों में सूजन, जलने एवं रक्तस्राव, श्वास से दुर्गन्ध आना, नेत्रों के नीचे कृष्ण दाग (कलंक), अतिसार, आमातिसार, भूख मिट जाना, स्कर्वी, हाथ-पैरों में शोथ आदि लक्षण व्यक्त होकर अन्ततोगत्वा जलोदर या भयंकर सर्वाङ्गशोथ उत्पन्न होकर रोगी मृत्यु का आलिङ्गन करता है।

त्वरित पहचान—भूख कम आना, मुख से दुर्गन्ध, दांत की जड़ एवं मसूढ़ों में सूजन, जलन एव रक्तस्राव मन्दज्वर, अरक्तता, शरीर शून्य हो कान्तिहीन, निस्तेज

आयुर्वेद में यकृत् एवं प्लीहा दोनों को रक्ताशय, रक्तपित्त एवं रक्तवह स्रोतों का मूल कहा गया है। नव्य मतानुसार प्लीहा रंजक पित्त का स्थान तो नहीं परन्तु रक्त का आश्रय एवं आगार मानी गयी है। प्लीहा में रक्तकण संचित रहते हैं और रक्त संवहन में आते हैं। गर्भावस्था में यकृत् तथा प्लीहा दोनों रक्तकणों की रचना में भाग लेते हैं तथा बाद में यह कार्य रक्तमज्जा के द्वारा सम्पन्न होता है। प्लीहा निर्जीव रक्तकणों के विनाश में भी सहयोग करती है। प्लीहा अनेक विधि प्रोभूजनों का विश्लेषण कर कृत्रिम का निर्माण भी करती है तथा शरीर में रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न कर संक्रामक व्याधियों से शरीर की रक्षा करती है। इस तरह आयुर्वेद तथा नव्य विज्ञान दोनों ने प्लीहा को शरीर का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना है।

प्लीहावृद्धि के हेतुओं का अवलोकन करें तो भी आयुर्वेद और आधुनिक विज्ञान में कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता। चरक ने जहां सभी उदर रोगों का हेतु अग्निदोष माना है वहीं सुश्रुत ने 'सुदुर्बलाग्नेर्हिताशनस्य' कहकर उसी का समर्थन किया है। यह अग्निदोष आम के प्रकोप से हो सकता है या विषमज्वर, कालाजार, पाण्डु, कामला, या अन्य जीर्ण एवं घातक विकारों के कारण धातुक्षीण होने से भी हो सकता है, जो सभी उदररोगों का हेतु माना गया है। नव्यविज्ञान में यकृत् में रक्त का संचय, रक्त के रोग, उष्णकटिबन्ध के रोग आदि प्लीहावृद्धि के कारण माने जाते हैं।

आयुर्वेद विद्वानों ने प्रवर्धित प्लीहा को प्लीहोदर के नाम से सम्बोधित किया है। प्लीहोदर या प्लीहावृद्धि के लक्षणों पर विचार करें तो वह स्थानिक और सार्वदैहिक दोनों प्रकार के मिलते हैं। रोग परिज्ञान की दृष्टि से स्थानिक लक्षणों का विशेष महत्त्व है। प्रधान रूप से इन्हीं स्थानिक लक्षणों का अवलोकन कर रोग निर्णय किया जाता है, अतः इन्हें प्रत्यात्म लक्षण भी कहते हैं। इन लक्षणों में —तस्य प्लीहा **कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षि जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति।** अर्थात् बढ़ी हुई प्लीहा कठिन, वेदना रहित तथा कच्छप के आकार की उठी हुई दिखाई पड़ती है। सार्वदैहिक लक्षणों में जीर्णज्वर, धातुक्षय, रक्ताल्पता, अग्निनाश आदि लक्षण विशेषतया मिलते हैं। प्लीहोदर की जीर्ण अवस्था में उदरावरण में तरल का संचय होकर जलोदर की स्थिति भी सामान्यतः बन जाती है।

चिकित्सा की दृष्टि से प्लीहावृद्धि में जिन कारणों से उसकी वृद्धि हुई है उन कारणों का पता लगाकर ही उसकी चिकित्सा की जा सकती है। अर्थात् जीर्ण विषमज्वर, कालाज्वर, पाण्डु आदि रोगों के उपद्रव के रूप में यदि प्लीहावृद्धि हुई है तो इन रोगों के दूर होने पर ही प्लीहावृद्धि का शमन सम्भव हो सकता है। औषधिकल्पों में क्षार के योग प्लीहावृद्धि में विशेष रूप से प्रयोग किये जाते हैं। क्षार अपने क्षरण गुण के कारण बढ़ी हुई प्लीहा के क्षरण में सहायक होते हैं। पलाशक्षार, अपामार्गक्षार, स्वर्जिकाक्षार आदि योग चिकित्सकों द्वारा प्लीहावृद्धि के रोगियों को बहुतायत से प्रयोग कराये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में अनेक औषधि कल्प दिये गये हैं। आरोग्यवर्धिनी, पुनर्नवादि मण्डूर, लोकनाथरस, यकृत् प्लीहारि लौह, नवायस लौह, शंखद्राव, रोहितकारिष्ट, कुमारी आसव, पुनर्नवाष्टक कषाय, इच्छाभेदी रस आदि अनेक प्रयोग प्लीहावृद्धि में लाभदायक रहे हैं।

प्रस्तुत लेख में विशेषांक के विशेष सम्पादक आचार्य महेश्वरप्रसाद ने प्लीहावृद्धि के सभी पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है। जिससे पाठक इस महत्त्वपूर्ण रोग पर अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ऐसा हमें विश्वास है।

—गोपालशरण गर्ग

एवं पीला पड़ जाना तथा उदर प्रदेश में वायीं ओर पार्शुकाओं के नीचे आयताकार एक पत्थर के टुकड़े सदृश अति कठो. प्रतीत होना (वायीं ओर टटोलने से) इसको तुरन्त पहचानने के लक्षण हैं।

व्याधि विनिश्चयार्थ आधुनिक परीक्षायें एवं सापेक्ष निदान—रोगी को निराहार रखें। पश्चात् इसे दाहिनी करवट लिटाकर उदर के वायें पार्श्व में अन्तिम पर्शुका के नीचे हाथ की अंगुलियों से अथवा करतल देकर प्लीहा की परीक्षा करें। प्लीहा की सामान्य वृद्धि में भी ११वीं पर्शुका के नीचे स्पर्शन द्वारा

प्लीहा वृद्धि
(SPLENOMEGALY)
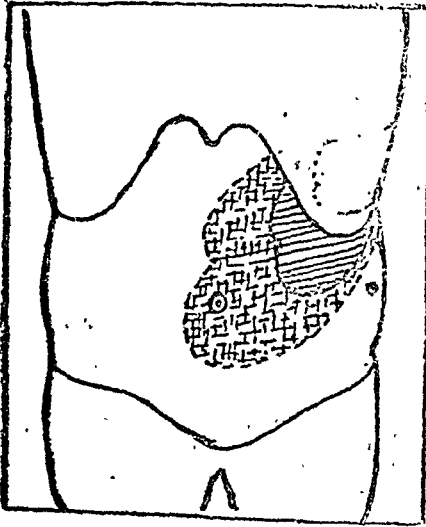
टटोलने से प्लीहा की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जब प्लीहा अत्यधिक बढ़ जाती है तो वह सामने से एक अर्बुद सदृश दिखाई पड़ती है जो श्वसन क्रिया के साथ ऊपर-नीचे गति करती है। कभी-कभी यह विषम-ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, जीवाणु जन्य हृदन्तःशोथ, तीव्र राजयक्ष्मा, श्लेष्मिक ज्वर, फुफ्फुस शोथ, मसूरिका, रोहिणी, पुनरावर्तक ज्वर, मूषकदंश ज्वर, चोट, पूय-मयता, अन्तःशल्यता, विद्रधि, ताऊन आदि व्याधियों में वृद्धि प्राप्त कर वह सम्पूर्ण उदर प्रदेश में फैल जाती है। मूत्र परीक्षा करने पर यूरोवाइलिन प्रतीत होता है किन्तु फिर रञ्जक द्रव्य नहीं जाता।

श्वेताणु वृद्धि, जीर्ण ज्वर, उपदंश, आतशक, बच-पन की अस्थिक्षीणता आदि में प्लीहा बढ़कर नीचे जननेन्द्रिय की जड़ और दाहिनी ओर नाभि होकर यकृत् तक फैल जाती है।

जीर्ण विषम ज्वर, जीर्णकाल ज्वर, प्लैहिक पाण्डु, शिशु का यकृद्दाल्युदर, जीर्ण पूय, वमन, श्वेतकणमयता, फिरङ्ग, अस्थिक्षय, प्रतीहारिणी शिरागत रक्त का अव-रोध, घातक पाण्डु, राजयक्ष्मा आदि व्याधियों में जीर्ण एवं जटिल प्लीहावृद्धि देखने को मिलती है। प्लीहा की विकृति में रुग्ण व्यक्ति का उदर वामकुक्षि भाग की ओर बढ़ा दिखाई पड़ता है। बच्चों में प्लीहा बढ़ जाने पर समस्त शरीर एवं ग्रीवा कृश और पतली किन्तु उदर बढ़ा और तना हुआ होता है।

सापेक्ष निदान—नीचे "प्लीहोदर", "जलोदर", "मेदोरोग" एवं "बद्धगुदोदर" में सापेक्ष निदान प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्लीहोदर	जलोदर	मेदोरोग	बद्ध गुदोदर
दर्शन—प्लीहा प्रदेश में वृद्धि दीख पड़ती है।	उदर में अधिक शोथ और परिवृत्त नाभि दृष्टिगोचर होती है।	सम्पूर्ण उदर शिथिल और बड़ा दीख पड़ता है।	हृदय और नाभि के मध्य में वृद्धि दीख पड़ती है।
स्पर्शन—दायें भाग में कठिनता अनुभूत होती है।	काठिन्य जल तरङ्ग, क्षोभ एवं शब्द की प्रतीति।	मृदु भाव (मार्दव) स्पर्श में प्रतीत होता है।	हृदय और नाभि के मध्य में स्पर्शासहत्व होता है।
परिताड़न—मन्द ध्वनि।	मन्द ध्वनि।	मन्द ध्वनि।	मन्द ध्वनि।

३७५ मि० ग्रा० (३ गोली) निवाये जल के साथ तीन वार प्रतिदिन प्लीहावृद्धि से होने वाले ज्वर एवं मलावरोध, वृद्धि प्राप्त प्लीहा, यकृत्‌वृद्धि, उदरशूल, कामला में सेवन कराने से प्रभावशाली रूप से लाभ पहुंचता है। औषधि सेवन काल में गुड़ (शक्कर) भोजन पूर्णरूपेण वर्जित है।

(३) **प्लीहान्तक चूर्ण** (ग्र० स्वा० सदानन्द जी गिरि के योग)—नि० वि०—शुद्ध नौसादर ९६ ग्राम, कालानमक और स्वर्णगैरिक प्रत्येक १२ ग्राम, एकत्र मिलाकर कूट-पीसकर वस्त्रपूत चूर्ण करें।

सेवन-विधि—५०० मि० ग्रा० से १ ग्राम चूर्ण जल के साथ दिन में दो वार प्लीहावृद्धि यकृत्‌वृद्धि, शोथ, मन्दज्वर आदि को दूर करके पाचनशक्ति को बढ़ाता है।

सावधान—इस चूर्ण को खाकर तत्क्षण चूना लगा हुआ पान और तम्बाकू कदापि नहीं खाना चाहिए नहीं तो जीभ पर छाले, घाव, व्रण पैदा हो जायेंगे।

(४) **प्लीहान्तक क्षार** (ग्रन्थ—र. त. सा. व सि. प्र. सं.)—आधा से एक ग्राम क्षार मधु के साथ दो वार प्रतिदिन चटायें तो प्लीहावृद्धि, वातजगुल्म, जीर्ण-अजीर्ण नष्ट होगा।

(५) **रोहितक लौह** (ग्रन्थ—र. सा. सं.)—१ गोली (२५० मि. ग्रा.) से २ गोली (५०० मि. ग्रा.) औषधि शरपुंखा मूलत्वक् के काढ़े १५ से ३० मि. लि. के साथ दो वार प्रतिदिन सेवन करायें तो प्लीहावृद्धि, अग्रमांसवृद्धि, यकृत्‌वृद्धि, शोथ और जीर्ण ज्वर को दूर करता है।

(६) **प्लीहार्णव रस** (ग्रन्थ—र. च.)—१-१ गोली (१२० मि. ग्रा.) निर्गुण्डी के पत्ते के स्वरस, शरपुंखा के मूलत्वक् के काढ़े प्रत्येक १५ मि. लि. तथा मधु २५ मि. लि. के साथ दो वार प्रतिदिन पिलायें तो तीनों प्रकार की प्लीहावृद्धि, ज्वर, अग्निमान्द्य, अधिक प्लीहावृद्धि, प्लीहोदर में लाभ पहुंचायेगा।

(७) **प्लीहोदरारि चूर्ण** (ग्रन्थ—र. त. सा. व सि. प्र. सं.)—चूर्ण २५० मि. ग्रा. (२ रत्ती) से ५०० मि. ग्रा. (४ रत्ती) प्रातः जल के साथ दें अथवा १२५ मि. ग्रा. (१ रत्ती) की मात्रा में २-३ वार प्रतिदिन देवें तो प्लीहावृद्धि, उदर व्याधि एवं शोथ, यकृत्‌वृद्धि को दूर करेगा।

(८) **नाराचरस-उदर** (ग्रन्थ—र. यो. सा.)—१२० मि. ग्रा. की १ गोली प्रातः निवाये जल से (ईषत् उष्ण जल से) प्रतिदिन एक वार देवें तो प्लीहोदर, मलावरोध, नये ज्वर, गुल्म एवं अफरा को दूर करता है।

(९) **प्लीहारि अर्क** (ग्रन्थ—र. त. सा. व सि. प्र. सं.)—४ मि. लि. अर्क ईषत् उष्ण जल ६० मि. लि. के साथ प्रातः एवं रात्रि को दो वार प्रतिदिन पिलायें तो प्लीहावृद्धि, यकृत्‌वृद्धि, मन्दाग्नि, पाण्डु, कोष्ठबद्धता में भी लाभ होता है।

(१०) **भीमवटी** (ग्रन्थ—र. यो. सा.)—२५० मि. ग्रा. (१ गोली) प्रातः-सायं अदरक के स्वरस के साथ सेवन करायें तो प्लीहावृद्धि, मन्दाग्नि तथा, ज्वर में लाभ होता है।

(११) **प्लीहारि वटिका** (ग्रन्थ—भै. र.)—२५० मि. ग्रा. (१ गोली) से ५०० मि. ग्रा. (२ गोली) जल के साथ दिन में २ वार दें तो प्लीहावृद्धि, यकृत्‌वृद्धि, मन्द ज्वर, गुल्म, अग्निमान्द्य को दूर करता है।

(१२) **कासीसाद्य वटी-उदर** (ग्रन्थ—र. त. सा. व. सि. प्र. सं.)—५०० मि. ग्रा. (२ गोली) से १ ग्रा. (४ गोली) रोहितकारिष्ट १५ मि. लि. या लहसुन स्वरस १० मि. लि. के साथ दो वार प्रतिदिन सेवन करायें तो यकृत्प्लीहावृद्धि दूर होती है।

(१३) **अग्निप्रभा वटी** (ग्रन्थ—भै. र.)—५०० मि. ग्रा. से १ ग्रा. (४ गोली) प्रातः तालमखाने के जल या करेला के पत्ते के स्वरस से सेवन करायें तो यकृत् एवं प्लीहा की अति भयंकर व्याधि दूर हो जायगी।

(१४) **पुनर्नवादि कल्प** (ग्रन्थ—र. त. सा. व. सि. प्र. सं.)—इस अवलेह का ३ ग्राम को ३० मि. लि. जल में मिलाकर ३-४ वार प्रतिदिन पिलायें तो यकृत्प्लीहावृद्धि, शोथ, सर्वाङ्गशोथादि दूर होते हैं तथा अधिक मूत्र त्याग होता है।

(१५) श्लीपदगजकेशरी (ग्रन्थ–र. यो. सा.)—१ गोली (१२५ मि. ग्रा.) से ३ गोली (३७५ मि. ग्रा.) ईषत् उष्ण जल से दो बार प्रतिदिन सेवन करायें तो समस्त प्रकार की प्लीहावृद्धि तथा समस्त प्रकार के श्लीपद व्याधि सह ज्वर को नष्ट करेगा।

(१६) रोहितारिष्ट (ग्रन्थ–भै. र.)—१५ मि. लि. से ३० मि. लि. समभाग जल मिलाकर दो बार प्रतिदिन पिलायें तो प्लीहावृद्धि, कामला, उदर व्याधि, गुल्म, शोथ, अरुचि, ग्रहणी, अर्श को दूर करेगा।

(१७) नीबू द्राव (ग्रन्थ–र. त.)—५ से १८ बूंद द्राव मिश्री या द्राक्ष [illegible] (म्नुक्का) में मिलाकर २-३ बार प्रतिदिन पिलावें तो प्लीहावृद्धि, गुल्म का नाश होता है।

(१८) लघुशंखद्राव (ग्रन्थ–र. त. सा. व. सि. प्र. सं.)—५ से १० बूंद या शंखद्राव (ग्रन्थ-उपर्युक्त) १० से ६० बूंद द्राव से ३० मि. लि. से ६० मि. लि. जल मिलाकर दो बार प्रतिदिन पिलावें तो प्लीहादोष, अफारा, गुल्म नाशक है।

प्लीहावृद्धि पर एक अनुभूत योग

१० ग्राम पापड़क्षार (सज्जीक्षार) को वस्त्रपूत छान लें तथा एक नारियल जो जल से भरा हुआ हो उसके मुंह को छेदकर उसमें यह पापड़क्षार भर दें तथा उसे अच्छी तरह [illegible] [illegible] लगाकर धूप में रख दें।

विधि—प्लीहावृद्धि के रोगी को सुबह प्रातः जल्दी उठाकर इतना भगावे कि वह हांफने लगे फिर उसे खड़ा करके उपरोक्त नारियल के जल को छानकर पिला दें। जब तक श्वास का वेग सामान्य न हो जावे रोगी टहलता रहे। बाद में वह चाहे जो करे। दिन में उसी नारियल को टुकड़े-टुकड़े करके खावे। दिन में हल्का भोजन ले। इस दवा के सेवन से प्लीहावृद्धि में लाभ होता है। [illegible] बढ़ी हुई तिल्ली पर इसका कई बार सेवन कराना होता है। सामान्य प्लीहावृद्धि पर तो १-२ बार के सेवन से ही लाभ होने लगता है। (संकलित)

(१९) उदरामृत योग (ग्रन्थ–उपर्युक्त)—६ मि. लि. से १५ मि. लि. इसे ३० मि. लि. जल में मिलाकर भोजन के बाद २ बार प्रतिदिन पिलाने से प्लीहावृद्धि, यकृत्शोथ, पाण्डु, मन्दाग्नि नष्ट होती है।

(२०) ताम्रादि रस (ग्रन्थ–उपर्युक्त)—२५० मि. ग्रा. (२ गोली) से ५०० मि. ग्रा. (४ गोली) तक और सैंधवलवण चूर्ण के साथ १-२ बार प्रतिदिन खिलायें तो नवीन प्लीहावृद्धि दूर होगी।

(२१) प्रवालपञ्चामृत रस (ग्रन्थ–औ. गु. ध. शा.)—१२५ मि. ग्रा. से २५० मि. ग्रा. [illegible] मधु और सोंठ के [illegible] के साथ २ बार प्रतिदिन सेवन कराने से प्लीहोदर, गुल्म, [illegible], मन्दाग्नि, उदर व्याधि नष्ट होती है।

(२२) [illegible] वटी (ग्रन्थ–र. त.)—२५० मि. ग्रा. (२ गोली) से [illegible] (४ गोली) [illegible] के दूध से तीन बार प्रतिदिन सेवन कराने से यकृत् या प्लीहावृद्धि के साथ पाण्डु व्याधि, कामला से उत्तम लाभ पहुंचता है।

(२३) कुमार्यासव (ग्रन्थ–भै. र.)—१५ से ३० मि. लि. समभाग जल मिलाकर भोजनोपरान्त दो बार प्रतिदिन पिलावें तो प्लीहा, गुल्म, मन्दाग्नि, उदर व्याधि को शान्त करता है।

(२४) पुनर्नवासव (ग्रन्थ–भै. र.)—१५ से ३० मि. लि. समभाग जल मिलाकर भोजनोपरान्त दो बार प्रतिदिन पिलावें तो प्लीहावृद्धि, यकृद्वृद्धि, [illegible] एवं [illegible] गुल्म का नाश होता है।

(२५) [illegible]रिष्ट (ग्रन्थ–भै. र.)—१५ से ३० मि. लि. समभाग जल मिलाकर भोजनोपरान्त दो बार प्रतिदिन पिलाने से [illegible] दूर होकर, [illegible] की वृद्धि होकर प्लीहोदर के [illegible] [illegible] [illegible] है।

सेवन-विधि—३-५ बूंद तरल बताशा या मिश्री चूर्ण या द्राक्षाशर्करा (ग्लूकोज) एक चम्मच पर डालकर प्रातः-साय सेवन करायें तो बढ़ी हुई प्लीहा में चमत्कारिक लाभ दिखलाती है, उदर में वृद्धि नहीं होने देती, भूख अत्यधिक लगती है, दुर्बलता दूर करती है तथा यकृत्वृद्धि एवं अन्य यकृत् व्याधियों में भी अति लाभप्रद है।

सावधान! औषधि-सेवन-काल में खेसाड़ी की दाल, अरवी, उड़द की दाल, कचालू, बंडा, रामतोरई आदि स्निग्ध, शैतीय, रेशेदार एवं वात प्रकोपक द्रव्य पूर्णरूपेण सेवन न करें। पथ्य में शुष्क और तैल, मिर्च रहित भोजन करें।

(४) सेहुड़ के दुग्ध, आक का पीला पका पत्ता एवं सैंधवलवण को एकत्र मिला पकाकर (प्रत्येक समभाग) सुरक्षित रखें। एक ग्राम की मात्रा में उपर्युक्त को पर्याप्त मधु के साथ सेवन करायें तथा इसके एक घण्टे बाद प्रातः-सायं शुण्ठि, कालीमिर्च एवं छोटी पीपल समभाग से एकत्र कूटकर कपड़छन चूर्ण कर ६ ग्राम की मात्रा में ३० से ६० मि. लि. कुमार बाछी के गोमूत्र के साथ सेवन करावें तो प्लीहावृद्धि, उदरशूल, मन्दाग्नि, पाण्डु में उत्तम लाभ पहुँचेगा।

(५) कज्जलीत रस २५० मि. ग्रा. मधु से चटाकर ऊपर से प्रातः-सायं मकोय पत्र १२ ग्राम तथा कलनाथ १२ ग्राम एकत्र लेकर फांट निर्माणकर २५ मि. लि. की मात्रा में से बराबर गोमूत्र मिलाकर पिलायें तो [illegible] (पाण्डुज्वर) के कारण उत्पन्न प्लीहावृद्धि में अत्युत्तम लाभ पहुँचता है। इसके साथ भोजनोपरान्त [illegible] १५ से २० मि. लि. समभाग जल मिलाकर दिन में दो बार पिलावें तो जादू समान चमत्कारिक लाभ उपलब्ध होता है।

(६) प्लीहोदर व्याधि में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, [illegible] वस्ति और अनुवासन वस्ति का प्रयोग लाभप्रद है।

(७) प्लीहोदर व्याधि में पीड़ित व्यक्ति को सर्वप्रथम स्नेहन और स्वेदन करावें। पश्चात् रोगी ने भोजन कराकर बायें हाथ की कफोणि (कोहनी) के मध्य की शिरा का वेधन करायें (आज [illegible]) और इसमें होकर रक्त बाहर निकलना [illegible] प्लीहा को टटोलकर उसको [illegible] रहे। यह प्रक्रिया अति गुणकारी प्रमाणित हुई है जिसका उल्लेख भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतसंहिता में किया था।

(८) यदि प्लीहोदर व्याधि [illegible] हो तो मणिबन्ध को अत्यल्प [illegible] बायें अंगूठे को दबाने से जो शिरा स्पष्ट उभरती है उस पर तप्त की हुई लोह शलाका से दग्ध कर देने पर प्लीहावृद्धि चमत्कारिक रूप से दूर हो जाती है।

(९) यदि प्लीहोदर पित्त प्रधान [illegible] में हो तो जीवनीय गण से विधि-विधान से सिद्ध किया हुआ घृत (गाय का घी), दूध (गाय या बकरी का गर्म दूध) की वस्ति, रक्तावसेचन, विरेचन [illegible] तथा गाय के गरम दूध को पिलाना आदि [illegible] लाभ पहुँचाना चाहिए। पथ्य में जैसा कि ऊपर के प्रकरण में लिखा जा चुका है।

(१०) विषमज्वर के भोगत [illegible] के बाद प्लीहावृद्धि होने पर विषमज्वर के [illegible] विनाशिनी तथा जीर्ण ज्वरहर "[illegible]", "लघुमालिनीवसन्त" तथा प्लीहावृद्धि को [illegible] करने वाली औषधि "लोहभस्म युक्त" "[illegible] वटी", "प्लीहारि लोह" आदि सेवन कराना लाभप्रद है।

(११) सहिजने के मूल [illegible] या कुमार-बाछी के गोमूत्र में सूक्ष्म पीसकर [illegible] (वृद्धि प्राप्त प्लीहा) पर भली-भांति लेप लगाने से बढ़ी हुई प्लीहा प्राकृतावस्था में आ जाती है।

हकीमी एवं यूनानी चिकित्सा

अरबी में प्लीहावृद्धि को [illegible], [illegible] हाल, उर्दू में तिल्ली [illegible] है।

चिकित्सा (इलाज) [illegible] — [illegible] में कुछ [illegible] दाल ६ दाने, [illegible]

1. मर्दकफल।

७ ग्राम, गावजवान ५ ग्राम, करपस की जड़ ५ ग्राम, पीला अंजीर ३ दाने, मंजीठ ५ ग्राम और सूखी मकोय ५ ग्राम। इन्हें इकट्ठे रात में गरम पानी में भिगोकर अहले सुवह[२] आफताव[३] निकलने से पहले उसे मल छानकर उसमें खमीरा वनपशा ४८ ग्राम मिलाकर पिला देवें। शाम के वक्त सौंफ और सूखी मकोय हरेक ५ ग्राम, वीज निकाली हुई दाख ९ दाने, इन सवको अर्क मकोय और अर्क सौंफ हरेक ७२ मि.लि. में पीस छानकर अव इसमें खमीरा वनपशा ४८ ग्राम मिलाकर पिलायें तो इससे इज्मुत्तिहाल[४] यानें तिल्ली[५] का वढ़ जाना और तिल्ली के वरम[६] में मुफीद फायदा[७] करता है।

(२) सुदाव के पत्ते १० ग्राम, उशक ७ ग्राम, वूरए अरमनी ३ ग्राम, खुश्क पोदीना ३ ग्राम। इन सवको असली और वढ़िया सिरका २४ मि० लि० में पीस गरमकर प्लीहा की जगह के ऊपर रोज दो वार लेप करें। खाना खाने के वाद सफूफ तिहाल २ ग्राम हरेक वार सुवह-शाम खिलायें अथवा हव्व अशवार २ ग्राम हरेक वार सुवह-शाम खिलायें। साथ ही जिस्म किवरीत को सिरका में मिलाकर तिल्ली की जगह के ऊपर लेप रोज २-३ वार करें।

अगर इन नुस्खों से चन्द रोज में फायदा नहीं हो तो दो सप्ताह वाद तक अहले सवेरे[८] वेखइजखिर ७ ग्राम, सौंफ की जड़, शुकाई और वादावर्द हरेक ५ ग्राम एक साथ मिलाकर मुंजिज[९] की तरह पिलायें। इसके वाद ऊपर की मुंजिज में दस्त कराने के ख्याल से सफेद निशोथ ६ ग्राम, मक्की सनाय के पत्ते ७ ग्राम, पीली हरड़ का वकला १२ ग्राम मिलाकर रात में भिगो दें और सवेरे मल-छानकर अमलतास की गुद्दी ६० ग्राम, तुरंजवीन ४८ ग्राम, वूरा सुर्ख[१०] ४८ ग्राम और वादाम का मग्ज ५ दाने के शीरा में मिलाकर पिलायें। अगले रोज ठंडाई पिलायें। इसी तरह तीन वार दस्त की दवा देवें। साथ ही गेहूं की भुसी, सोया, अंगूर की लकड़ी की राख। इन सवको इकट्ठे वारीक पीसकर अंगूरी सिरका में मिलाकर सुहाता गरम करके तिल्ली की जगह पर मरहम के माफिक रोज २-३ वार (एक वार जरूरत में सोते समय) लगायें। अगर इससे फायदा नहीं हो तो अंजरूत ६ ग्राम, कतीरा, जरावन्द मुदहरज हरेक १२ ग्राम और उशक २४ ग्राम। इन सवको पुराने सिरका में अच्छी तरह हल करके मोटे कपड़े के ऊपर लेप करके तिल्ली की जगह पर चिपका देवें। इसका जितना कपड़ा उखड़ता जाए उतना रोज तेज कैंची से काटते जायें।

दस्त कराने के वाद ताकत, खून और कुव्वत वढ़ाने के ख्याल से दवाउल्मिस्क मोतदिल जवाहर वाली ५ ग्राम में कुर्स फौलाद[११] २५० मि. ग्रा. (१ टिकिया) मिलाकर पहले खिलाकर ऊपर से सौंफ, खुश्क मकोय, कासनी के वीज हरेक ५ ग्राम, वीज निकाली हुई दाख ९ दाने। इन सवको अर्क गावजवान और अर्क विरंजासिफ प्रत्येक ७२ मि. लि. में पीसकर खमीरा वनपशा ४८ ग्राम मिलाकर सुवह-शाम पिलाते रहें। दिल्ली के हकीम अजमलखां का इस माने में नुस्खा था कि पित्तपापड़ा ७ ग्राम, गुलवनपशा, चिरायता हरेक ७ ग्राम, विरंजासिफ, खुश्कमकोय, अफसंतीन हरेक ५ ग्राम एक साथ रात में गरम पानी में भिगोकर सवेरे मसल छानकर खमीरा वनपशा ४८ ग्राम मिलाकर पिलायें। खाना खाने के वाद हल्का गंधक का तेजाव २-४ बूंद लगभग २०० मि. लि. से २५० मि. लि. जल में मिलाकर दिन और रात में पिलायें। इसके साथ ही पीला एलुआ ६ ग्राम, केसरमोंगरा २ ग्राम, अंगूर की लकड़ी की राख १२ ग्राम, झाऊ की लकड़ी की राख १२ ग्राम असली सिरका में पीसकर सुहाता गरम करके तिल्ली की जगह के ऊपर लेप करें (रोज २-३ वार)।

हव्व कमीखून, दवाउलकुर्कुमकवीर, माजूनदवीहु०, दवाउल्मिस्क मोतदिल। इनमें से किसी एक का ५ ग्राम अथवा जवारिस जालीनूस ७ ग्राम को कुर्स फौलाद की १ टिकिया या कुर्स खुव्सुल्हदीद २५० मि. ग्रा. के साथ

---

२. प्रातः, ३. सूर्य, ४. प्लीहावृद्धि, ५. प्लीहा, ६. प्लीहोदर, ७. अति लाभ, ८. अति प्रातःकाल, ९. दोष को पचाने वाली औषधि, १०. लालशक्कर, ११. लोहभस्म।

प्लीहार्बुद

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद, आयुर्वेद-बृहस्पति, "विशेष सम्पादक"
आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध-संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

व्याधि परिचय—"अथातो प्लीहार्वुद व्याधि निदान सफल चिकित्सात्मक शोध अध्ययनीय नाम प्रकरणं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय धन्वन्तरि आचार्य महेश्वर प्रभृतयः ॥"

इस निवन्ध में प्लीहार्वुद व्याधि के निदान एवं सफल चिकित्सा के प्राचीन-नवीन शोध का उल्लेख किया जा रहा है। आचार्य सुश्रुत ने अर्वुद के सम्वन्ध में निम्न भाव व्यक्त किये है—

"मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽगे
मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकम्
श्मोपमप्रचाल्यम् ॥
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य वाढ़मेतद्
भवेन्मांसपरायणस्य।
मामार्वुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं
साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्तु ॥
संप्रसुतं मर्मणि यच्चजातं स्रोत
सु वा यच्च भवेदचाल्यम्।
यज्जायये ऽन्यत्खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्वुदमर्वुदतैः।
यद् द्वन्द्वजातं युगपत्क्रमाद्वा
द्विरर्वुदं तच्च भवेद साध्यम् ॥"

अभिप्राय यह है कि मुष्टि प्रहार, घूसा, लात, घुटना, केहुनी, काष्ठ, पत्थर, ईट, रोड़ा, लाठी, छड़ी, लोहखण्ड आदि स्थूल एवं पदार्थ के आघात से प्लीहा पर या प्लीहा प्रदेश में चोट लगने से, जीर्ण श्वेत रक्तता में प्लीहा बुरी तरह आक्रान्त हो जाने पर, प्लीहागत अवरोध हो जाने पर, दीर्घकाल तक काल-ज्वर रहने के कारण प्लीहावृद्धि का कष्ट वहुत समय तक भोगने से स्थानीय मांस दूपित होकर प्लीहा में स्पञ्जसदृश शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह शोथ दर्द रहित चिकनापनयुक्त, त्वचा के तीव्र उभार सदृश रङ्ग वाला, पाकहीन, पत्थर समान कठोर और स्थिर होता है। पाकहीन होने का कारण यह है कि कोई भी अर्वुद कफ दोप प्रधान होने और विशेप रूप से दूपित मेदधातु की प्रधानता होने से, दोपों की स्थिरता एवं कठिनता की स्थिति हो जाने से और व्याधि के स्वाभाविक स्वरूप के कारण पाक को उपलब्ध नहीं होते है। यदुक्तं ग्रन्थे—

"न पाक मायान्ति कफाधिकत्वात् मेदोऽधिकत्वाच्च विशेपतस्तु। दोपस्थिर त्वात् ग्रंथनाच्च तेपां सर्वार्वुद्धान्येव निसर्गतस्तु ॥"

—सुश्रुत संहिता नि० ११/१९

प्लीहा में अर्वुद हो जाने को प्लीहार्वुद कहते है। सर्व प्रथम अर्वुद को समझ लें, इसके वाद प्लीहार्वुद को समझना सरल हो जायगा।

"अरिवत वुन्दति इति अर्वुदः" अर्थात् निज शरीर के लिये जो शत्रु के समान कष्टदायक होता है उसे

प्लीहार्वुद में कफ और मेदधातु की अधिकता विशेष रूप में रहती है, अतः प्लीहा के मांस का उभार होने से वातादि दोषों के चिरकाल तक स्थिर रह जाने से तथा उक्त दोषों के ग्रन्थिरूप धारण कर लेने से प्लीहार्वुद में पाक नहीं होता है।

विकृति—प्लीहार्बुद उत्पत्ति की प्रक्रिया दीर्घ-कालिक होने के कारण इसके चतुर्दिक सौत्रिक तन्तु के सम्पुट वन जाता है जो पिण्डकार या वृत्ताकार (वर्तुलाकार) होता है। ज्यों-ज्यों अर्बुद तीव्र गति से वृद्धि करता जाता है उसमें सूत्र विभाजन अधिक उप-लब्ध होता है। अर्वुद की कोशिका अपने अधस्तून कला को निच्छिद्रित कर देते हैं और आसपास की स्वस्थ ऊतियों में प्रविष्ट कर जाते हैं। परिणामस्वरूप वे वैगनी रङ्ग के स्पञ्ज सदृश संरचना का निर्माण करते हैं।

सम्प्राप्ति घटक—

(अ) उद्भव–प्लीहा, प्लीहा प्रदेश।

(आ) सञ्चार–प्लीहा की कोशिकाएं एवं ऊतकों की रक्तवाहिनियां।

(इ) अधिष्ठान–प्लीहा।

(ई) दोष–वात, पित्त एवं कफ(कफ की प्रधानता)

(उ) दूष्य–मेद धातु की प्रधानता तथा मांस, रक्तादि की गौणता।

(ऊ) स्रोतस–मेदोवहस्रोत, रक्तवह एवं मांसवह स्रोत।

(ए) स्रोतोदुष्टि–प्लीहा के ऊतकों की रक्तवाहि-नियां अवरुद्ध हो जाती है।

(ऐ) अग्नि–जाठराग्नि वैषम्य।

(ओ) आम–आम की यदा-कदा उत्पत्ति।

(औ) व्यक्ति स्थान–प्लीहा यकृत्, उदर प्रदेश।

प्रकार—

सुविधा की दृष्टि से प्लीहार्वुद के तीन प्रकार माने गये है—

· (१) तीव्र, (२) जीर्ण तथा (३) जटिल।

व्याधि के पूर्व रूप—

(१) प्लीहा प्रदेश में उत्सेध, कठोर उभार एवं गांठ की अनुभूति।

(२) उत्सेध या गांठ किसी भी औषधि से दूर न हो सके।

(३) निरन्तर अजीर्ण का कष्ट होता रहे, कब्ज पकड़े रहे तथा।

(४) अकस्मात् शरीर के भार में कमी मालूम पड़े।

(५) आक्रान्त स्थान पर की त्वचा श्वेत दिखलाई पड़े।

(६) कभी-कभी प्लीहा प्रदेश में तेज दर्द हो।

व्याधि के रूप लक्षण—

(१) प्लीहा प्रदेश अन्दर से लालिमायुक्त और वाहर से श्वेत दृष्टिगोचर होता है।

(२) रुग्णा शरीर के मांस और रक्त दिन प्रति-दिन क्षीण होते जांय तथा वह दुवला-पतला होते चला जाय।

(३) प्लीहा प्रदेश में तेज शूल होता है, जलन होती है तथा शोथ के साथ स्थानीय तापक्रम की न्यूनता होती है।

(४) स्पर्श–परीक्षा करने पर प्लीहा में अर्बुद प्रतीत होता है।

(५) ज्वर आ जाता है, रात को प्लीहा की वेदना बढ़ जाती है।

(६) भोजन में अरुचि, मूत्र पीत वर्ण का आना, शरीर की प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास तथा अरक्तता।

त्वरित पहचान—रोगी का मुखमण्डल म्लान, शरीर अतिकृश एवं दुर्वल, पाचनशक्ति का ह्रास, प्लीहा में अर्बुद (गांठ) की अनुभूति, प्लीहावृद्धि तथा स्थानीय वेदना, स्पर्श से या कभी-कभी विना स्पर्श के भी प्रतीत होती है।

व्याधि विनिश्चयार्थ अर्वाचीन परीक्षायें सापेक्ष निदान एवं साध्यासाध्यता

निम्न आधुनिक जांच द्वारा प्लीहार्बुद का विनि-श्चय किया जाता है।

(४) रौद्र रस (ग्रन्थ–भैषज्य रत्नावली)—१२५ मि०ग्रा० प्रातः-सायं मधु में मिलाकर चटायें तथा ऊपर से नीमछाल के क्वाथ १२ मि०लि० पिलायें।

(५) प्लीहोदरारि चूर्ण (ग्रन्थ–र० त० सा० व सि० प्र० सं०)—१२५ मि०ग्रा० से २५० मि०ग्रा० मात्र प्रातः या आवश्यकतानुसार २-३ बार प्रतिदिन जल से दें।

(६) कैशोर गुग्गुल (ग्रन्थ–र० त० सा० व सि० प्र० सं०),

(७) तालकेश्वर रस (ग्रन्थ–रस योग सागर),

(८) कैंसर गजकेशरी वटी (वैद्य बद्रीनारायण शास्त्री द्वारा अनुभूत)—६० मि०ग्रा० की १-२ गोली पर्याप्त घी के साथ निगलकर ऊपर से गाय का दूध १०० मि०लि० दिन में तीन बार पिला दें।

(९) बालमूत्र का क्षार (५ वर्ष के बालक के मूत्र को जल उष्मक पर सुखाकर निकाला क्षार)—१२५ मि०ग्रा० प्रातः-सायं मधु से या सुपक्व अंगूर के रस के साथ सेवन करायें।

(१०) अमृत भल्लातक अवलेह (ग्रन्थ–रसयोग सागर)—१० ग्राम से १२ ग्राम प्रातः एवं रात्रि को प्रतिदिन खिलायें।

(११) कुमार्यासव (भै० र०)—१५ मि०लि० समभाग जल मिलाकर शरपुंखा के मूलत्वक् चूर्ण १-२ ग्राम के साथ भोजन के बाद दिन में दो बार सेवन करायें।

निजी शोध से उपलब्ध नव आविष्कृत औषधियाँ

(१) कैंसर विनाशिनी महेश्वरम् रसायन (सुधानिधि १९८९, १८ [३-४] : ९-१४)—वय एवं सामर्थ्य के अनुसार ½ से २ कैपसूल गाय के उत्तम छाली के निर्मित घी एवं गुड़ के हलवे या मलाई में लपेटकर दिन में दो बार निगलवा दें। नमक, सफेद चीनी पूर्ण वर्जित है।

(२) कैंसर विनाशिनी महेश्वरम् लेप—(पूर्ववत्) पीस ताजा लेप बना प्रतिदिन तीनबार प्लीहा प्रदेश पर मोटा लेप लगायें। लेप की निर्माण विधि इस प्रकार है—

नीमपत्र, मेंहदीपत्र, चांगेरीपत्र, पाषाणभेद पत्र, शरपुंखामूल छाल, शोभांजनमूल छाल, अमरलता, स्वर्णक्षीरीमूल, स्वर्णक्षीरी बीज, श्वेतपुनर्नवामूल एवं पत्र, निर्गुण्डीपत्र, भृङ्गराजपत्र, रक्तरोहितक छाल, कालेतिल, एरण्डमूल छाल, चिरायतापत्र, गोरखमुण्डी पत्र, बालहरीतकी, ताजे आंवले का गूदा, कटकरंज की मींगी, द्रोणपुष्पीपत्र, भल्लातक रीठा के फल के छिलके, पोस्तदाना, शोभांजन गोंद, मैदा प्रत्येक १००-१०० ग्राम लेकर भली तरह पीसकर ताजा लेप दिन में ३ बार करें।

गुण—यह प्लीहावृद्धि में विशेष लाभदायक लेप है। ★★

प्लीहान्तक गुटिका

फिटकरी का फूला, सुहागे का फूला, गिलोयसत्व, लोहभस्म, शंखभस्म, १-१ तोला, शुद्ध गन्धक तथा एलुआ २-२ तोला। सबको घृतकुमारी के रस के साथ १२ घण्टे घोटकर मटर के बराबर गोलियां बनालें।

मात्रा—१-१ गोली दिन में ३ बार कुमारी आसव से दें।

गुण—यह योग रसतन्त्रसार का है सभी प्रकार की प्लीहावृद्धि में सुन्दर कार्य करने वाला योग है। यकृत्वृद्धि, कामला में भी लाभकर प्रमाणित हुआ है।

—सम्पादक।

अन्य गुरु, अभिष्यन्द व विदाहि पदार्थों से युक्त हो जाता है और यदि कुच मर्दन के बाद बिना कुचों को विश्राम दिये बालक को यदि दुग्धपान कराया जाता है तो वह दूध कुस्वादु अभिष्यन्दि गुरु व विदाहि होकर बालक में अजीर्ण व प्रतिश्याय का प्रारम्भ कर देता है।

माता क्वचित् गर्भधारण करने के बाद भी बालक को दुग्धपान कराती रहती है वह दुग्ध भी विकृत, गुरु व अभिष्यन्दि होता है और बालक को सात्म्य न होने से अजीर्ण बढ़ता जाता है। क्वचित माता के विकृत आहार-विहार या अन्य रोगो के कारण भी बच्चो को फक्करोग हो जाता है। जो बालक एक वर्ष के होने पर भी अपने पैरों से नहीं चल सकते और उनको कुछ पंगुता आ जाती है। इसी पंगुत्वावस्था के द्योतनार्थ इस रोग का नाम फक्क रखा गया है।

> बालः संवत्सरादूर्ध्वं पादाभ्यां यो न गच्छति।
> सफक्कः इतिविज्ञयकाश्यपात् फक्कत्वमाप्नुयात्॥
> क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधि संभवम्।
> फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तं क्षीरजं तत्र वर्णितम्॥

इस प्रकार फक्क क्षीरजन्य, गर्भजन्य व व्याधिजन्य तीन प्रकार का कहा गया है। आचार्य काश्यप ने क्षीरजन्य, गर्भजन्य व व्याधिजन्य द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंग से फक्करोग का कारण व लक्षण दर्शाया है।

क्षीरज फक्क

> धात्री श्लेष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति सांज्ञता।
> तत्क्षीरपो बहुव्याधिः काश्यात् फक्कत्वमाप्नुयात्॥
> पित्तानिलप्रकृतिका पटुक्षारा पटुप्रजा।
> कुतः पंगु जड़ा मूका त्रिदोषक्षीरभोजनः॥
> हृदयात् सम्प्रवर्तन्ते मनः पूर्वाणि देहिनाम्।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थश्चोदा (?)······हितम्॥
> तन्न वागिन्द्रियं त्वक द्विधा भिन्नं यथा करौ।
> अर्धेन शब्दं वदति गृह्यात्यर्धेन तत्पुनः॥
> तस्माच्च मूका भूयिष्ठं भवन्ति बधिरा नराः।
> वाङ्मूलं हि स्मृतं श्रोत्रं वाग्भ्रंशे भ्रश्यते हि तत्॥
> मूलं वाक्छोत्रं म··········च्च बधिरो नरः।
> ब्रवीते मूले हि हते हतावा··················॥

अर्थात् जिस धात्री (माता) का दूध श्लैष्मिक होता है, उसे 'फक्क दुग्धा' कहते हैं। ऐसे दुग्धपान से अग्निमांद्य होकर कफ स्थान में वक्षस्थल, गला, श्वास, नाड़ी, प्रभृति स्थानों में कफ समाविष्ट होकर बालक कृश होने लगता है और इसी कृशता के कारण उसे फक्करोग हो जाता है। पित्त या वात प्रकृति की स्त्री जिसका दूध लवणयुक्त हो अथवा जिसे सन्तान अधिक होती हो, उसके दुग्ध के सेवन से या त्रिदोषज क्षीर का सेवन करने से बालकों में पंगुता, जड़ता तथा मूकता आ जाती है। ये लक्षण हृदय के द्वारा मन को पुरस्सर करके देहधारियों की सम्पूर्ण इन्द्रियों में देखे जाते हैं। इन इन्द्रियों में एक वाक् इन्द्रिय है, जिसके दो भाग होते हैं। एक के द्वारा बोलने का कार्य सम्पन्न होता है तथा दूसरे के द्वारा श्रवण कार्य किया जाता है। अतः जब बालक मूक हो जाता है तो साथ ही बधिर भी होने लगता है। वाङ्मूल में स्थित श्रोत्र वाग्भ्रंश के साथ स्वयं भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः व्यक्ति को बधिर कर देता है आदि।

गर्भज फक्क

> गर्भिणी मातृकः क्षिप्रं स्तन्यस्य विनिवर्तनात्।
> क्षीयते म्रियते वाऽपि स फक्को गर्भपीडितः॥

जिस शिशु की माता शीघ्र गर्भवती हो जाती है तो उसका दूध शीघ्र ही सूख जाता है। दूध न मिलने से बालक दिन पर दिन क्षीण होता जाता है और अन्ततः उसकी मृत्यु हो जाती है। इसे गर्भ द्वारा पीड़ित फक्क रोग कहते है। इस तरह गर्भिणी स्त्री के दूध की कमी और उसके दूषित दूध द्वारा शिशु को अग्निमांद्य, वमन, दस्त रोग लगते हैं और शिशु यकृत् रोग से पीड़ित हो जाता है, जिससे बालक दिन-प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है।

व्याधिजन्य फक्क

> निर्जरागन्तुभिश्चैव·········रो ज्वरादिभिः।
> अनाथः क्लिश्यते बालः क्षीणमांसबलद्युतिः॥
> सशुष्कस्फिचबाहूरुर्महोदर शिरोमुखः।
> पीताक्षो दूषिताङ्गश्च दृश्यमानास्थिपञ्जरः॥
> प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत्।
> निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमोऽपि वा॥

दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतकः ।
मक्षिका कृमि कीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरुक् ॥
विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः ।
दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति ॥
अतिविण्मूत्रदूषिकाशिङ्घाणकमलोद्भवः ।
इत्येतैः कारणं विद्याद्व्याधिजां फक्कतां शिशोः ॥

निज एवं आगन्तुक ज्वर आदि रोगों से ग्रस्त हो जाने के कारण अनाथ बालकों का मांस, बल एवं द्युति क्षीण हो जाती है। जिससे नितम्ब, बाहु तथा जंघायें सूख जाती है। उदर आगे की ओर बढ़ जाता है, शिर और मुख भी बड़े हो जाते हैं। नेत्र पीत और शरीर में रोमहर्ष हो जाता है। अस्थि-पंजर मात्र दृश्यमान हो जाता है। उनके शरीर का निचला भाग विशेष रूप से म्लान दिखलाई पड़ता है। मूत्र एवं मल की प्रवृत्ति होती रहती है। धीरे-धीरे कमर के नीचे का भाग निश्चेष्ट हो जाता है और बालक हाथों और घुटनों के बल चलने या खिसकने लगता है। दुर्बलता के कारण उसकी चेष्टायें मन्द पड़ जाती है। चेष्टाओं के मन्द हो जाने से कृमि, कीट, मक्खियां आदि उसे आक्रांत करती रहती है। फक्क रोगी के रोम विशीर्ण, हृष्ट तथा स्तब्ध रहते है। नख बढ़ जाते है। दुर्गन्ध आती है, मलिनता बढ़ जाती है और वह क्रोधी हो जाता है। उसकी श्वास की गति असामान्य होती हैं। मल-मूत्र की अधिकता होती है। नासिका तथा अन्य स्रोतों से दूषित मल आता है। ये सभी लक्षण व्याधि जन्य फक्क रोग के परिचायक हैं।

कारण—काश्यप ने इस रोग के ३ कारण माने हैं—१. दुग्ध से, २. गर्भज विकार और ३. रोगों से। आधुनिक वैज्ञानिक भी इन तीनों भेदों में निरूपित सम्प्राप्ति को सर्वथा स्वीकार करते हैं। शुरू में ही विटामिन-डी का अभाव शिशु में व्याधि प्रवर्त्तक होता है अथवा शिशु के आहार में विटामिन-डी के अभाव से ही फक्करोग होने की सम्भावना रहती है।

मुख्यतः आहार में विटामिन-डी का अभाव ही रोग का कारण है। भोजन में धान्य का अनुपात अत्यधिक रहने तथा विटामिन-डी के स्रोत दुग्ध, मक्खन के अभाव से रोग-प्रवृत्ति होती है। सूर्य का प्रकाश न मिलने के कारण अस्थिनिर्माण के लिए अपेक्षित सुधालवण (Calcium) और फॉस्फोरस का पर्याप्त मात्रा में शोषण नहीं होप ता क्योंकि सूर्य की अतीत नीललोहित किरणें (Ultra viollet rays) ही त्वचा के भेद में विटामिन-डी का निर्माण करती हैं और विटामिन-डी की उपस्थिति में ही कैल्शियम और फॉस्फोरस का शोषण और आत्मीकरण सम्भव होता है। इसके अलावा बच्चे के खानपान का असंतुलन होना भी इस रोग का प्रमुख कारण है। अस्वच्छ वातावरण तथा यकृत् की खराबी से अधिक दिनों तक कब्ज रहने से भी फक्करोग हो जाता है।
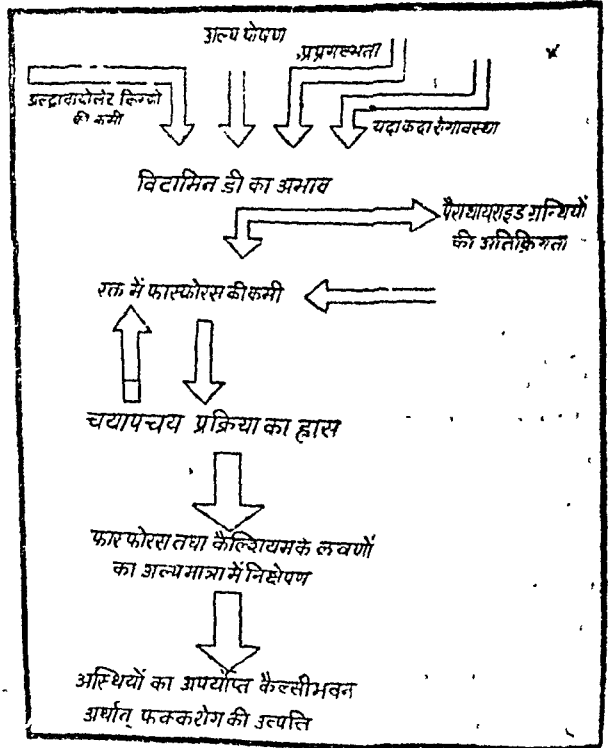
लक्षण—आयुर्वेदिक मतानुसार आचार्य कश्यप ने क्षीरजन्य, गर्भजन्य व व्याधिजन्य द्वारा इस रोग के लक्षण का वर्णन किया है जो मैं उपरोक्त क्षीरजन्य, गर्भजन्य व व्याधिजन्य फक्क में वर्णन कर चुका हूं, फिर भी मैं आयुर्वेदिक तथा आधुनिक मत से

मिलते-जुलते लक्षण को आपके समक्षों प्रस्तुत कर रहा हूं।

फक्करोग में नितम्ब के मांस प्रदेश पर सलवट पड़ना, हाथ-पैरों की दुर्बलता, वक्षस्थल का दब जाना और पेट का उभार व उस पर नसों का दीखना, हरे-पीले दस्तों का बार-बार होना, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, दांतों का समय पर न निकलना, अस्थियों में वक्रता प्राप्त होना, चलने-फिरने की शक्ति १½ वर्ष तक होने पर भी न होना। शिशु की आंखें चिकनी तथा श्वेत हो जाती हैं।

इस रोग में अस्थि विकृति अधिक रहती है। साल भर से बच्चे में छाती की हड्डियों में विकृति आती है। दूसरे और तीसरे वर्ष में शाखाओं की अस्थियां, कशेरुकायें, हनु तथा अन्य स्थानों की अस्थियां विकार ग्रस्त होती हुई पाई जाती हैं। छः माह का बालक जब फक्करोग से पीड़ित होता है तब उसके ब्रह्मरन्ध्र के किनारे मृदु हो जाते हैं और कपाल शोष के लक्षण भी मिलते हैं।

मांस धातु, उपधातु और बाह्य क्षीण होने के कारण वह भाग सूखा हुआ दिखाई देता है। यकृत् प्लीहावृद्धि होकर और मांसधातु शैथिल्य से उदर भाग बहुत बड़ा दिखाई पड़ने लगता है। शरीर कृश होकर अस्थियों का पिंजड़ा दिखाई देता है। पाचकाग्नि में बिगाड़ होकर ग्रहणी विकार के लक्षण होते हैं।

फक्करोग के आधुनिक विज्ञान सम्मत लक्षणों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन सुधानिधि के शिशुरोग चिकित्सांक में 'फक्करोग या रिकेट्स' नामक लेख में दिया गया है जो पाठकों के लाभार्थ यहां अविकल दिया जा रहा है—

रोग लक्षण—फक्करोग के लक्षण वातनाड़ी संस्थान में पहले आरम्भ होते हैं बाद में अस्थियों में मिलते हैं। नीचे फक्करोग में पाये जाने वाले विविध लक्षणों का उल्लेख किया जा रहा है।

(१) **वातनाड़ी संस्थान [नर्वस सिस्टम] सम्बन्धी लक्षण**—आरम्भ में इन लक्षणों का स्मरण रखना होगा—

(१) बेचैनी और प्रक्षोभ।

(२) अस्थिरता।

(३) नींद की कमी और नींद में चौंक पड़ना।

(४) सोते और दूध पीते समय पसीने का आना। पसीने में दुर्गन्ध होती है यह चिपचिपा होता है जो त्वचा में खुजली पैदा करता है।

पसीना सिर से बहुत निकलता है। खुजली भी सिर में अधिक आती है। सिर के पिछले भाग को तकिये पर रगड़ने से सिर के पिछले हिस्से के बाल उड़ जाते हैं जिसे पश्चकपालखालित्य (ओक्सीपिटल एलोपेसिया) कहा जाता है।

(५) पसीने के कारण बालक के शरीर पर दाने-दाने उग आते हैं। ये छाती और पीठ को भर देते हैं। इनमें खुजली भी खूब होती है।

आरम्भिक फक्करोग में अस्थियों के लक्षण उत्पन्न होने के पूर्व ये लक्षण देखे जाते हैं।

(६) इस रोग के आरम्भ में वासोमोटर (वाहिका प्रेरक) लक्षण भी मिलते हैं—बच्चे की चमड़ी पर थोड़ा सी भी दाब पड़ने से लाल धब्बा पड़ जाता है। ताप नियन्त्रण में भी अन्तर पड़ता है।

(७) छूने की कष्ट (अति संवेदिता) इस रोग में मिलती है। जैसे ही कोई बच्चे को गोद में उठाता है वह रोने और चीखने लगता है। यह लक्षण रोग की तीव्रावस्था में बहुत उग्र धारण कर लेता है।

(८) क्रिया का अभाव—द्वितीय और तृतीय श्रेणी के बालकों में क्रिया का अभाव देखा जाता है। बच्चा निष्क्रिय पड़ा रहता है उसका हिलना-डुलना घट जाता है। उसको बैठाना या खड़ा रखना कठिन होता है। ऐसे रोगी बालक साल भर से बैठना और साल में खड़ा होना सीखते हैं।

(९) ग्रन्थियों की वृद्धि भी इस रोग में किसी-किसी में देखी जाती है। [illegible] (टॉन्सिल [illegible]) [illegible] इस रोग से [illegible] है।

(१०) [illegible] से मिलता है। [illegible] या तृतीय श्रेणी के [illegible] वर्ष की आयु तक भी [illegible]

उपचार किया जाता है तब २-३ महीने के बाद में बैठना और उसके भी कुछ साल बाद बोलना सीखते है।

(२) **अस्थि संस्थान सम्बन्धी लक्षण**—वातनाडी संस्थान की विकृतियों के साथ ही साथ फक्क रोग में अस्थियों के परिवर्तन भी देखे जा सकते हैं। जिन बच्चों के शरीर भार और वृद्धि में अधिक विकास पाया जाता है उनमें अस्थि सम्बन्धी विकृतियां इसलिये भी मिलती है क्योंकि इस विकास के लिए विटामिन–डी की अधिक आवश्यकता होती है जिससे अस्थियों के लिये विटामिन–डी कम हो जाती है। अलग-अलग अस्थियों का विकास बच्चों में अलग-अलग समय पर होता है। शुरू के छ: महीने में कपाल की अस्थियां विकसित होती हैं। यदि इस समय विटामिन डी की कमी हुई तो इनका प्रभाव कपाट की अस्थियों के पतले होने में होता है। साल भर के बच्चे में छाती की हड्डियों में विकृति आती है। दूसरे और तीसरे वर्ष में शाखाओं की अस्थियां, कशेरुकायें, हनु तथा अन्य स्थानों की अस्थियां विकारग्रस्त होती हुई पाई जाती हैं।

छ: महीने का बालक जब फक्क रोग से पीड़ित होता है तब उसके ब्रह्मरन्ध्र के किनारे मृदु हो जाते हैं और कपाल शोष के लक्षण भी मिलते हैं। यदि ऐसे बालक के सिर को दोनों हाथों में पकड़कर दबाया जाय तो स्थान-स्थान पर चवन्नी बराबर कई क्षेत्रों में हड्डियों में कोमलता या लचीलापन मिल सकता है। इस सबसे बालक का सिर विकृत हो जाता है। पश्चकपाल क्षेत्र इसी प्रकार कई बच्चों में सपाट हो जाता है। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है।
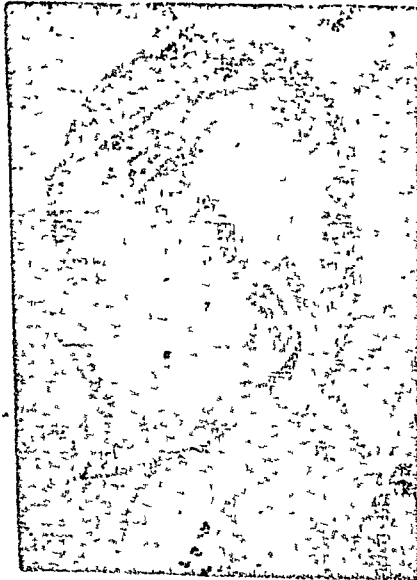
अस्थिमार्दवता के साथ ही साथ पुरः कपालस्थि और पार्श्वकपालास्थियों में उत्सेध उत्पन्न हो जाते हैं जो अस्थिभवन केन्द्रों के अन्दर अस्थ्याभ ऊतक के अधिक निर्माण को प्रकट करते हैं।

फक्की बच्चों के दांत भी देर में उगते हैं दूध के दांत स्वस्थ बालकों में छ: से आठ महीने में उगने लगते है वे साल-सालभर तक नहीं उग पाते और जो दांत उगते भी है वे भंगुर, खातयुक्त, बेडौल और दूषित कवच युक्त होते हैं।

पर्शुका जहां तरुणास्थि से मिलती है वहां फक्की बालक में स्थूल उभार बन जाते हैं। इन उभारों की एक माला सी बन जाती है जो छाती पर स्पष्ट देखी

(७) रक्त संवहन की गति भी फक्की में कम हो जाती है। हृदय और बड़ी वाहिनियों को रक्त पूरी मात्रा में नहीं जाता जिससे रक्त यकृत् और प्रतिहारिणी सिरा में रुक जाता है।

(८) फक्की बालकों में कई प्रकार के हृद्विकार देखे जा सकते हैं। हृदय की गति मन्द या तीव्र अनियमित या रुक-रुककर हो सकती है। श्वास की गति तेज हो सकती है। शरीर श्याव हो सकता है तथा नेत्रोत्सेध मिल सकता है।

(९) अधिकांश फक्की बालकों में अरक्तता या पांडु रोग मिलता है। रक्त के लाल कणों की संख्या घट जाती है तथा उनमें हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाती है यह स्थिति रोग की तीव्रावस्था में पाई जाती है। कभी-कभी फक्क रोग सौम्य होने पर भी अरक्तता गम्भीर मिल सकती है। कुछ लोग इसका कारण फक्की के शरीर में अम्लता की वृद्धि होना मानते हैं।

[६] जैवरासायनिक परिवर्त्तन—

फक्की बालक में निम्नलिखित जैव रासायनिक परिवर्त्तन मिल सकते हैं—

१. रक्त में फास्फोरस की कमी का होना। साढ़े चार से पांच मि. ग्रा. प्रति १०० मि. लि. रक्तरस में इनऑरगैनिक फास्फोरस स्वस्थावस्था में मिलता है यह मात्रा ३ से १½ मि. ग्रा. ही रह जाती है। इसका कारण वृक्काणु नलिकाओं द्वारा फास्फोरस का पुनर्चूषण ठीक से न होना है।

२. रक्त में कैल्शियम का घट जाना। स्वस्थ बालक में प्रति १०० मि. लि. रक्त में १० से ११ मि. ग्रा. कैल्शियम होती है। यह ९ से ९½ मि. ग्रा. ही रह जाती है। कैल्शियम फास्फोरस का अनुपात स्वस्थ बालक के २:१ है जो तीव्र फक्करोग में ३½:१ तक हो जाता है।

३. फक्करोग में एल्कलाइन फास्फेटेज नामक ऐंजाइम की सक्रियता बहुत अधिक बढ जाती है। यह ऐंजाइम सेन्द्रिय यौगिकों से निरिन्द्रिय फास्फोरस तैयार करता है। इस ऐंजाइम की क्रिया फक्करोग के दूर होने के बाद मिलती है।

[७] क्ष-किरण चित्रण परीक्षण—

क्ष–चित्र परीक्षा द्वारा अस्थियों में हुये विशेष परिवर्त्तनों से फक्करोग की पहचान की जाती है। इन्हें इस विषय की बड़ी पुस्तक द्वारा देखना चाहिये।

[८] सहज फक्क—

फक्करोग सहज है या नहीं इसके विषय में अभी तक विवाद है। वैसे अस्थिमार्दवता से पीड़ित माताओं के बालकों को फक्करोग होते देखा गया है।

सम्प्राप्ति—इसका उद्भव माता के श्लैष्मिक दुग्ध से होता है। क्योंकि श्लैष्मिक (कफ) के द्वारा स्रोत एवं रसवाहिनियों के अवरोध से शरीर का पोषण क्रमशः बन्द हो जाता है और रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी को अष्टांगहृदय में कहा गया है—

'शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रस वाहिषु।'

इस सम्प्राप्ति से स्पष्ट हो जाता है कि कफ के द्वारा ही-रसवाही स्रोतों का अवरोध हो जाता है। आंतों में भी श्लेष्मा के कारण शोषण में रोध रहता है अतः पाचन न हो सकने से शरीर को पोषणतत्व नहीं मिल सकते। इस रोग की विकृति बताते हुए श्री चीडिल ने लिखा है कि यकृत् का कार्य सुचारू न होने पित्त (Bile) का निर्माण कार्य उचित नहीं होता अतः पाचन में बाधा पड़ती है।

आधुनिक मान्यता है कि कैल्शियम फॉस्फेट व विटामिन–डी की कमी से शरीर को पोषणतत्व नही मिलते जिससे अस्थियों में खटिक की जितनी मात्रा मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिलती है और इसी कारण अस्थि मार्दवता तथा अस्थि वक्रता मिलती है। रोगावस्था में दोनों प्रकार की सम्प्राप्ति मिलती है—प्रथम तो व्याधि के कारण क्षय की और दूसरे आहार आदि का शरीरांगों में न लगकर क्षीणता करने की।

क्षीरजफक्क, गर्भजफक्क और व्याधिजन्य तीनों प्रकार के फक्क में सप्तधातु, तीनों दोष एवं सम्पूर्ण अवयवों में विकृति स्पष्ट भासित होती है। पाचन संस्थान विकृति, यकृत् प्लीहा विकृति, श्वसन संस्थान विकृति व अस्थि विकृति देखने को मिलती है।

रास्ना, मुलहठी, पुनर्नवा, एकपर्णी, एरण्ड, सौंफ, द्राक्षा, पीलतु या त्रिवृत् के द्वारा पकाये हुये दूध का प्रयोग करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त मांसयूप तथा संस्कार किये हुये दूध के साथ शालि के चावल का नित्य सेवन कराना चाहिये ।

इन्हीं उपर्युक्त औषधियों से ही तैल सिद्ध कर फक्क रोगी के शरीर पर अभ्यग करना चाहिये ।

कफाधिकं चेन्मन्यत मूत्रमिश्रं पयः पिवेत् ।
प्रयोगेण हिताशी च फक्करोगैर्विमुच्यते ॥

यदि रोगी में कफ की प्रधानता हो तो दूध में गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये । इसके प्रयोग तथा पथ्य सेवन से फक्करोग दूर हो जाता है ।

वस्तयः स्नेहपानानि स्वेदाश्चोद्वर्तनानि च ।
वातरोगेपु वालानां ससृष्टेपु विशेपतः ॥

यदि फक्क के साथ-साथ वातरोगों का संसर्ग हो तो उन वालकों की वस्ति, स्नेहपान, स्वेदन तथा उद्वर्तन आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । उसे सुखकारी आसन देना चाहिये । सुखकारी शैया पर लिटाना चाहिये ।

उपरोक्त चिकित्सा के साथ-साथ तीन पहियों वाले फक्क रथ के सहारे धीरे-धीरे उस फक्करोग से पीड़ित वालक को चलाने का अभ्यास भी कराना चाहिये । ऐसा कश्यप का निर्देश है ।

रोग में होने वाले उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा

इस रोग में कुछ उपद्रव हो जाया करते हैं जैसे—श्लैमिक सन्निपात, वृक्करोग, यकृत्वृद्धि, फोड़ा, फुंसी, ज्वर, क्षयरोग आदि ।

रोग में विभिन्न अवस्थानुसार चिकित्सा—

(१) श्लैष्मिक सन्निपात—लक्ष्मीविलास रस (नारदीय), मृत्युञ्जय रस, मृगशृङ्ग भस्म ।

(२) यकृत्वृद्धि—आरोग्यवर्धिनी वटी, पुनर्वादि माण्डूर, यकृदरि लौह, कुमार्यासव, रोहितकारिष्ट ।

(३) अतिसार—वालार्क रस, वालचातुर्भद्रिका चूर्ण, कपूर रस ।

(४) आमाशय और आन्त्र के उपद्रवों में—स्वर्णमाक्षिम भस्म, कुमारकल्याण रस ।

(५) ज्वर—त्रिभुवनकीर्ति रस, विपमज्वरान्तक लौह, वाल ज्वरांकुश, वालचातुर्भद्रिका चूर्ण ।

(६) वमन—जहरमोहरापिष्टी, मयूरपिच्छभस्म, प्रवाल पञ्चामृत, एलादि चूर्ण ।

(७) क्षय—स्वर्णमालिनी वसन्त, सितोपलादि चूर्ण, प्रवालपिष्टी ।

(८) वृक्करोग—चन्द्रप्रभा वटी, प्रवालपिष्टी, कालकूट रस ।

(९) फोड़ा-फुंसी—मुक्तापिष्टी, प्रवालपिष्टी, गिलोयसत्व, गन्धक रसायन ।

साध्यासाध्यता—समय पर चिकित्सा होने से साध्य असमय में चिकित्सा होने पर असाध्य । रोग के प्रारम्भिक लक्षण युक्त फक्करोग औपध साध्य होते हैं। लेकिन काली खांसी, शरीर का श्याम होना, शरीर के निचले भाग में शोथ, निरन्तर पतला दस्त या कोष्ठ-बद्धता, भीपण दुर्वलता, अरुचि या अन्न द्वेष, भोज्य पदार्थ का विना पाक मल द्वारा निकल जाना, अनिद्रा, क्लान्ति आदि लक्षणयुक्त फक्करोग असाध्य माने गये हैं ।

प्रमुख शास्त्रीय एवं अनुभूत औषधियां

(१) कुमारकल्याण रस [भै० र०]—

विधि—रससिन्दूर, मुक्तापिष्टी, स्वर्णभस्म, अभ्रक भस्म, लोहभस्म, स्वर्ण माक्षिक इन औपधियों को सम-भाग मिलाकर एक दिन घृतकुमारी के रस में घोटकर आधी रत्ती की गोलियां वना लें ।

मात्रा—एक गोली दिन में दो वार माता के दूध या मधु से रोगानुसार अनुपान भेद से देते हैं । उम्र के अनुसार मात्रा तय कर लेनी चाहिये ।

विमर्श—फक्करोग तथा उससे सम्वन्धित वात विकारों के लिये वस्तुतः यह अनुपम योग है । कृश वालक चाहे किसी प्रकृति का हो उसे उचित अनुपान से प्रयोग किया जा सकता है ।

ग्राम कछुये की पीठ की हड्डी को पीसकर डाल दें और तैल को अग्नि पर रखकर जलने देवे। भुन जाने पर तैल को उतार उसमें १५ ग्राम अफीम डालकर घोल देनी चाहिये और ठण्डा होने पर छानकर बोतलों में भर लें तथा उसमें २५ ग्राम असली सन्दल का तैल और मिला दें। तैल तैयार हो गया।

उपयोग—सूखारोग की शर्तिया दवा है, किसी भी प्रकार का तथा किसी भी स्टेज पर मालिश करने से फक्करोग का नाश हो जाता है। दिन में दो बार प्रातः-सायं समस्त शरीर में मालिश करानी चाहिये। कानों में भी दोनों समय दो-दो बूद डालनी चाहिये।

(४) सूखारोग नाशक वटी—टंकण (सुहागा) ४ भाग, शुद्ध अफीम १ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मृगांक, जीरा, स्वर्णमालिनी वसन्त, काकड़ासिंगी, गिलोयसत्व, अर्कक्षार, तम्बाकू क्षार प्रत्येक २-२ भाग।

विधि—उपरोक्त दसों वस्तुओं को एकत्रित कर चिरचिटा के स्वरस की सात भावना दे। तत्पश्चात् १-१ रत्ती की गोलियां बनाकर रख लें।

मात्रा—प्रातः-सायं १-१ गोली मां के दूध के साथ दें।

उपयोग—बहुत उपयोगी योग है। उपरोक्त तैल तथा रसवटी का प्रयोग कराने से कैसा भी फक्करोग हो ठीक हो जायगा। अनेक बार का अनुभूत प्रयोग है।

—स्नातक सुरेन्द्रदेव शास्त्री द्वारा
गुप्त सिद्ध प्रयोगांक प्रथम भाग से।

(५) सूखारि वटी—तुलसी के हरे पत्ते, गीली सितावर, पीपल की दाढ़ी शुष्क, साठी चावल, अपामार्ग की गीली जड़, छोटी इलायची, असली वंशलोचन १०-१० ग्राम, केशर काश्मीरी १ ग्राम।

विधि—सबको घोटकर गधी के मूत्र के साथ खरल कर ज्वार के बराबर गोली बना ले।

मात्रा—१-२ गोली बल तथा आयु के अनुरूप मात्रा, बकरी या गाय के दूध मे घोलकर सेवन करावे।

उपयोग—फक्करोग नाशक अति उत्तम गोलियां हैं, अनेक बार इसका प्रयोग मरणासन्न फक्क बालकों को नवजीवन प्रदान करता है।

—श्री दलीपसिह आर्य द्वारा
गुप्त सिद्ध प्रयोगांक चतुर्थ भाग से।

(६) बालशोषारि—स्वर्णभस्म, रौप्यभस्म, मुक्तापिष्टी, प्रवालपिष्टी प्रत्येक १-१ ग्राम, केशर, मूर्वा, जायफल, दुधवच, छुहारा, कमलगट्टा की मींग, शुद्ध हिंगुल प्रत्येक ३-३ ग्राम।

विधि—काष्ठौषधियों को कूट-कपड़छन कर रख लें। प्रथम खरल में शुद्ध हिंगुल डाल खरल करे। जब रवा न रहे तब भस्म तथा पिष्टी डाल दें और बाद में कपड़छन चूर्ण भी मिलाकर गिलोय, तुलसी स्वरस तथा पान के अर्क की ४-४ भावना देकर मूंग के बराबर गोली बना लें।

मात्रा—प्रातः-सायं १-१ गोली माता के दूध के साथ या गाय के दूध के साथ सेवन करावें।

उपयोग—बालशोष (फक्करोग) तथा उसके साथ होने वाले उपद्रवों के लिए बहु उपयोगी योग है। जब साधारण औषधियों से लाभ न हो तो इस मूल्यवान् औषधि के प्रयोग से लाभ उठाना चाहिए।

—वैद्य इन्द्रमणि जैन द्वारा
प्रयोग मणिमाला से।

सफल औषधि व्यवस्था-पत्र—

(क) [१] वसन्तमालती रस १२५ मि०ग्रा०, शम्बूकभस्म २५० मि०ग्रा०, कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म ३७५ मि०ग्रा०, कुमारकल्याण रस ६२·५० मि०ग्रा० एक मात्रा × सुबह, दोपहर, शाम मधु या दूध से।

[२] सुधाषट्क योग (सिद्ध योग संग्रह) २५० मि० ग्रा० × १ मात्रा दिन के ३ बजे मधु या दूध से दें।

[३] अरविन्दासव १-३ चम्मच समभाग जल मिलाकर दिन में दो बार भोजनोपरान्त दें।

[४] चन्दनबला लक्षादि तैल अभ्यंगार्थ प्रयोग करावें।

(ख) [१] बालचातुर्भद्रिका चूर्ण २ रत्ती, बालपञ्चभद्र रस १ रत्ती, गोदन्तीभस्म २ रत्ती, प्रवालभस्म २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती, कच्छपपृष्ठ भस्म २ रत्ती × एक मात्रा × ३ बार अनुपान मधु से।

[२] कुमारकल्याण रस प्रातः-सायं १-१ गोली मधु से।

[३] कुमाररक्षक तैल (धन्वन्तरि) अभ्यंगार्थ प्रयोग करावें।

★★

(३) अन्यत्र—फिरंग रोगाक्रान्त का पहना हुआ वस्त्र विशेषतः जांघिया-लंगोट पहने से, रुग्ण द्वारा प्रयुक्त तौलिया से मुख पोंछने से, रोगी के साथ एक ही पात्र में भोजन करने से या रोगी के झूठे पात्र में भोजन करने से, रुग्ण का उच्छिष्ट-झूठा भोजन करने से, रोगी के साथ हुक्का पीने से, रुग्ण ने जिस पात्र में मुंह लगाकर जलपान किया है उसी में जलपान करने से स्वस्थ व्यक्ति में रोग संक्रमण करता है। रोगाक्रान्त व्यक्ति ने जहां मूत्र विसर्जन किया हो, उसी स्थान पर अन्य स्वस्थ व्यक्ति मूत्र त्याग करे तो यह रोग लग जाता है।

विशेष कथन—यह आवश्यक नहीं, कि यह रोग मात्र जननेन्द्रिय पर ही हो, अपितु शरीर में कहीं भी क्षत हो और उस क्षत पर इस रोग का विष लग जाये, अर्थात् उस क्षत तक जीवाणु पहुंच जाये तो वहीं पर यह रोग उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल सकता है। इस रोग के दण्डाणु तीव्र क्रियाशील होते हैं, जो रगड़ के कारण थोड़ी सी छिली क्षतयुक्त त्वचा में प्रविष्ट हो जाते हैं।

औपसर्गिक रोगों को संक्रमण प्रक्रिया के विषय में सुश्रुत ने लिखा है—

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥

[१] **प्रसंग**—मैथुन करने से।

[२] **गात्र संस्पर्श**—शरीर को स्पर्श करने से।

[३] **निःश्वास**—श्वास-प्रश्वास से।

[४] **सहभोजन**—एक साथ बैठकर एक ही पात्र में भोजन करने से।

[५] **सहशय्या**—रोगी के साथ एक बिस्तर पर सोने से या रोगी के बिछौने पर बैठने, लेटने, सोने से।

[६] **सहासन**—जिस आसन पर रोगी बैठता है, उसी आसन (कुर्सी आदि) पर बैठने से।

[७] **वस्त्र**—रोगी के उपयोग किये वस्त्र (तौलिया, लंगोट आदि) का उपयोग करने से।

[८] **माला**—रोगी की माला को गले में डालने से, रोगी के अलंकारों को पहनने से।

[९] **लेपन**—रोगी के अंग में लगाये उबटन या अन्य लेप में से बचे हुए लेप या उबटन को स्वस्थ व्यक्ति के अंग में लगाने से औपसर्गिक रोगों का संक्रमण हो जाता है।

सुश्रुत ने औपसर्गिक रोगों के फैलने के मार्गों का संक्षेप में वर्णन किया है। इन रोगों के प्रसार के मार्गों का उल्लेख अष्टांग संग्रह, भावप्रकाश तथा डल्हण आदि ने भी किया है। औपसर्गिक रोग तीन मार्गों—(१) त्वचा, (२) श्वास-प्रश्वास तथा (३) मुखद्वार या खाद्यपेय द्वारा फैलते हैं। यही सुश्रुत का मत है। उपदंश, फिरंग तथा पूयमेह आदि औपसर्गिक रोग त्वचा और खाद्य पेय द्वारा फैलते हैं।

अर्वाचीन दृष्ट्या फिरंग के कारण

अर्वाचीन दृष्टि से फिरंग रोग के हेतुओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

[१] **प्रधान कारण**—ट्रिपोनेमा पैलिडम (Treponema Pallidum) नामक जीवाणु इस रोग का प्रधान कारण है। यह शिश्नेन्द्रिय की क्षत हुई त्वचा द्वारा प्रविष्ट होकर लक्षण उत्पन्न करता है।

[२] **सहायक कारण**—मैथुन तथा वंशपरम्परा है। वंशपरम्परा से सहज फिरंग की उत्पत्ति होती है। सहज फिरंग का हेतु वीर्य या रज का फिरंग से प्रभावित होता है।

संचयकाल—सम्भोग से २ से ६ सप्ताह पर्यन्त होता है। फिरंग का विष शरीर में प्रविष्ट होते ही रोग के लक्षणों को उत्पन्न नहीं कर देता। अपितु २ से ६ सप्ताह पर्यन्त शरीर में पड़ा रहकर उन्नति करता रहता है। साधारणतया तृतीय सप्ताह में लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इस रोग के लक्षण तथा समय की दृष्टि से चार अवस्थाओं में विभक्त किया गया है—

(१) प्रथमावस्था [Primary stage]।
(२) द्वितीयावस्था [Secondary stage]।

(३) तृतीयावस्था [Tertiary stage] या गर्भावस्था [Gumma stage]।

(४) चतुर्थावस्था।

इस रोग का प्रारम्भ मैथुन से २ से ६ सप्ताह के मध्य में जननेन्द्रिय पर एक छोटा-सा दाना उत्पन्न होकर होता है। रोगाणु स्वस्थ श्लेष्मिक कला एवं त्वचा में प्रविष्ट नहीं हो पाता। अतः इसके अन्तः प्रवेश के लिए श्लेष्मिक कला या त्वचा में क्षत होना आवश्यक है। यह
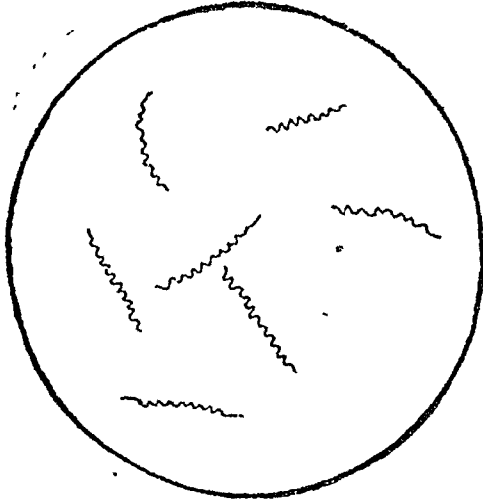
फिरंग रोग के कीटाणु

क्षत मैथुन की रगड़ से शिश्नेन्द्रिय अथवा योनिपथ में हो सकता है।

लक्षण प्रथमावस्था—यह अवस्था मैथुन से दो छह सप्ताह के मध्य (साधारणतया तृतीय सप्ताह) में जननेन्द्रिय पर एक छोटा-सा दाना उत्पन्न होकर प्रारम्भ होती है।

पुरुषों में—प्रायः यह दाना शिश्नमणि अथवा उस की त्वचा के भीतरी अङ्ग पर होता है। लिङ्गमणि-सुपारी या सुपारी के चारों ओर कहीं भी घेरे के समीप उत्पन्न होता है। इन दाने का वर्ण लाल होता है। यह दाना प्रदाहशील होता है। मैथुनजन्य रोग होने के कारण शिश्नेन्द्रिय पर रोग का संक्रमण सर्वप्रथम होता है। शिश्नमणि के अतिरिक्त मणिच्छद की श्लेष्मिक कला, मणिच्छद द्वार, शिश्न त्वचा, मूत्रनलिका द्वार, मूत्रनलिका, अण्डकोष आदि पर भी संक्रमण हो सकता है। मैथुन की रगड़ से जहां कहीं क्षत होगा, वहीं फिरङ्गाणु प्रविष्ट हो जाते हैं।

स्त्रियों में—यह दाना बृहद् भगोष्ठ के भीतरी अंग पर होता है। इसके अतिरिक्त क्षुद्र भगोष्ठ, भगांकुरिका, गर्भाशय ग्रीवा, योनिमार्गीय तुम्बिका आधार, मूत्रनलिका द्वार तथा मूत्रनाल में भी हो सकता है।

जननेन्द्रियतर भी कभी-कभी फिरंग का विष लग जाने से इस रोग का संक्रमण हो जाता है। यदि फिरंग का विष होठ, स्तन, अंगुलियों तथा जिह्वा प्रभृति पर लग जाये, तो इन अवयवों पर भी दाना पड़ जाता हैं और व्रण बन जाता है। स्पर्श करने से यह व्रण कठिन प्रतीत होता है। अतएव इसको कठिन व्रण (हार्ड शंकर Hard chanrce) कहते हैं। इस व्रण से फूटने पर रक्तस्राव नहीं होता और न ही पूय निकलता है। केवल लसिका का कुछ स्राव होता है। इस स्राव में रोग-कीटाणु उपस्थित होते हैं। व्रण संख्या में प्रायः एक ही होता है। इस व्रण का विषैला स्राव लगने पर भी और व्रण प्रायः उत्पन्न नहीं होते। व्रण पीड़ा रहित होता है। व्रण की उत्पत्ति के एक से दो सप्ताह के पश्चात् जंघाओं की ग्रन्थियां बढ़कर बन्दूक की गोली की भांति लाल हो जाती है। किन्तु इनमें भी वेदना नहीं होती और पकती भी नहीं। उस अवस्था में रोग का विष स्थानिक होने से स्थानीय लक्षण होते हैं।

प्रथमावस्था में रोग के उग्र लक्षण नहीं होते। कभी-कभी दाना या व्रण न होकर शिश्नेन्द्रिय की किसी भाग की त्वचा लाल एवं मोटी हो जाती है। अतः रोगी का ध्यान इस रोग की ओर जाता ही नहीं है। यदि ध्यान जाता भी है, तो गुप्त रोग एवं मैथुनजन्य रोग होने के कारण चिकित्सा की उपेक्षा कर जाता है। फलतः रोग बढ़कर सम्पूर्ण शरीर में विष फैल जाता है। यह प्रथमावस्था भावप्रकाश में वर्णित फिरंग का बाह्य भेद है। इस अवस्था में स्थानीय लक्षण मिलते हैं।

फिरङ्ग की प्राथमिक अवस्था का निदान—प्रथमावस्था का निदान निम्न बातों पर निर्भर करता है—

(१) किसी रोगाक्रान्त के साथ मैथुन की घटना का विवरण।

(२) मैथुन के पश्चात् तीसरे सप्ताह के वाद व्रण का प्रकट होना।

(३) वंक्षण प्रदेश में लस ग्रन्थियों का बढ़ना।

(४) रक्त परीक्षा—यह आवश्यक परीक्षण है, उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(५) तिमिर भूमि (Dark ground) परीक्षण—प्राथमिक व्रण को विशुद्ध वस्त्र से स्वच्छ कर रक्ताम्बु को एक कांच की स्लाइड पर ले सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा जीवाणुओं को देखें।

द्वितीयावस्था—यह अवस्था प्रायः ६ सप्ताह पीछे प्रारम्भ होती है अर्थात् रोग की प्रारम्भिक अवस्था के प्रकट होने से ६ सप्ताह पश्चात् रोग की द्वितीय अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में रोग का विष समस्त शरीर में पहुंचकर रक्त को दूषित कर देता है। इस अवस्था में व्रण होने के तृतीय या चतुर्थ सप्ताह के पश्चात् वाह्य त्वचा पर दाने निकलते हैं। ये दाने वर्ण, आकार तथा परिमाण में एक से नहीं होते। शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर दाने निकलते हैं। ये दाने नष्ट होने पर इनके स्थान में कुछ समय तक ताम्र वर्ण या मांस वर्ण के लाल चकत्ते होते हैं। इससे खुजली वहुधा नहीं होती, फिरंग के दानों का विशेष लक्षण है। ये दाने शिर, मुख, वक्ष, वाहुओं, पेट, कमर, टांग, हथेली तथा पांवों के तलुओं पर समान रूप से होते हैं अथवा इन स्थानों पर छाले पड़ते हैं। ये छाले गोल, सर्पाकार, राख के रंग के होते हैं। इनके किनारे साफ कटे हुए प्रतीत होते हैं। जहां त्वचा सदैव गीली रहती है और जहां श्लेष्मलकला तथा वाह्य त्वचा मिलती है, जैसे मलद्वार, भग, होठ के किनारे वहां चौड़े-चौड़े मस्से (अर्श) से निकल आते हैं।

जंघाओं की ग्रन्थियों के अतिरिक्त ग्रीवा, कोहनी, कक्षा की लसीका ग्रन्थियां वढ़कर कठिन हो जाती हैं। गले के भीतर शोथ हो जाता है, व्रण वन जाते हैं, लालास्राव होता है। रोगी प्रायः वोलने तथा खाने-पीने में असमर्थ हो जाता है। रोगी को ज्वर आता है, सिर में दर्द होता है, वाल गिरने लगते हैं। जोड़ों में, हड्डियों में विशेषतः रात में पीड़ा होती है। रक्ताल्पता के कारण पाण्डुता तथा दुर्वलता आ जाती है। कनीनिका प्रकोप होता है और आंखें दुःखने लगती हैं। दृष्टि घट जाती है, प्लीहा-तिल्ली वढ़ जाती है। इन सब लक्षणों से रोगी कुरूप हो जाता है। फलतः—

(१) वाल गिरने से गञ्जा हो जाता है।

(२) चेहरे विशेषतः ओष्ठ के किनारों पर व्रण हो जाते हैं।

(३) समस्त शरीर पर फुंसियां हो जाती हैं।

व्यभिचारजन्य व्याधि होने के कारण—

(१) रोगी सदैव अपने मन में लज्जा का अनुभव करता है।

(२) अपने मित्रों में, परिवारीजनों में तथा रिश्तेदारों में अपने को वैठने योग्य नहीं समझता।

इस द्वितीयावस्था में स्त्रियों को गर्भपात या गर्भस्राव तक हो जाता है।

द्वितीयावस्था के अन्तिम लक्षण—

(१) अक्षिगोलकावरण शोथ।

(२) धमनी एवं शिरा शोथ।

(३) मस्तिष्क शिरा में गांठ के कारण रक्त-संचार अवरुद्ध होकर अर्दित।

(४) हथेलियों, तलुओं व देह पर विचर्चिका-छाजन।

(५) पांवों पर गोल व्रण।

द्वितीयावस्था का संक्षेप वर्णन—यह अवस्था प्राथमिक व्रण उत्पन्न होने के ३ से ८ सप्ताह के भीतर लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। यह अवस्था दो वर्ष तक रहती है। चिकित्सा न करने पर विष समस्त शरीर में फैलकर भयंकर लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर की त्वचा पर दाने निकलते हैं।

लक्षण—(१) व्रण आकार तथा परिमाण में ये एक से नहीं होते।

(२) शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर निकलते हैं।

(३) नष्ट होने पर इनके स्थान में कुछ समय तक ताम्र वर्ण या मांस वर्ण के लाल धब्वे होते हैं।
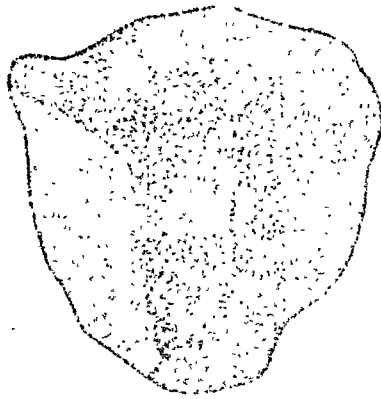
शिश्न की बाहरी सतह पर फिरंगज व्रण

वंक्षण प्रदेश में लस ग्रन्थियों पर फिरंग का प्रभाव

(४) इनमें खाज बहुता नहीं होती तथा पीड़ा भी नहीं होती।

(५) बाह्य त्वचा की भांति ओष्ठ, जिह्वा, तालु तथा कपोल की श्लेष्मलकला पर भी छाले पड़ते हैं। ये छाले गोल, राख के वर्ण के तथा साम कटे हुए किनारे वाले होते हैं।

(५) जहां त्वचा सदा गीली रहती है और जहां त्वचा एवं श्लेष्मलकला परस्पर मिलते हैं (जैसे गुदा तथा भगोष्ठ), वहां भी बड़ा छाला बन जाता है, जिसे Condyloma कहते हैं।

(७) कक्षा, कुहनी, ग्रीवा तथा वंक्षण की लसग्रन्थियां फूल जाती हैं।

(८) ज्वर, शिरःशूल, सन्धिशूल, पाण्डुता, दौर्बल्य, कनीनिका प्रकोप, बाल गिरना आदि लक्षण भी होते हैं।

रोग निश्चिति—प्रथमावस्था के निदान के अनुसार ही करें।

तृतीयावस्था—फिरंग की तृतीय अवस्था कब प्रारम्भ होती है? इसका कोई निश्चित् समय नहीं है यह अवस्था व्रण के पश्चात् कभी-कभी ६ मास में प्रारम्भ होती है। रोग की प्रथमावस्था अथवा द्वितीयावस्था में उचित उपचार होने से तृतीयावस्था उत्पन्न ही नहीं होने पाती। यदि उचित तथा नियमित चिकित्सा नहीं होने पाती है, तो रोग की तीसरी अवस्था ६ या ८ मास के पीछे कुछ वर्षों के पश्चात् तृतीयावस्था के लक्षण प्रकट होते हैं। दूसरी तथा तीसरी अवस्था के बीच के समय पर रोग के कुछ न कुछ लक्षण कभी-कभी प्रकट होते रहते हैं, जिससे रोग के कीटाणुओं की क्रियाशीलता का अभाव होता रहता है।

तीसरी अवस्था में रोगाणु शरीर की धातुओं में पहुंच जाते हैं।

लक्षण—इस अवस्था में त्वचा, उपत्वचा, लसीका ग्रन्थियां, मांसपेशियां, अस्थि आवरण, मस्तिष्कावरण, यकृत्, प्लीहा, अण्डकोष ग्रन्थि आदि शरीर के विविध भागों में ग्रन्थियां उत्पन्न होने लगती हैं, जो गमा (Gumma) कहलाती है। यह ग्रन्थियां गांठदार तथा चपटी होती हैं। धीरे-धीरे गमा सड़कर फूट जाता है। इनमें भूरे रंग का गाढ़ा पीप जमा रहता है। पीप निकलने पर गहरा व्रण बन जाता है, ये त्वचा में होते हैं। गमा नाक में होने से नाक बैठ जाती है। तालु में होने से वहां छिद्र हो जाता है, जिससे खाना-पीना कठिन हो जाता है। भोजन तथा जल आदि उस छिद्र से नाक में आ जाता है। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में होने से पक्षाघात, पंगुत्व, उन्माद, प्रकृति विकार होते हैं। कान में होने से बधिरता, आंख में होने से दृष्टिशक्ति नष्ट हो जाती है। जिह्वा पर होने से जीभ फट जाती है। रक्तवाहिनियों में होने से उनकी दीवार मोटी हो जाती है। उनकी लचक जाती रहती है, जिसके कारण रक्त का भार तथा वेग सहन करने में वे असमर्थ होकर कभी-कभी फट जाती हैं या उनके भीतर रक्त जम जाता है। मस्तिष्क की वाहिनियों में ये विकार होने से अङ्गघात, पक्षाघात आदि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में स्त्रियों में गर्भस्थ शिशु मर जाने से गर्भपात हो जाता है।

तृतीयावस्था का संक्षेप वर्णन—इस अवस्था का प्रारम्भ व्रणोत्पत्ति के ६ मास पश्चात् हो सकता है। इस अवस्था में शरीर के विभिन्न भागों में ग्रन्दियां बनने लगती हैं। जिनको गमा (Gumma) या गोन्दार्बुद कहते है।

गमा के लक्षण—(१) यह ग्रन्थियां गांठदार तथा चपटी होती हैं।

(२) धीरे-धीरे सड़कर फूटने पर गोंदीला स्राद निकलता है।

(३) नासाभङ्ग—नाक में होने से नाक बैठ जाती है।

(४) तालु में होने से तालुविदार—छिद्र हो जाता है।

(५) मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के गमा के कारण पक्षाघात एवं पंगुत्व होता है।

(६) कान, आंख में होने से श्रुति तथा दृष्टिनाश हो जाते हैं।

(७) जिह्वा पर होने से जिह्वा फट जाती है।

(८) रक्तवाहिनियों में होने से वे मोटी हो जाती है, रक्तदाब बढ़ जाता है।

(९) इस अवस्था की मुख्य विकृति फिरङ्गार्बुद-गमा होती है।

फिरंग जन्य त्वगु-विकार

गुदा पर फिरंग जन्य पिटिकायें
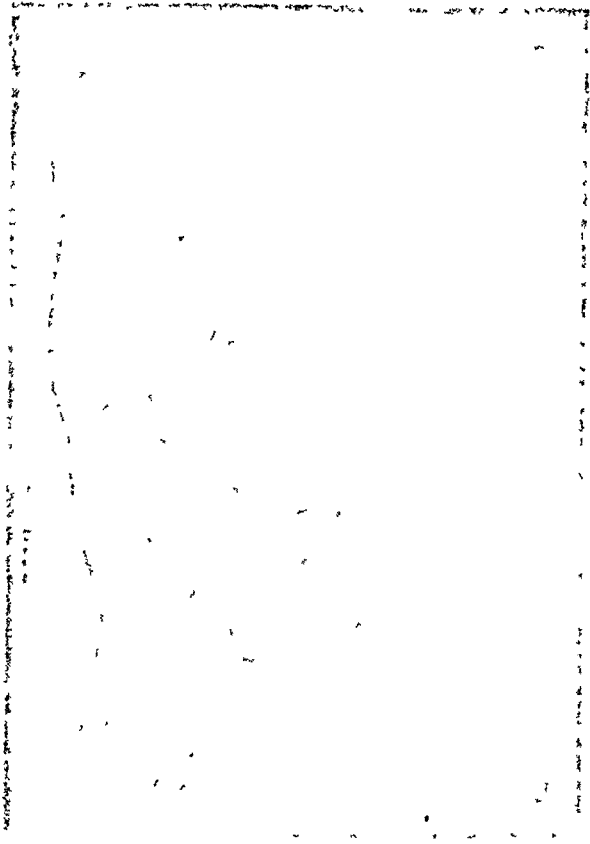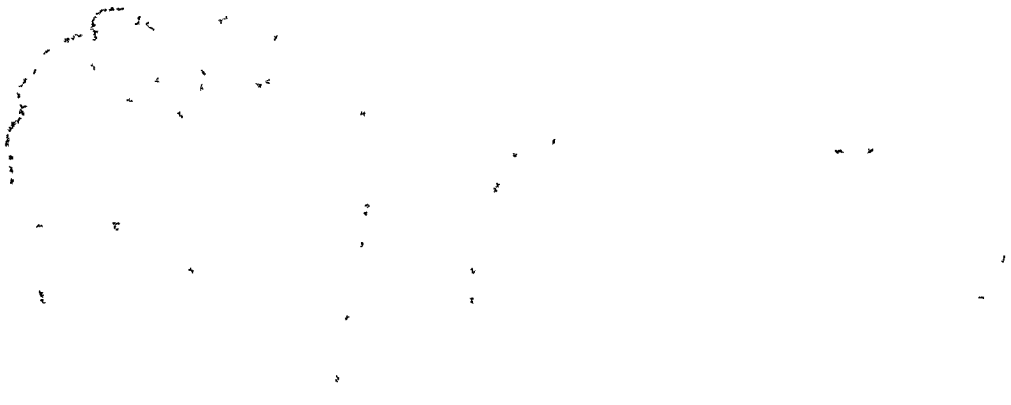
(१०) फिरङ्गार्बुदजन्य अस्थिसन्धि पाक (Arthritis) शूलहीन होता है।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था में मस्तिष्क संस्थान पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में विशेषतया दो रोग होते हैं। प्रथम रोग पागलपन और दूसरा रोग जिसमें रोगी चलने-फिरने से लाचार हो जाता है और चलते समय लड़खड़ा कर चलता है। फिरंग के विष का प्रभाव मस्तिष्क संस्थान पर रोगाक्रमण के पश्चात् तीन मास के भीतर भी हो सकता है अथवा २५-३० वर्ष के पश्चात् भी हो सकता है।

ये अवस्थायें उन रुग्णों में प्रकट होती हैं जो उचित चिकित्सा नहीं कराते। अर्थात् उपेक्ष्यमाण रोगी की यह दशा होती है।

इस अवस्था में दो विशेष रोग होते हैं—

(1) General Paralysis of the Insone.

(2) Locomotor ataxia of tabes Dorsalis.

कुलज फिरङ्ग, सहज फिरङ्ग—जो स्त्रियां फिरंग से आक्रान्त होती हैं, उन स्त्रियों को प्रारम्भ में जल्दी-जल्दी गर्भपात होता है। फिर धीरे-धीरे गर्भपात वन्द होकर कुछ दिन तक अल्पजीवी वालक तथा अन्त में वहुत दिनों के पश्चात् दीर्घजीवी वालक भी उत्पन्न होने लगते हैं। उन वालकों में जन्म से ही जो फिरंग होता है वह 'सहज फिरंग' कहलाता है। केवल माता ही इसमें दोषी नहीं है। माता रोग रहित हो किन्तु पिता के वीर्य में इस रोग का प्रभाव होगा, तो सन्तान को अवश्य ही सहज फिरंग हो जाता है, अर्थात् जीवाणु के विष से युक्त रज-वीर्य के होने पर जो सन्तान होती, उसमें जो फिरंग होता है, वह 'तहज फिरंग' कहलाता है। यदि गर्भिणी स्त्री को फिरंग हो, तो उसके वालक को भी फिरंग हो जाता है, किन्तु वह फिरंग 'सांसर्गिक फिरंग' कहलाता है।

लक्षण—वालक के जन्म से ३ सप्ताह से ३ मास तक रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। वालक के नासिका मुखमण्डल पर गुलावी रंग की पिडिकायें दिखाई पड़ने लगती हैं, जो धीरे-धीरे फैलकर, परस्पर मिलकर व्रण का रूप धारण कर लेती हैं। वालक दुर्वल होने लगता है, शरीर का रंग सफेद-सा हो जाता है। मुख पर झुरियां दिखाई पड़ने लगती हैं। नख गिरने लगते हैं या विरूप हो जाते हैं। वाल गिर जाते हैं, मुख, होंठ, नाक में व्रण हो जाते हैं। नाक की हड्डी गलकर नाक वैठ जाती है। होठों के कोनों पर व्रण हो जाते हैं। दांत निकलकर शीघ्र ही गिर जाते हैं। युवा होने पर तृतीयावस्था के लक्षण लक्षित होते हैं।

सहज फिरंगी वालक प्रायः शैशव अवस्था में ही काल कवलित हो जाते हैं। यदि कोई माई का लाल जीवित रह भी जाये, तो जवान होने पर दाढ़ी-मूंछ देर से आती हैं, अथवा आती ही नहीं। भौंहों तथा नेत्र के पलकों के वाल झड़ जाते हैं। पलक सूजे से रहते हैं, दृष्टि मन्द पड़ जाती है। वन्धियां जकड़ जाती हैं, उनमें पीड़ा होने लगती है। रोगी उठ, वैठ, हिल, फिर नहीं सकता। हड्डियां गल जाती हैं, टेढ़ी हो जाती हैं। मस्तिष्क विकृत हो जाता है।

फिरङ्ग के भेद—फिरङ्ग रोग तीन प्रकार का होता है। यथा—

(१) वाह्य फिरङ्ग, (२) आभ्यन्तर फिरङ्ग, (३) वाह्यान्तर फिरङ्ग।

वाह्य फिरङ्ग विस्फोट के तुल्य, अल्प वेदना वाला होता है। यह व्रणवत् फूटता है, असाध्य होता है।

आभ्यन्तर फिरंग आमवात के समान सन्धियों में विशेष रूप से शोथ उत्पन्न होता है। यह कष्टसाध्य होता है।

(४) फिरंगोपदंश—इसमें फिरंग तथा उपदंश दोनों रोग पाये जाते हैं।

फिरङ्ग के उपद्रव—(१) नासाभंग, (२) अग्निमांद्य, (३) कृशता, (४) अस्थिशोथ, (५) अस्थिवक्रता, (६) वलक्षीणता इत्यादि।

इसके अतिरिक्त उन्मत्तता, खञ्जता, पक्षाघात, एकांगवात, आक्षेप, तीव्र शिरःशूल आदि।

स्त्रियों में—गर्भस्राव, गर्भपात, मृत गर्भजन्य फिरंगी शिशु का जन्म प्रभृति।

साध्यासाध्यता—(१) वाह्य फिरंग नवीन, उपद्रव रहित हो तो साध्य होता है।

सहज फिरंग जन्य पीड़ित बालक

स्त्री के भगोष्ठों पर फिरंग जन्य पिटिकायें
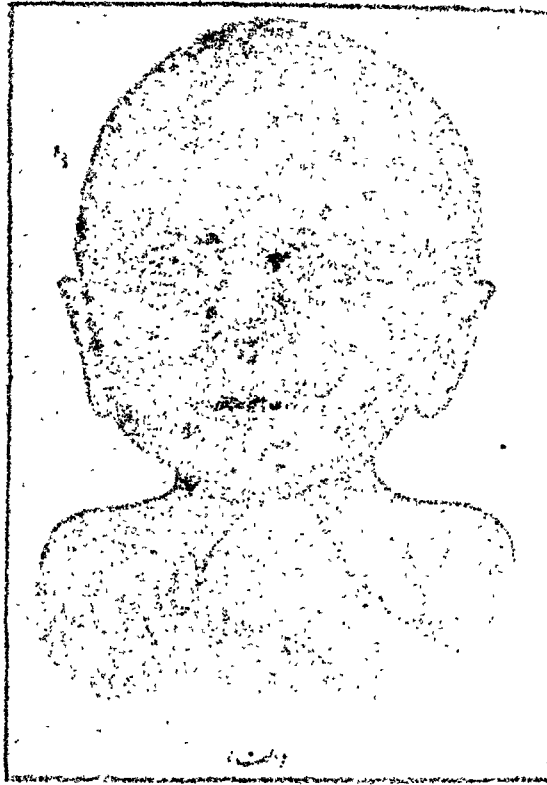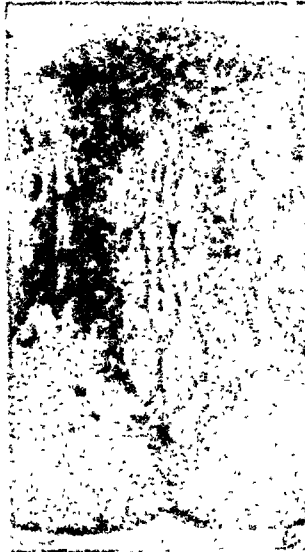
(२) आभ्यन्तर फिरंग कष्टसाध्य होता है।

(३) क्षीण मनुष्य का उपद्रवयुक्त, समस्त शरीर में व्याप्त असाध्य होता है।

सापेक्ष रोग निश्चिति—फिरंग तथा उपदंश दोनों रोग दूषित मैथुन के बाद जननेन्द्रिय पर व्रण या विस्फोट के रूप में प्रकट होते हैं। दोनों की चिकित्सा अलग-अलग होती है। अतएव इनको आपस में पृथक् करना अत्यावश्यक है। अतः दोनों के लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

फिरङ्ग तथा उपदंश का सापेक्ष निदान

उपदंशज व्रण	फिरंगज व्रण
१. मैथुन के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन दाना उत्पन्न होता है।	१. मैथुन के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में दाना उत्पन्न होता है।
२. साधारणतया अनेक दाने होते हैं।	२. साधारणतया एक ही दाना होता है।
३. टटोलने से मृदु प्रतीत होता है।	३. तरुणास्थि के समान कठिन प्रतीत होता है।
४. उसमें दाह होता है तथा प्रचुर पूय, रक्तलसिका वहते हैं।	४. दाह नहीं होता, लसिका के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता।
५. व्रण के किनारे साफ कटे हुए, भीतर से कुछ पीले, और व्रण के तल से कुछ ऊंचे होते हैं।	५. किनारे न साफ होते हैं न पीले होते हैं, न तल से ऊंचे होते हैं।
६. व्रण अत्यन्त पीड़ा युक्त होते हैं।	६. व्रण पीड़ा रहित होते हैं।
७. सूक्ष्मदर्शक से व्रण स्राव की परीक्षा करने पर ड्युक्रे (Ducre) का जीवाणु मिलता है।	७. ट्रिफोनेमा पालीडम नामक पेचदार जीवाणु मिलता है।
८. व्रणस्राव जन्य स्थान पर त्वचा में सुई से प्रविष्ट करने पर समान व्रण पैदा होता है।	८. स्राव प्रविष्ट करने से समान व्रण प्रायः पैदा नहीं होता।
९. व्रण की ओर की जंघा से ग्रन्थियां फूलती हैं। वह मृदु पकने वाली, वेदना युक्त होती हैं।	९. दोनों ओर की ग्रन्थियां फूलती हैं। कठिन न पकने वाली, वेदना रहित होती है।
१०. चिकित्सा न होने से व्रण अधिक वढ़कर स्थानिक धातुओं का नाश होता है, परन्तु सार्वदैहिक लक्षण प्रायः नहीं उत्पन्न होते।	१०. चिकित्सा न करने से भी स्थानिक विकृति नहीं वढ़ती परन्तु विष सर्व देह में फैलकर सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

फिरङ्ग रोग के चिकित्सा सिद्धान्त—१. स्नेहन स्वेदन के पश्चात् शिश्न के मध्य की शिरा को वेधकर अथवा जौंक लगाकर दूषित रक्त निकाल देना चाहिए।

२. सवल रोगी को वमन विरेचन कराके कोष्ठ शुद्ध करा देना चाहिये।

३. दुर्वल रोगी को आस्थापन वस्ति लगाकर ही कोष्ठ शुद्ध करें।

४. व्रण-घाव वढ़ने न पावे, शीघ्र शान्त हो, इसके लिए सावधानी से प्रयत्न करना चाहिये।

५. तत्पश्चात् रुग्ण को इस लज्जाप्रद एवं नीच कर्म से शपथ दिलाऐं और लाभ प्राप्त करें।

६ रसकपूर युक्त औषधि सेवन काल में पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिए।

७. फिरङ्ग के लक्षण तथा चिह्न पूर्णतया समाप्त न हो जाऐं, तव तक ब्रह्मचर्य का पालन करावें।

फिरङ्ग रोग की चिकित्सा विधि

(१) मल को ढीला अथवा फुलाने वाला योग—हरड़ दल, वहेड़ा दल, आंवला, गुलाव पुष्प, धनियां,

गुण—यह गोलियां आतशक फिरंग विष को बाहर निकालने के लिए बहुबार परीक्षित है।

सूचना—इन गोलियों में डालने के लिए जमालगोटा शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं अपितु जीभी निकालकर डाल देना चाहिए।

४. गुलाब पुष्प उत्तम १०० ग्राम लेकर २ लिटर जल में रात को भिगो दें। प्रातःकाल क्वाथ करें। जब जल चतुर्थांश शेष रह जाए तो मलकर छान लें। इसमें मिश्री १०० ग्राम मिला ले, फिर १०० ग्राम चावलों में मिलाकर यथावश्यक घी डालकर पुलाव बनावें और रोगी को खिला दे। इससे बिना कष्ट के दस्त हो जावेगा।

(३) जौहर मुनक्का—रसकपूर, सफेद संखिया, दारचिकना (ताल पत्रक) प्रत्येक १० ग्राम ले ब्राण्डी में १ दिन खरल कर शीनी के प्याले में यथाविधि सत्व उड़ाएं।

मात्रा—१ से २ चावल तक, बीज रहित मुनक्का या कैपसूल में भरकर दें।

गुण—यह वातज व्याधि, फिरंग, आमवात तथा गृध्रसी में लाभप्रद है। वातिक ज्वर जन्य आकुलता तथा विराग दूर होता है। शोणित जन्य रोग नाशक है। कालाजार नाशक है। फिरंग के लिये यह प्रधान औषधि है।

पथ्यापथ्य—अम्ल तथा वातिक पदार्थ न दें। घी दूध खूब दें।

सिद्ध योग

(अ) विरेचन के पश्चात् २-३ दिन तक खिचड़ी दें।

(ब) विरेचन के २-३ दिन पश्चात् औषधि दें।

सूचना—यद्यपि फिरंग नाशनार्थ सहस्रों योग पुस्तकों में हैं, किन्तु हम यहां केवल अपने अनुभूत योग लिखेंगे।

[१] रसकर्पूर, दारचिकना, हिंगुल, तालपत्रक, श्वेतसोमल समभाग लें। इन सबको सूक्ष्म पीस लें। पीछे देशी शराब में निरन्तर एक सप्ताह पर्यन्त खरल कर शुष्क करें। तत्पश्चात् मृत्तिका के दो प्याले इतने बड़े लें कि जिनमें एक लिटर जल आ सकता हो, इन दोनों के होंठ भली प्रकार घिसवावें ताकि दोनों के ओष्ठ आपस में इस प्रकार मिल जाएं कि मध्य छिद्र न रहे। फिर एक प्याले या हांडी में खरल किए हुए द्रव्य डालकर, दोनों के होंठ मिलाकर सुदृढ़ सम्पुट करें कि औषधि का धूम्र न निकल सके। तत्पश्चात् सूखने पर प्यालों को चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे अंगुष्ठ प्रमाण मोटी दो बेरी की लकड़ियां जलाएं। एक घण्टे तक जलाते रहें ऊपर वाले पर वस्त्र भिगोकर रखते रहें। इसके पश्चात् अग्नि बन्द कर दें और शीतल होने पर पूर्ण सावधानी से प्यालों को खोलकर ऊपर वाले प्याले में लगे हुए श्वेत वर्ण के सत्व को प्राप्त करें। खरल कर शीशी में सुरक्षित रखें।

मात्रा—१ से २ चम्मच तक।

अनुपात—मक्खन या मलाई में लपेट कर दें।

सूचना—कैपसूल में भरकर देना उत्तम है। औषधि दांतों से न लगे। एक सप्ताह पर्यन्त लगातार देकर बन्द कर दें।

पथ्य—गेहूं या चने की रोटी तथा गाय का घी

अपथ्य—लवण तो बिलकुल न दें।

गुण तथा उपयोग—यह फिरंग, कुष्ठ, अर्श तथा भगन्दर में गुणप्रद है। फिरंग रोग प्रायः एक सप्ताह के सेवन से नष्ट हो जाता है। यदि कुछ कसर रह जाये, तो सप्ताह के पश्चात् एक विरेचन देकर पुनः एक सप्ताह यही औषधि दें। इस औषधि के सेवन से नया तथा पुराना सभी प्रकार का फिरंग-आतशक नष्ट हो जाता है।

[२] जौहर कलां—रसकपूर, संखिया, दालचिकना, पारा, सिंगरफ समानभाग लें। सबको ब्राण्डी में खरल करें। फिर गुलाब पुष्पार्क में खरल करके यथाविधि सत्व उड़ावें।

मात्रा—२ चावल भर, कैपसूल में भरकर दें। औषधि दांतों से न लगने पावे।

गुण तथा उपयोग—यह वातिक रोगों तथा आतशक फिरंग के लिए लाभप्रद है। रक्त का प्रसादन करता है। संशोधन के पश्चात् देना उत्तम लाभप्रद है।

[३] जौहर मुनक्का—(पूर्व लिखा है)।

[४] पारद भस्म—शुद्ध पारद १० ग्राम को कपरौटी की हुई पक्की आतशी शीशी (Flask) में डालकर ऊपर से ५० ग्राम गन्धक का तेजाब (Acid Sulphuric) डालें। शीशी को खुले मैदान में सुलगते हुए कोयलों की अंगीठी पर रख दें। आधे घण्टे बाद शीशी के मुख से धुंआ निकलना बन्द होने पर उठा लें। ठण्डी होने पर शीशी से श्वेत रंग की पारद भस्म निकाल लें।

मात्रा—१ से ४ चावल भर तक, कैपसूल में भरकर निगल जाएं।

उपयोग—यह भस्म उपदंश, फिरंग तथा कुष्ठ को दूर करने में अति उपयोगी है।

पथ्यापथ्य—घी तथा फीका दलिया, मूंग की दाल लें। नमक, मिर्च, खटाई न लें।

केवल ७ दिन में आतशक नष्ट हो जाता है।

[५] भल्लातक वटी—रसकपूर, शुद्ध पारद १०-१० ग्राम, अजवायन खुरासानी ३० ग्राम, शुद्ध भल्लातक ४० ग्राम, पुराना गुड़ १०० ग्राम (२० वर्ष पुराना गुड़)।

प्रथम गुड़ को आग पर गरम करें। जब नरम हो जाय तो उसमें पारद मिलाकर ओखली में डाल मूसली से खूब कूटें। जब पारद तथा गुड़ मिलकर एकप्राण हो जाएं तो भल्लातक डालकर कूटें। फिर शेष औषधियों का चूर्ण मिलाकर कूटें। तत्पश्चात् एक साथ चोट मारें, औषधि मोमवत् बन जायगी। अब इसकी ५००-५०० मि० ग्रा० की गोलियां बना लें। गीली गोलियों पर रजत पत्र चढ़ा दें। अथवा औषधि को कैपसूल में भर दें, जिससे गोली निगलते समय दांतों से न लगे।

मात्रा—प्रातः दो गोलियां दही के मध्य रखकर निगल जाएं अथवा कैपसूल निगलकर ऊपर से ६० ग्राम दही पीवें।

पथ्य—मांसाहारी बकरे का मांस खावें। बेसनी रोटी तथा घी खूब खावें।

गुण—इन गोलियों से पहले ही दिन लाभ मालूम होगा। सात दिन में रोग नष्ट हो जाता है। आतशक के अतिरिक्त कुष्ठ में भी लाभप्रद है।

[६] रसकपूर, दालचिकना, मंजिष्ठा तीनों भाग-भाग लेकर इन्द्रायण फल के रस में दो दिन लगातार खरल करें। फिर यथाविधि सत्व उड़ा लें।

मात्रा—२ चावल भर, कैपसूल में भरकर दें।

गुण—फिरंग रोग की महौषधि है। एक सप्ताह में रोग नष्ट हो जाता है। वातिक रोगों में भी लाभप्रद है।

सूचना—योग संख्या ६ के तीनों द्रव्यों को आर्द्रक स्वरस में ३ दिन खरल कर सत्व उड़ा सकते हैं। नया तथा पुराना फिरंग रोग नष्ट हो जाता है।

पथ्य—दूध-चावल या घी-रोटी दें।

[७] रसकपूर १० ग्राम, रजतपत्र १० ग्राम लें। दोनों को ७२ घण्टे तक खरल कर गुटका कर लें। फिर यथाविधि सत्व प्राप्त करें। जो सत्व मिले वह और तल में रही रजत—दोनों को एकत्र खरल करें और सत्व उड़ावें। यही कार्य तीन बार करें और अन्त में जो सत्व प्राप्त हो उसे खरल कर रखें।

मात्रा—२ से ४ चावल भर, कैपसूल में भरकर निगलवाएँ।

गुण—इसके सेवन से एक सप्ताह में ही आतशक नष्ट हो जाता है।

अपथ्य—तैल, खटाई, मिर्च आदि।

[८] भल्लातक, अजवायन खुरासानी ५-५ ग्राम, कत्था श्वेत, लौंग, जावित्री प्रत्येक ३६-३६ ग्राम लें। प्रथम भिलावों को तिल के तेल में भूनें, फिर बारीक पीस लें। शेष द्रव्यों को पीस कपड़छन कर लें, और सबको मिला लें। तत्पश्चात् बीस वर्षीय पुराना गुड़ २८८ ग्राम ले, सबको एक लोहे के इमामदस्ता में डालकर लगातार ३ दिन तक कूटते रहें। जब औषधि मलाई की भांति नरम हो जाए, तो जल्दी देर में मटर बराबर गोलियां बना लें।

मात्रा—१ गोली प्रातः के दूध के साथ दें।

गुण—इन गोलियों के सेवन से नया तथा पुराना हर प्रकार का फिरंग रोग नष्ट होता है।

सूचना—इन गोलियों के सेवनकाल में किसी प्रकार का पथ्य नहीं रखना पड़ता। [illegible] जाता है।

[९] तूतिया, पीपल बड़ी, लौंग, कालीमरिच, आमला, सुपारी, गिलोयसत्व, छोटी इलायची का दाना, शुद्ध गन्धक प्रत्येक ५-५ ग्राम, रसकपूर १ ग्राम। सबको नीबू के स्वरस से खरल कर ६४ गोलियां बना लें।

मात्रा—१-१ गोली प्रातः-सायं मक्खन या मलाई में लें।

गुण—आतशक की श्रेष्ठ औषधि है।

[१०] रसकपूर, छोटी इलायची के बीज, शीतलचीनी प्रत्येक १५-१५ ग्राम। इनको बकरी के दूध में खरल कर ५००-५०० मि० ग्रा० की गोलियां बना लें।

मात्रा—प्रातःकाल ४ गोली गोदुग्ध से निगल जावें।

पथ्यापथ्य—भोजन में खीर, घी, चीनी तथा गेहूं चना की रोटी लेवें। नमक तथा अम्ल का पूर्ण निषेध है। सफेद कत्था मुख में रखकर चूसते रहना चाहिए।

दन्त या मसूड़ों के शोथ होते ही या सात दिन तक औषधि सेवन करने के बाद बन्द कर देनी चाहिये। अन्त में मृदु कोष्ठशोधक औषधि के द्वारा विरेचन कराना चाहिये। प्रायः इससे लाभ हो जाता है। वृद्धों एवं गर्भिणियों में इसका प्रयोग न करना चाहिये। कुछ काल बाद तक धूप, नमक, अम्ल आदि का परित्याग करना चाहिये।

[११] रसकपूर ५० मि० ग्रा० लेकर सूक्ष्म पीस लें। गेहूं के आटे को सानकर कुटपी बना, उसमें रसकपूर को बन्द कर तथा आटे पर लौंग का चूर्ण लगा जल के साथ निगलें, लेकिन दांत से स्पर्श न होने दें और ऊपर से पान चबावें।

सूचना—इसके सेवनकाल में अम्ल, नमकीन पदार्थ, परिश्रम, धूप, तथा स्त्री-प्रसंग त्याज्य है।

[१२] रसकपूर, कपूर, पपरिया कत्था प्रत्येक १०-१० ग्राम, मूसली श्वेत २० ग्राम लें। चारों को कूट-पीसकर अर्क बादयान में खरल करके चने के समान गोलियां बना लें।

मात्रा—१ गोली मुनक्का में रखकर दें, परन्तु दांत न लगने पावें। या कैपसूल में दें।

गुण—आतशक में हितावह है।

पथ्य—भोजन में अरहर की दाल, रोटी दें।

[१३] स्वर्णक्षीरी मूलत्वक् १२ ग्राम, कृष्ण मरिच ५ नग आधा लिटर जल में घोटकर छान लें। इसमें मधु ४० ग्राम मिलाकर पिला दें। कुछ दिनों में आतशक नष्ट हो जायगा। यह रक्तशोधक है। फोड़े, फुंसी, दाद तथा खुजली नाशक है।

[१४] रसकपूर १० ग्राम, मुलतानी मिट्टी ४० ग्राम को मिला जल के साथ खरल कर ६०-६० मि० ग्रा० की गोलियां बना लें या कैपसूल में भर लें।

मात्रा—२ गोली प्रातःकाल दिन में एक बार निगलवा दें। फिर ऊपर से ६० ग्राम इमली को आधा लिटर जल से मसलकर गुठली निकाल तुरन्त पिला दें। इस प्रकार प्यास लगने पर इमली का जल एक दिन में ३-४ लिटर तक पिलाते रहें।

उपयोग—इसके सेवन से नया फिरङ्ग जिससे व्रण, नासूर हो गये हों, रोग ने तीव्र रूप धारण कर लिया हो वह भी दूर हो जाता है। अधिक से अधिक २१ दिन तक गोलियां देनी पड़ती हैं। २१ दिन के सेवन से फिरङ्ग, आतशक-जनित रक्तविकार, नाड़ीव्रण आदि दूर होकर शरीर स्वस्थ, सबल तथा तेजस्वी बन जाता है।

सूचना—(१) औषधि सेवन बन्द करने के बाद २१ दिन तक प्रतिदिन नीम के २१ पत्तों को जल के साथ पीस-छानकर पिलाते रहना चाहिए।

(२) औषधि सेवन काल तथा नीमपत्र सेवने काल अर्थात् ४२ दिन तक दूध, मीठे पदार्थ और घी बिलकुल नहीं खाना चाहिए।

(३) कदाचित रोगी को आतशक के हेतु विस्फोट भी हो गया हो, तो औषधि सेवन के साथ चिरोंजी को जल में पीसकर शरीर पर मर्दन करावें अथवा पलाश के पत्ते की डण्डियों को जला राख कर तांबे के पात्र में डाल, दही मिला, तांबे के सोटे से घोटकर शरीर पर मालिश करावें और सूखने पर स्नान करावें।

(१५) मुर्दासंग तथा कूठ १०-१० ग्राम, नीलाथोथा ५ ग्राम मिला ६ घण्टे आर्द्रक स्वरस में खरल कर १२५-१२५ मि० ग्रा० की गोलियां बना लें।

मात्रा—१ से २ गोली तक आर्द्रक स्वरस से प्रातः-सायंकाल दें।

गुण—एक सप्ताह में नये तथा पुराने फिरंग रोग को नष्ट करता है।

[१६] रसकपूर तथा सोमल ६०-६० ग्राम, कपूर २० ग्राम लें। सबको मिला डमरू यन्त्र में भर, अच्छी तरह सन्धि लेप करें और सुखाकर चूल्हे पर चढ़ा चार घण्टे मन्द तथा मध्यम अग्नि देकर पुष्प उड़ा लेवें। फिर यन्त्र के शीतल होने पर उसे खोल पुष्प निकाल लेवें।

मात्रा—२ से ४ चावल भर, मुनक्का या कैपसूल में भरकर निगलवा दें। दिन में एक बार प्रातःकाल ही सात दिन तक दें।

गुण—यह फिरंग को दूर करने में उत्तम औषधि है। नये तथा पुराने रोग को नष्ट करती है।

सूचना—इसके सेवनकाल में दूध, दही तथा इनसे बने हुये पदार्थ, खटाई और नमक नहीं खिलाना चाहिए। रोगी को केवल हलवा दें।

(१७) नीम की अन्तरछाल, कचनार की छाल, इन्द्रायण की जड़, कीकर की फली, पद्म और छोटी कटेरी पञ्चांग, पुराना गुड़ प्रत्येक १००-१०० ग्राम लें। सबको कूटकर ५ लिटर जल में क्वाथ करें। अष्टमांश शेष रहने पर छानकर रख लें।

मात्रा—६० मि० लि० प्रातः पिलावें।

गुण—यह क्वाथ नूतन उपद्रव रहित फिरंग को नष्ट करता है।

सूचना—भोजन में खिचड़ी तथा घी अधिक दें। इससे नित्य ३-४ दस्त होते हैं। यदि ३-४ विरेचन न हों, तो मात्रा और बढ़ावें। यदि विरेचन कुछ अधिक हों तो मात्रा घटावें। अधिक विरेचन आवें, तो एक दिन औषधि न देवें।

[१८] **उपदंशवज्रकुठार**—जमालगोटा तथा [illegible] की गिरी ७-७ नग, ढेंपी उतारे हुये ताजे भल्लातक ५ नग, पुराना गुड़ १० ग्राम, काली मिर्च १२ नग और दालचीनी १ ग्राम लेवें। पहले भिलावों और गिरी को मिलाकर इतना कूटें कि भिलावों का अंश मालूम न हो। [illegible] और जमालगोटे को एकत्र कूटें। दालचीनी को एक प्रहर तक खरल में मर्दन करें। फिर सबको मिलाकर कूटें और अन्त में गुड़ डालकर [illegible]।

मात्रा—३ ग्राम, प्रातःकाल।

अनुपान—दही की मलाई में लपेट कर निगलें और ऊपर से १२ ग्राम दही खावें।

उपयोग—यह फिरंगोपदंश के लिये कुठार रूप है। इसके सेवन से बहुधा २-३ विरेचन होते हैं। जिनको दस्त होता है, वे शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। जिनको विरेचन न हों, उनको निम्नलिखित क्वाथ दें—

गुलाब के फूल, काला मुनक्का और सनाय २५-२५ ग्राम ले यवकुट कर ५०० मि० लि० जल में औटावें। १०० मि० लि० जल शेष रहने पर रात्रि को सोते समय पिला दें। इससे प्रातःकाल तक २-३ दस्त हो जायेंगे। आवश्यकता पड़ने पर दें।

पथ्य—मूंग की दाल, चावल, घी दें। गेहूं या चने की रोटी घी से दें, नमक न दें।

विशेष—इस प्रकार २१ दिन तक औषधि सेवन करने पर उपदंश, फिरंग अच्छा हो जाता है। जिसका सारा शरीर काला पड़ गया हो, [illegible] हो, चकत्ते पड़ गये हों, मुख से [illegible] हो, तो भी ५६ दिन में रोगी स्वस्थ हो जाता है।

जिसके शरीर में बहुत समय का [illegible] रोग हो गया हो, अथवा जिसको कृत्रिम विष खिलाया गया हो, उसके सब उपद्रव इसके सेवन से दूर हो जाते हैं।

सूचना—यह रसायन [illegible] अनुपान से ही देनी चाहिए। जिन रोगियों का शरीर [illegible] हो गया हो, उनको और बूढ़ों को यह रसायन [illegible] विरेचन प्रधान [illegible] नहीं देनी चाहिए। [illegible] देने से तथा [illegible] किसी-किसी को [illegible] हो जाते हैं। [illegible] और [illegible] होने पर रोगी और परिचारक आदि [illegible] हैं। [illegible] वैद्य को [illegible] मौका नहीं मिलता।

भिलावा उग्र रसायन द्रव्य है। उग्र रसायन द्रव्य एकदम धातुशून्य आदमी को देने से परिणाम हानिकारक होता है। कदाचित् तरुण व्यक्ति को भिलावा-युक्त औषधि से कुछ उपद्रव हो जाये, जैसे कि दाह, खुजली, चक्कर आदि उपस्थित हों, तो वैद्य को घबड़ाना नहीं चाहिए। उसी समय अजवायन का धुंआ सर्वांग में देना बहुत उपकारक होता है। यदि इससे भी किसी को शान्ति न हो, चौलाई के रस और मूली के रस को एकत्र कर शहद और तिल तैल मिलाकर सारे शरीर पर मालिश करनी चाहिए। इस तरह नारियल का तैल भी भिलावे के दोष के शमनार्थ उत्तम है।

इस विधि के सेवन काल में भल्लातक की दृष्टि से पथ्य पालन करना चाहिए। शान्त भाव से छाया में रहें, घी अधिक खावें। तेल, मिर्च, धूल, धूप, धुंआ, अग्नि, क्रोधादि से भी दृढ़तापूर्वक बचें।

—श्री स्व० पं० हरिप्रपन्न जी।

(१९) उपदंशदावानल—शुद्धहिंगुल, शुद्ध हरताल, शुद्ध सोमल, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध रसकर्पूर, दालचिकना और नीलाथोथा ५०-५५ ग्राम लेकर ब्राण्डी व ह्विस्की में १२ घण्टे खरल कर टिकिया बनावें। फिर मिट्टी की छोटी-छोटी दो हांडी समान मुख वाली लें। इनके मुंह को पत्थर पर जल डालके घिसकर चिकना बनालें। फिर एक हांडी पर दृढ़ कपड़मिट्टी करें। उस कपड़मिट्टी की हुई हांडी में टिकिया रख, ऊपर दूसरी हांडी ओंधी रखकर दोनों के मुखों को मिलाकर मुखमुद्रा करें। सूखने पर डमरूयन्त्र को चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे वेर की लकड़ी की मन्द अग्नि चार प्रहर तक देवें। वार-वार ऊपर वाली हांडी पर गीला कपड़ा बदलते रहें। स्वांगशीतल होने पर ऊपर की हांडी में लगा हुआ पुष्प निकालकर पुनः नीचे रही हुई औषधि में मिलाकर शराव के साथ खरल करके पुष्प (जौहर) उड़ावें। इस तरह सात वार करें। अन्तिम समय में उड़े हुये पुष्पों और नीचे की औषधि को अलग-अलग शीशी में भर लेवें। हांडी के नीचे के भाग में रही हुई औषधि को पुनर्नवा के रस में ३ दिन खरल कर १२५ मि०ग्रा० की गोलियां बना लें।

मात्रा—पुष्प १ से २ चावल तक, कैपसूल, घी, मक्खन या हलुवे में रखकर रोज प्रातःकाल निगलवा दें। इस तरह ७–१४ या २१ दिन दें।

गोलियों का सेवन कराना हो तो १-१ गोली निगलवायें। फिर ऊपर से पुनर्नवा के कल्क का स्वरस १२ मि०लि० २१ दिन खिलावें, फिर थोड़ा घी चटावें।

सूचना—(१) पुष्प दांतों को लग जाने से दांत गिर जाते हैं। अतः इनको निगलवा दें।

(२) अपथ्य सेवन करने वाले और अधिक कोमल प्रकृति वालों का यह अथवा अन्य उग्र औषधि न दी जाए तो अच्छा है। यदि इसे देना पड़े तो सावधानी पूर्वक कम मात्रा में देवें।

(३) वृक्कों में या मूत्राशय में क्षत होने से मूत्र के साथ पूय जाता हो तो पारद अथवा मल्ल प्रधान औषधि नहीं देनी चाहिए।

(४) उपदंश रोगी को अपथ्य अथवा अन्य कारण-वश उपदंश दावानल के सेवन से ज्वर, मुख पर शोथ, यदि व्याकुलता आदि लक्षण उत्पन्न हो जायें तो १-२ दिन लंघन करा, फिर पथ्य पालन सह उपदंशहर कषाय और गन्धक रसायन सेवन करानी चाहिए।

उपयोग—यह असाध्य से असाध्य उपदंश को भी दूर कर देता है। भोजन में केवल गेहूं व चने की रोटी घी, शक्कर के साथ दें और कुछ न दें। कदाचित् कब्ज रहे तो उपदंशवन कुठार में लिखित विरेचन क्वाथ दें।

उपदंश रोग के उपद्रव नाड़ीव्रण, गुदशूल, वद (गमा) आदि चाहे जितने वढ़ गये हों, रक्त चाहे जितना दूषित हो गया हो, इन सव विकारों सहित इसके सेवन से उपदंश-फिरंग रोग निवारण होकर पुरुषत्व की प्राप्ति होती है।

(२०) सवीर वटी—शुद्ध सवीर (रसकपूर), केशर, लौंग, श्वेतचन्दन प्रत्येक ४०-४० ग्राम और कस्तूरी ५ ग्राम लें। पहले रसकपूर को खरल करें। फिर केशर, कस्तूरी मिलाकर नागरवेल के पान के रस में खरल करें। पश्चात् लौंग और चन्दन का चूर्ण मिला नागरवेल के पान के रस में एक दिन मर्दन कर १२५-१२५ मि०ग्रा० की गोलियां बना लें।

मात्रा—१ से २ गोली तक प्रातः-सायं निगलवा कर ऊपर से गरम करके शीतल किया हुआ मिश्री मिला गोदुग्ध पिलावें।

उपयोग—यह वटी फिरंग और उसके विष से उत्पन्न विविध विकार, मांसगत व्रण, नेत्र व्रण, अर्बुद, भगन्दर, जड़ता, तन्द्रा, सन्धिवात और वातनाड़ियों की विकृति होकर पक्षवध या कलायखञ्ज के समान लक्षण उत्पन्न होना आदि विकारों पर अच्छा लाभ पहुंचाती है। निर्बल हृदय और अति कोमल प्रकृति वालों को रसकपूर के अन्य योग देने की अपेक्षा यह वटी विशेष हितावह है।

पथ्य—इस रसायन के सेवनकाल में खटाई, मिर्च, हींग, राई आदि गरम मसाले तथा बैंगन, सरसों, मूली और एरण्ड खरबूजा का शाक नहीं खिलाना चाहिए।

(२१) अनुभूत वटी—शुद्ध रसकपूर, जायफल, लालचन्दन, मरिच, केशर तथा लौंग समभाग लेकर कूट-पीस वस्त्रपूत कर नीबू के रस में घोट १२५-१२५ मि०ग्रा० की गोलियां बना लें।

मात्रा— १ गोली प्रातःकाल।

अनुपान—गोदुग्ध। गोली दांतों से न लगने पावे।

(२२) उपदंश सूर्य—श्वेत सोमल ५ ग्राम, छोटी कटेली के पञ्चाङ्ग का स्वरस तथा नीबू का स्वरस १२०-१२० मि० लि० लें। फिर सबको मिलाकर लोहे की कड़ाही में ५२ दिन पर्यन्त कड़वे नीम के डण्डे से घुटाई करें। पश्चात् मूंग के समान गोलियां बना लें। रस कम हो जाने पर और मिला लें।

मात्रा—१-२ गोली प्रातः घृत के साथ निगल जावें।

पथ्य—भोजन में गेहूं का फुलका, घी तथा मूंग की दाल लेवें। घी अधिक लें।

अपथ्य—तैल, मिर्च, खटाई तथा नमक त्याग दें।

उपयोग—यह रस उपदंश रोग को जलाने में सूर्य के समान तेजस्वी है।

सूचना—इस औषधि के सेवनकाल में गरम भोजन, गरम पान, मिर्च, खटाई तथा नमक का त्याग करें।

(२३) मल्लादि वटी—पीला सोमल १० ग्राम और [illegible] ३० ग्राम मिलाकर कज्जली करें। फिर नागरपान के रस में ३ दिन खरल करके ६०-६० मि० ग्रा० की गोलियां बना लेवें।

मात्रा—१-१ गोली दिन में दो बार नागरबेल के पान के रस के साथ दें।

उपयोग—यह वटी जीर्ण फिरंग के उपद्रव, संधिवात, पक्षाघात, गुदशूल, तालुव्रण, वातविकार, अण्ड-वृद्धि, मन्दाग्नि, कुष्ठ, गलत्कुष्ठ, रक्तविकार, नाड़ीव्रण, नेत्रव्रण, दुष्टव्रण आदि को एक मास में नष्ट करती है। उपदंश (फिरंग) जनित ५-७ वर्ष के जीर्ण उपद्रव इस औषधि से दूर होने के अनेक उदाहरण मिले हैं।

यह वटी प्रबल कीटाणुनाशक और विषघ्न है। इसका उपयोग विशेषतः फिरंगजनित उपद्रवों पर होता है। फिरंग रक्त में रह जाने पर मांस आदि धातुओं में लीन होकर कुछ मास या वर्षों के पश्चात् रक्तविकार, फोड़े-फुंसी, कुष्ठ, त्वचारोग, गुदशूल, तालुव्रण, पक्षाघात, धमनीकोष्ठ काठिन्य, रक्तदबाव वृद्धि और [illegible] स्थानों में मस्से की उत्पत्ति इत्यादि उपद्रव उपस्थित होते हैं। इन उपद्रवों को मूल रोग मानकर उपाय करने पर अच्छा लाभ नहीं पहुंच सकता। फिरंग विष को जलाने पर ही वे निर्मूल होते हैं। इस विष को जलाने में मल्ल प्रधान औषधि श्रेष्ठ मानी गई है। रक्तविकृति, आमप्रकोप, कफप्रकोप, धूमप्रधान ज्वर, नेत्रव्रण, नासाव्रण, तालुव्रण आदि पर इस वटी की योजना विशेष हितावह है।

सूचना—भोजन में गेहूं, चने की मिश्रित रोटी, घी, गोदुग्ध, शक्कर दें। उदर शोधन नियमित होना चाहिए।

(२४) आर्य वटी—[illegible] ६ ग्राम, [illegible] ३ ग्राम, रसकर्पूर ३ ग्राम, मधु [illegible] ग्राम लें। सबको खरल पीसकर ७ गोलियां बनायें।

मात्रा—प्रतिदिन १-१ गोली जल से निगल जायें।

उपयोग—यह फिरंग की अनुभूत औषधि है।

पथ्यापथ्य—पूर्ववत्।

धूम योग—

(१) दरदादि धूम योग—हिंगुल, [illegible] १०-१० ग्राम, [illegible]

का पृथक्-पृथक् वस्त्रपूत चूर्ण कर, खरल में डाल पानी के साथ घोटें। फिर दस भाग में विभाजित कर दस टिकिया बना लें।

प्रयोग विधि—प्रातः तथा सायंकाल १-१ टिकिया चिलम में रखकर हुक्का पीवें। अशक्त रोगी को एक वार प्रातःकाल ही पिलावें।

सूचना—इसके पीने के पश्चात् तुरन्त ही बबूल की दांतुन चवाकर बबूल के पानी से गण्डूष करें।

बबूल का पानी—बबूल की पत्ती ५० ग्राम को ४ लिटर जल में डाल हांडी में भरकर उबालें। जब आधा जल शेष रहे, तब छान लें।

(२) सिंगरफ रूमी, सफेदा काशगरी, अकरकरा, हरे मांजू प्रत्येक ५-५ ग्राम ले, पानी से कूटकर तीन टिकिया समान मात्रा की बना लें।

प्रयोग विधि—३-३ घण्टे के अन्तर से तीनों टिकिया एक ही रात में चिलम में रखकर हुक्का पीलें।

सूचना—इससे पसीना आयेगा, घबराहट होगी, रातभर नींद बिल्कुल नहीं आयेगी। यदि नींद आये, तब भी सोना नहीं चाहिए। प्रातः स्नान करें और मुर्ग के दो चूजों का शोरवा पीवें। भोजन में चूजा मुर्ग ही दें।

उपयोग—एक ही रात में इस विधि से गहरे से गहरे और बड़े से बड़े व्रण भर जायेंगे।

(३) हिंगुल, अर्कमूलत्वक्, गुड़ पुराना, मांजू हरित समान भाग लेकर बारीक पीस यथावश्यक मिलाकर १२-१२ ग्राम की टिकिया बना लें।

प्रयोग विधि—एक टिकिया चिलम में रखकर हुक्का सात दिन तक लगातार पीवें। धुंआ नाक से निकालें।

उपयोग—इससे उपद्रव सह फिरंग नष्ट होता है।

(४) रसकपूर, गन्धक तथा चावल समभाग लेकर पीस, कज्जली कर ५-५ ग्राम की ७ पुड़िया बना लें।

प्रयोग विधि—१-१ पुड़िया को चिलम में रखकर बेरी की लकड़ी की आग से रोजाना धूम्रपान करें।

धूनी योग

१. हरमल ८ ग्राम, अजवायन खुरासानी ४ ग्राम, अजवायन देशी ४ ग्राम, शिंगरफ रूमी १० ग्राम, कोयला कीकर १० ग्राम सबको सूक्ष्म पीस लें, दिन में एक बार आतशक के व्रणों को धूनी दें। एक बार में ३ ग्राम औषधि लें।

२. शूलशार्दूल गुटी की धूनी व्रण तथा समस्त शरीर पर दें।

विधि—रोगी को विना बिस्तर की खाट पर लिटावें। खाट के चारों ओर कपड़ा लटका दें। एक कपड़ा रोगी को उढ़ादें। एक पात्र में निर्धूम अंगारे ले उनके ऊपर २ गुटिकाएं रखकर पात्र को खाट के नीचे रखें। रोगी को करवट बदलते रहने के लिए कहें। कभी सीधा कभी चित्त, कभी औंधा तो कभी किसी करवट बदलता रहे। व्रणों पर जो शिश्नेन्द्रिय पर हों, बैठकर धूनी लगावें। यह सब क्रिया निर्वात स्थान में करें।

एक अद्भुत् योग—पारद, ३ ग्राम को पीली फूल वाली खरैंटी के रस के साथ दोनों हाथों से तब तक मलें जब तक कि पारद की चमक दिखाई देना बन्द न हो जाए। इसके बाद हाथों को अग्नि में सेक लें। इस तरह यह क्रिया ७ दिन तक करते रहें। लवण तथा अम्ल पदार्थों का सेवन करना त्याग दें। फिरङ्ग रोग नष्ट हो जाता है।

प्रक्षालनार्थ

१. **रसकर्पूर द्रव**—रसकर्पूर ७३ भाग तथा निम्बूकाम्ल (Citric Acid) ३८ भाग को एकत्र घोट-कर १-१ ग्राम की टिकिया बना लें।

एक टिकिया को एक लीटर जल में घोल बनाकर फिरङ्गज व्रणों को धोवें।

२. **विमर्दित नील धावन**—नीलाथोथा १० ग्राम, फिटकरी २० ग्राम तथा कर्पूर २० ग्राम लें। इन सबको पृथक्-पृथक् पीसकर बोतल में भरकर जल बना लें। फिर इस जल में २ लि० वाष्प जल मिला लेने पर यह धावन तैयार है।

उपयोग—फिरंग-उपदंश जनित लिंगशोथ होने पर इस धावन की २-४ बूंद डालें अथवा फोहा रखें और सुपारी पर सूजन न हो तो पिचकारी लगावें।

इससे दाह होता है। यह सहन न हो सके तो और जल मिला लेना चाहिए। यह धावन सड़े हुए घावों को धोने के लिये भी उपयोगी है। मन्द प्रवाही बनाकर नेत्र में भी इसकी बूंदें डालें।

३. त्रिफला क्वाथ से व्रणों को धोकर साफ करना चाहिये।

४. निम्बपत्र कषाय से व्रणों का प्रक्षालन करें।

फिरङ्गज व्रण नाशक मलहम

१. **रसकर्पूर मलहम**—रसकपूर १ ग्राम, हिंगुल १ ग्राम, सफेदा काशगरी १ ग्राम, मुर्दासङ्ग १ ग्राम, सिन्दूर १ ग्राम, पीली कपर्दिका भस्म १ ग्राम, मोम देशी १२ ग्राम, चमेली तैल ३६ मि० लि० लें। तैल मोम को छोड़कर शेष द्रव्यों का सूक्ष्म वस्त्रपूत चूर्ण बना लें। फिर मोम को पिघलाकर चमेली तैल में मिलावें। पीछे चूर्ण को मिलाकर घोट लें। इस मलहम को आतशक के व्रणों पर लगावें। अत्युत्तम व्रण नाशक है।

२. **कर्पूरादि मलहम**—कपूर, संगजराहत २-२ ग्राम, मुर्दासङ्ग, तूतिया १-१ ग्राम, राल १५ ग्राम, कत्था श्वेत ६ ग्राम, मोम देशी ४ ग्राम, गोघृत ४८ ग्राम लें।

मोम तथा घृत के अतिरिक्त सब द्रव्यों को कूट पीस सूक्ष्म वस्त्रपूत चूर्ण बना लें। पीछे मोम घी को गरम करके इसमें चूर्ण डाल दें और घोट लें। फिर इस मलहम को ७ बार पानी से धो लें।

यह मलहम नये व पुराने फिरङ्ग व्रणों को शीघ्र लाभ पहुंचाता है।

३. **एलादि घृत**—छोटी इलायची के बीज १२ ग्राम, तूतिया ६ ग्राम, राल ६० ग्राम, शुद्ध हिंगुल १८ ग्राम, शुद्ध रसकपूर ४.८ ग्राम, शुद्ध मैनसिल ६० ग्राम, शुद्ध पारद २४ ग्राम, केसर ६ ग्राम, शुद्ध गिन्जहरताल ६० ग्राम ले सबको कपड़छान चूर्ण कर नवनीत शत-धौत गोघृत में छोड़कर घोट लें। इस घृत को व्रणों पर लगाने से फिरंगज व्रण नष्ट हो जाता है।

मुखपाक नाशक उपाय

१. झड़बेरी की जड़ की छाल यथावश्यक लेकर पानी में उबालकर शीतल कर रोगी को गण्डूष (गरारे-कुल्ले) करावें।

२. विमर्दित नील धोवन से गण्डूष करें।

३. कठूमर की छाल को छः गुने जल में उबालकर गण्डूष करें।

पारद विकार शमनार्थ

१. त्रिफला, कुटकी, शतावर, पटोलपत्र, गिलोय, पित्तपापड़ा, इनको समभाग ले के यथाविधि क्वाथ करके पीवें।

२. शुद्ध गन्धक आधे ग्राम की मात्रा में घृत के साथ दें।

३. अनन्तमूल का क्वाथ पिलावें।

४. मकोयपत्र स्वरस १२० मि० लि० प्रतिदिन पिलावें।

पथ्यापथ्य विमर्श

पथ्य—फिरंगरोग नाशनार्थ रसकर्पूर युक्त औषधियां सेवन कराते हैं। अतः रसकर्पूरयुक्त औषधि सेवनकाल में पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये।

फिरंग रोगी को चने की रोटी तथा गाय का घी दिया जाए अथवा गेहूं की रोटी और घी दिया जाए। अथवा पुराना जड़हन चावल मूंग की दाल तथा गोघृत दें।

शाक—बथुआ, तोरी, चौलाई। इन पथ्य से सत्वर लाभ होता है।

अपथ्य—उपर्युक्त पथ्य के अतिरिक्त सभी पदार्थ अपथ्य ही हैं। विशेष रूप से नमक तो बिल्कुल ही नहीं लेना चाहिये। हुक्का, बीड़ी, सिगरेट भी त्यागें तो उत्तम है, तम्बाकू भी त्याज्य है।

परिश्रम तथा मैथुन का त्याग करें।

फिरंग और विविध अंग

आचार्य नाथूराम गोस्वामी, वैद्य शास्त्री, ए० एम० बी० एस०
प्रोफेसर काय-चिकित्सा–शासकीय महाविद्यालय, रायपुर (म० प्र०)

हम इस लेख में निम्नांकित फिरंगों की चर्चा करना अपना कर्तव्य समझते हैं—

(१) अग्न्याशय फिरंग
(२) अस्थि फिरंग
(३) आमाशय फिरंग
(४) कण्ठनाड़ीगत फिरंग
(५) धमनी फिरंग
(६) फुफ्फुस फिरंग
(७) वातनाड़ी संस्थानीय फिरंग या मस्तिष्क फिरंग ।

वैसे तो ऐसा कोई अंग नहीं जिस पर फिरंगाणु का प्रहार न होता हो फिर भी उपर्युक्त अंगों में फिरंग द्वारा किये गये भीषण आघात का हम चित्र इसलिए प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि हमारे वैद्यगण यह जान लें कि उन्हें इस क्षेत्र में कितना और करना है ।

(१) अग्न्याशय फिरंग—सहज फिरंग (कंजैनिटल सिफलिस) से पीड़ित बच्चों की पेंक्रियाज (अग्न्याशय) भी फिरंग से पीड़ित हो जाती है । लगभग २० प्रतिशत सहज फिरंगी बच्चों के अग्न्याशय का फिरंगाणु कष्ट देता है । रोग अकेले अग्न्याशय में ही नहीं होता वह यकृत् को भी साथ ही साथ प्रभावित करता है ।

इस रोग में अग्न्याशय की अन्तर्खण्डीय संयोजी ऊति में वृद्धि होने लगती है । अग्न्याशय ग्रन्थि के कोशा नष्ट होने लगते हैं । एक आश्चर्य की बात यह है कि फिरंगाणु लेंगरहैन्स की द्वीपिकाओं को प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं । इस कारण बच्चे के शरीर में इन्सुलीन का निर्माण यथावत् होता रहता है और कार्बोहाइड्रेट मेटाबोलिज्म अप्रभावित होता रहता है । फिर भी इन द्वीपिकाओं के दबने से मधुमेह मिल सकता है । ग्रन्थि की वृद्धि के कारण अग्न्याशय रस लाने वाली नाली में आन्त्र के सिरे पर अवरोध हो सकता है । इस रोग से पीड़ित और प्रवृद्ध अग्न्याशय को स्पर्श परीक्षा से पेट पर टटोला जा सकता है । बच्चे को बार-बार उल्टियां आती हैं ।

इस रोग में कंजैनिटल सिफलिस के लिए की जाने वाली चिकित्सा जिसमें प्रति पाउण्ड शिशु भार पर २ लाख यूनिट पेनिसिलीन के हिसाब से प्रतिदिन पेनिसिलीन का इञ्जेक्शन १०-१५ दिन तक देना और ऐसा १०-१५ दिन लगातार करना आवश्यक होता है ।

इसके अतिरिक्त चोबचीनी, कपूरकचरी १-१ तोले को ३२ तोले पानी में औटाकर ८ तोले क्वाथ बना उसमें १ पाव चीनी डाल शर्बत बना लें इसमें ४ रत्ती रस सिन्दूर और १ माशा मयूरपिच्छ भस्म पीसकर मिला दें । इस शर्बत की ५-५ बूंद हर घण्टे देते रहने से लक्षणों का शमन हो जाता है । यदि रोगी को मधुमेह भी साथ में हो तो केवल क्वाथ की ही ५-५ बूंदें भस्में डालकर देनी चाहिए ।

(२) अस्थि फिरंग—यदि फिरंग की चिकित्सा उसकी प्रथम या द्वितीय अवस्था में न की गई तो रोग हड्डियों तक पहुंच जाता है । यह फिरंग की तृतीयावस्था

में पाया जाता है। इसके कारण विविध प्रकार के रोग लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह न भूलना चाहिए कि फिरंगाणु का प्रभाव मानव शरीर की किसी भी अस्थि पर हो सकता है। फिर वह चाहे सिर की सपाट अस्थि हो या पैर की नलक अस्थि या छाती की छोटी अस्थि हो। कभी-कभी थोड़ी चोट लगने के बाद हड्डी में वेदना शुरू होती है। रोगी समझता है कि वह चोट का दर्द है पर बात होती है अस्थि पर फिरंग के प्रभाव की। रोग हड्डी के एक भाग में होता है, दर्द रात में अधिक कष्टप्रद प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि कोई अन्दर से हड्डी के एक भाग में छेद कर रहा है। रोगी तड़प-तड़प जाता है। लम्बी हड्डियों में जहां यह वेदना होती है ऊपर से छूने पर कड़ापन प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि वहां नई हड्डी का अंश बन गया हो।

ही प्रधानता रखनी चाहिए। इसके लिए १५ दिन बराबर बड़ी मात्रा में पेनिसिलीन के इन्जेक्शन लगाने चाहिए और रोगी के शरीर में कम से कम ८५ लाख से १ करोड़ यूनिट तक पेनिसिलीन पहुंच जानी चाहिए। ताकि रोगी के शरीर के गहनतम भागों में व्याप्त फिरंगाणुओं का सफाया किया जा सके।

इस स्थिति में मजीठ, कत्था और गोखरू से गाय का घी घृतकल्पना विधि से सिद्ध कर दोनों समय रोगी को मिश्री एवं मधु के साथ चटाकर दूध पिलाना चाहिए। इससे अस्थियों की वेदना कम होती है और रोग का आगे की अस्थियों में प्रसार रुक जाता है।

३. आमाशय फिरङ्ग—यह पुरुषों में जितना पाया जाता है उतना स्त्रियों में नहीं। रोग ४ से ४० वर्ष की आयु तक देखा जाता है अमेरिका में यह रोग

> प्रस्तुत लेख आयुर्वेदजगत् के महापण्डित और पीयूषपाणि चिकित्सक आचार्य नाथूराम गोस्वामी की लेखनी का प्रसाद है। आपका यह लेख आज से १६ वर्ष पूर्व सुधानिधि के गुप्त रोग चिकित्सांक में प्रकाशित हुआ था जिसे उपयोगी समझकर यहां पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख द्वारा पाठकों को फिरङ्ग का शरीर के विभिन्न अंगों पर क्या प्रभाव होता है? इसकी अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
>
> —सम्पादक

खोपड़ी की हड्डियों में कहीं काठिन्य तो कहीं गलाव मिलता है। ऐसा लगता है कि मानो किसी कीड़े ने सारी खोपड़ी खा डाली हो। नाक की हड्डी गल जाती है। नाक से तालु तक आर-पार छेद हो जाता है। रोगी कुरूप हो जाता है और उसकी दुर्दशा हो जाती है।

फिरंग का प्रसार कभी-कभी अंगुलियों की छोटी अस्थियों तक हो जाता है वे सूज जाती हैं। कभी-कभी मेरुदण्ड की अस्थियां या कशेरुकायें भी प्रभावित होती हैं।

अस्थियों के साथ-साथ घुटने की सन्धि (जानुसंधि) और घुटने की अस्थि के ऊपर का वर्सा भी इस रोग से प्रभावित हो जाता है उसे छूने से उसमें रबर जैसी कोमलता का अनुभव होता है तीव्र पाक के लक्षण नहीं मिलते।

यह रोग फिरंग की तृतीयावस्था का है इसलिये इसमें तृतीयावस्था के लिए किये जाने वाले उपचार की

जितना होता है उतना इंग्लैण्ड में नहीं। भारत में भी इस रोग से पीड़ित रोगी मिलते हैं। यह भी फिरंग की तृतीयावस्था का रोग है और आमाशय में फिरङ्गार्बुद (गम्मा) बनने के कारण उत्पन्न होता है।

आमाशय में फिरङ्ग के कारण रोगी को भोजन करते ही शूल होने लगता है। यह शूल आमाशय के ऊपरी भाग में होता है। रोगी में फिरङ्ग रोग के लक्षण शरीर के अन्य भागों में प्रायः मिलते हैं। रोगी को भूख यथा समय यथावत् लगती है कभी-कभी उल्टी भी हो जाती है। पेट का परिस्पर्श करने पर किसी-किसी में फूला हुआ भाग भी मिल सकता है, अन्यथा पेट प्राकृत पाया जाता है। आमाशय के अन्य रोगों की तरह इस रोग में मिचली का अभाव रहता है।

फिरङ्ग की रक्तपरीक्षा सहायक होती है। क्षकिरणचित्र में भी कुछ अन्तर पता इस रोग का लग जाता है।

फिरंगजन्य त्वग्विकार
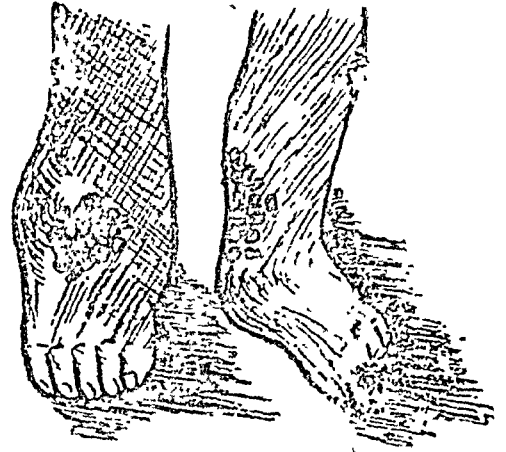
वालिका का शरीर रक्तहीन मलिन तथा क्षीणपात्र हैं। चर्म पर कण्डु चलती है। शरीर पर असख्य पिडिकाएं निकली हुई हैं। अधिकांश पिडिकाएं पूययुक्त हैं।

फिरंग एवं विविध अङ्ग
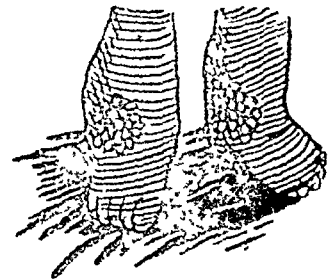
पूय रहित सपूय विस्फोट
जिनके आधार लाल रंग के होते हैं।

इस रोग में तृतीय पेनिसिलीन के इन्जैक्शन देकर सिफलिस का सफाया करना पड़ता है। केवल फिरङ्गनाशक उपचार से ही रोग शान्त किया जा सकता है। चोपचीनी और शुंठी ४-४ रत्ती का फांट बनाकर उसमें दूध और चीनी डाल चाय तैयार कर देने से रोगी को आराम मिलता है।

४. कण्ठनाड़ीगत फिरङ्ग—कण्ठनाड़ी या ट्रैकिया फिरङ्गाणुओं से उसी प्रकार प्रभावित होती है जैसे अन्य कोई अङ्ग या शरीरावयव। सहजफिरङ्गी हो या लब्धफिरंगी हो दोनों की कण्ठनाड़ी में कुछ न कुछ विकृति मिल सकती है। सहजफिरंगी बालककी कण्ठनाड़ी में व्रणवस्तु बनकर उसे संकुचित कर देती है। लब्ध फिरंगी में द्वितीय और तृतीय दोनों ही अवस्थाओं में कण्ठनाड़ी में विक्षत बनते है। द्वितीयावस्था में कण्ठनाड़ी की श्लैष्मिककला में सफेद पैच पाये जाते हैं तथा तृतीयावस्था में फिर अर्बुद बन सकता है। आगे चल कर उसमें व्रणन हो जाता है। कण्ठनाड़ी के वलय भी गल जाते हैं।

कण्ठनाड़ी श्वसन मार्ग का प्रथम द्वारपाल होने से इस क्षेत्र में विकृति का भयानक प्रभाव पड़ता है। यहीं पर स्वरयन्त्र रहता है वह भी प्रभावित होने से आवाज बैठ जाती है तथा श्वास लेने में रोगी को भयंकर कष्ट होता है। कण्ठनाड़ी का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये अब यन्त्रों की कमी नहीं है और अब आसानी से रोग का निदान किया जा सकता है। दूसरे वासरमेन परीक्षा का अस्त्यात्मक होना तथा फिरंग के अन्य लक्षणों का मिलना भी निदान की पुष्टि में सहायक होते हैं।

इस रोग की चिकित्सा किसी स्वरयन्त्र चिकित्सक के परामर्श से ही की जानी चाहिए। सामान्य रूप में पेनिसिलीन का प्रचुर और निरन्तर प्रयोग ही इस कष्ट के नाश का सर्वोपरि उपाय है। पान का पत्ता सुखा कर उसका चूर्ण बनालें। इसमें चोपचीनी का चूर्ण समभाग डाल १/४ रत्ती प्रति मात्रा रसमाणिक्य डाल गौ के घृत और मधु के साथ १-३ बार चाटने से इस रोग में लाभ होता है ऐसा मेरा विश्वास है।

५. धमनी फिरङ्ग—फिरङ्ग धमनियों के महाचोत्र में शोथ पैदा कर देता है। फिरंगाणु उनकी इलास्टिक ऊति को नष्ट कर देते हैं। महाधमनी की शाखाओं में इनके कारण धमनी के अन्दर शोथ और घनास्र पैदा हो जाते हैं। अतः धमनियों का जाल सारे शरीर में है इस कारण जिस क्षेत्र की धमनियों पर फिरंगाणु का आक्रमण होता है रोग के लक्षण उसी क्षेत्र के अनुकूल होते हैं इसलिए इसकी चिकित्सा और लक्षणों का ज्ञान क्षेत्रानुसार ही करना होगा।

६. फुफ्फुस फिरङ्ग—यह रोग बहुत कम होता है। अब जब कि फिरंगाणु नाशक उत्तमोत्तम सहस्र चिकित्सक के शस्त्रागार में हैं इस रोग की स्थिति भी नगण्य हो चली है। परन्तु फिरंग चाहे सहज हो या लब्ध दोनों में कुछ न कुछ फौफ्फुसिक विक्षत पाये जा सकते हैं जिनकी ओर चिकित्सक को सतर्क रहना होगा। फुफ्फुस की श्वासनलिकाओं में कण्ठनाड़ीय फिरंग जैसी विकृतियां मिलती हैं। फिरङ्गार्बुदों के कारण फुफ्फुसीय अर्बुद जैसे लक्षण मिलते हैं। कुछ लक्षण उरःक्षत जैसे भी पाये जाते हैं।

इस रोग के निदान में सहायता शरीर के अन्य भागों में रोग लक्षण मिलने से, वासरमैन परीक्षण से तथा फिरंगनाशक उपचार से द्रुत लाभ मिलने से ही प्राप्त होती है।

इस रोग में आरम्भ में चिकित्सा से लाभ होता है बाद में तन्तुकर्ष होने से लाभ कम होता है। पर यदि विनाशक विक्षत उत्पन्न हो गये तो जीवनाशा भी सीमित हो जाती है। [illegible] में [illegible] की तरह फुफ्फुस फिरंग के साथ-साथ [illegible] रोगी का [illegible] में और [illegible] हो जाती है।

फुफ्फुसीय फिरंग में पेनिसिलीन का प्रचुर एवं निरन्तर प्रयोग करने के साथ-साथ [illegible], [illegible] पुनर्नवा, चोपचीनी, [illegible] और [illegible] १-१ रत्ती का फांट बना [illegible] सेवन कराना [illegible] हो सकता है।

७. वातनाड़ी संस्थानीय फिरङ्ग या [illegible] फिरङ्ग—इसे न्यूरोसिफिलिस कहते हैं। इस प्रकार
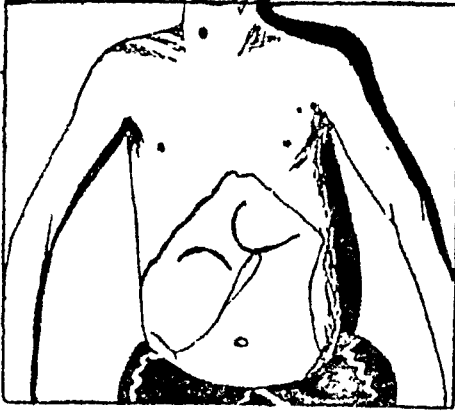
अग्न्याशय फिरंग

फिरङ्ग जनित गलित व्रण

फिरंग एवं विविध अङ्ग
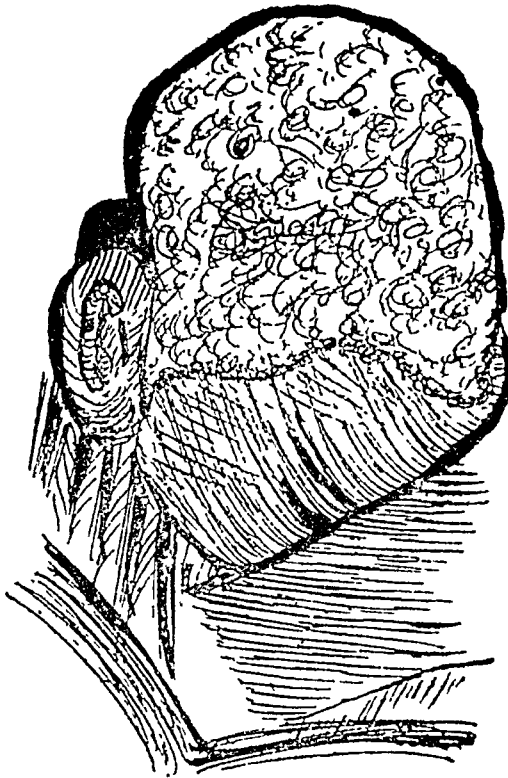
फिरंगजन्य केशहीनता

फिरंगीय भीषण अस्थिनाश (नैक्रोसिस)

फुफ्फुस के रोगों पर विहंगम दृष्टि

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, विशेष सम्पादक—"सुधानिधि"
त्रिवेदीनगर, हाथरस

चरकसंहिता में लिखा है—

प्राण, उदक, अन्नरस, रुधिर, मांस, मेदोऽस्थि, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष, स्वेद वहानि इति (स्रोतांसि) वात पित्तश्लेष्मणा पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांसि अयनभूतानि ॥ अर्थात् प्राण आदि १३ प्रकार के स्रोतस् होते हैं और इन सभी में वात, पित्त तथा श्लेष्मा हो कर वहते हैं। प्राणवह स्रोतसों का मूल हृदय माना है तथा महास्रोत भी माना है। इनकी दुष्टि की पहचान यह है कि इनमें कभी कम और कभी अधिक श्वास आता है कभी कम आता है कभी बार-बार कष्ट के साथ या शूल के साथ आता है उससे समझ लेना चाहिए कि प्राणवाही स्रोतों में दुष्टि उत्पन्न हो गई है।

हमारा यह लेख शुद्धायुर्वेदीय भाषा में प्राणवह स्रोतों के विकारों से है। प्राणवायु के ये स्रोत दो मूलों वाले है। एक मूल है हृदय तथा दूसरा मूल महास्रोतस् है। क्या यह महास्रोतस् ग्यारहवें अध्याय में लिखित—कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नं आमपक्वाशयश्चेति। जिसका सीधा अर्थ है गैस्ट्रो इण्टैस्टीनल ट्रैक्ट। पर प्रत्यक्ष आ अप्रत्यक्ष प्राणवायु के वहन में इस महास्रोत का कोई महत्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नही है तथा आमपक्वाशय नामक सारा क्षेत्र समानवायु और अपानवायु के साथ सम्बद्ध रहता है। इसी अध्याय में चक्रपाणि ने कोष्ठ की अच्छी व्याख्या की है। वहां कोष्ठ की परिभाषा यह दी है—

स्थानानि आमाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

इसमें शरीर का सारा मध्यभाग (शाखाओं को छोड़कर) जिसे आधुनिक ट्रंक कहते हैं उसे कोष्ठ मानना चाहिए इसमें ऐलीमेंटरी केनाल (आमाग्नि पक्वाशय) कार्डियोवैस्क्युलर सिस्टम (हृदुण्डुकः—हृदय और उसके साथ वाला पलमोनरी ट्रंक तथा एओर्टा का चापरूप (उण्डुक जैसा भाग) फुफ्फुस, मूत्रस्थान (यूरीनरीसिस्टम) तथा रक्तस्थान (यकृत्प्लीहा) का समावेश किया गया है।

हम महास्रोत से सीमित दायरे में फुफ्फुस को ग्रहण करते हैं जिसमें सहस्रों पोली नालियां हैं जिनमें हवा श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया में भरती और निकलती रहती है। श्वासनाल, श्वसनिकायें, वातायन सब मिलाकर हवा के संचार के लिए यह महास्रोत ही है।

इस फुफ्फुसयुक्त महास्रोत या कोष्ठ में प्राणवायु का आदान-प्रदान होता है। प्राण का वहन इन स्रोतों से होता है जिसे फुफ्फुसों में ही रक्त ग्रहण कर लेता है और इस सप्राण रुधिर को लेकर वह हृदय में पहुंचता है। हृदय इस प्राणवायु को सारे शरीर में उपयोग के लिए भेज देता है। इस प्रकार यह प्राणवायु या ऑक्सीजन सारे शरीर में रक्तवाहिनियों द्वारा पहुंचाई जाती है। वात-पित्त, कफ को जो सर्व शरीरचारी और सर्वस्रोतांसि अयन भूत बतलाया गया है वह इस प्राणवात के प्रसंग में सिद्ध हो जाता है। और क्योंकि बाद में

यह ऑक्सीजन कार्बनडाइऑक्साइड में बदल कर सिराओं द्वारा लौटकर उदानवायु के रूप में बाहर श्वास में जाती है इसके सर्वस्रोतचारी होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में सैल-सैल में और टिश्यू-टिश्यू में प्राणों का संचार होता है। जिस घड़ी जिस भी सैल या टिश्यू में प्राण सचार रुक जाता है वह मृत हो जाता है। गैंग्रीन या कोथ का यही रहस्य है।

इस प्राणवायु का मूल फुफ्फुस है और फुफ्फुस क्योंकि हृदय का नौकर है इसलिए इसका वास्तविक मूल हृदय है। हृदय की ही वाहिनियाँ पतली से पतली होकर फुफ्फुस के वातायनों पर अपना जाल बिछा लेती है और पहले तो अपनी कार्बनडाईआक्साइड वातायन में छोड़ देती है फिर वातायन में वायुमण्डल से आई हुई हवा में मिली ऑक्सीजन को भरकर चल देती है हृदय की ओर। हृदय इस वाहिकाजाल को हृदयोन्मुख शुद्ध रक्तवाही सिराओं २ या ४ में समेट लेता है जो वामालिन्द में अपना सप्राणरक्त या जीवरक्त उड़ेलती रहती हैं।

हम इस लेख में इन प्राणवाही स्रोतों के विकारों की चर्चा करेंगे जो वायुमण्डल की वायु को दिन-रात आठों याम बिना रुके अपने में भरते रहते हैं और उसमें शरीर के चयापचय से बनी कार्बनडाईआक्साइड को जिसे हृदय का दाहिना भाग पहले अपने अलिन्द में शरीर से लौटे हुए रक्त द्वारा ग्रहण करता है फिर उसे त्रिकपर्दी द्वार से दक्षिण निलय में उतारता है जिसे फुफ्फुसी प्रकाण्ड (पल्मोनरी ट्रंक) फेफड़ों में पहुँचाता है जहाँ वह लाखों सूक्ष्मातिसूक्ष्म एक कोशीय प्राचीर वाली रक्तवाहिकाओं द्वारा सहस्रों वातायनों की प्राचीरों पर चादरवत छा जाती है अपनी कार्बनडाईआक्साइड फेंककर प्राणवायु ऑक्सीजन भरकर फिर वापस हृदय की ओर लौट जाने के लिए।

प्राणवाही स्रोतस् हृदय के लिए बड़े काम के हैं उस तक उसे ऑक्सीजन पहुँचाते हैं। उनमें ऑक्सीजन के हुये माल लिये जाते और [illegible] वातायन (एल्वियोलस) को चलपट। जो इन चलपटों पर कार्बनडाईआक्साइड में [illegible] लिए हुए [illegible] हैं और फिर इस वायु को [illegible] देती है और फिर अपने पास की ऑक्सीजन से भरकर ले जाती है और चल देती है अपने प्रियतम हृदय की ओर। [illegible] कि वे अपने [illegible] कार्बन-डाईआक्साइड के रूप में भगवान [illegible] के चरणों में अर्पित करके प्रसाद रूप में ऑक्सीजन ले आती है। यह व्यापार सतत् चलता है।

चरक का अगला सिद्धान्त है—

स्रोतांसि एव—स्रोतस् ही।

धातवश्च—तथा धातुएँ भी।

धातूनेव प्रदूषयन्ति—धातुओं को दूषित करती हैं।

प्रदुष्टास्तु एषां सर्वेषां एव—इन सबके प्रदुष्ट हो जाने से ही।

वातपित्तश्लेष्माणो प्रदुष्टा—वात, पित्त, कफ दूषित हो जाते हैं।

दूषयितारो भवन्ति—और वे एक-दूसरे को दूषित कर देते हैं।

दोषस्वभावादेव—क्योंकि इन दोषों का यह स्वभाव ही होता है।

इस प्रकार स्रोतसों में भी दुष्टि हो जाती है और उनमें रहने वाली धातुओं में भी तथा वे प्रदूषित स्रोतों और धातुओं को भी दूषित कर जाते हैं—स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धातूनपरांश्च [illegible] दूषयन्ति उभयं:। —चरक [illegible]

यहाँ इसी प्रकरण में चक्रपाणिदत्त ने एक सिद्धान्त और प्रस्तुत किया है—

दोषस्वभावादिति दोषाणां [illegible] दूषकत्वं न धातुस्रोतसाम्। तेन धातुदुष्टिर्दुष्टि-धातुदुष्ट दोषानेव ज्ञेया।

[illegible] तो उसका अर्थ होता है कि [illegible] (जैसे किसी धातु) को दूषित नहीं करती। इस प्रकार धातु के द्वारा दूसरी धातु की दुष्टि होती है और [illegible] हुए [illegible] हुई [illegible]

इस प्रकार [illegible] आयुर्वेदीय [illegible] —

(१) स्रोतोदुष्टि होने से उसके अन्दर वहने वाली धातु की दुष्टि होती है।

(२) धातुदुष्टि होने से—

[क] स्रोतोदुष्टि हो सकती है;

[ख] उसके अन्दर वहने वाले दोषों की दुष्टि हो सकती है; तथा

[ग] दूसरी धातु की भी दुष्टि हो सकती है।

(३) दोषोदुष्टि—

[क] स्रोतोदुष्टि से या धातुदुष्टि से सम्भव है।

[ख] जिस धातु में दोष की दुष्टि हुई है केवल उसी को वे दोष दूषित करने में समर्थ होते हैं।

[ग] धात्वन्तर में दुष्टि उत्पन्न नहीं कर सकती।

इस कारण फुफ्फुस में अगर ऊपरी क्षेत्र में स्रोतों में दुष्टि होती है तो वह उस क्षेत्र में वरसों तक सीमित रहती है। फुफ्फुस शीर्ष में अगर यक्ष्मा का उपसर्ग स्रोतों द्वारा पहुंच गया और स्रोतोदुष्टि हो गई तो उससे पूरा फुफ्फुस एक या दोनो ओर का एकदम विक्षत नहीं हो जाता। जिस भाग में स्रोतोदुष्टि है उतने ही भाग में धातुदुष्टि होती है। धातुदुष्टि वात, पित्त, कफ में से किसी १ या २ या तीनों को दूषित कर देती है। यह दूषित हुए दोष उसी क्षेत्र मे दूषण तो वरावर कायम रखते है पर व धात्वन्तर में दुष्टि नहीं कर पाते। आगे चलकर दुष्टधातु ही प्रत्यासन्न धातुओं को दूषित कर रोग का प्रसार करती है। महीनों क्ष-किरण चित्र में एक ही विक्षत अपने सीमित क्षेत्र में पाया जाता है शेष सारा फुफ्फुस स्वस्थ पाया जाता है। उस क्षेत्र के दूषित दोष कास, श्वास, ज्वर आदि अनेक स्थानिक या सार्वदैहिक लक्षणों को उत्पन्न करने में तो समर्थ होते हैं पर जिस धातुसीमा में निवद्ध होते हैं उसे छोड़कर इतस्ततः धात्वन्तर में प्रभाव नही डाल पाते।

प्राणवहस्रोतों की दुष्टि के कारण

क्षयात् सन्धारणात् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांसि अन्यैश्च दारुणैः॥

धातुक्षय से, वेगावरोध से, रूक्षता से, अधिक परिश्रमकरने से तथा अन्य दारुण कारणों से उस व्यक्ति के प्राणवाही स्रोतस् दूषित हो जाते हैं जो भरपेट भोजन पाने में असमर्थ रहता है। अथवा क्षुधा को भी क्षय, सन्धारण, रूक्षता, व्यायाम के साथ एक कारण माना जाना चाहिए। दारुण कारणों में विविध उपसर्गात्मक संक्रामक व्याधियों का भी समावेश किया जाना उचित है। फुफ्फुसों के रोगों में रोगकारक जीवाणुओं द्वारा जो दारुण व्याधियां उत्पन्न की जाती हैं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

चिकित्सात्मक सूत्र यों दिया गया है—

प्राणोदकान्नवहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवाम प्रदोषिकी॥

जिसका सीधा-सीधा अर्थ है कि प्राणवहस्रोतों की दुष्टि में वही चिकित्सा की जावे जो श्वासरोग के लिए वतलाई गई है। इसी प्रकार उदकवाही स्रोतों की दुष्टि में तृष्णा के लिए वतलाई हुई तथा अन्नवह स्रोतों की दुष्टि में आमदोषहर चिकित्सा की जानी चाहिए।

इस सूत्र से एक वात स्पष्ट हो जाती है कि प्राणवाही स्रोतों की दुष्टि श्वास रोग ही पैदा करती है जैसे उदकवह स्रोतों की दुष्टि तृष्णा तथा अन्नवह स्रोतोदुष्टि आमदोष पैदा करती है।

हिक्का श्वास रोग विचार

उपर्युक्त कारणों से प्राणोदकान्नवाहिस्रोतोदुष्टि हिक्का तथा श्वास के रोगों के साथ सम्बन्ध है—

(१) प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः हिक्काः करोति संरुध्यः।

(प्राण, उदक, अन्नवाही स्रोत जब कफ और वायु से रुंध जाते है तो हिक्का रोग पैदा कर देते हैं।)

(२) यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥

(जब प्राण, उदक, अन्नवाही स्रोतों में कफपूर्वी वायु संरोध पैदा कर देती है तो वह वायु जब रुंधे हुए स्रोतों में सव ओर जाने की कोशिश करती है और जा नहीं पाती तव श्वासरोगों को उत्पन्न कर देता है।)

श्वासकृच्छ्रता (*Dyspnoea*)

श्वास या हिक्का का लक्षण सव प्राणवाही स्रोतों के विकारों में अर्थात् हृदय के विकारों तथा फुफ्फुस के

विकारों में मिल सकता है। यही नहीं उदकवाहीस्रोतों दुष्टि जो जलसन्तुलन (वाटर बैलेन्स) पर अपना प्रभाव डालती है अथवा अन्नवाहीस्रोतोंदुष्टि जो अन्न के चयापचय पर प्रभाव डालती है उन दोनों में भी श्वासकष्ट या हिक्की मिल सकती हैं हम नीचे श्वासकष्ट (डिसप्निया) के विविध कारणों की सूची दे रहे हैं उनमें कौन प्राणवाही उदकवाही या अन्नवाही स्रोतों की दुष्टि से हैं उसका अनुमान पाठक सहज ही लगा सकते हैं—

(HC=हार्ट तथा सर्क्युलेशन, AP=एअर पैसेज, C=कामन, Bl—ब्लड, I—इन्फैक्शन।)

अन्यूरिज्म (वाहिक प्राचीर की स्फीति) HC, इन्फ्लुएंजा (श्लेष्मक ज्वर) A, कण्ठतुण्डी शोथ (टान्सिलाइटिस) AP, आयुजन्य (वृद्धावस्था) C, महाधमनी अपर्याप्तता (एओर्टिक इन्सफीशिऐंसी) HC, दमा (एस्थ्मा) AP, हलीमक (क्लोरोसिस) Bl, वृक्कशोथ-जीर्ण (क्रानिक नैफ्राइटिस) I, सहजहृद्विकार (कंजैनिटल हार्ट डिजीज) HC, उदर पुटिका (एब्डोमिनल सिस्ट) C, आध्मान (ऐब्डोमिनल डिस्टेंशन) C, औदर अर्बुद(एब्डोमिनल ट्यूमर) C, तीव्र फुफ्फुसशोथ (एक्यूट पल्मोनरी इडीमा) AP, संसक्त परिहृदयावरण शोथ (ऐवरेस्ट पेरिकार्डाइटिस) HC, मदात्यय (अल्कोहोलिज्म) C, उच्चावरोहण (हाई आल्टीच्यूड) C, अल्परक्तता (अनीमिया) C, हृच्छूल (अंजाइना) HC, अंकुशमुखकृमि (ऐंकिलोस्टोमियासिस) C, महाधमनिक रोग (एऑर्टिक डिजीज) HC, धमनीकाठिन्य (आर्टीरियोस्क्लेरोसिस) HC, जलोदर (असाइटिस) C, हृद्वाहिनी का काठिन्य (अथरोमा आफ कोरोनरी आर्टरी) HC, खिलाड़ी का हृदय (अथलीट का हार्ट) HC, श्वासनाल के उपसर्ग (ब्रांकियल इन्फेक्शन) AP, श्वासनाल शोथ (ब्रांकाइटिस) AP, श्वासनालीय श्वसनक (ब्रांकोन्यूमोनिया) AP, फुफ्फुसकर्कट (कार्सिनोमा आफ दि लंग) AP, किलाटी ग्रन्थि (कैजियस ग्लैण्ड) C, ग्रैव कैयरीज (सर्वाइकल कैयरीज) C, उरः आघात C, ज्वरोत्तर दौर्बल्य (कनवालेसेंस) हृद्-धमनी के रोग (कोरोनरी डिजीज) HC, पृष्ठवंश की वक्रता (कर्वेचर आफ दि स्पाइन) C, दौर्बल्य (डेबिलिटी) C, रोहिणी (डिफ्थीरिया) AP, श्वासनलिका स्फीति (एम्फाइसीमा) AP, श्वासनालीय कर्कट (इपीथीलियोमा आफ दि ब्रांकस) AP, हृद्-विस्फार (एनलार्ज्ड हार्ट) HC, परिवृद्ध बाल्यवर्धक ग्रन्थि (Enlarged thymus) C, कण्ठनाड़ी का कर्कट (इपीथीलियोमा ऑफ दि ट्रेकिया), C, नौसादरी सत सूंघने से C, गलगण्ड बहिर्शोथ (एक्सोफ्थाल्मिक ग्वायटर) C, समेद हृदय (फैटी हार्ट) C, तान्तव हृदय (फाइब्राइडहार्ट) C, तान्तव फुफ्फुस (फाइब्राइड लंग) C, वक्षस्थिरीकरण (फिक्सेशन ऑफ दि चेस्ट) C, अपद्रव्य की उपस्थिति (फोरेन बॉडी) C, भय (फाइट) C, धूम (फ्यूम) AP, हृदन्तःशोथ (कंजेस्टिव एण्डोकार्डाइटिस) HC, गैस की अग्नि (गैस फायर) AP, गलगण्ड (ग्वायटर) C, सकण वृक्क (ग्रैन्यूलर किडनी) C, शोणवक्ष (हीमोथोरैक्स) C, हृद्रोग (हार्ट डिजीज) HC, उच्च रक्तदाब HC, हाइडेटिड पुटिका C, हाइड्रो न्यूमोथोरैक्स C, हाइड्रोथोरैक्स C, हाइपोस्टैटिक न्यूमोनिया AP, योषापस्मार (हिस्टीरिया) C, फुफ्फुस का रोधगलन (इन्फार्क्शन ऑफ दि लंग) AP, वक्षाघात AP, स्वरयन्त्रावरोध AP, स्वरयन्त्रघात AP, स्वरयन्त्र की संकीर्णता AP, स्वरयन्त्राकर्ष कर्कट-युक्त (लेरिंजिस्मस स्ट्राइडुलस) AP, स्वरयन्त्र शोथ AP, चूने के भट्टे का धुंआं AP, मारात्मक (दुर्दम) ग्रैव ग्रन्थियां (मैलिग्नेंट सर्वाइकल ग्लैण्ड्स) C, रोमान्तिका (मीजिल्स) C, मध्यस्थानिक शोथ (Mediastinitis) C, मेटहीमोग्लोबीनीमिया C, द्विकपर्दीकपाट अपर्याप्तता (माइट्रल रिगर्जीटेशन (HC, द्विकपर्दीकपाट संकीर्णता (माइट्रल स्टेनोसिस) HC, हृत्पेशीय विकार HC, हृत्पेशीय परिवर्तन HC, हृत्पेशीय [illegible] जनन (मायोकार्डियल डिजनरेशन) HC, [illegible] (न्यूरोसिस) c, स्थौल्य (Obesity) c, [illegible] शोफ (इडीमा ऑफ ग्लॉटिस) AP, अन्ननाली का अर्बुद c, [illegible] की [illegible] तनाव (Over strain) c, [illegible] (pepton Injection) c, परिहृद् शोथ (पेरिकार्डाइटिस) Hc, पैट्रोल की दुर्गन्ध c, [illegible] AP, [illegible] उरस्तोय (pleuraleffusion) c, [illegible] (न्यूमोनिया) AP, [illegible] शोथ AP, [illegible]

रैक्स c, विष (पोइजन्स) c, वहुलोहित कोशिका रक्तता c, गलविद्रधि Ap, मदात्ययजन्य हृदय Hc, फुफ्फुसी अन्तः शल्यता Ap, फुफ्फुसी संकीर्णता Hc, फुफ्फुसी राजयक्ष्मा Ap, आमवातामसन्धिशोथ c, फक्करोग c, सीरम उपसर्ग c, अतिसंभोग c, धूम्रपान Ap, सर्पदंश c, विरूपकर कशेरुका सान्धशोथ (Spondylitis deformans) c, सल्फहीमोग्लोविनरक्तता c, श्वासनाल (ब्रोकस) का फिरंग रोग Ap, टेवीज डॉर्सलिस c, तम्वाकू सेवन c, कण्ठनाड़ीरोध (ट्रैकियल ऑवस्ट्रक्शन) Ap, आध्मान (टिम्पेनाइटिस) c, मूत्र-विषमयता (यूरीमिया) c, श्वग्रह (हूपिंग कफ) Ap अधिक शारीरिक श्रम c, ल्यूकिमिया c।

उपर्युक्त समस्त कारणों को हर्वर्ट फ्रेंच ने इन बड़े विभागों मे वाटा है—

१. हृदय के दक्षिण भाग का पात, २. रक्तक्षयजन्य विकार, ३. दौर्वल्य, ४. दवाओं (कैमीकल्स) द्वारा विषाक्तता, ५. श्वासनाल तथा श्वसनिकाओं का अवरोध, ६. स्वरयन्त्र तथा कण्ठनाड़ी का अवरोध, ७. फुफ्फुसों तथा फुफ्फुसावरण के रोग, ८. मध्य स्थानिक (मीडियास्टीनल) दाव, ९. उदराध्मान–वायु या जल द्वारा, १०, वक्ष का आघात, ११. मानसिक कारण–हिस्टीरिया, विक्षिप्ति तथा भय।

चरक ने अपने ढङ्ग से इन कारणों को इन शब्दों में सुस्पष्ट किया है—

रजसाधूमवाताभ्यां—धुल, धुंआ और गैसों के कारण।

शीतस्थानाम्वुसेवनात्—ठण्डे स्थान पर जाना या शीतवीर्य द्रव्यों तथा शीतल जल का सेवन।

व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्व—खूब परिश्रम करना मैथनातिरेक या अधिक दौड़ धूप करना।

रूक्षान्नविषमाशनात्—वातकारक आहार और विषमासन से।

आमप्रदोषाद्—आमदोषवर्धक कारणों से।

आनाहाद्—आनाह से।

रौक्ष्याद्त्यपतर्पणात्—रूक्षता और अत्यधिक अपतर्पण से।

दौर्वल्यात्—दौर्वल्य से।

मर्मणो घाताद्—मर्मों पर आघात होने से।

द्वन्द्वात्—आपस में द्वन्द्व (भिड़न्त) करने से।

शुध्यतियोगतः—वमन, विरेचनादि संशोधन कर्म के अतियोग से, अतीसार, ज्वर, छर्दि, प्रतिश्याव, उरःक्षत, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूची, असलक, पाण्डुरोग इन विकारों के उत्पन्न होने पर किसी भी स्थिति विशेष में श्वास और हिक्का में से कोई भी उत्पन्न हो सकता है।

विषात्—विषों के कारण।

निष्पाव (सेम) माष (उड़द) पिण्याक (गजक) तिल तैल सेवन से।

पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहि गुरुभोजनात्—पीठी के भारी कन्दो के सेवन से कब्ज करने वाले भारी और विदाहकर भोजन से।

जलजानूपपिशित—जल के और अनूपदेशों के जीव-जन्तुओं का मांस सेवन करने से।

दध्यामक्षीर सेवनात्—दही खाने से या कच्चा दूध पीने से।

अभिष्यन्द्यु पचारात्—स्रोतोरोधक वस्तुओं के उपयोग करने से।

श्लेष्मलानां च सेवनात्—कफकारक द्रव्यों के सेवन से।

कण्ठोरसो प्रतीघाताद्—कण्ठ या छाती में चोट लगने से।

विबन्धैश्च पृथग्विधं—अलग-अलग तरह के विवन्धों से।

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति।
उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥

अर्थात् उपर्युक्त विविध कारणो से प्राणवाही स्रोतों को प्रकुपित वायु (Vitiated nervous activity) घेर कर (संकीर्ण बनाकर) छाती मे स्थित कफ को ऊपर उछालकर हिक्का और श्वास रोगों को उत्पन्न करती है। यह सामान्य सम्प्राप्ति है विशेष मे हिक्का की उत्पत्ति प्राण-उदक-अन्नवह स्रोतो के वायु और कफ के रोध से होती है तथा श्वास की उत्पत्ति इन्हीं

स्रोतों में वायु कफ सहित जब सर्वत्र संरोध पैदा करती है तब होती है।

डा० गोलवाला ने श्वासकृच्छ्रता या डिसप्निया को निम्नलिखित ६ कारणों में समेट लिया है—

(१) पहला कारण है संवातन की भौतिक हानि (Mechanical Impairment of Ventilation) इसमें उसने निम्नांकित परिस्थितियां दी हैं—

[क] पेशियों की दुर्बलता जैसी कि पोलियोमायलाइटिस या मायस्थीनिया में पाई जाती है।

[ख] कंकालीय स्थिरीकरण (Skelatal fixation) जैसा कि छाती की विकलांगता या कशेरुकासन्धि शोथ (*Spondylitis*) *में मिलता है।*

[ग] जलवक्ष या वातवक्ष (हाइड्रोथोरेक्स एण्ड न्यूमोथोरेक्स)।

[घ] जलोदर या अन्य कारणों से पेट का फूल जाना।

[ङ] कण्ठनाल या श्वासनाल का अवरोध।

(२) दूसरा कारण है फुफ्फुसी फैलाव की हानि (Impairment of pulmonary distensibility)। इसमें २ परिस्थितियां आती हैं—

[क] फुफ्फुसी रक्ताधिक्य (Pulmonary congestion)।

[ख] फुफ्फुसी तन्तुमयता (Pulmonary fibrosis)।

(३) तीसरा कारण फुफ्फुसी अपर्याप्तता (Pulmonary Insufficieny) अर्थात् वायुकोशिकी ऊतक (Alveolar tissue) की अपर्याप्तता क्रिया जो निम्नांकित स्थितियों में पाई जाती है—

[क] वातस्फीति (Emphysema)।

[ख] फुफ्फुसी मृदु ऊतक (Pulmonary parenchyma) में बड़े पैमाने पर व्रणशोथात्मक (इन्फ्लेमेटरी) रोग उत्पन्न हो जाना।

(४) चौथा कारण है ऊतकों या टिश्यूज को ऑक्सीजन की अपर्याप्त डिलीवरी इसकी निम्नलिखित परिस्थितियां बनती हैं—

[क] ऊंचा धरातल (High atitude)।

[ख] रक्ताल्पता (अनीमिया)।

[ग] हृत्पात (cardiac failure)।

(५) पांचवां कारण है केन्द्रीय प्रकार का अतिसंवातन (Hyperventilation of central type) जैसा कि—

[क] वृक्कज (Nephritic) अथवा।

[ख] मधुमेहज (Diabetic) अम्लरक्तता (एसीडोसिस) में हो जाता है।

(६) छठा और अन्तिम कारण मानसिक (Psychic) होता है।

इन उपर्युक्त कारणों से प्राणवाही स्रोतसों में गड़बड़ी होकर श्वासकष्ट उत्पन्न हो जाता है।

माधवकार ने विविध रोगों में श्वास नामक लक्षण दिया है। आज से बीस वर्ष पहले हम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हम क्लीनिकल आयुर्वेदिक रिसर्च के शुभ कार्य में संलग्न थे जिसका शुभारम्भ गवर्नमेंट आफ इण्डिया ने विशेषकर कांग्रेसी सरकार ने अपने जीवन में प्रथम बार स्वीकार किया था तब इन लक्षणों की छांट हमने की थी जो अभी तक [illegible] अन्धकार पूर्ण वातावरण में अन्य पाण्डुलिपियों के साथ पड़ी रही है क्योंकि अन्य अनेक प्राथमिकता वाले साहित्यिक कार्यों के आ जाने से उन विचारों को प्रकाश में ला पाना कठिन हो जाता है। उक्त लक्षण सूची में श्वास किन-किन परिस्थितियों में होती है उसका नामोल्लेख नीचे दिया जा रहा है—

१. अर्श—रक्तज, २. अर्श—वातिक, ३. अर्श—श्लैष्मिक, ४. अतीसार—[illegible], ५. अतीसार—सामान्य लक्षण, ६. अलसक, ७. उदावर्त—[illegible] में, ८. अजीर्ण—[illegible], ९. आनाह—[illegible], १०. उद्गारनिरोधज उदावर्त, ११. [illegible], १२. [illegible], १३. कण्ठकुब्जी, १४. [illegible], १५. [illegible], १६. [illegible], १७. [illegible], १८. गुल्म-[illegible], १९. [illegible], २०. ज्वर—सन्निपात, २१. [illegible], २२. ज्वर-[illegible], २३. ज्वर-[illegible], २४. [illegible], २५. [illegible], २६. [illegible], २७. [illegible], २८. [illegible]

रिका, २९. पाण्डु–मृज्ज तथा सामान्य रूप से सभी पाण्डुरोगों में, ३०. प्रतिश्याय, ३१. प्रमेह–वातिक में उपद्रव स्वरूप, ३२. वस्तिकुण्डलीभूत, ३३, वलाण (गलरोग)–श्वासरुजोपपन्नम्, ३४. मसूरिका असाध्य–भृ'श घ्राणेन निःश्वरोत्, ३५. मसूरिका–श्वसित्यर्थ वेदनम्, ३६. मदात्यय–वातिक, ३७. मूर्च्छा–रक्तजा–गूढोच्छ्वासः, ३८. मेदोरोग–क्षुद्रश्वास, ३९. यक्ष्मा असाध्य–ऊर्ध्वश्वास, ४०. यक्ष्मा पूर्वरूप, ४१. क्षतक्षय, ४२. यक्ष्मा–सामान्य लक्षण के रूप में, ४३. रक्तपित्त–उपद्रव के रूप में या सामान्य लक्षण रूप में, ४४. रोहिणी–श्लैष्मिक, ४५. विष स्थावर, ४६. विष-पुष्पज तथा पत्रज, ४७. विष–दूषी, ४८. विसर्प–अग्नि विसर्प–श्वासमीरयेत्, ४९. विसर्प–ग्रन्थि विसर्प, ५०. विसर्प–अग्निविसर्प में तमक श्वास, ५१. वमन–उपद्रव रूप में श्वास, ५२. वमन-त्रिदोषज, असाध्य, ५३. वातरक्त-उपद्रव स्वरूप, ५४. वातव्याधि-आमाशयगत, ५५. विद्रधि-असाध्य, ५६. विद्रधि अन्तः–यकृद्गत, ५७. विद्रधि अन्तः-प्लीहगत, ५८. व्रण-उपद्रव के रूप में, ५९. व्रण-असाध्य, असाध्य शल्यव्रण, ६०. व्रण-भिन्न, ६१. शोथ-असाध्य उपद्रव रूप, ६२. शोष तालुगत-श्वासश्चोग्रः, ६३. सूतिका रोग-दुष्प्रजातारोग, ६४. स्वरघ्न-प्रसक्तं श्वसिति, ६५. श्लेष्मोदर, ६६. हृद्रोग, ६७. हृद्रोग शिशु का या सहज।

इसी सूची में विविध श्वासरोगों का स्वरूप इस प्रकार स्वीकार किया है—

ऊर्ध्वश्वास—क–ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरति अधः केवल ऊपर-ऊपर रोगी श्वास खींचता है और श्वास नीचे की ओर नहीं उतरता।

ख–ऊर्ध्व श्वासे प्रकुपिते अधःश्वासो निरुध्यते उथला श्वास चलता है गहरा नहीं।

क्षुद्रश्वास—किंचिद् आरभमाणस्य श्वासः प्रवर्तते निषण्णस्य एति शान्तिम् थोड़े परिश्रम से ही श्वास फूल जाता है बैठने से शान्त हो जाता है।

छिन्नश्वास–सर्वप्राणेन पीड़ितः विच्छिन्न श्वसिति, न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदिरुगर्दितः—बहुत जोर लगाकर रह-रहकर श्वास लेता है तथा श्वास लेने में मर्मान्तिक पीड़ा और दुःख होता है।

तमकश्वास–क–मुहुःश्वास–बार-बार जल्दी-जल्दी श्वास खींचता है।

ख–अतीवतीव्रवेगं श्वासं प्राणप्रपीडकम्–बहुत तेज दौरे के रूप में अत्यन्त कष्टदायक श्वास खींचता है।

ग–श्वासः सन्निरुध्यते–रुक-रुककर श्वास आता है।

घ–रुद्धः घुर्घुरकः युक्तः—रुक-रुककर और घर्घर शब्द के साथ।

प्रतमकश्वास—ज्वर मूर्च्छा परीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्-श्वास के साथ ज्वर और मूर्च्छा होती है।

महाश्वास—क–अतिघोषवान् श्वास-श्वास अति-घोष वाली होती है।

ख–प्रश्वसित चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्-महाश्वास से पीड़ित रोगी इतनी जोरदार आवाज से श्वास लेता है कि उसे दूर से ही जान लिया जाता है।

ग–उद्धूयमानवातशब्दवद् दुःखितः उच्चैः श्वसिति मत्तर्षभ इवानिशम्-जोरदार आवाजयुक्त कष्टपूर्वकऊपर-ऊपर मतवाले हाथी की तरह लगातार श्वास लेता है।

सन्तमकश्वास—क-मज्जत्रस्तमसीवास्य विद्यात्सं-तमकं तु तम्–रोगी मानो अंधेरे में डूबता हुआ श्वास लेता है।

ख-तमसावर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति-मानस दोषों से इसकी वृद्धि तथा शीतोपचार से शान्ति होती है।

प्राणवाही स्रोतों की दुष्टि की चिकित्सा का सूत्र चरक ने इस वाक्य में दिया है—

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वसिकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी॥

अर्थात् प्राणवाही स्रोतों, अन्नवह स्रोतों और उदक-वह स्रोतों के दुष्ट हो जाने पर क्रमशः श्वासरोगहर, आमदोषहर तथा तृष्णाशामक उपचार करना चाहिये।

यहां स्रोतों के प्रभाव का भी भले प्रकार से जान लेना अच्छा होगा जो विमानस्थान के पांचवें अध्याय में चरकसंहिता में संक्षेप में यों दिए गए हैं—

(१) स्रोतस् शब्द का अभिप्राय—

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृत–असंवृतस्थानानि आशयाः

अपथ्यकर आहार-विहार ओषधादि का सेवन

↓

वात-पित्त-कफ, एक-एक, दो-दो या तीनों की विकृति

↓

रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-तेज-आर्तवादि की विगुणता

↓

प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीष स्वेदादि स्रोतोदुष्टि

स्रोतोदुष्टि द्वारा रोगों की उत्पत्ति, रोगों का निदान और उनको दूर करने के लिए स्रोतोदुष्टि को दूर करना इस विषय को आज के युग में पुनरुज्जीवित किया, इस का श्रेय जामनगर के पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिंग सेण्टर के प्राचार्य श्री भास्कर विष्णु गोखले को जाता है जिनका पूना के तिलक आयुर्वेद विद्यालय के साथ आजीवन सम्बन्ध रहा। उन्होंने दोषदुष्टि से पूर्व स्रोतोदुष्टि के विचार को मूर्त रूप दिया और एक भूली हुई परिपाटी को प्रकाश में लाकर भारतीय चिकित्सा वाङ्मय में नई क्रान्ति का सृजन किया।

इस प्रकार प्राणवाही स्रोतों के आधार पर हृद्-फुफ्फुस रोगों की चर्चा प्राचीनकाल में अधिक न चल सकी। अलग-अलग रोग उनकी उत्पत्ति में दोष प्रकोप की स्थिति और उनके कारण रोगों के लक्षण और चिकित्सा एवं व्यवस्था का ही दौर दौरा आर्ष और अनार्ष संहिताकालों में रहा। माधवकार ने पंचनिदान का विवरण प्रस्तुत किया और उस पर विजय रक्षित ने मधुकोश व्याख्या लिखकर अपनी विद्वता का परिचय दिया पर उसमें भी स्रोतोवैगुण्य पर बहुत कम प्रकाश डाला गया। रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, हृद्रोग इनका विचार दोषों के आधार पर किया गया है।

फुफ्फुसीय रोगों में रक्तष्ठीवन (उर्ध्वग रक्तपित्त), ब्रोंकाइटिस (कासभेद), दमा (तमक श्वास), वातोत्फुल्लता या ऐम्फाइसीमा (उरःक्षत), फुफ्फुसपाक (सकफ सश्वास ज्वर), फुफ्फुस विद्रधि, राजयक्ष्मा, फुफ्फुस शोफ, फुफ्फुस कर्कट, फुफ्फुसजन्य हृद्रोग (कौर पल्मोनेल), फुफ्फुस तन्तूत्कर्ष, श्वसनपात, उरस्तोय आदि जो अनेक रोग आधुनिक चिकित्सा विज्ञान विशारदों ने दिये हैं वह कल्पना प्राचीन काल में नहीं थी। कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, उरःक्षत, राजयक्ष्मा और ऊर्ध्व-रक्तपित्त द्वारा ही इनका विचार किया गया है। अगर हम फुफ्फुस कर्कट (लंग कार्सीनोमा) को लें तो उसमें दौर्बल्य, शरीर भार का ह्रास, श्रम, ज्वर और अग्निमान्द्य ये सामान्य लक्षण मिलते हैं। श्वसन संस्थानीय लक्षणों में श्वासकृच्छ्रता, कास जिसके साथ कफ, पूय और रक्त भी निकले परिफुफ्फुसीय उरःशूल, स्थानिक उरःशूल, मध्यस्थानिक तथा ग्रैव लसीका ग्रन्थियों का फूलना आदि लक्षण मिलते हैं। आयुर्वेद में ये लक्षण अलग-अलग मिलते हैं पर इन्हें मिलाकर किसी एक दुर्दम रोग की कल्पना बिल्कुल नया विचार है। राजयक्ष्मा में जो एकादश रूप राजयक्ष्मा है उसके लक्षण फुफ्फुस कर्कट-से काफी मिलते हैं। शास्त्रकार ने कास, श्वास, रक्तष्ठीवन के लक्षण वाले फुफ्फुस रोग से पीड़ित की चिकित्सा विमलयश चाहने वाला वैद्य न करे—

> एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
> कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः॥
> त्रिभिर्वा पीडितं लिंगैः कासश्वासासृगामयैः।
> जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः॥

इसी प्रकार फुफ्फुसशोफ (पल्मोनरी इडीमा) का भी स्पष्ट चित्र प्राचीनों को नहीं था। छाती में पीड़ा, श्वासकृच्छ्रता, खांसी और झागदार थूक बार-बार आना, नाड़ीदौर्बल्य, स्तैमित्य, तापांश की गिरावट, दूर से ही घड़घड़ाहट के साथ श्वास की आवाज और शीघ्रमृत्यु ये लक्षण महाश्वास में कुछ-कुछ मिलते हैं—

> उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः।
> उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम्॥
> प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
> विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्॥
> दीनः प्रश्वसितं चास्य दुराद् विज्ञायते भृशम्।
> महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते॥

फुफ्फुस और हृदय के विकारों में आयुर्वेदीय चिकित्सा तथा पथ्य अवस्था का बहुत बड़ा महत्व है।

करवीरद्वयं तिक्तं कषाय कटुकं च तत् ।
व्रणलाघवकृन्नेत्र कोपकुष्ठव्रणापहम् ॥
वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम् ।

यह भावमिश्र का कथन है । राजनिघण्टुकार ने—

रक्तस्तु करवीरः स्यात् कटुस्तीक्ष्णो विशोधकः ।
त्वग्दोष व्रणकण्डूतिकुष्ठहारी विहापहः ॥

आदि लिखा है । यह अत्यन्त उष्णवीर्य और विषाक्त होने से रक्त को जमने से रोककर या रक्त को पतला करके काम करता है । प्राचीनों ने इसका हृद्-फुफ्फुस रोग (कॉरपल्मोनेल) पर उपयोग नही लिखा । उन्होंने तो इसे बाह्य प्रयोग में अधिक उपयोग किया था और कुष्ठ कण्डू उपदंशव्रण तक ही उपयोग सीमित रखा था राजवल्लभ ने कुष्ठ दुष्ट व्रणापहो, सुश्रुत ने करवीरस्य पत्राणि प्रक्षालने प्रयोज्यानि । चरक—सफेद बालों को ठीक करने के लिए बाल उखाड़-उखाड़कर उनकी जड़ों में दुग्धिका तथा कन्नेर के पत्तों को दुध में पीसकर लेप करने का सुझाव दिया है । कुष्ठ में कन्नेर के पत्तों को पानी में और उससे स्नान करना लाभदायक लिखा है । कन्नेर के पत्तों से सिद्ध तैल को गर्भिणी की कण्डू और किक्किस दूर करने हेतु मलने के लिए वाग्भट का परामर्श है । चक्रदत्त इसी तैल को पामा पर प्रयोग करता है । भावप्रकाश में इसे उपदंश के लिंगोत्थ व्रण की पीड़ा को नष्ट करने में उपयोगी बतलाया है—

करवीरस्य मूलेन परिपिष्टेन वारिणा ।
असाध्याऽपि व्रजत्यस्तं लिङ्गोत्था रुक् प्रलेपनात् ॥

परन्तु हृदय के रोगों पर खासकर कंजेस्टिव हार्ट-फेल्योर (C H F) पर इसका प्रयोग अपेक्षाकृत नया है । मेरे सामने विजयवाड़ा (आन्ध्रप्रदेश) का अकादमी आफ आयुर्वेद द्वारा स्वर्णपदक विनिर्णयार्थ कुछ निबन्ध आये हुए हैं इनमें एक रक्त करवीरपत्र टिंक्चर के CHF पर क्या प्रभाव होता है इस पर है । लेखक का नाम निर्णायक को नहीं बतलाया जाने से उसे लिखना संभव नहीं, उसे अगले अंक में पूछकर दिया जा सकेगा । पर रक्त करवीरपत्र टिंक्चर के उपयोक्ता गवेषक ने जो ज्ञान दिया है उसे पाठकों को बताने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा । विशेषांक में तो विशेष बातों का अंकन होना ही चाहिए इसलिए इस आर्ष प्रकरण में ही इसे देना पड़ रहा है ।

कन्नेर का आभ्यन्तर प्रयोग अनेक प्रकार के विषजन्य लक्षण पैदा कर सकता है, जैसे नाड़ी का स्पन्दन चलते-चलते बन्द हो जाना और फिर चलने लगना, पेट में शूल होना, भूख कम हो जाना, हृल्लास, वमन, नाड़ीमान्द्य और अतिसार भी किसी में देखे जा सकते हैं । यदि व्यवहारकाल में नाड़ी का रुक-रुककर चलना या उदरशूल या क्षुधानाश का पता चले तो दवा रोक देनी चाहिए तथा विषजन्य इन लक्षणों के दूर होते ही फिर शुरू कर सकते हैं ।

शोधकर्त्ता ने कॉरपल्मोनेल के ८६ रोगियों पर रक्त करवीरपत्र टिंक्चर का प्रयोग किया । २६ बीच में छूट गये ५६ फिट केस थे जिन पर इस टिंक्चर के प्रयोग के परिणाम निबन्ध में दिये गये हैं इन ५६ रोगियों में ४२ पुरुष तथा १४ महिलाएं थीं । श्वसन सम्बन्धी ५ लक्षण इनमें मुख्य थे—कास ५५ रोगियों में श्वासकष्ट ५४ में खासी के साथ कफ ५० में छाती में पीड़ा ३६ में तथा श्यावता १६ में पाई गई । रक्तकरवीरपत्र टिंक्चर जैसे स्टैंडर्ड तकनीक से स्टैंडर्डाइज करके तैयार किया गया था १ से ८ मि०लि० की मात्रा को ३ भागों में बांटकर चौबीस घण्टों में दिया जाता था । रोगी की आयु, सहनशक्ति और आयु के अनुसार मात्रा घटाई बढ़ाई जाती थी । प्रतिदिन रोगी की नाड़ीगति, श्वासगति, तापमान, रक्तदाब, कफ की मात्रा नापी जाती थी प्रति सप्ताह शरीर-भार, पेट की परिधि, पैरों का शोफ आदि मालूम किया जाता था । पथ्य में नमक रहित आहार—दुध, मौसमी का रस, सन्तरे का रस दिया जाता था ।

रक्तकरवीरपत्र टिंक्चर के प्रयोग से खांसी के ५५ रोगियों में ५२ को लाभ हुआ, १७ को पूरा-पूरा २३ कुछ कम १२ को बहुत कम तथा ३ को कोई लाभ नहीं हुआ । श्वासकष्ट जो ५४ रोगियों को था ४९ को लाभ हुआ, १३ को पूरा, २८ को कुछ कम, ८ को बहुत कम और १ को बिलकुल नहीं । कफ का आना ४ को छोड़कर सबको घटा । छाती की पीड़ा २० रोगियों में बिल-

जावें तो यह 'हृदारोग्यप्रवर्धिनी" वन जायगी पूरा योग ऐसा वनेगा—

रसगन्धक लोहाभ्र शुल्वमुक्ता समांशकम् ।
त्रिफला द्विगुणा प्रोक्ता त्रिगुणं च शिलाजतु ।।
चतुर्गुणं पुरं शुद्धं चित्रमूलं च तस्समम् ।
तिक्तासर्वसमा ज्ञेया सर्व संचूर्ण्य यत्नतः ।।
धूर्तवृक्षादलाम्भोभिमर्दयेद्दिवसत्रयम् ।
रक्तकरवीरपत्राणां स्वरसेन विमर्द्य च ।।
ततश्च वटिका कार्या द्विगुञ्जाफल मानतः ।
मण्डलं सेविता ह्येषा हन्तिशोथान शेषतः ।।
जीर्णज्वरं यकृद्वृद्धिं प्लीहवृद्धि जलोदरम् ।
मलवातहरी श्वासकासघ्नी द्युति दीपनी ।
हृदारोग्यकरी सेय हृदारोग्य प्रवर्धनी ।।

आयुर्वेद में श्वास-शोथ-कासघ्नी सभी योग हृद्-फुफ्फुसज रोग में काम आ सकते हैं। भैषज्यरत्नावली का "श्वास चिन्तामणि" एक विशेष मूल्यवान् योग है यदि उसमें भी रक्तकरवीर पत्र तथा धतूरपत्र की एक-एक भावना दे दी जावे तो वह हृद्रोगजन्य श्वास में और भी श्रेष्ठ वन जाता है। यह हमारी हृच्छ्वास-चिन्तामणि है। योग का स्वरूप यह होगा—

द्विकर्ष लौहचूर्णस्य तदर्धं गन्धमभ्रकम् ।
तदर्धं पारदं ताप्यं पारदार्धेन मौक्तिकम् ।।
शाणमानं हेमचूर्णं सर्वं सम्मर्द्य यत्नतः ।
सुरसाककुभक्षुद्रा शृंगवेररसैस्तथा ।।
रक्तकरवीर धूर्तपत्राणां स्वरसैयाद ।
छागीक्षीरेण मधुकैः मर्दयित्वा भिषग्वरैः ।।
द्विगुंजा प्रमिता कार्या वटिका शोभनी शुभा ।
वातजं कफज क्षयज कासं हन्त्यशेषतः ।।
हृद्दौर्बल्य जनितं च श्वासं शूल नियच्छति ।
रघुवीरस्य त्रिवेदस्य हृच्छ्वासचिन्तामणिः ।।

भैषज्यरत्नावली का "शोथकालानलरस" ज्वर कास श्वास और शोथ को दूर करता है। इसमें चित्रक इन्द्रजी, गजपिप्पली, सेंधानमक, पिप्पली, लौंग, जायफल और टंकण होता है। गन्धक पारद की कज्जली कर लौहभस्म, अभ्रकभस्म डालकर शेष का कपड़छन चूर्ण डालकर इसे तैयार किया जाता है। इसे तालमखान (कोकिलाक्ष) के रस के साथ देते हैं। यह योग विना शोधन क्रिया के शोथ को दूर करता है। श्वसनकज्वर म फुफ्फुसशोथ दूर करने में इसका उपयोग किया जाता ह।

यादव जी महाराज ने ज्वराधिकार में "भार्ग्यादि कषाय" का वर्णन किया है। यह क्वाथ फुफ्फुसधराकलाशोथ (प्लूरिसी), श्वसनकज्वर (न्यूमोनिया), कफाधिक सन्निपातज्वर, पार्श्वशूल, कफजकास और श्वास को दूर करने म उन्होंने उत्तम बतलाया है। इसमें निम्नांकित ३२ द्रव्य पड़ते हैं—

भारंगी, वच, दारुहल्दी, नीम की छाल, सौंठ, इन्द्रायण की जड़, नागरमोथा, कालीमिर्च, हल्दी, हरीतकी, पिप्पली, ब्राह्मी, गिलोय, श्योनाक, पुष्करमूल, चिरायता, कुड़ा की छाल, छोटी कटेरी, अडूसा, रास्ना, बड़ी कटेरी, अतीस कडुई, जवासा, कचूर, त्रायमाण, पटोलपत्र, आमला, कुटकी, पाढल, बहेड़ा, निशोथ, देवदारु।

इनको समभाग लेकर कूट कपड़छान चूर्ण करलें इसमें से १ तोला लेकर १६ तोले पानी में औटें ४ तोले शेष रहने पर उतार छान १ तोला शहद मिला, १ रत्ती अभ्रकभस्म और ४ रत्ती मृगशृंग भस्म के साथ २-३ बार पिलावें। इसका उपयोग ऊपर बताये रोगों के अलावा निम्न रोगों में शास्त्रकार ने लिखा है—

सभी प्रकार के सन्निपात ज्वर, वात के रोग, श्वास, मन्यास्तम्भ, कफ के रोग, गले के रोग, कास, अर्दित, गुदरोग, मल का अवष्टम्भ तथा हृद्रोग, वर्ध्म, एवं हिक्का।

हैं और जब अपनी अनुकूल परिस्थिति पाते हैं तब रोग उत्पन्न कर देते हैं।

ये जीवाणु वात श्लैष्मिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, प्लेग आदि भी उत्पन्न करते हैं। विशेषकर रोगी के फुफ्फुस से श्लेष्मा द्वारा निकल कर जब दूसरे स्वस्थ व्यक्ति के अन्दर प्रवेश करते हैं तब फुफ्फुस में पहुंच कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त निम्न कारण भी होते हैं जो इस प्रकार से हैं—

(२) उष्ण और नमी वाले जलवायु के स्थान से एकाएक ठंडे एवं सूखे स्थान में आ जाना, अत्यधिक मेहनत करना, विषम ज्वर, वृक्क शोथ, यकृत् शोथ आदि से दुर्बल होने के उपरान्त, शराब आदि नशीली वस्तुओं का अति सेवन, अनियमित आहार विहार, स्नान, भोजन कसरत आदि करना, कफकारक पदार्थों का विशेष सेवन, अकस्मात् वर्षा में भीगना आदि भी रोग उत्पत्ति में कारण होते हैं।

सापेक्ष निदान—शारीरिक विकृति और प्रत्यक्ष रोग लक्षणों एवं छाती परीक्षा से रोग की पहिचान सरल होती है। परन्तु बच्चों में प्रणालीय फुफ्फुस प्रदाह से इसका भेद करना अथवा पहचान करना अत्यधिक कठिन होता है। क्योंकि वृहद् फुफ्फुस प्रदाह को तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह से पृथक् करना अत्यन्त ही कठिन होता है फिर भी पहिचान की दो पद्धतियां इसमें अपनाई जाती हैं—

प्रथम यह कि मूत्र में आने वाली क्लोराइड की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। जबकि दूसरे प्रकार के प्रदाह में कम नहीं होती। दूसरा यह कि फुफ्फुसीय प्रदाह में सूचिका डालने पर तरल पदार्थ नहीं निकलता है, किन्तु फुफ्फुसावरण (उरस्तोय) प्रदाह में सुचिका डालने पर तरल पदार्थ निकलता है।

शारीरिक विकृति—इस व्याधि उत्पन्न करने वाले एक विशेष प्रकार के जीवाणु जब नाक, मुंह के मार्ग से फेफड़ों में प्रवेश कर व्याधि उत्पन्न करते हैं तब इस रोग की चार अवस्थायें होती है—

(१) प्रथमावस्था—उपर्युक्त विवेचन में वायु कोष्टकों का वर्णन किया गया है, उनके सेलों में शोथ उत्पन्न होता है और उस शोथ के स्थान का रक्त उनमें से रक्त का जलीयांस रिस-रिस कर उन्हीं वायु कोष्ठकों में संग्रह हो जाता है। इस स्थिति में फेफड़े का शोथ युक्त आक्रांत भाग रक्त के समान लाल तथा भारी हो जाता है एवं फुफ्फुसावरण में भी शोथ हो जाता है क्योंकि उन सेलों में रक्त एवं पानी भर जाता है। यही कारण है कि वायु का प्रवेश अत्यधिक कम हो जाता है जिसके कारण श्वास की आवाज कम सुनाई पड़ती है। सेलों में शोथ और स्राव से वे चिपकी अवस्था में रहती है, जब एकाएक वायु का प्रवेश होता है तब चरचराहट के शब्द के साथ खुलती हैं। इसलिये करकराहट की आवाज सुनाई पड़ती है। प्रथमावस्था के पूरा होने में दो तीन दिन का समय लग जाता है।

(२) द्वितीय अवस्था—इस अवस्था का प्रारम्भ उस समय होता है जब फुफ्फुस का आक्रांत भाग ठोस रूप में हो जाता है क्योंकि वायु कोष्ठकों में रक्त एवं पानी जम जाता है जिसके कारण ठोसपन आ जाता है। जमे हुये इस रक्त एवं पानी में कुछ सेलें भी होती हैं तथा रक्त के लाल एवं श्वेत कण भी होते हैं जिसे Red hepatization अवस्था कहा जाता है। इसमें फेफड़े का आक्रान्त भाग यकृत् के समान ठोस हो जाता है। इस कारण इनमें न वायु आती और न जाती है। छाती पर स्टेथिस्कोप यंत्र के द्वारा श्रवण करने पर केवल वायु मार्ग के आने जाने का ही शब्द सुनाई पड़ता है।

(३) तृतीय अवस्था—इस तृतीय अवस्था को ग्रेहेपाटाईजेशन (Grey hepatization) कहते हैं। इस अवस्था के पहुंचते ही वायु कोष्ठकों के अन्दर के रक्तकण एव रक्त जल अथवा रक्तवारि विलीन हो जाती है और इनके स्थान पर पीले रङ्ग के पूय (Pus) जैसा पदार्थ भर जाता है। परन्तु फेफड़े का भाग ठोस ही रहता है, साथ ही रोग अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाता है। तीव्र ज्वर निद्रा का नहीं आना, अर्ध सुप्त अवस्था में रोगी प्रलाप करता, अन्ट-शन्ट बकता है। कारण रोगविष का प्रभाव अधिक रहता है जिसे टाक्सीमियां की अवस्था भी कहते हैं। दिल की धड़कन

फुफ्फुस पाक रोग फुफ्फुस प्रदाह, फुफ्फुस सन्निपात, कर्कटक सन्निपात, श्वसनक ज्वर या निमोनियां आदि से सम्बोधित करके जाना जाता है। आयुर्वेद के अनुसार यह सन्निपात का ही एक रूप है। आधुनिक मत द्वारा इस रोग का मुख्य कारण फुफ्फुस गोलाणु (न्यूमोकोकस) माना गया है। यह रोग सभी आयु में हो जाता है लेकिन १५-४० वर्ष की अवस्था में विशेष रूप से पाया जाता है। शीत प्रदेशों, शिशिर ऋतु तथा शरद् के प्रारम्भ या अन्त में मौसम बदलते समय अधिक होता है। जीर्णवृक्कशोथ, मदात्यय आदि रोगों, आघात, शक्ति, अधिक परिश्रम, शीत, अनशन, विषमाशन आदि अन्य कारणों से इसकी उत्पत्ति में सहायता मिलती है। रोग की पहिचान की दृष्टि से इस रोग में तीव्रज्वर के साथ फुफ्फुसों में पाक होता है। जिसके कारण तीव्र पार्श्वशूल, कास आदि लक्षणों के साथ फुफ्फुस के एक या अनेक खण्डों में घनता आ जाती है। सामान्य रूप से यह प्रदाह दो प्रकार का होता है—(१) फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (२) श्वास प्रणाली प्रदाह। इनमें से फुफ्फुस खण्ड प्रदाह विशेष रूप से घातक होता है। इसमें फुफ्फुसों के वायुकोषों में अवरोध होकर गम्भीर अवस्था उत्पन्न हो जाती है। श्वास प्रणाली प्रदाह में फुफ्फुसों की सूक्ष्म श्वास नलिकाओं में दाह एवं शोथ उत्पन्न हो जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से यह दोनों लगभग समान हैं। फुफ्फुस पाक स्वतः शमन होने वाला रोग है। रोगी का हृदय तथा बल आदि रक्षित है तो १० दिनों में यह रोग स्वयं शान्त हो जाता है। रोगी को उष्ण, निर्मल, शीत व प्रवात से रहित हवादार, शान्त स्थान में शैय्या पर पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। इस रोग में प्रारम्भ में दोष साम रहते हैं अतः दीपन, पाचन व बलवान् रोगियों को लङ्घन की व्यवस्था के साथ साधारणतः पहले कफ, फिर पित्त तथा अन्त में वात के शमन की व्यवस्था करनी चाहिये। इस रोग में सन्निपात ज्वर का चिकित्सा क्रम अपनाने से रोगी को लाभ होता है—

लंघन वालुका स्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा
अवलेहोऽञ्जनञ्चैव पाक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे
सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादाम कफापहम्
पश्चात् श्लेष्माणि संक्षीणे समयेत् पित्तमारुते।

अर्थात् इस रोग की चिकित्सा में आम तथा कफनाशन के लिये पहले लंघन, वालुका स्वेद, नस्य, निष्ठीवन, अवलेह, कवाय तथा अञ्जन का प्रयोग करें। रोगी को यदि तन्द्रा है तो सैन्धवादि नस्य का प्रयोग करें। अद्रक के रस में त्रिकटु चूर्ण डालकर आकण्ठ मुख में धारण करके बार-बार निष्ठीवन करें। इससे जल प्रदेश में संचित श्लेष्मा बाहर निकल जाता है। पार्श्वशूल को कम करने के लिए अलसी की पुल्टिस विशेष लाभदायक है। पसलियों पर सैन्धवादि तैल की मालिश कर वालुका पोटली से सिकाई भी कर सकते हैं। अन्तःसेव्य औषधियों के रूप में महालक्ष्मीविलासरस, बृ० कस्तूरीभैरव रस, कृष्णचतुर्मुख रस, शृंगभस्म, समीरपन्नग आदि के प्रयोग से लाभ होता है। भैषज्य रत्नावली का अष्टाङ्गावलेह इस रोग में हमने विशेष उपयोगी पाया है। रोग की गम्भीर अवस्था में याकूती, मुक्ता, जवाहरमोहरा, विषेश्वर रस आदि बहुमूल्य औषधि कल्पों के प्रयोग से ही रोगी की प्राणरक्षा सम्भव होती है।

प्रस्तुत लेख के विद्वान् लेखक डा० गिरि आयुर्वेद जगत् के जाने-माने लेखक हैं। उन्होंने इस लेख में रोग के विषय में गम्भीरता से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं जिसके लिये यह साधुवाद के पात्र हैं।

फुफ्फुस प्रदाह के सम्बन्ध में एक उपयोगी लेख सुधानिधि के हृदय फुफ्फुस रोग चिकित्सांक के पृष्ठ ४०३ पर छपा है। पाठकों को इस रोग के विषय में उपयोगी जानकारी प्राप्त करने के लिए उस लेख का भी अध्ययन करना चाहिए।

—गोपालशरण गर्ग।

बढ़ी हुई, नाड़ी तेज, फेफड़े में रक्त का प्रवेश नहीं हो पाता है जिससे मृत्यु सम्भव हो जाती है। कारण फुफ्फुस कफ से आच्छादित रहता है। इससे श्वास की गति तीव्र हो जाती है। यह तीनों अवस्थायें तीन से सात दिन के अन्दर रहती है।

(४) चतुर्थावस्था—इस चतुर्थ अवस्था को रिजोलूशन (Resoslution) अवस्था कहते है। यह अवस्था दोनों ओर को उन्मुख रहती है। रोगी आरोग्यता की ओर बढ़ता अथवा मृत्यु के मुंह में पहुंच जाता है। यदि शोथ वाला स्थान खंड गलकर पूय से भर उठे वो समझना चाहिए कि रोगी असाध्यावस्था में पहुंच गया है और मृत्यु निश्चित रूप से हो जायगी। किन्तु वायु कोष्ठकों के अन्दर जो पदार्थ से भरे हुये थे वह इस अवस्था में विलीन होने लगे स्राव का अधिकांश भाग क्रमशः रक्त में मिश्रित होने लगे एवं उसका भाग कफ के रूप में दस्त के साथ निकलता रहता है तो आरोग्यता का लक्षण है। इसी से इस अवस्था में कठोरपन लिये हुये मिश्रित करकराहट सुनाई पड़ती है। जो धीरे-धीरे कम होती जाती है। श्वास प्रणाली से जो श्वास आती थी और सुनाई पड़ती थी वह कोष्टक में से आने-जाने लगती है अर्थात् फेंफड़े अपनी स्वस्थावस्था में हो जाते हैं।

अतएव उपर्युक्त यह चारों अवस्थायें वैज्ञानिक परीक्षाओं से ज्ञात हुई हैं। कोई भी चिकित्सक रोगी को प्रत्यक्ष देखकर नहीं बता सकता कि किस समय से कौन सी अवस्था आरम्भ हुई है। कारण यह है कि ये चारों अवस्थायें इस प्रकार एक के बाद एक परिवर्तित होती जाती हैं कि पता लगा पाना अत्यन्त ही कठिन है। लगभग आठ प्रतिशत रोगी को दोनों के फेंफड़े का यह रोग आक्रान्त करता है और जिन्हें दोनों ओर होता है उन्हें बचाना भी अति कठिन होता है। विशेषतः फेंफड़े की ओर का चिकना खंड ही प्रदाहित होता है अथवा एक तरफ का सम्पूर्ण फेंफड़ा अथवा उसके पृथक्-पृथक् भाग में ही शोथ उत्पन्न होता है। क्योंकि खंड में ही रोग का आक्रमण होता है इसलिए अक्सर फुफ्फुसावरण में भी थोड़ा प्रदाह हो सकता है।

लक्षण—इसमें अकस्मात् ठंड लगकर ज्वर आता और छाती के एक भाग अथवा दोनों भाग में तीव्र वेदना एवं शूल की तरह टीस अनुभव होती है। सूखी खांसी आती और कफ नहीं निकलता तथा गले में घुरघुराहट मालूम पड़ती है। खांसने के समय रोगी अपनी छाती को कसकर दबा लेता है। किसी-किसी रोगी को खांसने से रक्त मिश्रित कफ भी निकलता है। परन्तु

फुफ्फुसशोथ (न्यूमोनिया) के शरीरगत लक्षण
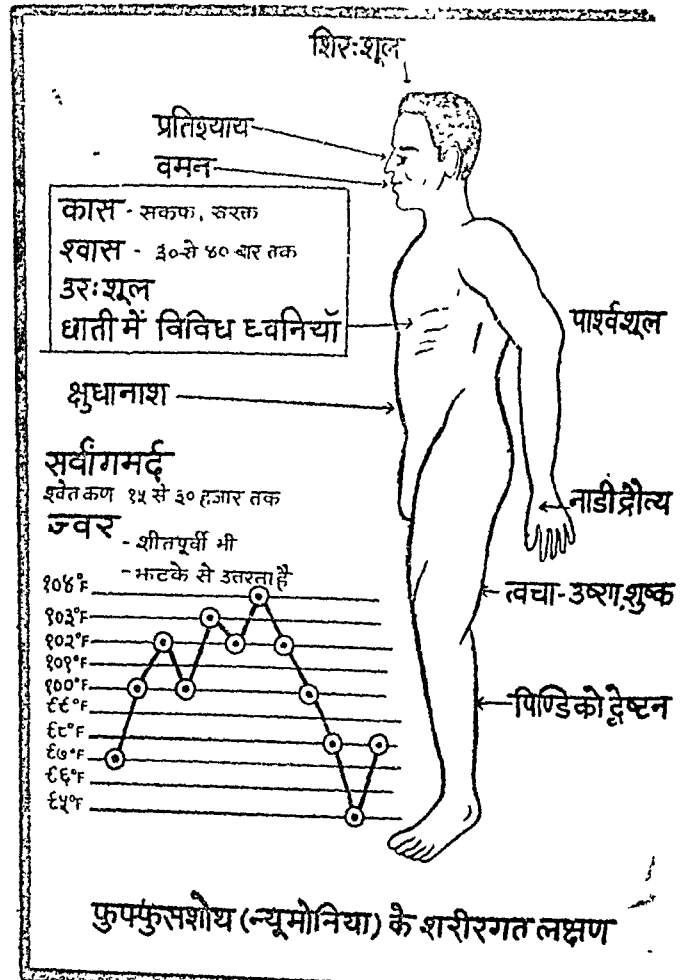
रक्त उसी अवस्था में आता है जब प्राचीन न्यूमोनिया, वात श्लैष्मिक ज्वर, प्लेग आदि उपस्थित रहते हैं। रोगी का श्वास फूलने लगता है, श्वास लेने में अत्यधिक तकलीफ होती है एवं श्वास लेने में जोर लगाने पर नथुने फूलने लगते हैं और चेहरे पर लाली दौड़ जाती है। यदि कफ निकलता भी है तो अत्यल्प मात्रा में जिसमें गाढ़ा एवं चिपचिपा तथा चिकनाहट अधिक रहती है।

यह खांसी का वेग एवं दर्द अधिक दिनों तक नहीं रहता। दो तीन दिन के बाद खांसी सूखी न रहकर गीली हो जाती है एवं कफ आने लगता है। खांसी की तकलीफ अथवा कष्ट उपर्युक्त लक्षण के समान ही रह जाये तो लक्षण अच्छे नहीं समझे जाते हैं। जब टाक्सीमिया के लक्षण बदल जाते हैं तब ज्वर का तापमान अधिक वृद्धि कर जाता है और निद्रा नहीं आती। निद्रा नहीं आने के कारण रोग का विष प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी प्रलाप करने लगता है। इसके बाद प्रलाप में कमी होती और बेहोशी आने लगती है।

इस अवस्था में श्वास की गति अत्यधिक तीव्र हो जाती है जो प्रति मिनट में ४० से ६० तक हो जाती है। इसी प्रकार नाड़ी की गति में भी तेजी हो जाती है जो प्रति मिनट १२० से १२० से भी ऊपर हो जाती है। पहले नाड़ी भरी हुई एवं तीव्र हो जाती पश्चात् कमजोर पड़ जाती है। बाद नाड़ी की गति इतनी तेज न हो जाय कि गिना नहीं जा सके तो समझना चाहिए कि अनिष्ट होने की अवस्था पहुंच चुकी है। हृदय दुर्बल एवं अति कमजोर पड़ जाता तथा अन्त में नाड़ी लुप्त होने लगती है। तन्द्रावस्था (Coma) के लक्षण में हृदय की गति बन्द होने वाली होती है। यदि रोगी की अवस्था में सुधार के लक्षण होते हैं तब तो ज्वर एक सप्ताह तक तीव्र हो बना रहता है और बाद में अवधि समाप्ति के साथ-साथ पसीना पसीना आकर ज्वर उतर जाता है। इसमें ज्वर कभी भी धीरे-धीरे नहीं उतरता है। रोगी को एक दो दिन ही तीव्र ज्वर होकर सम्पूर्ण लक्षण दिखाई पड़े और फिर ज्वर उतर जाय प्रलाप आदि के लक्षण में वृद्धि होती जाय तो समझना चाहिए कि रोगावस्था अन्तिम अवस्था किसी भी समय आ सकती है। जब तक फेफड़े की अवस्था में सुधार न हो जाय तब तक अधिक ज्वर का बना रहना रोगी के लिए शुभ लक्षण समझा जाता है। किसी भी हालत में हार्टफेल (अथवा हृदय गति बन्द) होने की सम्भावना बनी रहती है। मूत्र में क्लोराइड्स (Chlorides) बहुत कम हो जाते हैं।

आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार श्वसनक ज्वर को कफ ज्वर के अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि कफजन्य व्याधियां कफ के प्रकुपित होने से विशेषकर बसन्त ऋतु में उत्पन्न होती हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी यह न्यूमोनिया बसन्त ऋतु में ही विशेषकर होता है तथा आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अवलोकन से भी पता चलता है कि कफ ज्वर विशेष कर बसन्त ऋतु में ही होता है। इसके साथ ही न्यूमोनिया और श्लैष्मिक ज्वर के लक्षणों में भी समानता पाई जाती है। कफ के लक्षणों का वर्णन करते हुए आचार्य चरक संहिताकार लिखते हैं—

युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्त मात्रे पूर्व रात्रे वसन्त काले वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वम्, अनन्नाभिलाषः श्लेष्म प्रसेको मुखस्य च माधुर्यं, हृल्लासो, हृदयोपलेपः, स्तिमितत्वं, छर्दिः, मृद्वग्निता, निद्राधिक्यं, स्तम्भः तन्द्रा श्वासः कासः प्रतिश्यायः, शैत्यं श्वैत्यं च नख नयन वदन मूत्र पुरीषत्वचामत्यर्थं शीत पिडकाश्च भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्म ज्वर लिङ्गानि भवन्ति।

—च० चि० अ० १

समस्त शरीर में ज्वर का बढ़ना, खाने के पूर्व, दिन के प्रथम भाग एवं रात्रि के प्रथम भाग, बसन्त ऋतु में विशेषतः यह ज्वर उत्पन्न होता है। शरीर का भारी होने का आभास, भोजन में अरुचि, कफ का गिरना, मुंह का स्वाद मीठा होना, मिचली, हृदय प्रदेश अर्थात् सम्पूर्ण छाती का कफ आच्छादित (लिप्त) रहना, अंगों में ऐसा अनुभव होना जैसे गीले वस्त्र से

शरीर को ढक दिया गया हो। जठराग्नि का मृदु होना, निद्रा आना, स्तब्धता, तन्द्रा, प्रलाप, छाती में शूल होना, श्वास, खांसी, प्रतिश्याय, ठंड लगना इत्यादि लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त शीत का अनुभव होना, नख, नेत्र, मुंह अर्थात् जिह्वा पर सफेदी जमना, मूत्र, पुरीष एवं त्वचा का श्वेत होना वताया गया है।

पाश्चात्य चिकित्सा के अनुसार इस रोग के कई भेद होते हैं—

(१) साधारण—इसमें एक ओर का निचला भाग अर्थात् निचला खण्ड प्रभावित होता है अथवा दोनों फुफ्फुस का निचला खण्ड ही प्रभावित होता है।

(२) उत्क्रामक—इसमें प्रथम थोड़ा सा स्थान प्रभावित होता है और थोड़े दिनों के वाद रोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक क्रमशः हटता जाता है और जहां से हटता है वह स्थान ठीक हो जाता है।

(३) केन्द्रिक—जो प्रदाह फुफ्फुस के मध्य से आरम्भ होकर वाहर की ओर फैलता है, यह केन्द्रिक भेद अत्यधिक विलम्ब से दिखलाई पड़ता है। इसलिए निदान में भी कठिनाई होती है।

(४) वृहद् फुफ्फुस प्रदाह—इसमें सभी सेलों एवं वायु प्रणालियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह भेद भी अत्यन्त ही भयानक और सांघातिक होता है क्योंकि सम्पूर्ण खंड में शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमें लक्षण भी तीव्र होते है, स्थान ठोस होता है एवं शब्द स्पर्श तथा श्रवण शब्द दोनों से रहित होता है, श्वास की आवाज कुछ भी सुनाई नहीं पड़ती तथा इसके लक्षण आर्द्र फुफ्फुस प्रदाह जैसे होते हैं और ज्वर आदि के लक्षण अत्यधिक तीव्र होते हैं तथा कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह भी साथ-साथ हो जाता है। स्टेथिस्कोप लगाने पर इस प्रकार लक्षण मिलते है—

(क) आक्रांत भाग देखने में आगे की ओर उभरा हुआ रहता है एवं फेफड़ा जितना फूलता पिचकता है उसकी तुलना में वायु कम खिंचती है।

(ख) छूने पर रोगग्रस्त स्थान ठोस दिखाई देता और फुफ्फुसावरण प्रभावित होने के कारण घिसने जैसा शब्द सुनाई पड़ता है। वृहद फुफ्फुस के प्रदाह में यदि शोथ हो जाता है जिससे वायु प्रणालियां भी सूजकर उनके रंध्र वन्द हो जांय तो सुनने से कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता।

(ग) ठोककर देखने से पूर्व कुछ समय तक के लिए उस स्थान पर गुंज का शव्द सुनाई पड़ता है। परन्तु शीघ्र ही ठोसपन आ जाता है। जितना ठोसपन उसमे आयेगा उतना ही ठोस शव्द सुनाई देगा। यह फेफड़े के खण्ड पर निर्भर करता है। दूसरी एवं तीसरी अवस्था तक वैसे ही ठोस आवाज आती है, जिस प्रकार काठ को ठोकने पर शव्द सुनाई देता है।

(घ) प्रथम अवस्था के आरम्भ में कुछ ही घण्टों के लिये श्वास का शव्द उलझनपूर्ण अस्पष्ट सुनाई पड़ता है।

इसके वाद उसमें कठोरपन आने लगता है और श्वास के अन्तिम भाग में करकराहट की आवाज सुनाई पड़ती है। किन्तु द्वितीय अवस्था में करकरापन की आवाज एकदम वन्द हो जाती है। यदि घर्षण का शव्द सुनाई पड़े तव समझना चाहिए कि साथ-साथ फुफ्फुसावरण में भी प्रदाह उत्पन्न हो गया है।

उपद्रव—तीव्रज्वर, हृदय की धड़कन का वन्द होना, निद्रा नही आना, प्रलाप, वक-झक करना, कंपन, वेहोशी आदि लक्षण भयानक होते है। कभी-कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुस का फोड़ा (व्रण), जीर्ण खासी आदि उपद्रव रोगमुक्ति के पश्चात् भी वना रह जाया करता है।

उपर्युक्त खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह का वर्णन किया गया है। अव इसके आगे फुफ्फुस प्रणाली का प्रदाह जिसे ब्रॉकोन्यूमोनियां कहा जाता है, का वर्णन किया जायेगा।

(२)

फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह (Broncho-Pneumonia)

इसमें कई प्रकार के जीवाणुओं द्वारा फेफड़े के वायु मार्ग और सूक्ष्म प्रणालियों में एवं उनसे सम्वन्धित वायु कोष्ठकों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। फुफ्फुस प्रणाली का शोथ दो प्रकार का होता है जो अधिकांश पांच वर्ष से कम आयु वाले वच्चों एवं दुर्वल तथा अत्यधिक कम

फुपफुस (Lungs)

श्वसनक्रिया के कर्त्ता फुपफुस कहलाते हैं। यह उरोगुहा में एक-एक रहते हैं जिन्हें हृदय तथा मध्य स्थानिका के अन्य अवयव अलग-अलग रखते हैं। प्रत्येक फुपफुस अपनी-अपनी परिफुफ्फुसी गुहा में स्वतन्त्रतया विचरण करते हैं केवल ये अपने मूल पर कण्ठनाड़ी और हृदय के साथ जुड़े रहते हैं। प्रत्येक फुपफुस बहुत हल्के सुषिर और स्पंजीरचना वाले पदार्थ से बना हुआ रहता है। यह जल में डालने पर तैरता है और हाथ में रगड़ने से कर्कर ध्वनि करता है क्योंकि इसकी कोष्ठिकाओं (एल्वियोलाई) में हवा भरी रहती है। वह बहुत अधिक इलास्टिक होता है। इसका धरातल चिकना चमकदार होता है जिस पर गहरी एक-दूसरे को काटती हुई रेखाएं बनी होती हैं जो बहुभुजीय क्षेत्रों का निर्माण करती हैं। ये क्षेत्र लोब्यूल (खण्डक) का प्रतिनिधित्व करते हैं।
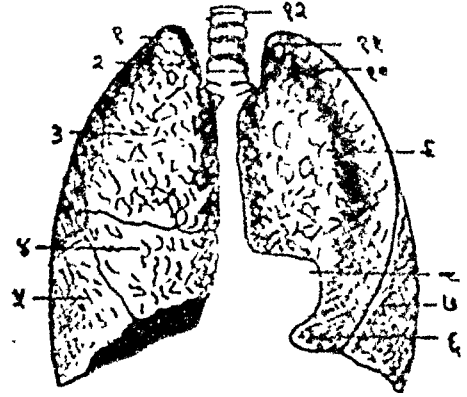
कण्ठनाड़ी सहित दक्षिण वाम फुपफुस

१. दक्षिण ऊर्ध्वजत्रक धमनी के लिये परिखा, २. प्रथम पर्शुका के लिये परिखा, ३. दक्षिण ऊर्ध्व फुपफुसखण्ड, ४. दक्षिण मध्य फुपफुसखण्ड, ५. दक्षिण अधः फुपफुसखण्ड, ६. फुपफुस जिह्विका (लिगुला), ७. वाम अधः फुपफुसखण्ड, ८. हृदय के लिये खात, ९. वाम ऊर्ध्व फुपफुसखण्ड, १०. प्रथम पर्शुका के लिए परिखा, ११. वाम ऊर्ध्वजत्रक धमनी के लिए परिखा, १२. कण्ठनाड़ी (ट्रैकिया)।

जन्म के समय फुपफुस गुलाबी रंग के होते हैं। पर बड़े होने पर इनका रंग गहरा सिलेटी 'ग्रे' हो जाता है। जिसमें जगह-जगह पर काले धब्बे से पड़े हुए दिखाई देते हैं। वृद्धावस्था में इनका रंग काला पाया जाता है। रंग का कारण कार्बन द्रव्य का फुपफुस में जम जाना होता है। भ्रूणावस्था में जब तक फुपफुस में हवा का प्रवेश नहीं होता फुपफुस बिल्कुल अलग प्रकार का और ठोस होता है। हाथ से छूने पर कर्कर ध्वनि नहीं करता तथा पानी में डूब जाता है। इस परीक्षा का प्रयोग व्यवहार आयुर्वेद में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है।

दक्षिण फुपफुस वाम फुपफुस की अपेक्षा अधिक भारी होता है। उनका भार ६२५ ग्राम जबकि वाम का ५६५ ग्राम ही होता है। स्त्रियों के फुपफुस पुरुषों के फुपफुसों की अपेक्षा अधिक हल्के होते हैं। फुपफुसों का वर्णन उसके शिखर, आधार, तीन धाराओं और दो के तलों द्वारा किया जाता है। फुपफुसों की शरीर रचना के सम्बन्ध में शरीर रचना विज्ञान (Ana tomy) के ग्रन्थों से विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

फुपफुस श्वसन संस्थान का प्रमुख अङ्ग है। श्वसन संस्थान की क्रिया आक्सीजन को वायुमण्डल से फुपफुसों में पहुंचाकर उसे रक्त तक पहुंचाना है। रक्त उसे रक्तपरिभ्रमण की क्रिया द्वारा ऊतकों को पहुंचाता है। ऊतकों के प्रत्येक सैल में आक्सीजन प्रवेश करती है और वहां से अन्नरस से प्राप्त पदार्थों को जलाकर कार्बनडाइआक्साइड और शक्ति उत्पन्न करती है। कार्बनडाइआक्साइड ऊतकों से केशिकाओं, शिराओं और महाशिराओं द्वारा हृदय में वहां से फुपफुसों में जाकर फुपफुसों से बाहर वायुमण्डल में भेज दी जाती है। आक्सीजन का अन्दर जाना तथा कार्बनडाइआक्साइड को बाहर निकलना ही फुपफुसों तथा श्वसन संस्थान का प्रमुख कार्य है।

जोर युवकों वृद्धों को होता है। इसके दो भेद होते हैं। प्रथम मुख्य प्रकार एवं दूसरा गौण प्रकार का होता है।

(१) प्रथम मुख्य प्रकार—इसे उत्पन्न होने का मुख्य कारण न्यूमोकोक्कस नाम के जीवाणु होते है। रोगी के पास रहने वालों को अथवा रोगी के श्लेष्म आदि के संसर्ग से और कफ आदि पर बैंठने वाली मक्खियों के कारण में इस रोग का प्रसार होता है।

(२) गौण प्रकार—रोमान्तिका, वात श्लैष्मिक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर आदि के उत्पन्न करने वाले जीवाणु पहले से ही रोगी के कण्ठ, टेटुआ, वायु प्रणालियों आदि में उपस्थित रहता है और अनुकूल समय पाकर यह जीवाणु शोथ उत्पन्न करता है। इसलिए कमजोर, दुर्बल, स्वस्थ व्यक्तियों को रोगग्रस्त व्यक्ति से वचाकर रखें।

शारीरिक विकृति—अति सूक्ष्म प्रणालियों में जब शोथ उत्पन्न हो जाता है तब उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अथवा संकीर्ण हो जाता है, इसलिए जब वायु इस मार्ग से जाती है तब बासुरी बजने अथवा सीटा बजने जैसा शब्द सुनाई पड़ता है। उन प्रणालियों से सटे हुए वायु कोण्ठक में भी शोथ उत्पन्न हो जाता है। अतएव जब बहुत से ऐसे कोण्ठक एक ही स्थान पर हो एव साथ ही प्रणालिया भी हों तो सभी मिलकर खण्डीय फुफ्फुस का प्रदाह अथवा लोबर न्यूमोनियां जैसा दिखलाई पड़ती है।

लक्षण—(१) मुख्य प्रकार मे लोबर न्यूमोनियां (खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह) के समान ही जाड़ा लगकर एकाएक ज्वर आता है और छाती में तीव्र वेदना, खांसी, श्वास फूलने आदि लक्षण उत्पन्न होते है। इस मे ज्वर दिन-प्रतिदिन वृद्धि पर होता है एव दो-तीन दिन में १०२ से १०३ डिग्री तक तापमान बढ़ जाता है। परन्तु कोई निश्चित भी नही कि प्रारम्भ मे ही तीव्र हो जाय। कुछ दिनो तक तापमान रहकर क्रमशः ज्वर कम होने लगता है और उतर जाता है। छाती की परीक्षा करने पर फेफड़े में कई स्थान जो बहुत छोटे रहते हैं ठोस जैसा शब्द उत्पन्न होता है। किन्तु बहुत ही ध्यान से परीक्षा करने पर ही इसका पता चल पाता है। शब्द स्पर्श एवं शब्द श्रवण स्वस्थ व्यक्ति जैसे जान पड़ते हैं, इसमें खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह जैसी आवाज नही होती।

रोगी की श्वास की आवाज कड़ी हो जाती और साथ मे सीटी की आवाज सुनाई पड़ने लगती है, साथ-साथ हल्की करकराहट की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

(२) गौण प्रकार—रोगी को पहले से ही रोमान्तिका अथवा तीव्र खासी उपस्थित रहती है, एसे ही समय गुप्त रूप से इस रोग का आक्रमण हो जाता है। ज्वर धीरे-धीरे १०२ से १०३ तक पहुच जाता है, खासी के साथ ही श्वास रोग के समान श्वास गति तीव्र हो जाती है। बलगम (कफ) कभी निकलता, कभी शुष्क होने से नहीं निकलता है तब रोगी को विशेष कष्ट होता है। यदि कफ तरल स्थिति मे रहा तब तो ठीक है अन्यथा कफ सूखकर रोगी का भयानक मरणान्तक पीड़ा होती है। छाती परीक्षा करने पर दोनो ओर श्वास के साथ सीटी बजने जैसी आवाज एव हल्की करकराहट मुख्य भेद के अनुसार ही सुनाई पड़ती है। रोगी की अवस्था यदि साध्य है तब तो १० से १५ दिनो के अन्दर ज्वर, सर्दी रहकर क्रमशः उतरने लगता है। किन्तु असाध्यावस्था मे खासी, श्वास की अत्यधिक वृद्धि के कारण छाती का दर्द उत्पन्न होकर रोगी को कष्ट बढ़ने के साथ ही बेहोशी होकर रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। परन्तु खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह के समान उतना भयानक असर नही दिखाई देता है। इसमें टी० बी० (यक्ष्मा) जैसे भयानक उपद्रव होकर अन्त में रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

उपद्रव—इसमें प्रधानतः तीन प्रकार के उपद्रव होते है—

(१) राजयक्ष्मा—सबसे अधिक भयानक एवं मारक होता है। इस अवस्था में राजयक्ष्मा का भय विशेष रूप से रहता है। जब इस रोग के पूर्व में रोमान्तिका आदि के कारण खासी अधिक दिनों तक रहती है क्योंकि जीर्ण खांसी के वर्तमान रहने से फुफ्फुस का शोथ हमेशा बना रहता है। इस प्रकार अन्त में वायु कोण्ठकों का विस्तृत हो जाना स्वाभाविक ही है।

(२) फुफ्फुसावरण प्रदाह—कभी-कभी यह पूर्व में शुष्क रहता बाद में तरल हो जाता है। तरल होने के कारण इसमें पूय भी उत्पन्न हो सकता है।

(३) कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि फुफ्फुस विद्रधि उत्पन्न होकर सड़न (Gangren) की उत्पत्ति हो जाती है। तब यह अवस्था एवं उपद्रव भी अति भयानक होता है।

साध्यासाध्यता—पूर्व में उल्लेख किया गया है कि गौण प्रकार का ब्रॉकोन्यूमोनियां अधिक दिनों तक रह जाता है। मुख्य प्रकार का अवस्थाकाल एक सप्ताह से लेकर लगभग १२ दिनों तक का है। किन्तु गौण प्रकार का ब्रॉकोन्यूमोनियां ३ से ४ सप्ताह से कभी-कभी दो-तीन महीनों तक रहता है। गौण अपेक्षाकृत भयानक भी होता है। विशेषकर रोमान्तिका, आंत्रिक ज्वर आदि उपस्थित रहने पर अण्ट-सण्ट बकना, तीव्र नाड़ी गति, श्वास, शरीर का नीला पड़ना आदि लक्षण वर्तमान रहने पर। यदि रोगी वृद्ध है तो तन्द्रा, बेहोशी (Coma) आदि के लक्षण असाध्यता एवं मृत्यु सूचक हैं।

(३)

तीव्र खांसी (Bronchitis)

यह व्याधि अधिकांश ठण्ड में वायु प्रणालियों के शोथ के परिणामस्वरूप वृद्धों, बालकों, दुर्बल एवं कमजोर युवकों को होती है। प्रथम प्रतिश्याय क्रमशः बढ़कर तीव्र खांसी का हो जाना, कभी-कभी वातश्लैष्मिक ज्वर, रोमान्तिका में शोथ, नीचे उतरकर वायु कोष्ठकों में चली जाती है। इससे उन स्थानों की श्लैष्मिककला में शोथ उत्पन्न होकर श्वास मार्ग संकीर्ण हो जाता है। परिणामस्वरूप श्वास-प्रश्वास के समय कूंजन शब्द होता है।

लक्षण—इसमें कोई न कोई रोग पहले से उपस्थित रहता है और धीरे-धीरे खांसी आरम्भ हो जाती है। कभी अकस्मात नाक की श्लैष्मिक कला में शोथ हो जाता है और कुछ ही घन्टों के बाद तीव्र खांसी हो जाती है। टेंटुवे में भी शोथ हो जाने के कारण खांसी के साथ-साथ छाती की पसलियों में एवं पीठ की ओर तीव्र दर्द होता और अनुभव होता है कि [illegible] रहा है। ज्वर १०० से १०१ तक हो जाता है। पहले खांसी सूखी एवं कष्टदायक आती है, परन्तु २४ से ३० घन्टों के बाद गीली खांसी हो जाती है। कफ आने लगता है जो गाढ़ा और थोड़ा चिकना होता है। पश्चात् क्रमशः चिकनापन दूर होकर पतला हो जाता है। इसलिए रोगी को कफ पतलापन के साथ ही कष्ट भी कम हो जाता है।

उपद्रव—फुफ्फुस प्रणालियों का शोथ, वायु प्रणाली का बढ़ जाना, वायुकोष्ठों का भी इसी प्रकार बढ़ना अत्यधिक दुर्बलता आने से तथा फेफड़ों में पूय उत्पन्न हो जाने के कारण राजयक्ष्मा का होना आदि है, क्योंकि अधिकांश जीर्ण खांसी के परिणामस्वरूप ऐसा होता है।

चिकित्सा—उपर्युक्त तीनों की क्रमानुसार चिकित्सा इस प्रकार है। रोगी को पूर्णरूप से आराम देने के साथ-साथ हल्का सुपाच्य भोजन आदि देना तथा सदैव औटाया हुआ जल जिसमें लौंग, छोटी इलायची देकर औटाया गया हो, वही जल पीने के लिये देना अति आवश्यक है। साथ ही फलों का रस यथेष्ट मात्रा में दें। कफ निस्सारक तथा स्वेदजनन औषधियां प्रयोग करें।

दर्द एवं सूजन को दूर करने के लिये छाती एवं पसलियों पर लिनिमेन्ट टर्पेन्टाइन, लिनिमेन्ट कैम्फर, पेन बाम अथवा पुराने घृत में कपूर मिलाकर थोड़ा गर्म करके मालिश करनी चाहिए।

१. एन्टीफ्लेजिन अथवा एन्टीफ्लोजिस्टिन प्लास्टर गर्म करके छाती एवं पसलियों पर बांधना चाहिए। इससे पसलियों का दर्द एवं सूजन दूर होती है।

२. श्वास चिन्तामणि रस २५० मि० ग्रा०, कफकेतु रस २५० मि०ग्रा०, [illegible] रस २५० मि०ग्रा०, चन्द्रामृत रस १ ग्राम, सितोपलादि चूर्ण ५ ग्राम सभी को घोटें और १० मात्रा बनायें, अदरख स्वरस एवं मधु के साथ ३-३ घन्टे पर दें। इससे सभी उपसर्ग शान्त हो जाते हैं।

३. स्वर्ण [illegible] २५० मि० ग्रा०, शृंग भस्म ५०० मि० ग्रा०, वृहत् कस्तूरी भैरव रस, [illegible]

रस दोनों २५०-२५० मि०ग्रा० सभी को घोटकर ६ मात्रा बनायें और शहद के साथ प्रति ४-४ घण्टे पर दें।

४. त्रिभुवनकीर्ति रस २५० मि०ग्रा०, चन्द्रामृत रस १ ग्राम, शृंग भस्म ५०० ग्राम घोटकर चार मात्रा बनायें और ४-४ घण्टे पर मधु के साथ दें।

५. प्रवाल पिष्टी ५०० मि०ग्रा०, शृंगभस्म ५०० मि० ग्र०, ताल सिन्दूर १२५ मि०ग्रा०, शृंगाराभ्र रस ५०० मि० ग्रा०, सितोपलादि चूर्ण २ ग्राम इसे घोटकर १० मात्रा बनायें। शहद अथवा वासा एवं गुलबनपसा क्वाथ के साथ ३-३ घण्टे पर देना चाहिए।

६. लौह भस्म ५०० मि० ग्रा०, वसन्तमालती रस २५० मि० ग्रा० इसे मिलाकर ४ मात्रा बनायें। प्रातः-सायं शक्ति लाने के लिये दें। द्राक्षारिष्ट १५ मि० लि० के साथ अथवा फलों के रस के साथ दें।

७. रस सिन्दूर १०० मि० ग्रा०, वृ० कस्तूरी भैरव रस २५० मि० ग्रा०. कफकेतु रस २५० मि० ग्रा०, मृगशृंगभस्म ५०० मि० ग्रा०, सौभाग्य वटी (सन्निपात) २५० मि० ग्रा०, सभी को घोट पीसकर ४ मात्रा बनायें और शहद के साथ प्रति ४-४ घण्टे पर दें। तत्काल लाभ मिलता है।

आधुनिक चिकित्सा—८. पेन्सिलिन एवं स्ट्रेप्टोमाइसिन ग्रुप में–डाइक्रिस्टिसिन, क्रिस फौर, स्ट्रेप्स्टो पेन्सिलिन, ओम्नोमाइसिन, विस्टापेन इनमें से किसी एक को २४ घन्टे में एक बार दें। बच्चों के लिए पीडियट्रिक शर्बत एवं ड्राप्स आते हैं अथवा सोडियम पेन्सिलिन ५ लाख की सुई सुबह शाम दें।

९. ऑक्सीटेटरा एवं टेट्रासाइक्लिन ग्रुप में—टेरामाइसिन, रेस्टेक्लीन, सुबामाइसिन, एरीथ्रोसिन, एक्रोमाइसिन, ओरियोमाइसिन इनमें से किसी एक का कैप्सूल, इञ्जेक्शन, सीरप का व्यवहार ४-४ घण्टे पर करें।

१०. एम्पीसिलिन ग्रुप में—एम्पीसीलिन, सीन्थोसीलिन, एपसीन, एलबरसीलिन, एम. जे. सीलिन, कैम्पीसीलिन, रोसलिन (Roscilin) ब्रोडीसिलिन इत्यादि में से कोई एक का ड्राप्स, सीरप, इञ्जेक्शन, कैप्सूल शरीर भार के अनुसार प्रति ४-४ घण्टे पर दें।

११. सेप्ट्रान ग्रुप—सेप्ट्रान, वैक्ट्रिम, एस्सपोजोल, ओरोप्रीम इत्यादि में से किसी एक का टेबलेट, सीरप आदि मात्रानुसार दें।

१२. सल्फा ग्रुप—सल्फाडायजीन, एलकोसिन, ओरिसुल, मैड्रीब्रोन, ट्रीसल्फानिमाइड, सल्फाथियाजोल, सल्फा मेराजोन इनमें से किसी एक की गोली दिन रात में ३-४ बार तक दें। एलकोसिन ६ गोली, विटामिन सी. ५०० मि० ग्रा० की २ गोली, होस्टाकोर्टिन ५ टेबलेट सभी को मिलाकर ८ मात्रा बनायें और ४-४ घण्टे पर दें।

१३. ए. सी. टी. एच.–डेकाड्रोन, होस्टाकार्टिन, वाइसोलोन, डेक्सोना, बेटनेसोल इत्यादि।

१४. कफ निस्सारक शर्बत—वेनाड्रील, ग्लाइकोडिन, सोवेन्टोल, एफेड्रक्स, कोरेक्स, पिरीटोन किसी शर्बत एक को दें। ●●

फुफ्फुस-पाकनाशक सफल प्रयोग

घटक—अजवायन, कलमीशोरा, बारासिंघा के सींग का बुरादा–प्रत्येक १-१ तोला, श्वेत आक की जड़ की छाल, अफीम दोनों ४-४ ग्राम।

—सबको घृतकुमारी के रस में घोट टिकिया बनाकर सुखा सम्पुट में बन्दकर अरने उपलों की भट्ठी में (गजपुट) में फूंक दें, कृष्ण रङ्ग की भस्म होगी, घोटकर शीशी में रखें।

मात्रा तथा उपयोग—२-२ रत्ती शक्कर की चासनी से अथवा रोगानुसार अनुपान से दें। यह पार्श्वशूल, हृदयशूल, कास, श्वास एवं निमोनियां के लिए सर्वोत्तम प्रयोग है।

अन्य कारण—ग्रीवा के अभिघात, पक्षवध, स्वरयंत्र विकार, उन्माद आदि में अन्न, धूल या इतर विजातीय द्रव्य का फुफ्फुस में प्रवेश। क्वचित निद्रावस्था में शराब आदि से मस्त व्यक्ति के मुंह में से विजातीय द्रव्य का प्रवेश।

महाप्राचीरा के निम्न प्रदेश में विद्रधि, कृमिजन्य-रसार्बुद, पर्युकाभग कभी-कभी घात्र के फूटने आदि से।

शल्यकर्म के पश्चात् दांत या उपजिह्विका आदि के टुकड़े का प्रवेश।

विद्रधि की स्थिति—वाम की अपेक्षा दाहिना फुफ्फुस अधिक प्रभावित होता है। दाहिने फुफ्फुस के निचले खण्ड (लोवर लोब) में विद्रधि प्रायः अधिक उत्पन्न होती है।

रोग उत्पत्ति एवं सम्प्राप्ति—अधिकांश पूय निष्कासन रोगी के सुवाइन स्थिति में सोते समय किये जाने के कारण, अन्यों की अपेक्षा लोवर लोब का डारसल सिगमेंट अधिक प्रभावित होता है। ब्रान्कस या ब्रोन्कियोल में सेप्टिक इम्बोलिज्म के एक बार प्रचूषित हो जाने पर, इसके दूरस्थ भाग में यह वायु मार्गों का अवरोध कर देता है। नतीजा यह होता है कि उस सिगमेंट की प्लूरल सतह तक फुफ्फुस अनुन्मीलन (एटीलेक्टेसिस) हो जाता है। इसके तुरन्त बाद प्रभावित फुफ्फुस पैरेन्काइमा पर, इम्बोलस से निकले हुए जीवाणुओं द्वारा आक्रमण होता है। इससे रक्त क्षेत्र में सिग्मेन्टल न्यूमोनाइटिस की उत्पत्ति होकर पूयोत्पादन और परगलन होता है। इसके पश्चात् एक विद्रधि गुहा निर्मित होती है। यह गुहा दुर्गन्धित पूय से भरी होती है। स्फूर्जक (Fulminating) प्रकार का संक्रमण तीव्रता से बढ़कर फुफ्फुस में गेन्ग्रीन (कोथ) उत्पन्न कर सकता है। विद्रधि का सम्बन्ध कभी-कभी ब्रान्कस से होने पर खांसने से शीघ्र खाली हो जाया करती है। इसका सम्पूर्ण पदार्थ बाहर निकल जाने पर, विद्रधि का विरोहरण हो जाता है। ऐसा न होने पर यह फुफ्फुस की चिरकारी विद्रधि के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

रोग के लक्षण—पूतिक पदार्थों निष्कासन के एक सप्ताह या दस दिन बाद रोगी कम्पयुक्त तीव्र ज्वर के साथ प्लूरल वेदना और खांसी से पीड़ित होता है। अथवा बाह्य पूय खण्ड के फुफ्फुस में पहुंचने के १-२ दिन के बाद ही खांसी तथा ज्वर के लक्षण प्रकट होते हैं जो श्वासनली शोथ एवं फुफ्फुस शोथ के कारण होते हैं। फुफ्फुसावरण के ठीक नीचे इस विद्रधि के होने से इसमें शोथ हो जाने पर पार्श्वशूल का लक्षण भी इस रोग में मिलता है। फुफ्फुस में पूयभाव होने से सर्दी लगकर ज्वर चढ़ता रहता है और उतरता रहता है अथवा ढीला हो जाता है।

प्रारम्भिक अवस्था में कफ नहीं होता, किन्तु एक या दो दिन बाद थूक के साथ थोड़ा सा रक्त निकलता है। इसके बाद यकायक बहुत बड़ी मात्रा में दुर्गन्धित पूय निकला है। इससे कुछ लक्षण शान्त हो जाते हैं। तब इस रोग का सन्देह होने लगता है। न्यूमोनिया में इस प्रकार का थूक नहीं आता है। रोगी के थूक में कुछ रक्त के मिश्रण से इसका रङ्ग चौकलेट के समान हो जाता है। पूयजनक जीवाणु के कारण विद्रधि के होने पर पूय देखने में थूक गाढ़ा पीला हरे से रंग का होता है तथा इसमें कुछ दुर्गन्ध भी होती है। यदि विद्रधि एनारोबिक जीवाणु के कारण हो तो राख के रङ्ग की अथवा भूरे रङ्ग की अति दुर्गन्धित होती है। वायु विद्रधि गुहा में प्रविष्ट होती है और यह एक्सरे चित्र में द्रव तल के ऊपर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। क्रमशः जैसे-जैसे पूय बाहर निकलता जाता है, विद्रधि गुहा छोटी होती जाती है और कुछ समय बाद पूर्ण रूप से बन्द हो जाती है। यद्यपि थोड़े से अवशिष्ट क्षत चिह्न या ब्रांकिएक्टेसिस बना रह सकता है।

अगले सप्ताहों में रोग तेजी से बढ़ जाता है। एनोरेक्सिया, दुर्बलता विशेष कर बालकों में, श्वास कष्ट शरीर भार की कमी आदि लक्षण मिलते हैं। (हरीशन्स-प्रिन्सिपल आफ इण्टरनल मेडीसिन)।

चौबीस घण्टे तक पूय निकलने के बाद फिर ज्वर कम हो जाता है और रोगी की स्थिति में कुछ सुधार हो जाता है। यद्यपि खांसी तथा पूय की निकासी कुछ

न कुछ जारी रहती है। यदि इस अवस्था में रोगी की उचित चिकित्सा हो जाय तो वह ठीक हो जाता है। यदि चिकित्सा न की जाय तो फुफ्फुसगत यह विद्रधि मन्द रूप में तथा चिरस्थायी रूप में रहती है तब समय-समय पर खांसी के साथ पूयमय थूक अधिक मात्रा में निकलता रहता है। ऐसी अवस्था में रोगी को हल्का-हल्का ज्वर भी रहता है। पूय के निकल जाने पर ज्वर कम हो जाता है। इसके रुक जाने पर पुनः ज्वर रहने लगता है। यदि रोगी को ठीक-ठीक चिकित्सा न की जाय और पूय भी बाहर न निकले तो रोगी अतिशय दुर्बल हो जाता है, रंग फीका पड़ जाता है और शरीर भार घट जाता है। इस प्रकार यह रोग १-२ महीने तक चलता रहता है। ऐसी अवस्था में रोगी की अंगुलियों के सिरे मोटे हुए दीखते हैं।

फुफ्फुस विद्रधि लक्षण-एक दृष्टि में—

(१) वैधानिक विशेष लक्षण तथा विगलन से उत्पन्न दृश्य।

(२) रोगी को हल्का बुखार, कास, बलगम, पार्श्व शूल (Chest Pain), गिरा हुआ स्वास्थ्य आदि।

(३) ज्वर, पूयस्राव होने पर ज्वर का ह्रास, कास, श्वासकृच्छ्रता एवं वेदना।

(४) अंगुलियों के अग्रपर्व का चौड़ापन।

(५) जब प्रारम्भ तीव्र स्वरूप का होता है—

अकस्मात् तीव्र ज्वर (१०३°-१०५° F अर्थात् ३९-६°C से ४०-६°C) जो शीत और कपकपी के साथ आता है। पसीना आकर उतर जाता है।

(६) तीव्र स्वरूप की खांसी के साथ दुर्गन्धित बलगम पर्याप्त मात्रा में आता है जिसमें कभी-कभी रक्त भी मिला रहता है।

(७) प्लूरिसी के कारण पार्श्वशूल होता है।

(८) धीरे-धीरे रोगी में दुर्बलता आती जाती है।

कफ—केवल श्वास नलिका से सम्बन्ध होने पर कफ दुर्गन्धमय, किन्तु श्वासनलिका प्रसारण से और कोथजन्य कफ के सदृश मधुर दुर्गन्धमय नहीं। कफ में पूय एवं स्थित स्थापक तन्तु की उपस्थिति। श्वास नलिका में विद्रधि के फूटने पर पूयात्मक दुर्गन्धमय कफ २४ घण्टों में १४ औंस या अधिक निकलता है।

रोगी परीक्षा—

वक्ष परीक्षा—परीक्षा करने पर वक्ष की गति सीमित और परिताड़न में मन्द मिलती है।

१. पालपिटेशन में वोकल फ्रीमट्स बढ़ी हुई मिलती है।

२. अस्कल्टेशन—श्वसनध्वनि ट्यूबलर रूप में सुनाती है। वोकल रिसोन्स बढ़ी हुई मिलती है।

अन्वेषण—

(१) रक्तपरीक्षा—'ल्यूकोसाइटकाउण्ट' २०,००० ३०,००० सैल्स प्रति मि० मी० तक मिलती है।

(२) बलगम परीक्षा—पूय सैल, जीवाणु तथा नेक्रोटिक फुफ्फुस कोसा मिलते हैं।

(३) एक्स-रे परीक्षा—एक्स-रे द्वारा पश्चाग्र और पार्श्व दिशाओं के चित्र लेने पर अस्पष्ट किनारे से सम्बन्धित हो जाती है। द्रव की सतह को देखकर, सरलतापूर्वक निदान किया जा सकता है। इसमें द्रव केविटी (द्रवलेविल) दिखाई देती है। यह रोग की बढ़ी हुई अवस्था में मिलती है। प्रारम्भिक अवस्था में कन्सोलीडेशन के कारण होमोजीनस ओपेसिटी एक्स-रे चित्रण में देखी जा सकती है।

४. ब्रान्कोस्कोपी परीक्षा—इस परीक्षा से श्वास-नली में विद्यमान बाह्य द्रव को देखा जा सकता है। १० प्रतिशत अवस्थाओं में यह विद्रधि का रोग कैंसर के कारण होता है जिसे इस परीक्षा के द्वारा देखा जा सकता है।

१. वक्ष परीक्षा में—हड्डीमयन के निकट, ठेस-ध्वनि पत्थर पर चोट लगने के समान और स्पर्शजन्य कम्पन का अभाव मिलता है। श्रवण परीक्षा में अस्वा-भाविक ध्वनि।

२. परीक्षा करने पर [illegible] कन्सो-लीडेशन के लक्षण मिलते हैं। [illegible] 'मेटैलिक [illegible]' भी सुनाई पड़ती है। [illegible] में कुछ बढ़ी लोरेंगिटी मिलती है।

३. X-Ray परीक्षा करने पर फुफ्फुस में एक स्थान पर एक गोलाकार सी गहरी छाया दीखती है। इसमें नीचे तो द्रव होता है ऊपर कुछ हवा होती है।

४. लिपियोडोल (Lipiodol) परीक्षा करने पर वह इस विद्रधि प्रदेश मे प्रवेश नही करता।

रोग विनिश्चय—यदि कोई ऐसा रोगी है जो गत् १-२ माह मे बराबर पीड़ित रहता है, उसका भार घटता जा रहा है, पाण्डु के कारण शरीर दुर्बल तथा शरीर का रङ्ग फीका पड़ गया है, खांसी रहती हो तथा उसे अधिक मात्रा मे कुछ दुर्गन्धित, पूयमय, कुछ रक्त मिश्रित थूक आने लगती हो तो इस रोग की आशंका करनी चाहिए। अथवा एकाएक बहुत सारा पूयमय थूक आ जावे और ज्वर कुछ कम हो जाये तो भी फुफ्फुस विद्रधि का सदेह करना चाहिए।

विभेदक निदान—प्रारम्भिक अवस्था में इन्फ्लूएन्जा तथा न्यूमोनियां से इसका भेद करना चाहिए। इसके अतिरिक्त बढ़ी हुई अवस्था में निम्न रोगों से पार्थक्य करना चाहिए—

१. पल्मोनरी टयूबरकुलोसिस, २. ब्रान्कोजेनिक कार्सीनोमा, ३. एक्यूट एम्पाइमा, ४. हाइडेटिड सिस्ट, ५. विसंक्रमित फुफ्फुससिस्ट, ६. क्रोनिक ब्रोन्काइटिस एवं ब्रोन्किएक्टिसस (Bronchiectasis) से।

१. यदि पूयमय थूक वर्षों से आता हो तो श्वासनली शैथिल्य (Bronchiectasis) का रोग समझना चाहिए। क्रोनिक ब्रोन्काइटिस जो पूय युक्त होती है, मे फुफ्फुस परीक्षा सम्बन्धी चिन्ह व्यापक होते है। इसमे कुछ स्थानिक होते है उसकी पूय में इलास्टिक टिशू भी नही होता है। उरःक्षय रोग धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है जबकि यह रोग सहसा प्रारम्भ होता है। कैंसर रोग में छाती पर दर्द, श्वासकृच्छ्रता एवं खांसी के लक्षण होते है। साथ ही वह रोग बड़ी आयु मे होता है।

उपद्रव (Complications)—यदि उपद्रव सतह तक पहुंचता है तो विविध प्रकार का पूयात्मक उरस्तोय, फुफ्फुस कोथ, हृदयावरण प्रदाह, रक्तमय, कफस्राव, मस्तिष्क विद्रधि आदि उपद्रव होते हैं। रोग जीर्ण होने पर वसामय विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

अनेक रोगियों मे संयोजन हो जाने से विद्रधि फुफ्फुसावरण में फूट जाती है। ऐसे रोगी उस पार्श्व में वेदना का अनुभव करते हैं। ज्वर बढ़ जाता है और फुफ्फुसावरण में द्रव बढ़ने लगता है।

निम्न उपद्रवो की भी सम्भावना रहती है—

१. हीमोप्टिसिस, २. नियमित तीव्र कास, ३. दक्षिण हार्ट फेल्योर, ४. समस्त शरीर पर शोथ के लक्षण, ५. न्यूमोथोरेक्स, ६. पोलीसिस्थेमिया, ७. द्वितीयक संक्रमण, ८. सेरीब्रल एबसिस (विशेषकर टी० बी) ८. विद्रधि का प्लूरल केविटी मे फटना।

भावीफल (Prognosis)—घातक। यदि रोगी की रोग प्रतिरोधक शक्ति कम है तो रोग घातक होता है। प्रवेशज फुफ्फुसावरण और विजातीय द्रव्य के प्रवेश होने पर मृत्यु सख्या अधिक होती है। पेनिसिलीन और अन्य एन्टीबायोटिक औषधियों की खोज के पहले इस रोग के अनेक उपद्रव हुआ करते थे। एण्टीबायोटिक औषधियों के प्रयोग से अब फुफ्फुस की विद्रधियां कम दिखाई पड़ती है। पहले इन सभी विद्रधियों में बाह्यड्रेनिज की आवश्यकता पड़ती थी और इन रोगियों की मृत्युदर बहुत अधिक थी। वर्तमान समय में फुफ्फुस विद्रधि का निदान होते ही हम विद्रधि को तत्काल नियन्त्रित करने और चिरकारी बनने से रोकने का यत्न करते हैं। यही नही, एण्टीबायोटिक औषधियों के आज के युग मे फुफ्फुस के ऊतकों का द्रवीकरण होने के पहले ही उचित चिकित्सा मिल जाती है।

साध्यासाध्यता—रोग की प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा करने पर रोग ठीक हो जाता है। मधुमेह से पीड़ित रोगी, अधिक मद्य पीने वाला एव वृद्ध रोगी मे रोगग्रस्त भाग में नेक्रोसिस (Necrosis) या मृत्यु की प्रतिक्रिया हो जाती है। यदि पूय गाढ़ी न होकर पतली तथा विशेष दुर्गन्ध वाली हो, रग में नीली, भूरी सी हो, एवं रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तब यह अवस्था प्राणघातक होती है। पर एण्टीबायोटिक चिकित्सा से ठीक हो जाती है।

औषधि चिकित्सा—

(क)—श्वास सम्बन्धी व्यायाम लाभकर है।

(ख)—शैया पर पूर्ण विश्राम।

(ग)—उच्च कैलोरी वाली उच्च प्रोटीन युक्त आहार तथा विटामिन्स का प्रयोग।

२. द्वितीयक संक्रमण को रोकने के लिए—एण्टीबायोटिक का प्रयोग (सेन्सटीविटी टेस्ट के उपरान्त) करना चाहिए। इसके लिये बेन्जाइल पेनिसिलिन १,२००,००० यूनिट ३ मिलीलीटर डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर × मांसपेशी में × १० दिन के अन्तर से × ५ इन्जेक्शन दें।

ट्रेड नाम—पेनीड्यूर एल० ए० १२ (वायथ कं०)

अथवा—बेन्जायल पेनिसिलीन १-२ मैगा यूनिट्स × मांसपेशीगत् × ८ घण्टे पर ४ से ६ सप्ताह तक।

इसके पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर फीनोक्सीमिथाइल पेनिसिलीन २५० मि० ग्रा० × दिन में ३ बार × मुखमार्ग से दें। साथ ही स्ट्रेप्टोमाइसीन १ ग्राम × प्रतिदिन × मांसपेशीगत्।

नोट—यदि जीवाणु पेनिसिलीन के प्रति रसिस्टेन्ट हों तो क्लोक्सासिलिन २५० मि० ग्रा० × मांसपेशीगत् × प्रति ६ घण्टे पर।

कुछ चिकित्सा विशेषज्ञ निम्न प्रकार से चिकित्सा करते हैं—

रोग हो जाने पर बलवर्धक आहार एवं औषधियों के अतिरिक्त निम्न प्रकार से एण्टीबायोटिक चिकित्सा करनी चाहिये। साथ ही इनसे लाभ दीखने पर इन्हे १-२ माह तक जारी रखना चाहिए—

बेन्जाइल पेनिसिलीन १० लाख यूनिट्स × प्रति १२ घण्टे पर। साथ ही स्ट्रेप्टोमाईसीन ·५ ग्राम दें।

अथवा—टेट्रासाइक्लीन कैप्सूल २-२ × प्रति घण्टे पर।

अथवा—प्रोकेनपेनिसिलीन ४-६ लाख यूनिट्स × मांसपेशीगत् × प्रति १२ घण्टे पर।

यदि लाभ न मिले तो–'इरीथ्रोमाइसीन' १०० मि० लि० × मांसपेशीगत या २०० मि० लि० × गोली रूप में × प्रति ६ घण्टे पर।

नोट—यह ग्राम निगेटिव तथा ग्राम पोजीटिव दोनों के लिए उपयोगी है।

अथवा—कार्वोनाइसीन।

टे० नाम—मैगनामाइसीन।

मात्रा—५-१० ग्राम × प्रति १ घण्टे पर × मुख द्वारा।

अथवा—स्पाइरामाइसीन।

टे० नाम—रोवामाइसीन ·५-१ ग्राम × प्रति ६ घन्टे पर।

यदि "स्टेफाइलोकोकस" के कारण विद्रधि हो तो–सेलवीनिन।

टे० नाम—मेथीसिलिन १ ग्राम × प्रति ४ घण्टे पर × मांसपेशीगत् × ५ दिन तक।

यदि फ्रीडलेण्ड्स वेसीलस के परिणामस्वरूप हो तो—स्ट्रेप्टोमाइसीन।

१ ग्राम × १२-१२ घण्टे पर × २ दिन तक। तत्पश्चात् १ ग्राम × प्रति २४ घण्टे पर।

अथवा—सल्फीसोक्साजोल।

टे० नाम—गेण्ट्रीसिन १ ग्राम × प्रति ६ घण्टे पर।

यदि अमीबिक प्लीउसे-पल्मोनरी संक्रमण भी उपस्थित हो तो—इमेटीन अथवा मेट्रोनिडाजोल का प्रयोग करें।

आवश्यक निर्देश—पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन तथा सल्फाड्रग्स साथ-साथ दी जाती हैं।

इनके साथ ओरिपोमाइसीन, क्लोरोमाइसिटीन, टैरामाइसीन या एक्रोमाइसीन नहीं देना चाहिये।

ज्वर नार्मल हो जाने तथा लक्षणों के शमन हो जाने के १ सप्ताह पश्चात् इन औषधियों को शनैः शनैः बन्द कर देना चाहिये।

बलगम की परीक्षा करने पर स्पाइरोकीट की उपस्थिति मिलने पर संखिया के योग I/V मार्ग से देने चाहिये।

फुफ्फुस विद्रधि की एक विशेष, चिकित्सा व्यवस्था तथा दिशा निर्देश—एक्स-रे चित्रों द्वारा विद्रधि के स्थान का सही पता लगा लेने के पश्चात् "पेनिसिलीन" ३ लाख यूनिट की मात्रा में प्रति ३ घण्टे

पर दी जाती है। इससे ज्वर सामान्य स्थिति में आ जाता है। यदि ज्वर पेनिसिलीन द्वारा प्रभावित न हो और एण्टीबायोटिक संवेदिता परीक्षा में संक्रामक जीवाणु प्रतिरोधी मिले तो पेनिसिलीन के स्थान पर दूसरी उपयुक्त एण्टीबायोटिक औषधि प्रारम्भ कर देना चाहिये।

रोगी का ज्वर सामान्य हो जाने पर तथा सार्वदैहिक विषमयता (General Toxaemia) की अवस्था में सुधार हो जाने के पश्चात् 'ब्रान्कोस्कोपी' करना चाहिये। जिससे विद्रधि से निकलने वाले पूय की रुकावट करने वाले मृत ऊतकों को निकाला जा सके। इसी समय ब्रांकस की वास्तविक स्थिति को भी देखा जा सकता है। इसी से बाह्य पदार्थ तथा कार्सीनोमा की भी परीक्षा हो जाती है। यदि विद्रधि उपयुक्त स्थान पर हो और ब्रांकस से सम्बन्धित हो तो विद्रधि से पूय निकालकर ५ लाख यूनिट्स 'पेनिसिलीन' विद्रधि गुहा में स्थानिक रूप से प्रविष्ट कर देनी चाहिए।

इसके साथ-साथ विद्रधि की स्थिति के अनुसार स्थितिज निकास (Postural drainage) करना पड़ता है। जब तक आवश्यकता हो इसे बनाये रखना चाहिये। इस क्रिया से विद्रधि गुहा को पूयरहित बनाये रखने में सहायता मिलती है। इस चिकित्सा द्वारा विद्रधि का आकार छोटा हो जाता है।

यदि उपरोक्त चिकित्सा के बाद भी विद्रधि समाप्त न हो और इसकी दीवारें क्रमशः मोटी होती जायें तो इसे दूर करने के लिये शस्त्रकर्म करना पड़ता है। एण्टीबायोटिक औषधियों की सुरक्षा के अन्तर्गत फुफ्फुस के लोब या सिगमेन्ट का उच्छेदन करना पड़ता है। फुफ्फुस की चिरकारी विद्रधियों में उच्छेदन ही किया जाता है।

वृद्ध रोगी जो उच्छेदन के सहन करने योग्य नहीं है ऐसी स्थिति में सतत् स्थितिज निकास (Contineous Postural drainage) तथा अविरामी एण्टीबायोटिक्स चिकित्सा, प्रशामक लाभ के लिये की जानी चाहिये। एण्टीबायोटिक चिकित्सा के अन्तर्गत आजकल 'स्टेरॉइड्स', ओरीपिन डी०एम० तथा विटामिन सी का सम्मिलित प्रयोग विशेष लाभकारी सिद्ध हो रहा है।

अन्य सहायक चिकित्सा

(१) शैया पर रोगी का सिर नीचा करके लिटाने से केविटी का स्राव बाहर निकल जाता है। इस क्रिया को निरन्तर अथवा दिन में तीन बार करते रहना चाहिए। इसे पोस्चुरल ड्रेनिज (Postural Drainage) कहते हैं।

(२) जल में टिं० बेन्जोइन को० डालकर इसकी वाष्प सुंघानी चाहिए।

(३) रोग की दीर्घकालिक अवस्था में—शल्यकर्म का अवलम्बन लेना चाहिए।

(४) मधुमेह का पता लगाकर साथ में मधुमेह की चिकित्सा करनी चाहिए।

(५) यदि दो सप्ताह के भीतर अथवा पश्चात् रोगी को रोग निवृत्ति न मिले अथवा केविटी का व्यास ६ सेण्टीमीटर अथवा केविटी की दीवाल बहुत मोटी हो तो सर्जिकल चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिये। जैसा कि पूर्व में बताया गया है। इसके लिए रिसेक्शन (Resection) का शल्यकर्म आवश्यक हो जाता है।

नोट—विद्रधि के चारों ओर फाइब्रस की दीवाल न बन जाये, इसके लिए 'प्रेडनीसोलोन' ५ मि०ग्रा० दिन में दो बार दे सकते हैं।

फुफ्फुस विद्रधि की आयुर्वेदीय चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा में रस चिकित्सा से लाभ मिलता है। इसके लिए सुधानिधि रस, रस सिन्दूर, कल्याण सुन्दर रस आदि उपयोगी शास्त्रीय योग हैं। निम्न व्यवस्था-पत्र लाभकारी है—

(१) कल्याण सुन्दर रस १२० मि०ग्रा०, सुधानिधि रस १२० मि०ग्रा०, यवक्षार २४० मि०ग्रा० × १ मात्रा।

ऐसी एक मात्रा दिन में तीन बार प्रातः, दोपहर, शाम पुनर्नवा रस एवं मधु से दें।

(२) पुनर्नवादि क्वाथ ५८ मि०ली० की १ मात्रा प्रातः गुग्गुल मिलाकर दें।

(३) पुनर्नवादि मण्डूर २४० मि०ग्रा०, व्योष चूर्ण १ ग्राम, नाराच चूर्ण १ ग्राम × १ मात्रा।

ऐसी एक मात्रा दिन में २ बार गर्म जल से। ★★

फुफ्फुसावरण शोथ

डा० जहानसिंह चौहान, आयुर्वेद-बृहस्पति, ठठिया (फर्रुखाबाद)

पर्याय नाम—फुफ्फुसावरण प्रदाह, वक्षावर झिल्ली प्रदाह, फेफड़ों के गिलाफ की सूजन, (प्लूरिसी, Pleurisy), पार्श्वशूल। भैषज्यरत्नावलीकार ने इसे उरस्तोय की संज्ञा दी है।

रोग परिचय—इस रोग में फेफड़े के ऊपरी भाग की या वक्ष के प्राचीर के चारों ओर की झिल्लियों मे प्रदाह के साथ बुखार, कम्प, सूखी खासी और खांसने के समय पसलियों में जोर का दर्द आदि प्रमुख लक्षण होते है।

यह विकारी जीवाणुओं के उपसर्ग से होने वाला रोग है। जिसमें मुख्य रूप से राजयक्ष्मा दण्डाणु का सम्पर्क होता है।

रोग के कारण—फेफड़े की अन्य व्याधियों की भांति यह रोग भी जीवाणुओ के संक्रमण से होता है। उत्तरकालीन अनुभवों के आधार पर ६० से ७० प्रतिशत इस रोग के रोगी यक्ष्मा से पीडित होते पाये गये है। यक्ष्मा दण्डाणु के अतिरिक्त फुफ्फुस गोलाणु, माला गोलाणु, रोहिणी दण्डाणु, श्लेष्मक दण्डाणु आदि के द्वारा भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त इस रोग की उत्पत्ति सर्दी लगने, ऋतु परिवर्तन, यकायक पसीना रोकने, स्वास्थ्य भग, वक्ष में चोट अथवा गिरने से, क्षय, खसरा, न्यूमोनिया, इन्फ्लूएञ्जा, आमवात, ज्वर, फुफ्फुसों के रोग–विशेषकर फोडा या कैंसर होने पर होती है। आरक्त ज्वर, कान के भीतर पर्दे का शोथ, रोमान्तिका, मसूरिका इत्यादि के बाद भी रोग होते देखा गया है।

शराब पीने, हॉजकिंस रोग, सर्दी, नम एवं गीले स्थान में सोने से भी रोग होने में सहायता मिलती है।

शारीरिक विकृति—प्रथम जीवाणु फेफड़े के आवरण में प्रवेश करते है और लसीले अंश में जीवाणु चिपक जाते हैं। उनका क्षय होने पर आवरण के उस स्थान मे सूजन और अन्त में घाव पैदा हो जाता है। यदि किसी कारण से फुफ्फुस के दोनो छोर अलग न होकर चिपके रह जावें तो सूखे प्रकार का रोग होता है। यदि दोनों स्तर अलग-अलग ही रहते है तो लसीले स्थान पर मवाद होकर वह मवादी प्रकार का हो जाता है।

फुफ्फुसावरण शोथ के प्रकार—यह २ प्रकार का होता है—

१ शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ (Dry Pleurisy)

२ सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ (Wet Pleurisy)

शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ (Dry pleurisy)—अन्तःश्वास के समय रोगी छाती मे चुभने जैसी तीव्र पीडा अनुभव करता है। साथ में शुष्क एवं थोड़ी सी खासी भी होती है। ताप सामान्य से अधिक बढा हुआ हो, श्रवण परीक्षा में घर्षण ध्वनि मिलती हो तो रोग शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ मानना चाहिए।

यह रोग का प्रारम्भिक प्रकार माना जाता है। आरम्भ मे फुफ्फुस प्रदाह प्रायः शुष्क ही रहता है। कुछ समय के पश्चात् इसमें तरल भरने लगता है। जब तरल की मात्रा अल्प और शीघ्र जमने वाली होती है

देने चाहिए। ज्वर की निवृत्ति के पश्चात् पौष्टिक आहार देना चाहिये।

यक्ष्मा के कारण रोग होने पर अथवा पश्चात् भी उपद्रव स्वरूप यक्ष्मा न हो जावे, इसके लिए भोजन में वसा (Fat), प्रोटीन एवं विटामिन ए और डी का पूर्ण समावेश होना चाहिये।

रोगी को सर्दी के दिनों में गर्म स्थान पर, और गर्मी के दिनों में शीतल स्थान पर रखना चाहिए।

रोग की विशिष्ट चिकित्सा

पार्श्वशूल के शमनार्थ—पार्श्वशूल शुष्कावस्था का एक मुख्य कष्टकारक लक्षण होता है। इसके शमनार्थ निम्नलिखित उपचार करना चाहिए।

(१) स्थानीय उपचार—स्थानीय उष्ण सेक से रोगी को पर्याप्त सुख मिलता है। इसके लिए बालू या नमक की पोटली तवे पर गर्म कर प्रति ४ घण्टे पर आक्रान्त स्थान पर सेक करने से रोगी को अच्छा लाभ मिलता है। तीसी की पुल्टिस तथा एन्टीफ्लोजिस्टीन के प्रयोग से वेदना का शमन होता है। रबर की थैली में गर्म पानी भरकर सेका जा सकता है।

लिनिमेन्ट ए० बी० सी०, लि० टर्पेन्टाइन, एलिमेन्स का एम्ब्रोकेशन, स्लोन्स लिनिमेन्ट, विन्टोजन, विक्स आदि अनेक वेदना एवं शूलहर योग बाजारों में अभ्यङ्गार्थ बने हुए मिलते हैं। इनमें किसी का प्रयोग आवश्यकतानुसार आक्रान्त अंग पर मालिश के रूप में किया जाता है।

एथिल क्लोराइड की वाष्प (Ethyl chloride spray) का प्रयोग शूल के स्थान पर प्रति ४ घण्टे पर करते रहने से वेदना का निराकरण किया जा सकता है।

स्टिकिंग प्लास्टर के आक्रान्त पार्श्व का बन्धन करते हैं। इससे गति का नियंत्रण होकर संघर्षजन्य वेदना की लाक्षणिक निवृत्ति होती है।

यदि उपर्युक्त उपायों से वेदना का शमन न हो तो सूचीवेध का अवलम्बन करना चाहिए। इसके लिए १-२ प्रतिशत नोवोकेन का घोल १०-२० मि०लि० की मात्रा में पार्श्वशूल के स्थान पर अधस्त्वचीय सूचीवेध के रूप में इधर-उधर चारों ओर थोड़ा-थोड़ा परिश्रुत कर दिया जाता है। आवश्यकतानुसार ७-७ घण्टे पश्चात् पुनः १ बार इसी प्रकार और किया जा सकता है।

(२) मुख द्वारा उपचार—जब पार्श्वशूल का शमन स्थानीय चिकित्सा से नहीं होता है तब आभ्यन्तरिक योगों का प्रयोग किया जाता है। निम्न योगों में से किसी का भी प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

१. कोडीन फास (Codein Phos) $\frac{1}{2}$ ग्रेन, फेनासिटीन ३ ग्रेन, एस्पिरिन ४ ग्रेन, केफिन सायट्रॉस २ ग्रेन। ऐसी १ मात्रा दिन में ४ बार जल के साथ दें।

२. सिवाल्जिन १ टिकिया, सोनाल्जिन १ टिकिया, हेप्टाल्जिन १ टिकिया, यूकोडल १ टिकिया, इर्गापाइरिन १ टिकिया, लार्गेक्टिल १ टिकिया। इन सबको पीसकर ४ पुड़ियां बना लें। ऐसी १ पुड़िया प्रति ४ घण्टे पर दें। अथवा इन टिकियों में से किसी एक का व्यवहार दिन में २-३ बार किया जा सकता है।

विशेष उपयोग—बेचैनी एवं पार्श्वशूल के कारण रोगी को रात में निद्रा नहीं आती है। इस योग के प्रयोग से वेदना की शान्ति होकर रोगी को निद्रा आ जाती है।

शुष्क कास हेतु—उपर्युक्त चिकित्सा के साथ-साथ कास के शमनार्थ शामक औषधियां यथा—ग्लाइकोडीन टर्प वसाका, कोरेक्स कफ सीरप, सेवेन्टोल एक्सपेक्टोरेन्ट, सीरप साइरोलिन (Syp. Sirolin) एवं सीरप कोडीन फोस आदि में से किसी का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

शुष्क फुफ्फुसावरण की आयुर्वेदीय चिकित्सा

स्थानीय उपचार—(१) गेहूं का चोकर, अजवायन तथा मोम समान मात्रा में मिलाकर घी से स्निग्ध कर पोटली बनाकर सेकना चाहिए। इससे वेदना की शान्ति होती है।

(२) मृगशृङ्ग, शुण्ठी, सनाय को स्नुहीपत्र में घिसकर अल्पमात्रा में अफीम मिलाकर सुखोष्ण लेप करने से वेदना की शान्ति होती है। इससे उरस्यन्द की भी सम्भावना समाप्त हो जाती है।

फुफ्फुसावरण शोथ, परिफुफ्फुस शोथ, उरस्तोय, प्लूरिसी आदि विभिन्न नामों से जाने जाने वाला यह रोग आयुर्वेद की दृष्टि से कफोल्वण त्रिदोषज प्रकार का एक औपसर्गिक शोथ है जिसमें कफ व वात के प्रकोप से फुफ्फुस आवरणों के दोनों स्तरों के बीच लसिका का उत्स्यन्दन (Effusion) होने से अनेक विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। आधुनिक दृष्टि से ८० प्रतिशत से अधिक रोगियों में इस रोग का मुख्य कारण राजयक्ष्मा का दण्डाणु होता है लेकिन अन्य २० प्रतिशत रोगियों में यह न्यूमो, स्टेफ्लो, स्ट्रेप्टोकोकाई, बैसीलस टाइफोसस आदि दण्डाणुओं के कारण भी हो सकता है। उक्त एक या अनेक प्रकार के जीवाणु यथा: प्राचीर के आघात से उत्पन्न व्रण के स्थान से, वक्ष की विद्रधि, फुफ्फुस पाक आदि के स्थान से, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, तुण्डिका शोथ आदि के स्थान से फुफ्फुसावरण में पहुंचकर कफ, फिर वात व पित्त को प्रकुपित कर देते हैं जिससे लसिका का उत्स्यन्दन होने लगता है। जब लसिका का उत्स्यन्दन कम होता है तो आवरण के स्तर एक-दूसरे से अलग नहीं होते। यह अवस्था 'शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ' की अवस्था कहलाती है और जब लसिका के उत्स्यन्दन के अधिक होने से आवरण के स्तर अलग-अलग हो जाते हैं तो यह अवस्था उत्स्यन्दी अवस्था कहलाती है। कई बार जब लसिका पूययुक्त हो जाती है तो यह पूयत (Purulent) अवस्था कहलाती है। कभी-कभी रक्त का संचय होने से रक्तस्रावी अवस्था भी देखने को मिलती है। शुष्क प्रकार के फुफ्फुसावरण शोथ में पार्श्वशूल, कास एवं ज्वर के लक्षण विशेष रूप से मिलते हैं। पार्श्वशूल इसमें तीव्र तथा कष्टदायक होता है, कास शुष्क एवं पीड़ादायक होती है, ज्वर का वेग तीव्र नहीं होता। इनके अलावा अंगमर्द, क्षुधानाश आदि लक्षण मिलते हैं। उत्स्यन्दी प्रकार के फुफ्फुसावरण शोथ में भी यही लक्षण मिलते हैं लेकिन पार्श्वशूल में तीव्रता कम होती है और कास कम होता है। पूयज प्रकार में भी उत्स्यन्दी प्रकार से मिलते-जुलते लक्षण देखने को मिलते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने फुफ्फुसावरण शोथ की परीक्षा बहुत सुगम कर दी है। एक्सरे, रक्त परीक्षण, द्रव परीक्षण, थूक परीक्षण आदि से रोग का निश्चित् निदान हो जाता है और रोगी की ठीक समय पर चिकित्सा होने पर यह रोग मुक्त हो जाता है। उत्स्यन्दी अवस्था में द्रव को सिरिंज द्वारा बाहर निकाल देने से रोगी को तत्काल लाभ देखने को मिलता है।

चिकित्सा की दृष्टि से आधुनिक विज्ञान फुफ्फुसावरण शोथ की चिकित्सा यक्ष्मा की चिकित्सा के समान ही करता है। आयुर्वेद की दृष्टि से शुष्क तथा तरल दोनों अवस्थाओं की चिकित्सा पृथक्-पृथक् तरीके से की जाती है। शुष्क अवस्था में शुष्क कास की तीव्रता रहती है इसके लिए प्रवालपिष्टी, शृङ्गभस्म तथा सितोपलादि चूर्ण को घी, शहद में मिलाकर देने से विशेष लाभ होता है। रोगी को ज्वर हो तो स्वेदल तथा ज्वरघ्न औषधियों का प्रयोग कराना चाहिये। तरल अवस्था में तरल को कम करने के लिए [illegible] तथा पुनर्नवादि चूर्ण को मिलाकर देने से लाभ होता है। वारिशोषण रस, मल्लचन्द्रोदय, कस्तूरीभैरव रस, महालक्ष्मीविलास रस, वसन्त तिलक रस आदि औषधि कल्पों के प्रयोग से भी तरल फुफ्फुसावरण शोथ में विशेष लाभ होता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान् वैद्य अम्बालाल जोशी तरल युक्त फुफ्फुसावरण शोथ में एक विशेष योग का प्रयोग कराते हैं जिसका हमने कई बार प्रयोग कर रोगियों को लाभान्वित किया है योग इस प्रकार है—[illegible] मकरध्वज १० ग्राम, महालक्ष्मीविलास रस १० ग्राम, शृङ्गभस्म १० ग्राम, कफकेतु १० ग्राम सबको मिलाकर खरलकर सूक्ष्म मिश्रण बना लें फिर आर्द्रक स्वरस तथा शहद में २ रत्ती की मात्रा दिन में २-४ बार तक रोगी को सेवन करायें। इस योग को १५-२० दिनों तक तथा कभी अधिक दिनों तक सेवन कराने से लाभ होता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि रोग के प्रकट होते ही रोगी को शैया पर पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। आवश्यकता होने पर अलसी की पुल्टिस द्वारा हल्का सेक करने पर भी लाभ मिलता है।

रोग के सम्बन्ध में आयुर्वेदिक तथा आधुनिक उभय पक्षों को सरल हिन्दी में सरल भाषा में प्रस्तुत कर पाठकों के लिये विशेष ग्राह्य बना दिया है।

—गोपालशरण गर्ग

(३) दोषघ्न लेप तथा दारुपटक लेप से भी अच्छा लाभ मिलता है।

वार-वार, वीच-वीच में होने वाले तीव्र शूल में संकरस्वेद से सर्वोत्तम लाभ होता है।

(४) अलसी की पुल्टिस रोटी के समान वड़ी वनाकर वांधने से पार्श्वशूल का निवारण होता है। पुल्टिस को १-१ घण्टे पश्चात् वदलते रहना चाहिये।

आभ्यन्तरिक उपचार—(१) शृङ्गभस्म और शृङ्गराभ्र दोनों को शहद के साथ मिलाकर सेवन कराने से कुछ ही दिनों मे शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ नष्ट हो जाता है।

(२) ज्वर वढ़ने पर कस्तूरी भैरव, जयमङ्गल या त्रिभुवनकीर्ति रस दिन में २ वार देना चाहिए।

(३) इस रोग में आरोग्यवर्द्धिनी वटी का प्रयोग उत्तम लाभकारी होता है। इससे मलमूत्र का उपसर्ग नियमित रहता है।

(४) निम्न योग इस रोग में विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ है—

रससिन्दूर १२० मि०ग्रा०, कृष्ण चतुर्मुख ६० मि० ग्रा०, वसन्त तिलक ६० मि०ग्रा०, शृङ्गभस्म १२० मि०ग्रा० १ मात्रा।

वलामूल चूर्ण २ ग्राम मिलाकर मधु के साथ दिन में २-३ वार दें।

(५) ज्वर निवृत्ति के लिए पुनर्नवा और निर्गुण्डी के क्वाथ में यवक्षार मिलाकर कफचिन्तामणि रस के साथ दें अथवा दशमूल के क्वाथ से श्वासचिन्तामणि दिन में ४ वार दें।

(६) डामरेश्वराभ्र रस १ गोली आर्द्रक रस से मधु मिलाकर चटायें।

उपयोग—इससे पार्श्वशूल, श्वासकण्ट, कास, शोथ आदि सभी नष्ट होते हैं।

(७) क्षयज फुफ्फुसावरण शोथ में निम्न योग लाभकारी है—

वसन्तमालती १२० मि०ग्रा०, शिलाजत्वादि लौह २४० मि० ग्रा०, शंखभस्म २४० मि० ग्रा०, पिप्पली (चतु:षष्टि) २४० मि० ग्रा० प्रातः तथा सायं सेवन करावें।

(८) महालक्ष्मीविलासरस ६० मि०ग्रा०, शृंगभस्म २४० मि०ग्रा०, हिरण्यगर्भ पोटली ६० मि०ग्रा०—१ मात्रा। ऐसी १ मात्रा प्रातः-सायं मधु के साथ चटाने से श्वासकृच्छ्रता एवं पार्श्वशूल में पर्याप्त लाभ होता है।

सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ

(Wet Pleurisy)

रोगी को शुष्क कास हो, साधारण ज्वर एवं दूसरे शारीरिक लक्षण उपस्थित हों, वक्ष के निचले भाग से मन्द ध्वनि मिलती हो जो केवल एक पार्श्व में ही उपस्थित हो, हृदय स्वच्छ भाग की ओर खिसका हो, तव रोग को सदैव फुफ्फुस शोथ (Wet Pleurisy) के अन्तर्गत समझना चाहिए।

लक्षण—शुष्क प्रकार के शोथ में उत्स्यन्द के अधिक होने पर यह स्थिति पैदा होती है। यहां तक कि कुछ मामलों में प्रारम्भ से ही द्रव की अधिकता होने पर शुष्कावस्था नहीं होती। फुफ्फुसावरण के दोनों स्तरों के वीच में द्रव का अन्तर होने से पार्श्वशूल या तो नहीं होता है यदि होता है तो वहुत ही कम। साथ ही दर्द की अनुभूति भी कम होती है, रोगी में मामूली क्षीणता दीखती है। किसी प्रकार की तीव्र वेदना के विना भी प्लूरा में द्रव की पर्याप्त मात्रा संचित हो जाती है। रोगी साधारण वेचैनी या उद्विग्नता से दुखी रहता है। द्रवजन्य फुफ्फुस संपीडन के कारण श्वासकृच्छ्र हृदय का स्वस्थ पार्श्व की ओर खिसकना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी विकृत पार्श्व पर ही विश्राम करता है। वह स्वस्थ नीरोग पार्श्व पर नहीं सो पाता, क्योंकि इससे स्वस्थ पार्श्व फेंफड़े की क्रिया में वाधा लाता है। कुछ अंश तक रोगी को श्वासकाठिन्य भी होता है किन्तु कई वार अधिक द्रव होने पर भी श्वास काठिन्य की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है यकृत् एवं प्लीहा नीचे की ओर खिसक जाते हैं। ताड़न में मन्दध्वनि तथा अंगुलि के नीचे प्रतिरोध का अनुभव होता है। जिस द्रव्य की मात्रा अक्षकास्थि तक हो जाती है तव रोगी वैठा ही रहता

है। रोगी को श्वासावरोध के कारण बोलने में असुविधा होती है।

निदानात्मक लक्षण—द्रव का उत्स्यन्द हो जाने पर पार्श्वशूल में क्रमशः कमी आती है। श्वासकृच्छ्रता, विकृत पार्श्व की ओर विश्राम, स्वस्थ पार्श्व की अपेक्षा विकृत पार्श्व का परिणाम १–११/२" अधिक, यकृत्, एवं प्लीहा का अपने स्थान से खिसककर, ध्वनियों का अभाव, मन्द ठोस ध्वनि, रोगी के बैठते-लेटते समय द्रव की मात्रा परिवर्तन, X-Ray चित्रण के द्वारा द्रव की उपस्थिति आदि के द्वारा फुफ्फुसावरण शोथ का निर्णय किया जाता है।

सापेक्ष्य निदान—फुफ्फुसपाक, फुफ्फुसन्निपात, वातोरस, जलोदर, अर्बुद तथा तन्त्वाभ फुफ्फुस (Fibroid Lung) से इस रोग का भेद करना पड़ता है।
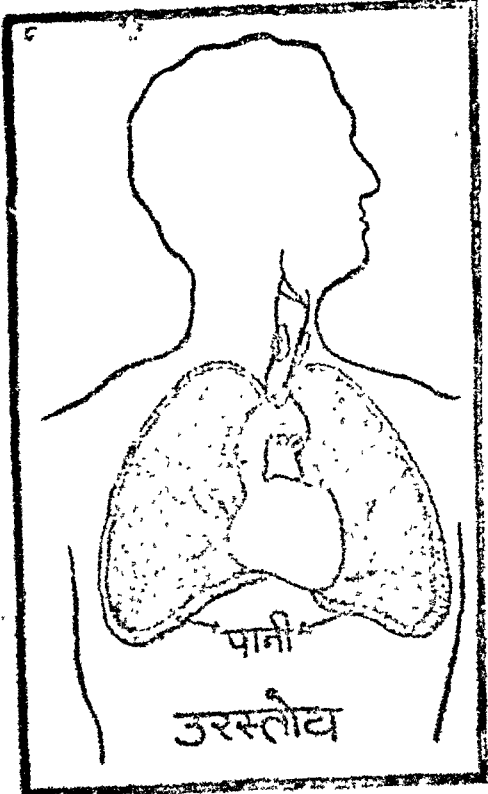
रोग का परिणाम—यह रोग अधिकतर द्रुतगति से एक पार्श्व की एक आवरणी कला में होता है। जब यह कक्षादेश एवं स्तन प्रदेश के नीचे फुफ्फुस के नीचे प्रदेश पर स्थित परिफुफ्फुसीय कला में जमा होने लगता है तब यह रोग कष्टसाध्य होता है। जब किसी कारण से द्रव का संचय दोनों पार्श्वों में हो जाता है तब यह मृत्यु का कारण हो जाता है।

यक्ष्माजनित द्रव अनेक रोगियों में कभी-कभी स्वतः ही विलीन हो जाता है।

सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ की चिकित्सा आधुनिक पद्धति से

(१) सामान्य चिकित्सा—

रोगी को पूर्ण विश्राम देकर अर्ध तरल पदार्थ पर रखना चाहिए। भोजन लवण रहित होना अति आवश्यक है। रोगी को क्षय का अनुमान होने पर पौष्टिक भोजन की पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिये। जहाँ तक हो सके रोगी को जीवतिक्त (विटामिन्स) ए और डी का अधिक मात्रा में सेवन करावें।

(२) विशिष्ट चिकित्सा—

द्रवशोषण हेतु उपचार—कैल्सियम तथा आयोडीन का उपयोग द्रव शोषण में उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस कार्य हेतु कैल्सियम आयोडीन का ५ मि० लीटर की मात्रा में प्रति तीसरे दिन मांसपेशी सूचीवेध द्वारा देना चाहिए। इसके साथ ही विटामिन 'सी' ५०० मि० ग्रा० और मिलाकर दिया जाय तो वांछित फल प्राप्त होता है।

लुगोल्स आयोडीन (Lugols Iodine) सिरा द्वारा अथवा कोजल आयोडीन (Cosallo dine$_2$) का मांसपेशी सूचीवेध द्वारा भी दिया जा सकता है।

यदि उपर्युक्त द्रव शोषण उपचार के साथ-साथ मूत्रोत्सर्ग औषधियों का व्यवहार किया जाये तो द्रव को कम करने में पर्याप्त सुविधा रहती है।

मूत्रोत्सर्ग औषधियों का प्रयोग—शरीर में संचित जलीयांश को निकालने के लिये कई एक निरापद योग प्रचलित हैं। ४-६ दिन तक कुछ व्यवस्था के साथ में इनका प्रयोग करने से रोगी को पर्याप्त लाभ मिलता है। योग निम्न प्रकार है—

टिकिया इसीड्रेक्स, डायामोक्स टि०, क्लोट्राइड, लेसिक्स । इनमें से किसी एक की १ टि० दिन मे ३-४ बार देना चाहिए। लेसिक्स की १ टि० ही प्रतिदिन पर्याप्त होती है । २-३ दिन के पश्चात् मात्रा को घटाकर १ टि० के हिसाब से ३-४ दिन तक और दिया जा सकता है ।

निम्न योग के द्वारा मूत्रवृद्धि के द्वारा द्रव का शोधन भी होता है—

योग—कैल्सियम आयोडीन ५ ग्रेन, सोडासैलिसिलास ५ ग्रेन, पोटास बाईकार्ब १० ग्रेन, डायूरेटिन (Diuretin) ५ ग्रेन, थियोकोल (Thiocol) ३ ग्रेन, सोल्यूशन कैल्सियम लेक्टेट ५ ग्रेन, सीरप ग्लूकोज १ ग्राम जल कुल १ औंस। १ मात्रा। दिन मे ३ बार दें

नोट—इस औषधि का प्रयोग यदि पूर्व मे बताये गये कैल्सियम आयोडीन सूचीवध के कुछ समय पश्चात् इसके स्थान पर किया जाव तो अच्छा लाभकर सिद्ध होता है।

विशेष—यदि उपर्युक्त चिकित्सा के साथ-साथ विरेचक औपधियो का भी प्रयोग किया जावे तो रोगी को आशातीत लाभ होता है ।

क्षयज सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ में—सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ के रोगी अधिकाश रूप से क्षयोन्मुख होते है । ऐसे रोगियो मे पनिसलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन एवं क्षयनाशक अन्य विशिष्ट औषधियो का प्रयोग किया जाता है । पर कभी-कभी ऐसे रोगियो मे इस चिकित्सा से कोई लाभ नही होता हैं । ऐसे रोगियो में निम्न चिकित्सा योग विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ है—

प्रेडिनीसोलोन (Prednesolin)—५ मि०ग्रा०, आइड्राजिड २०० मि० ग्रा०, एलकोसिन १ टि०, विटामिन सी-एस्कोर्बिक एसिड २ टिकिया, निकोटिनिक एसिड १०० मि०ग्रा०, डीकलफोस (Dical phos) १५ ग्रेन १ मात्रा । प्रति ४ घण्टे पर गर्म पानी के साथ दें । इसके साथ क्षारीय मिश्रण का भी प्रयोग करना चाहिए । साथ ही रोगी को जल की मात्रा कम से कम दे । मूत्रोत्सर्ग की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

क्षयज सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ के रोगी में निम्न-चिकित्सा व्यवस्था विशेष लाभकारी सिद्ध हुई है ।

विश्राम के साथ-साथ बाह्य उपचार से रोगी का ज्वर आदि दूर करना चाहिए । जब तक फुफ्फुसावरण के द्रव में पूय की उपस्थिति न हो—कैल्सियम ग्लूकोनेट सी के साथ 10 c. c. तथा आयोडीन घोल १०% का 5,10 c. c. तक प्रति तीसरे दिन (अर्थात् १ दिन कैल्सियम तथा दूसरे दिन आयोडीन) शिरा द्वारा $\frac{1}{2}$ देना चाहिए यदि रोगी को किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति न तो सूचीवध की मात्रा बढ़ाई जा सकती है । यदि रोगी मे दुर्बलता अधिक हो तो दोनों के बीच मे ग्लूकोज (५०%) ५० मि० लीटर की मात्रा में देना चाहिए ।

इस प्रकार यह क्रम एक माह तक चलाने से रोगी को पर्याप्त लाभ मिलता है । प्रत्यक के ८-१० सूचीवेध देना ही पर्याप्त होता है ।

सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ की आयुर्वेदीय चिकित्सा द्रवशोषण हेतु स्थानीय उपचार—

१. रूक्ष सेक—नमक एवं बालू की पोटली से दिन में ३-४ बार सेकना चाहिए ।

२. पलाश पुष्प, मकोय की पत्ती, सूखी मूली, सोंठ, मंगरैल, चित्रक—इन सबको गर्म पानी से पीसकर सुखोष्ण मोटा लेप करना चाहिए ।

३. देवदारु, बकरी की लेंड़ी, गदहपूरना की जड़, भुना चावल, जौ का आटा—इन सबको गोमूत्र में पीसकर सुखोष्ण दिन मे २ बार लेप करने से पर्याप्त लाभ होता है ।

४. रोगी अधिकाश रूप से विकृत पार्श्व की ओर सोता है अत: गर्म बालू को थैली में भरकर तकिया के समान पतला बनाकर विकृत पार्श्व के नीचे रखना चाहिए ।

द्रव को कम करने के लिए मुख द्वारा प्रयोग

आभ्यन्तरिक प्रयोग में पोषक, बलकारक, वात-पित्त वर्धक औपधियां द्रव के शोषण में लाभ पहुंचाती हैं—

(१) द्रवशोषक औषधियों में अर्कक्षीर, स्नुहीक्षीर भावित अभ्रक का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। निम्नलिखित योग भावित अभ्रक के अभाव में विशेष लाभकर सिद्ध हुआ है इससे द्रव का शोषण शीघ्रता के साथ होता है।

योग—वसन्ततिलक १२० मि०ग्रा०, बृहत् शृंगराभ्र १२० मि०ग्रा०, शिलाजत्वादि लौह २४० मि० ग्रा०, त्रैलोक्य चिन्तामणि ६० मि०ग्रा, पुनर्नवामण्डूर २४० मि०ग्रा० । कुल १ मात्रा । ऐसी १ मात्रा दिन में ३ बार आर्द्रक स्वरस के साथ दें।

(२) पुनर्नवा स्वरस योग—पुनर्नवा स्वरस ६ ड्राम, यवक्षार ४८० मि०ग्रा० दोनों को मिलाकर प्रतिदिन प्रातः-सायं देने से पर्याप्त लाभ होता है।

(३) सुधानिधि रस [सं० र०]—६-१२ मि० ग्रा० तक की मात्रा क्षीण, दुर्बल एवं अविरेच्य रोगी को फुफ्फुसावरण शोथ के रोग में चीनी के साथ मिलाकर शीतल जल के साथ दें। ऐसी मात्रा दिन में ३-४ बार दी जा सकती है।

उपयोग—जब कोष्ठ शुद्धि की आवश्यकता होती है तब भी इसका प्रयोग लाभकारी होता है।

(४) शिलाजीत ४ रत्ती, पुनर्नवादि चूर्ण ४ माशा इन दोनों को मिलाकर ऐसी एक मात्रा में दिन में २ बार दें।

(५) यवक्षार ४८० मि०ग्रा०, ३ ग्राम घृत में मिलाकर रोगी को चटावें। साथ ही ऊपर से पुनर्नवा का स्वरस १-२ औंस की मात्रा में पिलावें। यह कार्य प्रातः-सायं दिन में २ बार करना चाहिये।

(६) यदि अल्प द्रव के साथ मन्द ज्वर भी हो तो रससिन्दूर, आरोग्यवर्धनी, शृंगभस्म और लघुमालती वसन्त को मिलाकर दिन में ३ बार देना चाहिए।

(७) अत्यन्त होने पर श्वासकृच्छ्रता के साथ यदि पार्श्वशूल भी हो तो—

मुक्तापंचामृत १२० मि०ग्रा०, हिरण्यगर्भ पोटली ६० मि०ग्रा०, महालक्ष्मीविलास रस ६० मि०ग्रा०, पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह १२० मि०ग्रा०, शृंगभस्म २४० मि०ग्रा० १ मात्रा। ऐसी १ मात्रा प्रातः-सायं मधु के साथ दें। साथ ही इसके पीने के लिए पुनर्नवा का अर्क दें तथा भोजन के पश्चात् दशमूलारिष्ट [कस्तूरी युक्त] दें।

(८) फुफ्फुसावरण में थोड़ा जल भरा होने की अवस्था में कल्याण सुन्दर रस १२०-१२० मि०ग्रा० दिन में २ बार पुनर्नवादि क्वाथ या गुनगुने जल के साथ देने से कुछ दिनों के पश्चात् भरा हुआ जल शोषित हो जाता है।

(९) प्रसव के पश्चात् अधिकांश स्त्रियों में आहार-विहार में उचित संयम तथा शीत वायु के बचाव न होने से सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ हो जाता है, ऐसी अवस्था में वस्ति प्रयोग से मलशुद्धि करते हुए बृंहण योगों के साथ नीचे लिखी व्यवस्था करने से रोगिणी को पर्याप्त लाभ मिलता है।

मल्ल चन्द्रोदय ६० मि०ग्रा०, प्रतापलंकेश्वर १२० मि०ग्रा० कस्तूरी भैरव १२० मि०ग्रा०, ज्वरारि अभ्र १२० मि०ग्रा० १ मात्रा। ऐसी १ मात्रा दिन में दो बार प्रातः सायं आर्द्रक स्वरस के साथ दें।

(१०) वारिशोषण रस—१२० मि०ग्रा० की मात्रा में दिन में २ बार देने से द्रव का शोषण शीघ्रता के साथ होता है। यदि रोगी को ज्वर का वेग न हो तो इस औषधि का प्रयोग एक सप्ताह तक करना चाहिए। चिकित्साकाल में रोगी को केवल दूध पर ही रखा जाये।

(११) फुफ्फुसावरण शोथ—(सद्रव) में निम्न योग के प्रयोग से मल एवं मूत्र संशोधन के द्वारा द्रव का निलयन होता है—

गोखरू ३ ग्राम, गदहपूरना की जड़ ३ ग्राम, निशोथ ३ ग्राम, सारिवा ३ ग्राम, देवदारु ३ ग्राम, दशमूल १२ ग्राम, पंचतृण १२ ग्राम, मकोय की पत्ती ३ ग्राम, पुष्करमूल ३ ग्राम, मुनक्का ११ दाना। सब को ७२० मि०लि० पानी में पकावें। जब १२० मि०लि० शेष रहे, उतारकर छान लें। इसमें से आधा सुबह, आधा शाम को १२ ग्राम मधु मिलाकर दें।

प्रचुर जल का संचय होने पर शस्त्र क्रिया—प्लूरा में द्रव होने पर इसको तुरन्त निकालने की आवश्यकता नहीं होती। प्राय: द्रव को निकालने की आवश्यकता कम ही पड़ती है, जव तक कि वह पूय में न वदल जावे अथवा इसकी अधिकता से हृदय पर दवाव न पड़ रहा हो। जव औषधियों आदि से द्रव वहुत समय तक विलीन होता प्रतीत न हो तव तक इसको १०-२० औंस की मात्रा में निकालना चाहिए। इससे शेष रहा द्रव भाग समय पर स्वयं लीन हो जाता है।

द्रव की मात्रा तृतीय पार्शुका से ऊपर होने पर रोगी को श्वसन क्रिया में अत्यधिक कष्ट होता है अत: द्रव को निकालना आवश्यक होता है।

द्रव का प्रचूषण प्राय: षष्ठ पर्शुकान्तरीय स्थान में मध्य कक्षा रेखा की सीमा में सूचीवेध कर प्रचूषण यंत्र या ५० c. c. की सिरिंज से किया जा सकता है। एक वार में पूर्ण द्रव नहीं निकालना चाहिए। यदि द्रव का संचय पुन: हो जाता है तो ४-५ दिन पश्चात् पुन: यह क्रिया की जानी चाहिए। यदि द्रव का संचय न हो तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वचा हुआ अल्प द्रव कभी-कभी स्वयं भी शोषित हो जाता है। द्रव निकालने के पश्चात् ५० या १०० मि०लि० की मात्रा में वायु का फुफ्फुसावरण गुहा में प्रवेश करा दिया जाय तो द्रव के संशोषण में सहायता मिलती है।

जल निष्क्रासन यन्त्र विधि—जहां तक सम्भव हो रोगी को वैठाना चाहिए और रोगी को तकिये का सहारा दे देना चाहिए। आक्रान्त पार्श्व का हाथ दूसरे कन्धे पर रखवाना चाहिए। वेधन का स्थान साधारणतया स्कन्धास्थि की पश्चिमी रेखा पर आठवां स्थान होता है या जहां पर सवसे अधिक मन्द ध्वनि हो, होता है। वेधन के स्थान पर २% प्रोकेन का सूचीवेध हाइपोडमिक पिचकारी एवं सुई से दिया जाता है। सुई को खींचकर फिर संज्ञानाश हुए क्षेत्र में नये स्थान पर प्रविष्ट करना चाहिए। सुई को धीरे से पर्शुका मध्य-

वर्ती भाग के तन्तुओं में से गुजारते हुए प्लूरा तक पहुंचा दिया जाता है। ज्यों-ज्यों सुई आगे की ओर जाती है पिस्टन को दवाते जाना चाहिए, इस प्रकार सुई का मार्ग प्रोकेन की धार से संज्ञानाश वनता जावेगा। शीशे की २० c. c. वाला रिकार्ड पिचकारी में लगी एस्पिरेशन सुई को लम्व रूप में संज्ञानाश वाले क्षेत्र से प्रविष्ट किया जाता है। सम्पूर्ण समय में धीरे-धीरे खिचाव वनाये रखना चाहिए। यदि प्लूरा गुहा में द्रव होगा तो सुई के प्रविष्ट करते ही वह पिचकारी में आ जावेगा। यदि पिचकारी में वायु अथवा चमकता हुआ झागदार रक्त आवे तो समझना चाहिए कि फुफ्फुस का वेधन हो गया है। ऐसी अवस्था में सुई को खींच लिया जाता है और क्रिया पूर्ववत् पुन: की जाती है। इस वार सुई को दूसरी दिशा में प्रविष्ट किया जाता है।
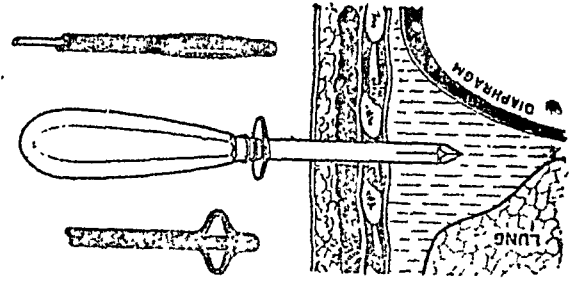
एस्पायरेटर सुई के मार्ग को सरल वनाने के लिए वृद्धिपत्र स्केलपल से छोटा-सा छेदन कर लिया जाता है। सुई के वरावर की नली को शीशी की वड़ी वोतल के साथ जोड़ देना चाहिए, पम्प के द्वारा सम्पूर्ण वायु को निकाल देना चाहिए। टोंटी (Tap) को घुमाने से प्लूरा गुहा को शीशे के साथ हिला देना चाहिए। इस से रिक्त स्थान होने पर द्रव स्वयं वोतल में आने लगता है। वहाव तव तक जारी रखा जाता है जव तक कि रोगी कुछ वेचैनी अनुभव नहीं करने लगता। यदि रोगी को खांसी और दर्द होने लगे तो कार्य वन्द कर देना चाहिए। अन्त में सुई अथवा केनुला को निकालकर स्थान को कौलीजियन में भीगे प्लोत से ढांप देना चाहिये।

वस्तिगत रोगों पर विहंगम दृष्टि

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद, आयुर्वेद-बृहस्पति, "विशेष सम्पादक"
आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध-संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

●

परिचय—"अथातो वस्तिगत व्याधि नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय धन्वन्तरि प्रभृतयः।"

"वस्तिः—वस्तेः आवृणोति मूत्रं। वस–तिन। नाभेमधोभागे मूत्राधारे स्थाने।" जो मूत्र को धारण करता है।

इस लेख में वस्तिगत व्याधियों पर विहंगम दृष्टि द्वारा प्रायः समस्त प्रकार के वस्तिगत रोगों पर उनकी चिकित्सा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

"यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधिसंश्रितम्।
एवा ते मूत्रम्।" अथर्ववेद १–१–३

अर्थात् गवीनी वृक्क में निर्मित मूत्र को मूत्राशय में पहुंचाने वाली नलिकायें हैं। मूत्राशय ही वस्ति है।

अभिप्राय यह है कि वस्ति छोटे कद्दू के आकार का होता है तथा वस्तिगुहा के अन्दर भगास्थि सन्धि के पृष्ठ भाग में दीख पड़ता है। यह पुरुषों में गुदनलक के आगे और स्त्रियों में योनि और गर्भाशय के आगे स्थित रहता है। ऊर्ध्व की ओर इसके विस्तृत अंश को शिर एवं अधोगत संकीर्ण अंश को ग्रीवा कहते हैं जो मूत्रप्रसेक से संयुक्त रहता है। यद्युक्तं चरक एवं सुश्रुत संहिता ग्रन्थे—

"अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम।" —सु० शा० ६

"वस्तिस्तु स्थूल गुदमुष्क सेवनीशुक्रमूत्रवहानां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधि-रिवापगानां प्रतिष्ठा।" —सु० नि० ३

वस्ति की रचना चार स्तरों यथा—(क) स्नैहिक, (ख) पेशीय, (ग) उपश्लैष्मिक तथा (घ) श्लैष्मिक से होती है। इसकी स्वतन्त्र मांसपेशियां आमाशय के सदृश वृत, दीर्घ एवं तिर्यक–इन तीनों दिशाओं में सुनियोजित होती हैं। वस्ति की ग्रीवा के समीप वृत्त पेशियां अधिक रूप से विकसित रहती हैं जिनसे वस्ति संकोचनी की रचना होती है। वस्ति के श्लैष्मल कला में अनेक श्लेष्मल ग्रन्थियां विशेषकर वस्तिग्रीवा के समीप रहती हैं। वस्ति शरीर में अनेक रक्तवह एवं रसवह स्रोत तथा तन्त्रिकायें होती हैं तथा त्रिक और वस्ति प्रदेश में स्थित तन्त्रिका पर्वों की शाखायें आकर स्थित रहती हैं।

मूत्रवह स्रोतों का मूल वस्ति और वंक्षण है। मिथ्या आहार-विहार एवं आघात से जब वस्ति में विकृति आ जाती है तो विभिन्न प्रकार की वस्तिगत व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। वस्ति को मूत्राशय, मसाना, यूरीनरी ब्लैडर (Urinary bladder) आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। वस्तिगत निम्नांकित प्रमुख प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यथा—

(१) वस्ति या मूत्राशय में अश्मरी (वेसिकल कैल्कुलस)।

(२) वस्ति शोथ या मूत्राशय शोथ (सिस्टाइटिस)।

(३) वस्ति दरना या मूत्राशय दरना।

(४) वस्ति या मूत्राशय में विक्षोभ।

(५) मूत्र असंयम (Incontinence of urine)

(६) मूत्रावधारण (Retention of urine)

(७) वस्ति या मूत्राशय की विपुटी (Diverticulum of Bladder)।

(८) वस्ति या मूत्राशय अस्थानता (Ectopia visical) या मूत्राशय की वहिर्मुखता (Extraversion of Bladder)।

(९) मूत्राघात (एन्यूरिया)।

(१०) अतानी वस्ति या मूत्राशय (एटोनिक ब्लेडर)

(११) अभिघातज सुषुम्ना वस्ति ट्रॉमेटिक कार्ड-ब्लेडर या न्यूरोजैनिक ब्लेडर)–इसे तन्त्रिका विकृति-जन्य भी कहते हैं।

(१२) वस्ति या मूत्राशय में कर्कटार्बुद (कैन्सर इन ब्लेडर)।

विशेष सूचना—'वस्ति' शब्द से आशय (Bladder) का बोध होता है जिसमें सभी आशयों यथा आमाशय, पक्वाशय, योनि, गर्भाशय आदि का अन्तर्भाव होना चाहिए, किन्तु चिकित्साशास्त्र में और विशेषकर यहां 'वस्ति' शब्द से मात्र 'मूत्राशय' (Urinary Bladder) का ग्रहण किया गया है। 'वस्ति' शब्द का एक अर्थ मलाशय में गुदमार्ग से शरीर में तरल वस्तु यथोचित यन्त्र द्वारा प्रविष्ट किया जाना अर्थात् एनिमा या डूश भी होता है। किन्तु यहां उसका वर्णन करना अभिप्रेत नहीं है।

वस्ति में अश्मरी (Stone in Bladder)

निदान—आहार हेतुज अर्थात् मिथ्या आहार, विशिष्ट गुरु, पथ्य, चूना युक्त जल लेने, अपथ्य सेवन करने और वमन विरेचनादि संशोधन कर्मों के कभी नहीं करने से विजातीय तत्वों के अंश वस्ति में सूक्ष्म रेत कणों के रूप में संचित हो जाते हैं अथवा मूत्राशय स्थित कुपित वात, पित्त, कफ और शरीर स्थित दूषित धातुओं से मिलकर अश्मरी रूप में एकत्र होने लगते हैं। अश्मरी पथरी को कहते हैं।

विहार हेतुज अर्थात् सम्भोग प्रक्रिया में शुक्र विच्युत होकर (शुक्रवेग रोकने से) वस्ति मूत्राशय में पहुंच कर, दूषित जल सेवन से विजातीय पदार्थ कुपित वायु द्वारा मूत्राशय में संचित होकर या अन्य पदार्थ के कण विभिन्न शरीर क्रिया वस्ति में पहुंच कर कठिन वायु से शुष्क होकर अश्मरी का रूप धारण कर लेते हैं। मूत्र के वेग को अधिक देर तक रोकने की आदत से भी वस्ति में अश्मरी हो जाती है।

पूर्व रूप–अश्मरी के बनना प्रारम्भ होते ही वस्ति में आध्मान वातावरोध के कारण होता है, यदा-कदा वेदना होती रहती है, मूत्र त्यागते पर मूत्र की गन्ध बकरे के मूत्र के सदृश तथा अल्प कष्ट के साथ एवं रुक-रुककर आती है। ज्वर हो जाना, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, वस्ति प्रदेश में पीड़ा आदि वस्ति में अश्मरी निर्माण के प्रारम्भिक रूप है।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त विभिन्न कारणों से प्रकुपित वात, पित्त, कफ, शुक्र, दूषित धातुएँ या विजातीय तत्व वस्ति में पहुंच कर शुष्क हो जाते हैं और पथरी (अश्मरी) का निर्माण करते हैं।

रूप या लक्षण

सामान्य लक्षण—मूत्रत्याग काल में वस्ति एवं मूत्रमार्ग में वेदना, कभी वेदना का अभाव, दो बार में मूत्र विसर्जन, कभी मूत्र त्याग स्वाभाविक वेग से होते-होते अकस्मात रुक जाना या बूंद बूंद गिरने लगना, मूत्रमार्ग में अश्मरी आ जाने से भयंकर पीड़ा, मूत्राशय की ग्रीवा में अश्मरी आ जाने से मूत्राघात की स्थिति उत्पन्न होना, कभी छोटी अश्मरी मूत्रमार्ग में आकर रुक जाने से, पतली धार से मूत्र विसर्जन होता है, कभी पथरी की रगड़ से मूत्र मार्ग छिल जाने से मूत्र के साथ शुद्ध रक्त भी आने लगता है, शिशु के अश्मरी में मूत्र बाधा के साथ पेडू, मलद्वार, नाभि में असह्य पीड़ा होने से उसे बार-बार मलता और दर्द से चिल्लाता है।

वातज अश्मरी लक्षण—मूत्रावरोध, मूत्रत्याग काल में अत्यन्त पीड़ा, मूत्र विसर्जनार्थ बार-बार बल लगाने से, गुदद्वार से अपान वायु नि.सरित होती है, मल भी निकल आता है, रोगी दांत पीसता है, नाभि

को दोनों हाथों से दबाता, मसलता एवं चिल्लाता है। बहुत जोर लगाने पर मूत्र बूंद-बूंद गिरता है। वातज, अश्मरी या पथरी काले रङ्ग, रूक्ष, अनियमित आकार की ठोस और कंटक से घिरी हुई होती है। वातज अश्मरी चूना (Oxalate lime) से निर्मित होती है।

पित्तज अश्मरी लक्षण—यह भल्लातक की गिरी के आकार की, कुछ लाल और कुछ हल्के पीले रङ्ग की, वस्ति में दाह पैदा करने वाली और मूत्रत्याग के समय दर्द करने वाली, प्रायः वस्ति के मुख में ही रहने वाली, बढ़ने वाली, स्पर्श में दाहयुक्त तथा कभी भी मूत्रकृच्छ्रता या मूत्राघात की स्थिति उत्पन्न करने वाली होती है। पित्तज अश्मरी यूरिक एसिड के साथ अमोनिया, रक्त के लाल एवं पीले कणों से निर्मित रहती है।

कफज अश्मरी लक्षण—मन्द पीड़ा के साथ तोद होता है, मूत्र त्याग काल में अति दाह और पीड़ा होती है, मूत्र पतली धार से धीरे-धीरे अधिक विलम्ब में त्याग होता है, कभी-कभी मूत्रपथ में तुदन सदृश वेदना होती है। यह विशेषकर बच्चों को होती है। कफज अश्मरी फॉस्फेट्स सदृश अस्थिसार के साथ शारीरिक लवणों से निर्मित रहती है।

शुक्रज अश्मरी लक्षण—वस्ति में अत्यधिक पीड़ा होती है, मूत्र त्याग कष्ट से रुक-रुककर होता है, कभी टूट कर बिखर जाने से सिकता एवं शर्करा के रूप में मूत्र के साथ बाहर निःसरित होती है, यदि शुक्र शर्करा या शुक्र सिकता वस्ति में एकत्रित रह गई तो वह नाभि एवं अण्डकोष में शोथ, मूत्रावरोध, उष्णवात (सुजाक), तृष्णा, हृदयशूल आदि प्राणनाशक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। शुक्रज अश्मरी में शुक्रधातु के शुद्ध कणों का मुख्य रूप उपस्थित रहता है।

सूचना—विभिन्न प्रकार की अश्मरी या पथरी वस्ति में उसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है जिस प्रकार गोरोचन गाय के पित्ताशय में शनैःशनैः वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। प्रायः अधिकतर अश्मरी श्लेष्मकला से आवेष्टित ही उपलब्ध होती है जो स्वतन्त्रतापूर्वक वस्ति में भ्रमण करती रहती है तथा कभी भी वस्ति (मूत्राशय) के मुख के समीप आकर मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्र की भयानक कष्टप्रद स्थिति उत्पन्न कर देती है। कभी-कभी अश्मरी वस्ति में बनते ही शनैः शनैः श्लैष्मिक ग्रन्थियों से मिलकर के वस्ति की दीवालों में श्लैष्मिक कला से आवेष्टित होकर एक विकृत वृद्धि के रूप में उपस्थित हो जाती है जिसमें दर्द अवश्य होता रहता है किन्तु यत्र-तत्र भ्रमण नहीं करती। फलस्वरूप इसके द्वारा मूत्र विसर्जन में बाधा नहीं होती। दुर्भाग्य से जब यह वस्ति के मुख के समीप श्लेष्मकला से वेष्टित होकर स्थिर हो जाती है तो इसकी वृद्धि से वस्ति की ओर भयंकर स्थिति उपस्थिति हो जाती है जिसका निवारण शल्य कर्म (ऑपरेशन) द्वारा ही किया जाता है। वस्ति (मूत्राशय) का अन्तः दबाव का मापन 'ईस्ट के सिस्टोमीटर' द्वारा ही किया जाता है। इस यन्त्र में जल की ऊंचाई प्रदर्शक चिह्न सेण्टीमीटर में अंकित होते हैं। प्रयोग करते समय रबड़ कैथीटर के बाहर के छोर में मुख्य यन्त्र की नलिका को प्रविष्ट करके और कैथीटर को वस्ति (मूत्राशय) में प्रविष्ट कर देते हैं। यन्त्र में मूत्राशय (वस्ति) का दबाव व्यक्त हो जाता है।

अर्वाचीन रोग विनिश्चय विधि

(१) ध्वनि परीक्षण विधि—रोगी को लिटा सिर नीचे और नितम्ब ऊंचा कर मूत्राशय को थोड़े जल से भर विसंक्रमित ध्वनि शलाका को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट इधर उधर घुमावें तो अश्मरी से टकराते ही धात्वीय ध्वनि (Metalic sound) सुनाई पड़ेगी।

(२) एक्स-रे—वस्ति का फोटो लेने से बड़े स्पष्ट चित्र अश्मरी के आवेंगे।

(३) सिस्टोस्कोपी यन्त्र द्वारा वस्ति में अश्मरी को देखें।

(४) स्पर्श परीक्षा उदर और गुदा से एक साथ गुदा द्वारा स्पर्श करें।

(५) मूत्र की सूक्ष्मदर्शी परीक्षा करके मूत्र में रक्त, पूय, पथरी के कण आदि की उपस्थिति से इसका निदान करें।

चिकित्सा—वस्तिगत अश्मरी की दो प्रकार से चिकित्सा की जाती है।

यथा—(१) काय चिकित्सा–औषधियों द्वारा तथा (२) शल्य चिकित्सा–शस्त्रकर्म द्वारा (मर्मः यथा-सेवनी, मूत्रवहस्रोत, शुक्रवहस्रोत, अण्डग्रन्थि, गुदा, मूत्र प्रसेक, वस्ति, योनि इन ८ को बचाते हुए मात्र अश्मरी का सिस्टोस्कोप यन्त्र में 'लिथोट्राइड' यन्त्र संयुक्त करके छेदन, भेदन करना चाहिए।

चिकित्सा सूत्र—

वातज—स्नेहपान, उत्तरवस्ति (कैथेटर प्रयोग) तथा वस्ति पर उष्ण सेंक।

पित्तज–त्रिदोषज चिकित्सा, उत्तरवस्ति, स्वेदन, एक पैर नीचा और एक पैर ऊचा रखने से अथवा दाहिने या बाये किसी भी तरफ हाथ रखकर या तिरछा होकर बैठने से मूत्राशय की ग्रीवा से अश्मरी दूर हट जाती है तथा स्वाभाविक वेग से मूत्र त्याग होने लगता है। यदि कभी छोटी अश्मरी मूत्र मार्ग में आकर रुक जाय और पतली धार से मूत्र त्याग होने लगे तो धातु से निर्मित मूत्रशलाका प्रविष्ट कर पथरी (अश्मरी) को धीरे-धीरे पीछे की ओर हटाते हुए उसे पुनः वस्ति में पहुचावे तो अश्मरी हटकर मूत्र स्वाभाविक रूप से त्याग होने लगता है।

कफज—स्वेदन, निरूहरण, उत्तरवस्ति, पुल्टिस, कोमल हाथो से धीरे-धीरे अभ्यग। साथ ही गरम जल के अति लम्बे, चौड़े नाद मे बैठावे या वस्ति प्रदेश पर गरम जल की शीशी, बोतल या थैली (Hot water beg) रख सेके अथवा वहा उष्ण लेप करे।

शुक्रज अश्मरी–अश्मरी भेदक औषधि का प्रयोग करे जिससे यह टूटकर शर्करा के रूप मे मूत्र मार्ग से बाहर निकलने लग जांय। अथवा बड़ी पथरी होने पर शस्त्रकर्म करके बाहर निकालें। उत्तरवस्ति के प्रयोग से भी कष्ट कम कर थोड़ी देर के लिये टाला जा सकता है। सुश्रुत महोदय ने वृद्धि प्राप्त अश्मरी की चिकित्सा शस्त्रकर्म से करने का आदेश दिया है।

विशिष्ट चिकित्सा—

(१) **त्रिकण्टक चूर्ण**—गोखरू बीज का चूर्ण ३ से ४ ग्राम को मधु में मिलाकर प्रातः, दोपहर एवं साय बकरी के छानकर उबाले दूध के साथ सेवन कराने से वातज अश्मरी में लाभ होता है।

(२) शोभांजन की जड़ की छाल का थोड़ा उष्ण क्वाथ दिन में ३ बार पिलाने से वातज अश्मरी में लाभ पहुंचता है।

(३) **कुलत्थादि घृत**—कुलथी का चूर्ण, विडङ्ग, पद्मकाष्ट चूर्ण, यवक्षार, भूरा कुम्हड़ा के बीज की मीगी का चूर्ण, बड़े गोखरू का चूर्ण, सैन्धा लवण, शर्करा प्रत्येक ६०-६० ग्राम लें। इन सबको दही के के जल में पीसकर कल्क निर्माण कर लें। पश्चात् इस कल्क और वरुणा का क्वाथ १ लिटर (वरुणा का काढ़ा अष्टमांश अवशिष्ट १ लिटर) गोघृत के १ किलो मात्रा के साथ चौड़े मुख वाले स्टेनलैस स्टील के डेगची में डालकर आग पर चढ़ाकर इतना उबालें कि सब पदार्थ पच जाय और केवल घी रह जाये। घी सिद्ध होते ही बर्तन को आग ताप से पृथक् कर दें। घी जब हल्का उष्ण रह जाये तो उसे छान कर कांच के बड़े पात्र में सुरक्षित रख लें। आवश्यकतानुसार १२ से २४ ग्राम तक भोजन पूर्व प्रातः, सायं वरुणा के सुखोष्ण क्वाथ के साथ सेवन कराये। यह घृत क्वाथ के साथ वातज, पित्तज, कफज एवं शुक्रज अश्मरी में लाभप्रद है। मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात को भी दूर करता है।

(४) **अश्मरीहर महेश्वरम्**–योगः शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत, यवक्षार, बरपत्थर भस्म, अपामार्ग क्षार, कृष्णा तिलक्षार, हजरलयहूद भस्म, गोखरू घनसत्व, वरुणा छाल घनसत्व, पाषाणभेद घनसत्व, सहजना की भस्म की छाल का घनसत्व, आवला घनसत्व, एरण्ड की जड़ की छाल का घनसत्व, केला के खम्भ का क्षार, छोटी कटेरी का घनसत्व, ककड़ी के बीजों की मीगी, कुम्हड़ा के बीजों की मीगी, वायविडङ्ग बीज चूर्ण, तालमखाना बीज, गोखरू के बीज का चूर्ण–प्रत्येक १००-१०० ग्राम लें। इन्हें एकत्र खरल में डाल कुलथी के विधिवत् क्वाथ, वरुणा की छाल के क्वाथ और भेड़ का ताजा मूत्र प्रत्येक १००-१०० मि० लि० की भावना देकर दृढ़ हाथों से इतना खरल करें कि सम-

वस्ति (Urinary Bladder)

मूत्राशय या वस्ति—यह श्रोणीगुहा में रहने वाली एक थैले के समान रचना है जिसमें कुछ समय के लिए मूत्र संचित रहता है। इसका आकार समीपवर्ती अवयवों एवं मूत्र के कारण परिवर्तित होता रहता है। युवा व्यक्तियों में इसकी क्षमता १५० मि० ली० से ३०० मि० ली० के लगभग होती है। रचना की दृष्टि से मूत्राशय को निम्न भागों में बांट सकते हैं—

(अ) मूत्राशय का आधार भाग—यह मूत्राशय का पीछे की ओर रहने वाला भाग है जो त्रिकोणाकार होता है। स्त्रियों में यह योनि की अग्र भित्ति के सम्पर्क में रहता है तथा पुरुषों में मलाशय के सम्पर्क में रहता है।

(ब) ग्रीवा—यह मूत्राशय का सब से नीचे का संकुचित भाग होता है जो भगास्थि सन्धि (Symphysis pubis) के तीन-चार से० मी० पीछे स्थित एक छिद्र के द्वारा मूत्रपथ के साथ सम्बन्धित रहता है। पुरुषों में यह भाग पौरुष ग्रन्थि के सम्बन्ध में रहता है।

(स) शीर्ष (Apex)—यह भगास्थि सन्धि के ऊपर की तरफ रहने वाला मूत्राशय का सब से आगे का भाग है। रिक्तावस्था में मूत्राशय के तीन पृष्ठ देखे जा सकते हैं।

१. ऊर्ध्व पृष्ठ—पुरुषों में यह पृष्ठ उदरावरणकला के द्वारा आवृत रहता है। यह उदरावरणकला पीछे की ओर मूत्राशय के आधार भाग के कुछ हिस्से को आवृत करती हुई मलाशय पर परावर्तित हो जाती है।

२-३. अधः पार्श्वीय तल—यह दांये और बांये भेद से दो होते हैं। यह पृष्ठ उदरावरणकला के द्वारा अनावृत होते हैं। सामने की ओर यह Retropubic pad के द्वारा भगास्थि से पृथक रहता है और पीछे की ओर यह फेशिया के द्वारा औदरिक पेशियों से पृथक रहता है।

सवंश एवं गोली बनाने योग्य हो जाय। तब ५००-५०० मि० ग्रा० की गोलियां निर्माण करें।

सेवन विधि—१ से २ गोली ताजे भेड़ के मूत्र या ५ वर्ष के स्वस्थ बालक के मूत्र ५० मि०लि० के साथ खाली पेट दिन में २-४ बार सेवन करावें।

लाभ—वातज, पित्तज, कफज एवं शुक्रज समस्त प्रकार की अश्मरी (पथरी) टूट-टूट कर मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाती हैं। ७ से २५ दिनों में ही व्याधि समूल नष्ट हो जाती है। पूर्ण परीक्षित, अनुभूत एवं निरापद योग है।

पथ्य—कुलथी की दाल, श्वेत पुनर्नवा का शाक, पाषाणभेद का शाक, शोभांजन के फल की सब्जी गेहूं की रोटी आदि।

निषेध—वातवर्द्धक पदार्थ, कैलसियम युक्त द्रव्यों का भोजन या औषधि न सेवन करें।

वस्तिशोथ (मूत्राशय शोथ)

कारण—वस्ति पर आघात लगना, पूयजनक जीवाणु संक्रमण होना, मूत्राशय सम्पूर्ण रूप से खाली न होकर उसमें कुछ न कुछ मूत्र शेष रह जाना और चोट आदि से उसमें जीवाणु संक्रमण होना, मूत्र प्रवाह के लिए उत्तरवस्ति यन्त्र (कैथेटर) प्रविष्ट करते समय संक्रमण अन्दर पहुंच जाना या मूत्रमार्ग छिन्न या फट जाने, रक्तस्राव से उसमें जीवाणु संक्रमण होकर उससे वस्ति में प्रविष्ट हो जाना, वस्ति में अर्बुद कार्सिनोमा, पैपीलोमा, व्रण या अर्बुद परिवर्तन होकर वस्ति में शोथ पैदा कर देना, समीपवर्ती आशयों अधिकतर गर्भाशय

ग्रीवा में शोथ, बड़ी आंत या गुदा में नवीन वृद्धि, गुद-भ्रंश, भगन्दर होने पर उसका संक्रमण वस्ति में पहुंच जाना, स्वाभाविक मूत्र में बैसिलसकोलाई और स्ट्रेप्टो-कोकाई, अम्लीय मूत्र में बैसिलसकोलाई, बै० ट्यूबर-कोलाई एवं गोनोकोकाई के तथा क्षारीय मूत्र में स्टै-फिलोकोकाई एवं बैसिलस प्रोटियस के सूक्ष्म जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण वस्ति में तीव्र या जीर्ण शोथ उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त अश्मरी के कारण भी वस्तिशोथ उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति—वस्ति पर चोट लगने से अथवा उप-युक्त कारणों से वस्ति की श्लेष्मकला लाल एवं शोथ युक्त हो जाती है और उसमें स्थान-स्थान पर व्रण प्रकट होते हैं, समस्त काया पीड़ित, मन उद्विग्न और ज्वर बढ़ जाता है। जीर्ण होने पर इसमें पूयोत्पादक जीवाणु उत्पन्न होते है, मूत्र में बड़ी मात्रा में पूय आते हैं, स्ट्रप्टो, स्टैफिलोकोकाई, प्रोटियस वल्गेरिस जीवाणुओं की उपस्थिति के कारण मूत्र क्षारीय हो जाता है और ऐस्कीरिया कोलाई जीवाणुओं के संक्रमण के कारण मूत्र अम्लीय होता है।

दोष—त्रिदोष, वातप्रधान।

दूष्य—मूत्र।

अधिष्ठान—वस्ति (मूत्राशय)।

लक्षण—

तीव्र वस्तिशोथ में—बार-बार मूत्र विसर्जन दर्द के साथ, मूत्र त्याग करते ही पुनः त्याग की इच्छा, वस्तिशूल के कारण वस्ति के त्रिकोण (Trigone) में अधिरक्तता एवं व्रणशोथ, मूत्र में अल्पांश पूय, व्याधि की उग्रता में मूत्रसहरक्त आता एवं शोथ हो जाता है।

जीर्ण वस्तिशोथ में—तीव्र वृक्कशोथ होता है, मूत्र विसर्जन की अधिकता से मूत्रपथ एवं वस्ति के आधार में दर्द, स्वास्थ्य का ह्रास, सभी अन्य लक्षण तीव्र वस्तिशोथ की अपेक्षा कम होते हैं। वस्ति मूत्र से कभी पूर्णरूपेण और कभी कम भरी रहती है।

चिकित्सा—रुग्ण को पर्याप्त विश्राम करायें। तरल पेय यथा बार्लीवाटर, यवमण्ड देवें। कारणों को दूर करें। मूत्र के अम्लीय होने पर क्षारीय मिश्रण तथा क्षारीय होने पर अम्लीय मिश्रण सेवन करायें। वेदना की शान्ति तथा शोथ निवारणार्थ वातहर तैल की पीड़ा-स्थान पर मालिश, स्वेद और उपनाह कम करें। मूत्र मे जलन होने पर तृणपञ्चमूल, गोखरू, शतावरी, विदारी, कसेरू का क्वाथ मधु एव शर्करा के साथ पिलायें। मूत्र जारी करने के लिए यवक्षार, श्वेतपर्पटी, सोवचल तथा छोटी इलायची बीज चूर्ण के साथ, खीरा या ककड़ी के बीजों को चावल के धोवन के साथ सेवन करायें।

विशिष्ट चिकित्सा मे गोक्षुरादि गुग्गुल, कुशाव-लेह, गोक्षुराद्यवलेह, श्वेतपर्पटी, वज्रक्षार, विदारीघृत, वृहद् वातचिन्तामणि आदि का मौखिक सेवन और उशीरादि तैल की नाभि के नीचे समस्त भाग मे (सामने और पीछे के भाग मे) मालिश करानी चाहिए।

पथ्य—बार्ली का जल, गाय का दूध, यव मण्ड आदि दे।

चरकसंहिता मे निर्देश के अनुसार और वाग्भट के कथनानुसार वस्तिशोथ मे वस्ति चिकित्सा (एनिमा या डूश) देवें। वस्ति दुध से, मधुर औषधियो से या उप-युक्त तैल से देवें। पाश्चात्य आधुनिक चिकित्सा शास्त्र-विद् पीड़ा शमनार्थ मार्फिया की वत्ती का प्रयोग और गर्म जल की नाद मे कमर तक बैठाते है। इसके अति-रिक्त मर्करी ऑक्जीसायनाईड १/४००० से १/८००० शक्ति वाले विलयन से डूश द्वारा वस्ति (मूत्राशय) को प्रथम धोते हैं और इसके बाद लवण जल से भलीभांति धोते हैं अथवा गर्म जल में यथोचित् उत्तम बोरिक एसिड को भलीभांति मिलाकर इस विलयन से वस्ति को धोते हैं। आवश्यकतानुसार कैथेटर का प्रयोग कराते है।

वस्ति यक्ष्मा

कारण—वस्ति का यक्ष्मा हमेशा ही मूत्रमार्ग की दूसरी व्याधियों के जीवाणु संक्रमण द्वारा उत्पन्न होता है। स्त्री एवं पुरुषों में वस्ति का यक्ष्मा जननेन्द्रियों, पुरस्थ ग्रन्थि (Prostate gland) तथा वृक्क के द्वारा संक्रमण से सम्पादित होता है।

सम्प्राप्ति—सबसे पहले गवीनी द्वार पर सूजन

उत्पन्न होकर पुनः वहां यक्ष्मिकायें या गुलिकायें (tubercles) निर्मित होती हैं जिनके फटने से व्रण निर्मित होता है। क्षत या व्रण से उत्पन्न गवीनीद्वार संकुचित होकर गोल्फी छिद्र युक्त गवीनी द्वार का निर्माण करता है। पुरानी व्याधि में वस्ति भित्ति की कभी भी तन्तुमयता (Fibrosis) होने से वस्ति की मूत्र धारण का सामर्थ्य घट जाता है।

लक्षण—वस्ति में क्षोभ उत्पन्न होने से बार-बार मूत्र विसर्जन की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, बाद में दर्द और मूत्रत्याग में अधिक कष्ट भी होने लगते हैं, शरीर भार का ह्रास, रात में पसीना चलना, ज्वर आदि लक्षण भी व्यक्त होने लगते हैं, यद्यपि मूत्र में क्षय के जीवाणुओं की अनुपस्थिति रहती है किन्तु फिर भी गिनीपिग परीक्षण धनात्मक उपलब्ध होते हैं।

चिकित्सा—राजयक्ष्मा में प्रयुक्त मृगाङ्क रस, वासावलेह, वासकपत्र का क्वाथ, तुलसी की जड़ की छाल, वासक मूल की छाल तथा अतिवला (कंघी) की जड़ की छाल समभाग में ले विधिवत् क्वाथ १५ से ३० मि०लि० या अधिक दिन में २-३ बार सेवन कराना आदि अत्यधिक लाभप्रद है। 'राजयक्ष्माहर महेश्वरम्' के १ से २ कैपसूल दिन में तीन बार इस व्याधि में सर्वश्रेष्ठ लाभदायी प्रमाणित हुई है।

क्षय ग्रस्त वस्ति को शल्य कर्म द्वारा काटकर निकाल दिया जाता है।

वस्ति या मूत्राशय में विक्षोभ

कारण—वृद्धावस्था में मूत्रग्रन्थि या पुरःस्थ ग्रन्थि की वृद्धि से वस्ति में विक्षोभ उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति—मूत्र ग्रन्थि या पुरःस्थ ग्रन्थि की वृद्धि होने से वस्ति से मूत्र के बाहर निकलने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है फलस्वरूप वात विकृत् एवं वस्ति में शनैः-शनैः अधिक मूत्र संचित होने के कारण वस्ति में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण—वस्ति और गुदा प्रदेश में तीव्र वेदना, मूत्र त्याग थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दर्द के साथ, वस्तिमुख कभी संकुचित होकर बन्द हो जाती है और कभी फैलकर खुल जाती है जिससे मूत्र कभी वेग से तथा कभी धीरे-धीरे आता है। वेदना से रोगी व्याकुल रहता है।

चिकित्सा—(१) सर्वप्रथम नीम के पत्र और शोभाञ्जन की जड़ की छाल के क्वाथ से वस्ति का परिषेक करें। कैथेटर लगाकर वस्ति के समस्त मूत्र को बाहर निष्कासित करें। उशीरादि तैल को नाभि के नीचे मालिश करें।

(२) खीरे के बीज की मींगी का चूर्ण ३ ग्राम चावल के धोवन ३० मि० लि० के साथ दिन में ३-४ बार सेवन करायें।

(३) बृहद् वंगेश्वर रस (ग्रन्थ—रसेन्द्रसार संग्रह)—आवश्यकतानुसार १२५ से २५० मि० ग्रा० गाय के दूध से दिन में दो बार सेवन करायें।

(४) शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत (भैषज्य रत्ना०)—२५० मि०ग्रा० बराबर छोटी इलायची के बीज चूर्ण के साथ प्रातः-सायं दें।

मूत्र असंयति

कारण—दुर्घटना में मस्तिष्क पक्षाघात, पुरःस्थ अर्थात् पौरुष ग्रन्थि के छेदन के बाद मूत्राशय की तंत्रिकी का आघात, मेरुदण्ड और अन्य जटिलता की विस्तारित अवस्थाओं में मूत्र के अवधारण के कारण मूत्राशय (वस्ति) के विस्तार से, स्त्रियों में गर्भावस्था काल और वस्ति (या मूत्राशय) हर्निया से भी स्थायी मूत्र असंयति उत्पन्न होती है।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से मस्तिष्क, सुषुम्ना एवं मेरुरज्जु पर प्रभाव पड़ने से या उन पर आघात लगने से मेरुरज्जु के दूसरे, तीसरे और चौथे त्रिक

खण्डांश में स्थित केन्द्र का नियन्त्रण नष्ट हो जाता है फलस्वरूप वस्ति का कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है, वस्ति का निष्क्रिय विस्फार होता है जिससे आप्लावी मूत्रअसंयति (Overflow Incontinence of urine) उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण—मूत्र विसर्जन पर नियन्त्रण नहीं रहने के कारण मूत्र निरन्तर टपकता रहता है, विटप प्रदेश में दवाने से अथवा कैथेटर के प्रविष्ट करने पर वस्ति रिक्त प्रतीत होता है, यथार्थ मूत्र नहीं रुकता है तथा मूत्र विसर्जन वार-वार करना पड़ता है, अल्प देर तक भी मूत्र नहीं रोका जा सकता है एवं मूत्र वार-वार त्यक्त होता रहता है। हर व्यक्ति का मूत्र विसर्जन काल भिन्न-भिन्न होता है।

रात्रि मूत्र असंयति—यह दशा प्रायः वच्चों में होती है। मानसिक उत्तेजना, मस्तिष्क निर्वल, विक्षोभशील तथा वच्चों के स्थूलकाय एवं मन्द वुद्धि होने के कारण अथवा पिता या मां या अभिवावक द्वारा दण्ड दिये जाने पर भय से विशेषकर रात में मूत्र का त्याग कर विछावन भिगो देते हैं। किसी-किसी वच्चे में आन्त्र में मूत्रकृमि (Thread worms), वस्ति में अश्मरी, मूत्राशय शोथ शिश्नमुण्ड शोथ, वृक्क क्षय, निरुद्ध प्रकश, मूत्र पथ में व्रण, मूत्र में फॉस्फेट आना, जीवाणुमेह, गवीनी की सहज अस्थानता आदि कारणों से रात्रि काल में शैय्या में मूत्र विसर्जन (Nocturnal Incontinence of urine) हो जाता है। इसकी चिकित्सा कारणों को दूर करके स्वर्णसिन्दूर, अश्वगन्धाघृत, कुमारकल्याण रस, सारस्वत चूर्ण आदि का सेवन तथा मूत्रकृमि विनाशार्थ कृमिघ्न चूर्ण, नागार्जुन रस, वायविडङ्ग चूर्ण आदि खिलायें।

चिकित्सा—सर्वप्रथम पंचसकार चूर्ण ४-४ ग्राम ईषत् उष्ण जल से रात में सोते समय तथा प्रातः खिलायें जिससे आन्त्र की शुद्धि हो तथा पाचन शक्ति जाग्रत हो। इसके वाद निम्नलिखित औषधियां सेवन करायें।

(१) अश्वगन्धाघृत (भै० र०) ६ ग्राम से १२ ग्राम प्रातः-सायं गाय के छानकर उवाले दूध के साथ सेवन करायें।

(२) सारस्वत चूर्ण २ से ३ ग्राम ताजे जल के साथ दिन में २-३ वार सेवन करायें। भोजन के वाद सारस्वतारिष्ट १५ से २५ मि० लि० समभाग जल मिलाकर दिन में दो वार पिलायें।

(३) शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत १२५ मि० ग्रा० तथा यशद भस्म १२५ मि० ग्रा० प्रातः-सायं दूध-घी, मिश्री या मलाई के साथ चटायें। साथ ही अश्विनीकुमार रस (औषधि गुण धर्म) १२५ से २५० मि०ग्रा० हल्दी मधु से दिन में २ वार सेवन करायें।

(४) वृहद् वंगेश्वर रस (रसेन्द्र सार संग्रह) १२५ से २५० मि० ग्रा० गाय के ईषत् उष्ण जल के साथ दिन में दो वार सेवन करायें।

मूत्रावधारण

निदान—मूत्र पथ की अश्मरी, पुरःस्थ ग्रन्थि वृद्धि, मूत्रपथ निकुञ्चन, अर्वुद या कर्करार्वुद, अङ्गघात आदि व्याधियों के कारण मूत्रावधारण हो जाता है।

सम्प्राप्ति—मूत्र के वेग को विशेष काल तक धारण करने के वाद वस्ति मूत्र से भर जाती है तथा मूत्र विसर्जन काल में मूत्र का वेग शीघ्रता से नहीं प्रवाहित होता तथा जव मूत्र के त्याग में शक्ति लगाई जाती है तो मन्द धारा से मूत्र त्यक्त होता है।

लक्षण—मूत्र धारा प्रवाह त्यक्त नहीं होता, यदि प्रवाहण होता भी है तो धीरे-धीरे और अल्प-अल्प करके, वारम्वार तथा रुक-रुक कर मूत्र विसर्जित होता है। मूत्र के प्रवाहण में शक्ति लगानी पड़ती है।

चिकित्सा–(१) ककड़ी, खीरे के वीजों का कल्क १२ ग्राम में थोड़ा सा सैन्धव लवण मिलाकर कांजी के साथ दिन में २-३ वार सेवन करायें।

(२) न्यग्रोधादि चूर्ण (ग्रन्थ–योग रत्नाकर)—आवश्कतानुसार ३ से ६ ग्राम दिन में दो वार मधु

आयुर्वेद में बहुमूत्र नाम से कोई पृथक रोग नहीं है आयुर्वेद में वर्णित उदकमेह के लक्षण बहुमूत्र रोग से मिलते हैं क्यों कि बहुत मात्रा में जलवत बार-बार मूत्र विसर्जन होना ही बहुमूत्र कहलाता है और यही लक्षण उदकमेह के बताये गये हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इसे Polyuria कहता है। प्रायः यह रोग प्रौढ़ों और वृद्धों को अधिकतर होता है। लक्षणों की दृष्टि से प्रायः उदकमेह में प्रत्येक घण्टे २ घण्टे के अन्तर से बार-बार अधिक मात्रा में जल सदृश्य मूत्र विसर्जन होता है। मूत्र जलवत सफेद शीतल तथा बिना गन्ध का होता है। बहुमूत्र रोगी को मूत्र विसर्जन में कोई बाधा नहीं होती लेकिन बहुमूत्र के कारण आहार के पोषक तत्व, जल तत्व, जल रूप में शरीर से बाहर निकलने लगते हैं जिससे बहुमूत्र रोगी का शारीरिक बल क्षीण होने लगता है। बहुमूत्र के कारण रोगियों को कभी-कभी बड़ा परेशानी देखने को मिलती है क्योंकि शीघ्रता पूर्वक मूत्र विसर्जन की व्यवस्था यदि नहीं हो सकी तो मूत्र के वेग को कितना भी रोकें वह बाहर निकल पड़ता है तथा कपड़ा आर्द्र हो जाता है। युवावस्था में होने वाले बहुमूत्र से रोगी मूत्र के वेग को कुछ हद तक रोक सकता है परन्तु ६० वर्ष के ऊपर के वृद्धों में बहुमूत्र की हालत में, मूत्र का वेग रोकना सम्भव नहीं रहता। बहुमूत्र के वृद्ध रोगियों में यह स्थिति बहुत दयनीय होती है। पौरुष ग्रन्थी तथा मूत्राशय ग्रीवा के स्नायु तन्तुओं में शैथिल्यता आने से मूत्रातिवेगी बहुमूत्र दयनीय स्थिति कायम हो जाती है। विशुद्ध उदकमेही या बहुमूत्र से पीड़ित रोगी को मूत्रातिवेगी दशा में भी मूत्र के साथ शर्करा का स्राव नहीं होता। बहुमूत्र रोगी को मूत्र के साथ जहां शर्करा आने लगती है वहां वह मधुमेह का रूप धारण कर लेता है तथा बहुमूत्र गौण व्याधि हो जाती है तथा शर्करा का स्राव प्रधान व्याधि बन जाता है। रक्त शर्करा एवं मूत्र शर्करा की स्थिति कायम होते ही उदकमेह (बहुमूत्र) की स्थिति बदलकर शीतमेह की स्थिति आ जाती है, और यही स्थिति मधुमेह में परिणित हो जाती है इसलिए बहुमूत्र होते ही इसकी तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए जिससे वह मधुमेह में न बदल जावे। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से पोलियूरिया (polyuria) के दो प्रकार माने जाते हैं स्थाई और अस्थाई। स्थाई पोलियूरिया जीर्ण वृक्क शोथ, धमनी दार्ढ्य, पिच्यू-टरी ग्रन्थि की विकृति तथा मधुमेह में पाया जाता है जबकि अस्थाई पोलियूरिया अनेक रोगों में पाया जाता है जिनमें अपस्मार, योषापस्मार, मस्तिष्क का वात दोष, मस्तिष्क अर्बुद, वृक्क शोथ आदि प्रमुख हैं। कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में भी यथा मद्यपान, जल का अधिक सेवन, नूतन औषधियों के प्रयोग से भी यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है। वृद्ध पुरुषों में प्रोस्टेट के कारण भी बहुमूत्र की अवस्था उत्पन्न होजाती है। आधुनिक चिकित्सक मूत्र की आपेक्षिक घनत्व परीक्षा कराके बहुमूत्र का निदान कर लेते हैं क्यों कि बहुमूत्र में मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व अत्यन्त कम हो जाता है।

चिकित्सा की दृष्टि से जिन पदार्थों के खाने या पीने से मूत्र की मात्रा बढ़े उनको नहीं देना चाहिए। यदि किसी विशेष रोग के कारण बहुमूत्र का लक्षण है तो उस रोग के उपचार करने से सामान्यतः सोमनाथ रस, सोमेश्वर रस, तारकेश्वर, वसन्तकुसुमाकर रस, हेमनाथ रस, गगनादि लौह आदि योग विशेष कर बहुमूत्र में प्रयोज्य होते हैं। चन्द्रप्रभा वटी का तो बहुमूत्र की अवस्था में आयुर्वेद का प्रत्येक चिकित्सक प्रयोग करता ही है। इसके समुचित प्रयोग से निःसन्देह इस रोग में विशेष लाभ देखने को मिलता है। हमारे अनुभव में चन्द्रप्रभा वटी बड़ी की २-२ गोली दिन में तीन बार बहुमूत्र के रोगी को देनी चाहिए। न्यग्रोधादि चूर्ण का भी इसके बहुमूत्र के रोगी पर विशेष प्रभाव देखा है।

इस विशेषांक में बहुमूत्र रोग के सम्बन्ध में दो लेख पाठक पढ़ेंगे जिनमें पहला लेख राज-कीय आयुर्वेद कालेज भावनगर (गुजरात) के काय-चिकित्सा विभाग की रीडर श्रीमती मनिकी डॉ० राठौर तथा प्रोफेसर डा० पी० एस० अंशुमान द्वारा प्रस्तुत किया गया है। दूसरा लेख आयुर्वेद जगत् के जाने-माने लेखक तथा कई विशेषांकों के सम्पादक वैद्य गिरधारीलाल मिश्र अधीक्षक वैद्यमान आयुर्वेदिक चिकित्सालय हेडवार (जालना) की लेखनी का प्रसाद है। रोग विषयक दोनों लेखों से पाठकों को 'बहुमूत्र' के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हो सकेगी ऐसा हमें विश्वास है। —वैद्य गोपालशरण गर्ग।

के साथ चटाकर ऊपर से त्रिफला का काढ़ा ३० मि० लि० पिला देवें।

(३) संगेयहूद भस्म (हिजरल यहूद, यूनानी हिकमत) आवश्यकतानुसार २५० से ५०० मि० ग्रा० औषधि शर्बत वजूरी या शक्कर के जल के साथ हर १ घण्टा पर कुल २-३ वार सेवन करायें।

(४) चन्द्रप्रभा वटी (शार्ङ्गधर संहिता)-आवश्यकतानुसार २५० से ५०० मि०ग्रा० दो वार प्रतिदिन १२ ग्राम गिलोय के स्वरस एवं ६ ग्राम मधु से सेवन करायें।

वस्ति की विपुटी

कारण—वस्ति (मूत्राशय के) पेशीस्तर के किसी दुर्वल स्थल द्वारा श्लैष्मिक कला की वाहर निकली हुई कलावृत्त थैली की हर्निया सदृश वृद्धि हो जाने के कारण वस्ति की विपुटी व्याधि हो जाती है।

लक्षण—यह विपुटी महज प्रकार की, पुराने होने पर या पुरुस्थ वृद्धि में कई छोटी-छोटी विपुटी के रूप में प्रायः वाल्यावस्था में विना किसी अवरोध के एक वड़ी विपुटी हो सकती है जो वृद्धि प्राप्त कर वस्ति (मूत्राशय) के सदृश आकार वाली हो सकती है। कभी-कभी अत्यधिक मूत्र विसर्जन से मूत्र त्याग में कष्ट, मूत्र अवधारण, वस्तिशोथ, वस्ति विपुटी में अश्मरी, विपुटी के दवाव के कारण वस्ति ग्रीवा छिद्र में संकुचित हो जाने से मूत्र विसर्जन में कष्ट, कठिनाई तथा मूत्र का पूर्ण त्याग नही हो पाता।

अर्वाचीन व्याधि विनिश्चय—"सिस्टोस्कोप" यन्त्र से देखने द्वारा अथवा सोडियम आयोडाइड सोल्यूशन को वस्ति में भरकर आप्लावित करने के वाद वस्ति का एक्स-रे चित्र लेने के द्वारा वस्ति की विपुटी का विनिश्चय किया जाता है।

व्याधि के उपद्रव—अश्मरी का वनना, जलाप वृक्कता, वृक्क संक्रमण, वस्ति शोथ एवं वस्ति के कैन्सर।

चिकित्सा—विधि-विधान पूर्वक अवरोध की चिकित्सा करें, विपुटियों के आभ्यन्तर स्थित अश्मरियों को अभिजघन मूत्राशयच्छेदन करके निकाल दें। मूत्र से भरी जाने वाली वड़ी विपुटियों का यथासम्भव पार्यदर्या वाह्य उच्छेदन करें।

वस्ति अस्थानता

कारण—माता-पिता में हॉर्मोन की विकृति उपदंश, उष्णवात (सुजाक) के संक्रमण।

लक्षण—वस्ति (मूत्राशय) की अगली दीवाल एवं नाभि की उदर अग्रभित्ति (अगली दीवाल) नहीं रहती है तथा अपूर्णता द्वारा वस्ति की पीछे की दीवाल सामने निकली रहती है जिस पर गवीनियों के मार्गों से मूत्र की बूंदें निकलती रहती हैं। वच्चों को अधिकांशतः अधिमूत्रमार्गता होती है तथा जघन संधानिक का अभाव होता है। वस्ति के मूत्र के चू-चू कर नीचे गिरने से रोगी को वड़ा कष्ट होता है।

चिकित्सा—अवग्रह वड़ी आंत में गवीनियों का प्रतिरोपण किया जाता है। इसके वाद मूत्राशय की श्लैष्मिक उपकला का उच्छेदन तथा अभ्युदर हर्निया एवं अधोमूत्रमार्ग की अवस्था का संशोधन किया जाता है।

वस्ति की वहिर्मुखता

इस व्याधि के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा प्रायः उपर्युक्त ही हैं।

मूत्राघात

कारण—मूत्र प्रसेक नलिका में आक्षेप, शोथ, अश्मरी, मूत्र पथ में अश्मरी, अर्बुद, विजातीय पदार्थ, मूत्राशय मुख में अर्बुद, शोथ या अश्मरी, गर्भाशय अर्बुद, सुजाक, योषापस्मार के आक्रमण के समय क्षोभजनित प्रत्यावर्तित क्रिया, वृद्धावस्था में पुरःस्थ ग्रन्थि वृद्धि मूत्राशय की निष्क्रियता, सुषुम्ना या मस्तिष्क पर चोट लगने से वस्ति का पक्षाघात, बड़े ऑपरेशन के बाद प्रत्यावर्तित क्रिया के किसी उम्र के रोगी में मूत्राघात हो जाता है।

लक्षणभेदानुसार—आयुर्वेद के मत से वात कुण्डलिका, वाताष्ठीला, वात वस्ति, मूत्रातीत, मूत्र जठर, मूत्रोत्संग, मूत्रक्षय, मूत्रग्रन्थि, मूत्रशुक्र, उष्णवात, मूत्रौकसाद, अभिघातज, सन्निपातज, अश्मरी एवं शर्करा से उत्पन्न इस प्रकार कुल १४ भेद हैं। इनके दोष, "लघुता-गुरुता" विकृति और नवीन-जीर्ण व्याधि के अनुसार अलग-अलग लक्षण हैं।

चिकित्सा—(१) [illegible] औषधि द्रव्यों से सिद्ध घृत, अधःस्नेह, उत्तर वस्ति से चिकित्सा करें।

(२) ककड़ी, खीरे के बीजों का कल्क १२ ग्राम में अल्प सैन्धालवण मिलाकर कांजी से पिलायें।

(३) केशर को मधु में मिलाकर चटाकर रात में ओस में रखे चन्दन का शर्बत पिलावें।

(४) मूत्र वेदना के शमन के लिए गधे और घोड़े के मल को वस्त्र में निचोड़कर १०० से २०० मि० लि० पिलावें। —सुश्रुतसंहिता

(५) नागरमोथा, हरड़ के वल्कल, देवदारु, मूर्वा, मुलहठी और श्वेत पुनर्नवा की जड़ की छाल समभाग में लेकर पीसकर चटनी जैसा बना लें तथा २ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार चटावें।

(६) हरड़, बहेड़ा, आंवला, सैन्धानमक और पाषाणभेद समभाग में से पीस कल्क बना १ से २-३ ग्राम की मात्रा में खिलाने से मूत्र दोषों के निवारण के साथ मूत्र पीड़ा की भी शान्ति होती है।

अतानी वस्ति

कारण—मिथ्या आहार-विहार सेवन, हॉर्मोन की विकृति तथा रक्त-मूत्र दुष्टि।

लक्षण—वस्ति अतानी अवस्था में रहती है, मूत्र विसर्जन की क्रिया असंयमित हो जाती है। अपान वायु द्वारा अवरुद्ध मूत्र, वस्ति में ही रुका रहता है।

चिकित्सा—सर्वप्रथम रोगी की वय एवं सहन सामर्थ्य के अनुसार संशोधन और संशमन चिकित्सा करें। संशोधन में स्नेहन, कटिस्वेद, स्निग्ध विरेचन एवं उत्तर वस्ति प्रयोग करें। संशमन में वातहर, अश्मरीहर, मूत्रविरेचनीय, शोथहर, वेदनाहर, मूत्र विरजनीय विशिष्ट चिकित्सा में हरीतक्यादि कषाय, गोक्षुरादि गुग्गुलु, पञ्चतृणमूल कषाय, गोक्षुरादि कषाय, तारकेश्वर रस, पुनर्नवाष्टक कषाय, शिवा गुटिका, क्षार पर्पटी, श्वेत पर्पटी, यवक्षार, शुद्ध शिलाजतु, वसन्तकुसुमाकर रस, शिलाजित्वादि वटी, हजरुल यहूद भस्म, मल्ल सिन्दूर, इक्षुरसादि योग, वरुण शिग्रु कषाय, चन्द्रकला रस, चन्द्रप्रभावटी, चन्दनादि वटी, एलादि चूर्ण, वृक्कशूलान्तक वटी, अजमोदादि चूर्ण, रसकर्पूर, चन्दनासव, पाषाणभेदादि कषाय, आदि औषधियों (शास्त्रोक्त) का सेवन लक्षणानुसार कराना चाहिए। ये औषधियां वस्तिगत अन्य व्याधियों में भी लक्षणानुसार प्रयोग करने पर उत्तम फल की उपलब्धि कराते हैं।

अभिघातज सुषुम्नावस्ति

कारण—मूत्र वाही स्रोतों में वस्ति के मर्म स्थान या अन्य स्थल पर आघात लगने, कुचल जाने पर, वस्ति-प्रदेश की तंत्रिकाओं पर या सुषुम्ना पर आघात पहुँचने से, अभिघातज सुषुम्ना वस्ति की विकृति उत्पन्न होती है।

सम्प्राप्ति—मर्मस्थल, सुषुम्ना या वस्ति की किसी तन्त्रिका (nerve) पर आघात लगने से वात विकृत् एवं प्रकुपित होकर वस्ति के क्रिया-कलापों में अवरोध उत्पन्न करके दारुण पीड़ा, प्रदाह एवं शोथ ला देता है परिणामस्वरूप मूत्रकृच्छ्र या मूत्राघात उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण—वस्ति प्रदेश, जांघ, वंक्षण प्रदेश में तीव्र पीड़ा, प्रदाह, शोथ, मूत्र विसर्जन में कष्ट एवं अवरोध, कभी-कभी तीव्र ज्वर, मानसिक व्यथा आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

चिकित्सा—वेदना निग्रहणार्थ गोक्षुरादि गुग्गुलु, वेदनान्तक रस, श्वेत पर्पटी का सेवन करायें। वस्ति प्रदेश पर नाभि के नीचे दशांग लेप का ईषत् उष्ण रूप में प्रयोग करें। नीमपत्र एवं शरपुंखा मूल त्वक् समभाग के जौ कूट चूर्ण का क्वाथ निर्माण कर १०-१५ मि० लि० की मात्रा में दिन में ३-४ बार पिलायें तथा इसी के गरम क्वाथ से समस्त पीड़ित स्थानों की सेक करें। सेक प्रातः, दोपहर, सायं एवं रात्रि को करें। 'वस्ति अतानी' प्रकरण में वर्णित विशिष्ट औषधियों का लक्षणानुसार प्रयोग करना भी लाभप्रद है। लाभ न होने पर अन्त में शल्य कर्म करावें।

वस्ति में कर्कटार्बुद

कारण—पुराने व्रण के शल्यकर्म के पश्चात् उसका अवशिष्ट भाग रह जाने, अभिघातज सुषुम्ना वस्ति की यथा समय यथोचित चिकित्सा नहीं करके उसकी उपेक्षा चिरकाल तक करते रहने, वस्ति प्रदेश में कहीं भी नाड़ीव्रण, कोई फोड़ा, फुंसी या घाव के उत्पन्न होकर उसके जीर्ण, जटिल और असाध्य हो जाने अथवा उसके सन्निपातिक रूप में परिवर्तित हो जाने आदि कारणों से यह व्याधि होती है।

सम्प्राप्ति—अवशिष्ट व्रण या रक्तदुष्टि, मामदुष्टि जीर्ण होकर वात और पित्त को प्रकुपित करके वस्ति में प्रथम अर्बुद और फिर कर्कटार्बुद उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण—तीव्र पीड़ा एवं प्रदाह होता है, समस्त शरीर और मन व्यथित रहता है, व्रण और बैंगनी रंग के स्पञ्ज सदृश संरचना में परिवर्तित हो जाते है, रह-रह कर टीस उठती रहती है, कभी वेदना तीव्र तो कभी मन्द रहती है, मूत्रविसर्जन में भी कष्ट एवं रुकावट होती है। आधुनिक पराश्रव्य ध्वनि परीक्षा, जीवऊति परीक्षा, एक्स-रे परीक्षा आदि से वस्ति में कैन्सर व्याधि का निदान होता है।

चिकित्सा—पंचकर्म कराकर कोष्ठों की शुद्धि करके तत्क्षण 'कैन्सर विनाशिनी महेश्वरम्' रसायन के कैप-सूल का मौखिक सेवन तथा 'कैन्सर विनाशिनी महेश्वरम्' लेप का वस्ति एवं पीड़ित प्रदेश पर बाह्य प्रयोग दिन में ३-४ बार करना प्रशस्त माना गया है। रस माणिक्य, कैशोर गुग्गुलु, हीरक भस्म, अमृत भल्लातक अवलेह का मौखिक सेवन भी कुछ अंश में गुणकारी है। यदि रोगी अपना मूत्र ताजा १५० से २५० मि० लि० की मात्रा में दिन में ३-४ बार पीये तथा उसको स्वच्छ वस्त्र में भिगोकर वस्ति प्रदेश पर रखे तो थोड़ी शान्ति मिलती है। वैसे तो आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में पीड़ित स्थान पर रेडियम सेक, शल्यकर्म, रासायनिक औषधि प्रयोग किया जाता है जो क्षणिक लाभप्रद है।

उपसंहार—ऊपर जो विभिन्न प्रकार की वस्तिगत व्याधियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, उनके अतिरिक्त भी अनेक वस्तिगत व्याधियां हैं जिनका प्रमुख नहीं होने के कारण यहां उल्लेखित नहीं किया गया है। वैज्ञानिक प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि थोड़ा मनोबल बढ़ाकर धैर्य और साहस के साथ यदि इन प्रायः समस्त वस्तिगत व्याधियों की चिकित्सा पचकर्म (चरकोक्त) कराकर आयुर्वेदीय अनुभूत एवं शास्त्रोक्त औषधियों द्वारा की जाय तो उत्तम सफलता उपलब्ध होती है।

★★

बहुमूत्र

श्रीमती नलिनी पी. राठोड, डी. एस. ए. सी., (रीडर)
पी० एस० अंशुमान, एच. पी. ए. (प्रोफेसर)
शेठ जी प्र० सरकारी आयुर्वेद कालेज, भावनगर (गुजरात)

★

परिचय—आयुर्वेद साहित्य में समय के साथ अनेक नये रोग या लक्षण संज्ञाओं का प्रादुर्भाव हुआ है उसी प्रकार की एक नवीन संज्ञा 'बहुमूत्र' भी है जो आयुर्वेद के नव्य साहित्य में मिलती है। सम्भवतः यह संज्ञा पोलीयूरिया (Polyuria) के लिये की गई प्रतीत होती है। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस संज्ञा के साथ ही एक अन्य रूपान्तरित 'मूत्रातिसार' संज्ञा का भी प्रयोग किया है, जो भानुप्रकाश के प्रबद्ध सोम रोग का समानार्थी शब्द सा प्रतीत होता है (यद्यपि मूलतः सोम रोग (सन्दिग्ध) स्त्रीरोग के रूप में वर्णित किया गया है जबकि बहुमूत्र एवं मूत्रातिसार के लिए कोई लिङ्ग भेद नहीं है) अतः प्रथम पोलीयूरिया के स्वरूप को जानना आवश्यक होगा।

आयुर्वेद में मूत्र के प्रमाण वृद्धि एवं बार-बार प्रवृत्ति से सम्बन्धी रोग समूह को 'प्रमेह' या 'मेह' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित किया है अतः इस नई संज्ञा का संदर्भ में अधिक महत्व नहीं रहता। फिर भी नव्य चिकित्सा साहित्य में वर्णित पोलीयूरिया पर दृष्टिपात कर लेना उचित ही होगा।

बहुमूत्र—पोलीयूरिया—जब मूत्र के प्रमाण में अतिशय वृद्धि हो जाती है तब उसको पोलीयूरिया कहा जाता है यह ६-७ लिटर से लेकर २० लिटर या अधिक तक प्रति २४ घं० हो सकती है। इस मूत्र राशिप्रमाण वृद्धि की अवस्था को ही बहुमूत्र कहा जाता है। यह मुख्यतया निम्न रोगों में संलग्न पाई जाती है यथा—

(१) डायबिटीज मेलीटस या मधुमेह में प्रभूतमूत्रता या बहुमूत्र लक्षण पाया जाता है। मूत्र के विशिष्ट गुरुत्व में वृद्धि एवं मधुर मूत्रता (Glycosuria) उसके प्रमुख अन्य वैकृत लक्षण हैं। यह इन्सुलीन (क्लोम पैंक्रियास रस है) की कमी से सम्बद्ध अवस्था है।

(२) डायबिटीज इन्सीपिडस—इसको उदकमेह कह सकते हैं। उसमें भी मूत्र प्रमाण की वृद्धि होती है। इसमें मूत्र के विशिष्ट गुरुत्व में कमी पाई जाती है तथा मूत्र की मधुमयता भी नहीं होती यह पिट्यूटरी स्राव विकार के रूप में माना जाता है।

(३) अन्य मधुप्रमेह रूपी अवस्था में—

(क) अस्थायी मधुमूत्रता (टेम्पररी ग्लाइकोसूरिया) इसका सम्बन्ध किसी मानसिक सम्भ्रम, जीर्ण मद्यात्यय (क्रोनिक एल्कोहोलिज्म) वृक्करोग, गर्भावस्था तथा सिस्टोयूरिया, मस्तिष्क गत अर्बुद, मस्तिष्कावरण शोथ आदि अनेक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। कई आहार में पुर कार्बोहाइड्रेट वृद्धि भी इसका कारण होती है। [illegible], और मूत्रकृच्छ्र, उच्च रक्तचाप, उग्र ज्वर, सब रोगों के बाद (यथा इन्फ्लूएन्जा एवं डिप्थीरिया) आदि। इसके अतिरिक्त

मानसिक आवेश एवं शारीरिक तनाव भी कारणभूत माने जाते हैं। कुछ मानसिक रोगों में भी इसे पाया जा सकता है यथा अपस्मार में। यह अस्थायी रूप में शर्करा प्रमाण में वृद्धि है।

(ख) लेग ग्लाईकोसूरिया—इसमें रक्तगत शर्करा भोजन के बाद तीव्रता (जल्दी) अति मात्रा में बढ़ जाती है। इसमें फास्टिंग रक्त शर्करा प्रमाण प्राकृत होता है। इसके कारण से इन्सुलीन क्रिया में देर होना माना जाता है। इसमें लक्षण वैशिष्ट नहीं मिलता। इसे शुगर टोलरेन्स कर्व द्वारा जाना जा सकता है।

(ग) वृक्कीय ग्लाईकोसूरिया—इसे वृक्कीय मधुमेह भी कह सकते हैं। साथ डायबेटिस इन्नोसेन्स भी कहते है। इसमें मूत्र में स्वल्प प्रमाण में शर्करा मिलती है। परन्तु रक्त शर्करा पर्याप्त प्रमाण में रहती है। इसके कारण में थ्रेशोल्ड की न्यूनता मानी जाती है। यह अनायास भी हो सकता है। कार्वोहाईड्रेट का भोजन में वृद्धि से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(४) वृक्क विकार—कतिपय वृक्क विकारों में भी वहुमूत्र पाया जा सकता है यथा—

(१) जीर्ण वृक्क शोथ—इसमें वहुमूत्रता मिलती है। मूत्र में विशिष्ट गुरुत्व की कमी, तथा स्वल्प एलब्युमिनयूरिया पाया जाता है।

(२) एनीलोयड वृक्क—इसमें मूत्र प्रमाण वृद्धि के साथ वि० गु० में न्यूनता एवं प्रभूत एल्ब्युमिनयूरिया मिलता है।

(३) अस्थायी वृक्क वृद्धि—के नाम से परिचित इस रोग में वृक्कीय भेद वेदना, वृक्क वृद्धि (आकार वृद्धि) एवं चल वृक्कता प्रमुख घटनायें हैं। मूत्र निकल जाने से वेदना में शान्ति अनुभूति तथा पुनः मूत्र संचय होने पर वेदना प्रतीत होती है। यह हाईड्रोनेफ्रोसिस से भिन्न अवस्था है। यहां वहुमूत्रता प्रतिक्रिया रूप में होता है।

(५) ज्वर की आपेक्षावस्था के बाद।

(६) अस्थायी वहुमूत्रता को हिस्टीरिया, नाड़ी उत्तेजना, मद्य विकार, सेरिव्रल ट्यूमर आदि के साथ पाया जा सकता है।

(७) मूत्रल ओषध प्रयोग एवं आहार दोष से भी वहुमूत्रता सम्भव है।

उपरोक्त हेतुओं को देखते हुए वहुमूत्र की चिकित्सा कल्पना निम्नानुसार करनी पड़ेगी।

(१) मधुमेह (डायविटीज मेलीटस) जन्य वहुमूत्र में इन्सुलीन या मधुमेह हर अन्य कल्प, देकर। कार्वोहाईड्रेट निषेध एवं आहार नियन्त्रण आवश्यक।

(२) उदकमेह (डायविटीज इन्सीपीडस) जन्य वहुमूत्र में पिटिच्युरी स्राव द्वारा चिकित्सा की जा सकती है। कार्वोहाईड्रेट निषेध का कोई विशेष लाभ नहीं।

(३) अस्थायी मधुमूत्रता (टैम्परेरी ग्लाईकोसूरिया) में निदानानुसार आहार, संक्रमण भार आदि का नियन्त्रणपूर्वक मधुमेहहर उपचार।

(४) लेग ग्लाईकोसूरिया में मधुमेह उपचार।

(५) किडनी ग्लाईकोसूरिया में मधुमेह चिकित्सा।

(६) जीर्णवृक्कहर शोथ, ओजोमेह (अल्बुमीनयूरिया) अस्थायी वृक्कवृद्धि में हेतु एवं विकृति को ध्यान में रखकर उपचार उपयोगी होते हैं।

(७) अस्थायी वहुमूत्रता कारण के दूर होने पर स्वतः ठीक हो सकते हैं। अतः निदानपरिवर्जन ही प्रमुख उपचार है।

मूत्रातिसार रोग एवं सोमरोग—आयुर्वेद के कुछ नवीन ग्रन्थों में वहुमूत्र के साथ ही मूत्रातिसार एवं सोमरोग जैसी संज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है। परन्तु इन वर्णनों में वर्णन दोष देखने को मिलता है यथा—

(१) योगरत्नाकर में वहुमूत्र का वर्णन प्रमेह के समानान्तर सा प्रतीत होता है जबकि भैषज्य रत्नावली में उससे भिन्न है।

(२) योगरत्नाकर में वर्णित सोमरोग का जो वर्णन दिया गया है वह वर्णन (या उसका कुछ अंश) भैषज्य रत्नावली में वहुमूत्र में दिया है।

(३) वहुमूत्र से प्रमेह होने की कल्पना योगरत्नाकर में स्पष्ट दीखती है जबकि भैषज्य रत्नावली में

इतना स्पष्ट वर्णन नहीं है तथापि 'शर्करा या मूत्रता' का लक्षण दिया है।

(४) इस प्रकार इन रोगों के वर्णन में परस्पर संकलन दोष स्पष्टतया देखने को मिलता है।

सम्भव है यह वर्णन मधुमेह, उदकमेह आदि को ध्यान में रखकर किये गये हों। परन्तु जब 'प्रमेह' जैसे विस्तृत वर्गीकरण के रोग समूह अपने पास हों तब इस प्रकार की नई शब्द रचना का औचित्य प्रतीत नहीं होता।

फिर भी यहां पर 'बहुमूत्र' शीर्षक से वर्णित सामग्री का संक्षिप्त विवरण देना अनुचित न होगा। मूत्रातिसार एवं सोमरोग का विचार इस लेख में नहीं किया जा रहा है। यह वर्णन मुख्यतया योगरत्नाकर एवं भैषज्य रत्नावली के ऊपर आधारित हैं।

हेतु—बहुमूत्र के हेतु के रूप में जो निदान उपस्थित किये गये हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) श्रम, (२) अति स्त्री गमन, (३) शोक, (४) अभिचार दोष, (५) गरदोष।

विकृति—निदान सेवन से सर्व शरीरस्थ अब शोषग्रस्त हो मूत्रमार्ग से प्रस्रवित हो बहुमूत्र करता है।

लक्षण—निम्न तालिका इनके लक्षण को स्पष्ट करने के हेतु दी गई है—

क्र०	लक्षण	यो. र.	भै. र.
(क)	मूत्रल		
(१)	प्रसन्न	—	+
(२)	विमल	—	+
(३)	शीत	—	+
(४)	निर्गन्ध	—	+
(५)	निरुजा	—	+
(६)	सिता (श्वेत) (मधुर)	—	+
(७)	अतिमात्रा	—	+
(८)	पीत	+	—
(९)	मूत्र पर मा[illegible]ण	+	—
(ख)	देहल		
(१)	दौर्बल्य	—	+
(२)	गतिहीनता	—	+
(३)	शिरः शैथिल्य	—	+
(४)	अङ्गशैथिल्य	+	—
(५)	मुखशोष	+	—
(६)	तालुशोष	+	—
(७)	ओष्ठशोष	+	—
(८)	अतितृषा	—	+
(९)	दाह	+	—
(१०)	मलस तनु (देह)	+	—
(११)	कार्श्य	+	—
(१२)	श्रांत	+	—
(१३)	स्वेदगन्ध	+	—
(१४)	करपाददाह	+	—
(१५)	रसना-नेत्र-कर्णदाह	+	—
(१६)	कास	+	—
(१७)	अरुचि	+	—
(१८)	शीतप्रियता	+	—
(१९)	पिटिकोत्पत्ति	+	—
(ग)	उपद्रव (प्रमेह)		
(१)	मधुरास्यता	+	—
(१)	स्वेदगन्ध	+	—
(३)	अङ्गशैथिल्य	+	—
(४)	शैय्या, आसन, स्वप्न-इच्छा	+	—
(५)	[illegible]त्र-जिह्वा-श्रवण [illegible]	+	—
(६)	[illegible]	+	—
(७)	शीतप्रियता	+	—
(८)	गल-तालु शोष	+	—
(९)	[illegible]	+	[illegible]

नोट—[१] इसको भी 'सोम रोग' कहा गया है जबकि मूत्रातिसार एवं सोम रोग संज्ञा से अन्यत्र भी रोग वर्णन है।

[२] इसकी उपेक्षा से मूत्रातिसार हो जाता है जिसमें वार-वार मूत्र त्याग, वलह्रास, जलह्रास, मूत्र-वद्धता पूर्वक अति तृषा होती हैं। (भै. र.)

चिकित्सा—योगरत्नाकर में वहुमूत्रमेह संज्ञा का प्रयोग कर वहुमूत्र के सामान्य लक्षण देकर, वाग्भट्ट के वचन द्वारा प्रमेह (मधु) में उपरोक्त लक्षणों को दिया है। साथ ही निम्न लिखित विचार पूर्वक चिकित्सा करने को कहा है यथा—

[१] प्रमेह को मधुर, चिकना, मधु के समान समझकर दो प्रकार का विचार करना चाहिए–१. संतपर्ण जन्य कफजमेह २. अपतर्पण जन्य वातजमेह (मधुमेह) कफ पित्त क्षीणता से उत्पन्न। (यो. र.)

[२] साध्यासाध्यता की दृष्टि से कफज साध्य, कफ पित्तज एव वातज असाध्य, पित्तज साध्य है। अत्यधिक अदूषित मेह (मूत्र) होने पर साध्य है।
(यो. र.)

[१] **प्रयुक्त कुछ कल्प**—त्रिफला, वांसपत्र, नागर-मोथा, पाठा, कृत क्वाथ में मधु डाल कर दें। (यो.र.)

[२] तालकेश्वर रस (पारद भस्म रससिंदूर) वंग भस्म, लोह भस्म, अभ्रक भस्म कृत १-१ माशा प्रमाण मधु से सेवन। (यो. र.)

[३] आनन्द भैरव वटी [शुद्ध विष (वच्छनाग), मरिच, पीपर, शु. टंकण, शु. हिंगुल कृत वटी] २ रत्ती मधु से। (यो. र.)

उपरोक्त यो. र. के कल्पों के अतिरिक्त एव कुछ रूपान्तरित रूप भैषज्य रत्नावली में मिलता है यथा—

(१) पके केले को मथ कर उसमें विदारीकंद, शतावर १-१ माशा डाल दुग्धानुपान से प्रातः दें।
(भै. र. ८६/७)

(२) आमलकी स्वरस १ तोला मधु से या आमलकी स्वरस एवं अपामार्ग क्षार दें। (भै. र. ८६/८)

(३) तालकन्द (मूल), खजूर, शुष्क पक्व कदली फल कृत मिश्रण १ मा. समान शर्करा के साथ दुग्धानुपान से दें। (भै. र. ८६/९)

(४) माष, यष्टी, विदारीकन्द, शर्करा मिश्रण की २ माशा मात्रा मधु से। (भै. र. ८६/१०)

(५) त्रिफला, पाठा, वंशपत्र, मुस्तक कृत चूर्ण २ माशा को घृत मधु से। (भै. र. ८६/११)

(६) शुद्ध अहिफेन १/२ तोला मधु से।
(भै. र. ८६/१२)

(७) वहुमूत्र जन्य तृषा नाशार्थ सिद्ध जल प्रयोग अनन्तमूल, यष्टी, द्राक्ष, दर्भ, सरल काष्ठ, रक्त चन्दन इरड, महुवा पुष्प कृत चूर्ण २ तोला को ३० तोला पानी में उवाल, छान पानार्थ दें (भै. र. ८६/१३/१५)

(८) **तालकेश्वर रस (र.सा.सं.)**—रससिंदूर, अभ्रक भस्म, वङ्ग भस्म समान भाग लें मधु के साथ घोटें–१-१ रत्ती की गोली वनावें। इसकी एक गोली मधु से दे।

अनुपान रूप से—पक्व उदुम्वर फल चूर्ण $1\frac{1}{2}$ तोला को मधु से दें। यह गदनानन्दोक्त तालकेश्वर रस वहुमूत्र नाशक है।

(९) न्यग्रोधादिगण का प्रयोग

(१०) अन्यरस/ लोह आदि।

अनुभूत चिकित्सा—किसी विशेष रोग से असम्वद्ध वहुमूत्र लक्षण युक्त रोगियों को निम्न चिकित्सा योजना उपयोगी पाई गई है।

(१) उदुम्वर, विल्व, जाम्वु पत्र स्वरस २ तोला प्रातः मधु डाल कर।

(२) सप्तपर्ण घनवटी, आरोग्यवर्धनी २-२ गोली जल से २ वार।

(३) धात्रिनिशा, पञ्चनिम्वादि चूर्ण १ माशा जल से।

(४) लोध्रासव १ तोला जल से भोजनोत्तर अनिद्रा एव अरति होने होने पर निद्रोदय रस आवश्यकतानुसार उपयोगी रहता है।

प्रमेह होने के जो कारण बताये गये हैं वे ही बहुमूत्र को प्रारम्भ में प्रकट करते हैं और यह बहुमूत्र ही चिकित्सा न होने पर प्रमेह में परिवर्तित होकर मधुमेह में परिणत हो जाता है। अति मात्रा में जलपान एवं अजीर्ण कारक नया धान्य, मटर व उड़द आदि दालों का नवीन ही अति सेवन, जलप्रधान देशचर वारिचर जलजीवों (मछली आदि) के मांसों का अति सेवन, चावल का आटा, खीर, कृशरा, गन्ने का रस, दही, कच्चा दूध, मधुर द्रव द्रव्य, दिन में सोना, शारीरिक श्रम न करना, आराम न करना, अति स्त्री प्रसंग आदि कफ प्रकोपक आहार-विहार जो कि कफ मेद एवं मूत्र के उत्पादक हों उनके अति सेवन से उदकमेह व बहुमूत्र होता है। अधिक चिन्ता, शोक, भय, अति परिश्रम भी बहुमूत्र रोग के हेतु हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक इसके दो प्रकार मानते हैं—(१) स्थायी, (२) अस्थायी।

(१) स्थायी—जीर्ण वृक्कशोथ, धमनी दाढर्य, पिट्यूटरी ग्रन्थि की विकृति तथा मधुमेह में बहुमूत्र का स्थायी रूप से मिलना है।

(२) अस्थायी—हिस्टीरिया, अपस्मार, मानसिक अशान्ति, हलीमक, डेटलस् क्राइसिस (Dietlis Crisis) चलवृक्क से उत्पन्न शूल, मद्यपान, जल, चाय, काफी आदि पेयों का सेवन, हृत्शूल, अर्धावभेदक, मानसिक आघात, मूत्रल औषधियों का सेवन आदि कारणों से अस्थायी रूप में यह रोग होता है।

सम्प्राप्ति—मेदश्च मांसं च शरीरजं च।
क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदूष्य॥

—मा० नि०

इस रोग का मूल कारण दोष कफ है एवं दूष्य, मेद, रक्त व लसीका है। दोष एवं दूष्य के एकत्र मिलने पर कफ के प्रथम ही अत्यधिक होने से कफ शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है। प्रकुपित हुआ वह कफ शरीर में फैल जाता है। शिथिलता के कारण वह मेद से ही प्रारम्भ में मिश्रित होता है अतः वही मेद से मिश्रित हुआ स्वयं दुष्ट दोषों के कारण मेद को भी दूषित कर देता है। वह दुष्ट कफ, दुष्ट मेद से युक्त होकर शरीर में क्लेद (जलीय भाग) को दूषित करता हुआ उसे मूत्र रूप में बदल देता है तथा बार-बार मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकल जाता है।

पूर्व रूप—

दन्तदीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट्स्वाद्वास्यं च जायते॥

—मा० नि०

दांत, तालु, गला एवं जिह्वा का मल लिप्त होना, हस्त एवं पादतल में दाह होना, शरीर में चिक्कनता होना, मुख का मधुर होना, ये पूर्व रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आलस्य, निद्रा एवं तन्द्रा भी पूर्व रूप में मिलते हैं।

लक्षण—'सामान्यं लक्षणं तेषाम् प्रभूताविल मूत्रता' मा. नि.। सामान्य लक्षण जैसा कहा गया है—प्रभूत मूत्रता तथा आविल मूत्रता ये दो लक्षण विशेषतः होते हैं। प्रभूत मूत्रता से अधिक मात्रा में तथा बार-बार मूत्रत्याग होना ये दोनों लक्षण ज्ञात होते हैं तथा आविल मूत्रता (मूत्र का गंदलापन) ये प्रमेह के मुख्य लक्षण हैं किसी में एक व किसी में दोनों लक्षण मिलते हैं पर बहुमूत्र में अविरल मूत्रता (मूत्र में गन्दलापन का होना आवश्यक नहीं है।)

आचार्य चरक के शब्दों में—

अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्।
श्लेष्मकोपीन्नरो गुणमुदकमेही प्रमेहति॥

अतः बहुमूत्र में स्वच्छ मात्रा में अधिक, श्वेत (वर्ण रहित) स्पर्श में ठण्डा, गन्ध रहित जल के समान पीड़ा रहित मूत्र त्याग होता है। चरक सुश्रुत ने 'किलदावलि पिच्छिलाम' पर विशेष गौर नहीं दिया है अतः इस लक्षण का उदकमेह में मिलना अति आवश्यक नहीं। स्त्रियों के सोमरोग में जिनका कि समावेश उदक मेह बहुमूत्र रोग में है में भी 'प्रभूतमूत्रता' का लक्षण मिलता है परन्तु आविलत्व नहीं मिलता।

मूत्र की राशि बहुत अधिक होती है दिन में १०-२० पाइण्ट तक। रात-दिन की मूत्र की मात्रा में ठोस पदार्थ नहीं बढ़ते तथा अन्य किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। रोग के मृदु होने पर प्यास एवं मूत्र

कूटकर २०-२० ग्राम के ४० लड्डू बनवाये गये। उक्त कर्मचारी को सुबह-शाम १-१ लड्डू खाकर पानी पीने को कहा गया। हम यह देखकर दंग रह गये कि ४-५ दिन में ही उसे लाभ होने लगा और २० दिन का कोर्स पूरा करने पर बिल्कुल व्याधि मुक्त हो गया। तब से अब अब तक उसे यह व्याधि नहीं हुई और पूर्ण स्वस्थ है यह घटना १८८५ की है तब से अब प्रतिवर्ष च्यवनप्राश बनाते समय आंवले की गुठलियों को फेंकते नहीं बल्कि इसकी गिरी निकाल कर रख लेते हैं तथा रोगियों को १५० ग्राम गिरी देकर उपरोक्त फार्मूले के अनुसार गुड़ और तिल मिलाकर लड्डू बनाकर खाने को निर्देश देते हैं प्राय: सर्दियों में वृद्ध पुरुषों को बहुमूत्र की शिकायत व रात्रि में बार मूत्र त्याग की शिकायत पौरुष ग्रन्थि के शोथ के कारण भी होती है उनके लिए यह योग अत्यन्त ही लाभदायक है। अत्यन्त ही सरल, सस्ता योग है पर बहुमूत्र में तो चमत्कार को नमस्कार है।

परीक्षित पेटेण्ट योग

(१) निदो (Nio)—चरक कम्पनी की है। २-२ गोली दिन में ३ बार खाने से बहुमूत्र एवं बच्चों के शैय्या मूत्र में लाभदायक है, बच्चों को १-१ गोली दें।

(२) बेलूरी (हमदर्द कम्पनी) की है १-१ चम्मच सुबह-शाम व रात को सोते समय दें, बहुमूत्र में अत्यन्त लाभदायक, आशुफलप्रद योग है।

तारकेश्वर रस—रस सिन्दूर, लौह भस्म, बंग भस्म, अभ्रक भस्म—प्रत्येक २०-२० ग्राम, गूलर फल ८० ग्राम।

स्वानुभूत विधि—हम इसमें गूलरफल चूर्ण योग से दुगना मिलाकर इस योग का निर्माण करते हैं। सब प्रथम रस सिंदूर को खरल में महीन पीसकर फिर भस्म तथा काष्ठौषधियां मिलाकर गूलरफल स्वरस व पत्र स्वरस की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियां बना लें। २-२ गोली सुबह-शाम पानी से, बहुमूत्र में अत्यन्त गुणकारी है।

बहुमूत्रान्तक रस—रस सिन्दूर, लौह भस्म, वंग-भस्म, शुद्ध अफीम, गूलर फल के बीज, बेल की जड़ की छाल तथा तुलसी समान भाग लेकर, प्रथम रस सिन्दूर को खरल में घोटकर भस्म और काष्ठौषधियों को मिलाकर गूलर के फलों के रस से सबको घोटकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें बहुमूत्र एवं सोम रोग दोनों में ही यह अत्यन्त लाभदायक है। २-२ गोली सुबह-शाम पानी से देनी चाहिए।

सोमनाथ रस—लौह भस्म २० ग्राम, शुद्ध पारद शुद्ध गन्धक, छोटी इलायची, तेजपात, हल्दी, दारुहल्दी, जामुन छाल, खस, गोखरु, विडङ्ग, जीरा, पाठा, आंवला, अनार छाल, शु० टंकण, सफेद चन्दन, शुद्ध गुग्गुल, लोध्र, शाल वृक्ष की छाल, अर्जुन छाल और रसोत ये सब १०-१० ग्राम—प्रथम पारद-गन्धक की कज्जली कर फिर अन्य औषधियों को मिलाकर-बकरी के दूध की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियां बना कर छाया में सुखाकर रखलें।

मात्रा—२-२ सुबह-शाम दाव्यादि क्वाथ से सेवनीय है। बकरी के दूध व शहद के अनुपान से भी दे सकते हैं। पर दार्व्यादि क्वाथ के अनुपान से स्त्रियों के सोमरोग में अत्यन्त ही लाभ दायक है, हम दाव्यादि क्वाथ में भल्लातक नहीं मिलाते बल्कि उसके स्थान में उसी अनुपात में सफेद चन्दन मिलाते हैं। तथा दार्व्यादि क्वाथ सोमरोग में लेना भी लाभप्रद है पर सोमनाथ रसके अनुपान से तो यह अत्यन्त लाभ कर है, हमारा अनुभूत है।

अन्य प्रयोग—(१) घृत भ्रष्ट हरिद्रा चूर्ण १० ग्राम, रस माणिक्य २ रत्ती मधु से चटावें।

(२) पका हुआ केला १ लेकर उसे मथ लें फिर उसमें आमले का रस + मधु १-१ तोला मिलाकर—इस मिश्रण को थोड़ा-थोड़ा चटावें।

(३) अधिक तृष्णा में—अनन्तमूल, मुलहठी, मुनक्का, कुश, सरल, लाल चन्दन और महुए के फूल को १२ घण्टे जल में भिगोकर मसल कर छान लें, यही जल पीने के लिए प्रयोगार्थ दें।

(४) वसन्त कुसुमाकर रस का कुछ दिन सेवन करने से शरीर स्वास्थ्य उत्तम होता है बहुमूत्र आदि रोग में स्थायी लाभ होता है।

वेग से फट जाना, कान के पर्दे का किसी कारण वस स्थूल हो जाना, मस्तिष्क, विकृति, मानसिक उत्तेजना टिम्पैनम के घाव के कारण कर्णपटह में छेद होना, वाहरी कान का छेद बन्द होना, श्रवण नाड़ी के रोग, फिरंग विष, तम्वाकू तथा कुछ अन्य तीव्र ज्वरों के विष से अथवा वृद्धावस्था के कारण श्रवण नाड़ी में क्षीणता के आने से मैनिन्जाइटिस, एलर्जिक विष, कोर्टेक्स के श्रवण केन्द्र में रोग या उसमें क्षत का पहुंचना, पर्दे (Tympanic membrane) कान की छोट-छोटी अस्थितियों (Ossicles) में 'एन्काइलोसिस' जैसे रोग की उपस्थिति, मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) से वालकों में लापरवाही वतरने से किसी नई या पुरानी वीमारी का दीर्घ काल तक भोगना एवं पक्षाघात टायफस, आरक्त ज्वर, मलेरिया, आतशक, क्विनीन आदि तेज औषधियों के अपव्यवहार करने के कारण वाधिर्य रोग उत्पन्न होता है।

यह रोग 'स्ट्रप्टोकोकाई पायोजीन्स' एवं स्टेफाइलो कोकाई के संक्रमण से प्रारम्भ होता है। कोई-कोई जन्म से ही वहरा होता है। हिस्टीरिया एवं क्लोरोसिस रोग में और मध्य कर्ण की क्रिया में वाधा या कुछ मस्तिष्क लक्षण जैसे–वेहोशी, चक्कर आना, घूमते समय अचानक गिर पड़ना आदि कारणों से वहरापन हो जाता है।

रोगानुसार कारणों का विस्तृत विवेचन—वाधिर्य रोग २ प्रकार का होता है—

(१) जन्मजात।

(२) जन्मोत्तर अर्जित।

जन्मजात वधिरता—यह विकृति पैदा होने के पूर्व से ही रहती है। यह रोग विशेष परिवारों में मिलता है। इस प्रकार की वधिरता की उत्पत्ति वंशानुगत कारणों से होती है। माता के गर्भ में ताप, चोट, रसायन आदि का प्रभाव पड़ने से भी यह रोग होते देखा गया है।

जन्मोत्तर अर्जित—इसे (Post Natal Deefness) अर्थात् वच्चे के पैदा होने के पश्चात् की वधिरता भी कहते है। इस प्रकार की वधिरता ३ प्रकार की होती है—

(१) संवहजन्य वाधिर्य।

(२) प्रत्यक्ष ज्ञानजन्य वधिरता।

(३) मनोवैज्ञानिकजन्य वाधिर्य।

विभिन्न प्रकार की वधिरता के निम्न कारण हैं—

[१] पैदा होने के पूर्व (Pre-natal, Congenital) को वधिरता के निम्न कारण होते हैं—

(अ) श्रवणयंत्र [कर्ण, मध्यकर्ण, काँक्लियाँ] के निर्माण की विकृति।

(व) वाह्यकर्ण नलिका का संकीर्ण होना।

(स) गर्भाशय के अन्दर भ्रूण की विकृति—

(१) आर० एच० की गड़वड़ी।

(२) रुवेला संक्रमण।

(३) औषधियों, विषों आदि का प्रयोग।

(४) व्यापक संज्ञाहरण का उपयोग।

(५) गर्भावस्था की रुधिर विषाक्तता।

(६) गर्भपात की सम्भावना।

(द) पैदा होते समय की विकृति—

(१) समय से पूर्व वच्चे का पैदा होना।

(२) प्रसव में कठिनाई या विलम्व से प्रसव का होना।

(३) आक्सीजन की कमी।

(४) कन्वलशन।

(५) कामला।

(य) मस्तिष्क का लकवा।

[२] पैदा होने के वाद की वधिरता या वाधिर्य रोग—

संवहन की विकृतिजन्य वाधिर्य

स्वरलहरियों के संवहन में निम्न कारणों से विकृति हो सकती है—

(१) अर्ति—(१) इसके कारण कान के वाहिरी नलिका का रास्ता संकीर्ण हो जाता है।

(२) वाह्यकर्ण में फुंसी की उपस्थिति।

(३) यूस्टेचियन नलिका में अर्ति।

(४) मध्यकर्ण में अर्ति (ओटाइटिस मीडिया)।

शब्दवह स्रोत को विभिन्न कारण से वायु आवृत कर देने से अथवा मात्र श्लेष्मा द्वारा ही मार्ग का अवरोध करने से कान से कुछ भी नहीं सुनाई नहीं पड़ता है; इसे ही वाधिर्य अर्थात् बहिरापन या बधिरता कहते हैं। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्री इसे डेफनेस (Deafness) कहते हैं। कारणों की दृष्टि से कान में मैल जम जाने, कान बहने के कारण कान के आभ्यन्तर पूय, स्राव या दूषित रक्त जमकर सूख जाने, शब्द का वहन करने वाली शुद्ध रूप में अथवा कफ के साथ मिलकर स्रोत को ढक करके स्थिर हो जाने, कान के आभ्यन्तरिक पटह या परदे के फट जाने, कान को संवेदना पहुंचाने वाली नाड़ियों की विकृति होने, परमाणु बम, प्रक्षेपास्त्र, बारूद, आतिशबाजी के भयंकर ध्वनिकारक सामान के विस्फोट को सुनने, स्त्रियों के योषापस्मार, बच्चों या पुरुषों के अपस्मार, अत्यधिक कोलाहल, मानसिक विकृतियों, संवेदी तन्त्रिका विकृति, विष का मौखिक सेवन या बाह्य प्रयोग, सहज रूप से कान का छिद्र बन्द होने (कोफोसिस या कांजिनिटल डेफनेश (Kophosis or Congenital deafness), तोप आदि के शब्द से अथवा विद्युत की कड़क से कान के पटह (पर्दे पर आघात पहुंचने, कठिन शीत लगने, मस्तिष्क के दुर्बल या विकृत होने, सहज या जन्मजात, कभी-कभी पित्तज या तीव्र ज्वरों में, अत्यधिक क्विनाईन मलेरिया में सेवन करने आदि कारणों से वाधिर्य व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

लक्षणों की दृष्टि से वाधिर्य के रोगी को कभी कुछ भी सुनाई पड़ता और कभी कानों में नाना प्रकार की ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं, कभी बहुत जोर से पुकारने पर भी सुनाई नहीं पड़ता और कभी-कभी मन्द-मन्द ध्वनि सुनाई पड़ती है। वृद्धावस्था में बिना किसी बाह्य कारण के अत्यधिक दुर्बलता, वातवृद्धि एवं रूक्षता के कारण बहरापन हो जाता है। बधिर व्यक्ति के हाव-भाव ऐसे निराले, गूंगे सदृश प्रायः दीख पड़ते हैं कि उनकी पहचान सहज में हो जाती है।

वाधिर्य की चिकित्सा में सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन, वमन और विरेचन कराकर कोष्ठों की शुद्धि करें। पश्चात् कान के आभ्यन्तर भाग की शुद्धि करें। यदि कान में मल, पूय, दूषित रक्त या अन्य स्राव जमकर सूख गया हो या आर्द्र रूप में हो तो उसमें रात में ४-५ बूंद बादाम का तैल हल्का-सा गर्म करके डाल दें तथा विपरीत करवट सुला दें। प्रातः उष्णजल का बाष्प नलिका से कान के आभ्यन्तर प्रवाहित करके शलाका और सूक्ष्म चिमटी से मल, पूय आदि निकालकर रुई युक्त शलाका से स्वच्छ पोंछ डालें। अब उसमें बिल्व तैल डालकर विपरीत करवट से ३० मिनट तक लिटाये रखें। कान का इस प्रकार स्वच्छीकरण प्रत्येक सप्ताह एक बार अवश्य किया करें। हम यहां अपने अनुभव का बाधिर्य नाशक एक योग प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे पाठक लाभ उठा सकते हैं—

कड़वे बादाम का तैल २०० मि०लि०, बकरी का मूत्र, अपामार्ग के बीजों का चूर्ण, निर्गुण्डी के पत्तों का स्वरस, बालबिल्व के गूदे को जल में घिसकर एवं पीसकर निकाला हुआ कल्क द्रव्य—इनमें चूर्ण १०० ग्राम तथा तरल प्रत्येक १००-१०० मि०लि० लेकर एक कलईदार कड़ाही में सबको डालकर और मिलाकर मन्द अग्नि पर पकायें। जब तैल मात्र शेष रह जाय तो उतारकर वस्त्र से छानकर कांच बोतल में सुरक्षित रख लें। प्रतिदिन २-३ बार इसकी २-४ बूंद कान में डालते रहने से बधिरता दूर होती है तथा कर्णरोगों में भी लाभप्रद है।

बधिरता विषयक विशेषांक में प्रस्तुत लेख डा० महानसिंह चौहान द्वारा विस्तार से सम्पादित किया गया है जिससे इस विषय में पाठक पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। हम डा० चौहान के विशेष आभारी हैं जिन्होंने विशेषांक हेतु अनेक उपयोगी लेख भेजकर हमें विशेष सहयोग प्रदान किया है।

—महेश्वरप्रसाद

(२) चोट लगना—(१) कान में बाह्य पदार्थ का पहुंच जाना।

(२) पर्दे में चोट (कान से बाहरी पदार्थ निकालते समय)।

(३) कान की अस्थि में विकृति।

(४) सिर की आधार वाली हड्डी के टूट जाने से।

(५) कान के पर्दे में चोट लगना।

(६) कान के मार्ग में छिद्र न होना।

(६) बाह्यकर्णनलिका के मार्ग का संकीर्ण होना।

(३) रसौली—कान के पास साधारण या घातक स्वरूप का अर्बुद।

(४) अन्य कारण—(१) कान की मैल।

(२) ऑस्टियोस्क्लेरोसिस।

तन्त्रिकाजन्य या प्रत्यक्ष ज्ञान की विकृतिजन्य बाधिर्य

इसमें निम्न विकृतियां हो सकती है जिनसे बाधिर्य हो सकता है—

(१) अर्ति—लेबीरिन्थ में जीवाणु संक्रमण।

(२) चोट लगना—(१) लगातार उच्च स्वरूप का शोर-गुल।

(१) कन्वल्सन आदि के समय कान के पर्दे का फटना।

(३) तीव्र ध्वनि।

(४) कपाल के आधार की अस्थि के टूटने पर लेबीरिन्थ में विकृति होना।

(५) विस्फोटक पदार्थ के फटने से तीव्र आवाज का होना—जिससे पर्दा फट जाता है।

(३) औषधिजन्य कारण—निम्न औषधियों के सेवन से बाधिर्य रोग उत्पन्न हो सकता है—

१. स्ट्रेप्टोमाइसिन, २ निओमाइसिन, ३ केनामाइसिन, ४. क्लोरोमाइसिन, ५, पोलीमिक्सिन 'बी', ६. क्विनीन, ७. एस्प्रिन, ८. सैलीसिलिक एसिड आदि।

(४) मारकद्रव्य—[१] मद्यपान का अत्यधिक नियमित सेवन।

[२] तम्बाकू का अनियमित सेवन।

(५) विष—[१] संखिया।

[२] एनिलीन—यह तीव्र विष है। इसे बालों को काला करने के काम में लाया जाता है। इसके नियमित प्रयोग से बधिरता उत्पन्न होती देखी गई है।

(६) अर्बुद—निम्न स्थानों की रसौली बाधिर्य रोग उत्पन्न कर सकता है।

(१) आठवीं तन्त्रिका की रसौली ट्यूमर। यह तन्त्रिका अन्दर की श्रवण नलिका से सम्बन्धित रहती है।

(७) अन्य विविध कारण—[१] वृद्धावस्था, [२] मेनियर का रोग [३], मधुमेह, [४] तन्त्रिका शोथ [न्यूराइटिस]।

(८) मनोवैज्ञानिक कारण—हिस्टीरिया।

जन्मजात—जन्मजात बाधिर्य कान की गठन विकृति, लेबीरिन्थ या कोक्लिया का न होना अथवा उनमें विकृति का होना आदि से होता है। डा० लिखा-चेव कान, नाक और गले के रोग (E. N. T.) नामक पुस्तक में रूसी वैज्ञानिकों ने लिखा है कि जन्मजात बधिरता का कारण लैबीरिन्थ का कुविकास या गर्भकालीन जीवन में लैबीरिन्थ में कोई रोग का होना होना है। कुछ विदेशी वैज्ञानिकों ने जन्मजात बधिरता के लिये आनुवंशिक कारकों को ही जिम्मेदार ठहराया है। इसमें जन्म से बच्चे में सुनने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसके कान में या तो श्रवण यन्त्र का अभाव रहता है अथवा उसके श्रवण की तंत्रिका या वातयन्त्र में विकार होता है। ऐसे व्यक्ति आजीवन गूंगे रह जाते हैं। यही नहीं न सुनने के कारण वे बोलने का अनुकरण भी नहीं कर सकते। इस प्रकार से बहरेपन के साथ-साथ गूंगे भी रह जाते हैं। आजकल ऐसे साधन उपलब्ध हो गये है जिनके द्वारा गूंगे को बोलना और पढ़ना-लिखना सिखाया जा सकता है।

जन्मोत्तर अर्जित बधिरता (Equired Deafness) जन्मजात बधिरता के मुकाबले ज्यादा पायी जाती है और बहुधा यह किसी संक्रामक रोग का परिणाम होती है। इसका प्रमुख कारण मस्तिष्क मेरु में तन्त्रिका शोथ है, दूसरा कारण है स्कारलैट ज्वर, जो

मध्य तथा आंतर कर्ण को प्रभावित करता है और मिजिल्स भी इसका एक कारण है। प्रायः यह देखने में आया है कि बधिरता टाइफाइड, सिफिलिस, डिफ्थीरिया, मम्पस इन्फ्लूएंजा तथा कुकर खांसी के कारण कम संख्या में होती है। वृद्धावस्था में कान के पर्दे या मध्य कर्ण की अस्थि सन्धियों में दृढ़ता, कठोरता और स्थिरता (अचलता) आने के कारण अनेकों व्यक्तियों में बाधिर्य रोग देखने को मिलता है।

बाधिर्य के अन्य प्रमुख कारणों में है खोपड़ी को चोट लगना। ऐसे कारण जैसे जन्म के समय बच्चे का सिर संकीर्ण योनि में फंस जाना, चिमटी का प्रयोग या देर तक श्वासावरोध अन्ततः बधिरता पैदा कर सकते हैं।

जन्मजात बधिरता में प्रघाण-क्रिया बहुधा अप्रभावित रहती है, जबकि अर्जित बधिरता में, शोथप्रक्रिया के आंतर कर्ण या तंत्रिका-स्कंध में फैल जाने के कारण दोनों लैबीरिन्थाइन क्रियायें लगभग हमेशा ही प्रभावित रहती है।

बाल्यावस्था में प्रायः ५ वर्ष से पूर्व प्रमस्तिष्क मेरुज्वर, सैरीब्रोस्पाइनल फीवर, मस्तिष्क और मेरु-अवतानिका शोथ के कारण मस्तिष्कावरण शोथ (मेनिन्जाइटिस) होता है जैसे मस्तिष्क के और उसके आवरण के रोगों में बहरापन आ जाता है और आजीवन रहता है। किसी-किसी बच्चे में कुछ समय बाद कुछ श्रवण शक्ति वापिस लौट आती है।

क्विनीन, सैलीसिलेट्स के कारण प्रायशः सामयिक बधिरता होती है। पारद, एस्प्रिन से आठवीं नाड़ी के विकार से आंशिक बधिरता हो सकती है। अधिक तम्बाकू और मद्य सेवन से कभी-कभी सामान्य बधिरता उत्पन्न हो सकती है।

कुछ ऐसे व्यवसाय है जैसे-बायलर निर्माता, हवाई जहाज के पायलट, वायरलैस ऑपरेटर, गोताखोर, रायफल शूटिंग सीखने वालों के नेत्रोष्ठिक में धमक लगने से भी बधिरता आ जाती है।

आर्टीरियोस्क्लेरोसिस, मम्पस, इन्फ्लूएन्जा, विटामिन 'ए' और 'डी' सोल्यूबेल्ज की कमी से कभी-कभी बधिरता उत्पन्न हो जाती है। मानसिक रोग के कारण जैसे (हिस्टीरिया) में भी बाधिर्य होते देखा जाता है। रक्तपित्त या रक्तस्राव, ल्यूकीमिया, घातक एनीमिया, हीमोफीलिया या परप्यूरा के कारण अन्तः कर्ण में रक्तस्राव होने से नाड़ी बाधिर्य हो जाता है। सिफलिस की तीसरी अवस्था में आरसेनिक प्रयोग से भी बधिरता हो सकती है।

रोग लक्षण—इस रोग में श्रवण शक्ति घट जाती है अथवा सम्पूर्ण लोप हो जाती है। इसमें रोगी को एक कान अथवा दोनों कानों से नहीं सुनाई देता है। या बहुत कम सुनाई देता है। कान के अन्दर विभिन्न प्रकार के शब्द होते हैं। शब्द कभी रुक-रुक कर होते हैं अथवा निरन्तर होते रहते हैं। कान कभी-कभी यकायक बन्द हो जाता है अथवा कुछ सुन्न सा जाता है।

रोग परीक्षा—शैशव में बधिर मूकता का निदान अत्यन्त कठिन कार्य है। जिन कारणों को नोट करना चाहिए वे हैं—बच्चे में आवाज पर प्रतिक्रिया का अभाव तथा सीटी एवं ट्यूनिंग फोर्क परीक्षा के परिणाम।

श्रवण की उपस्थिति को निश्चित करने के लिये कई निरोपाधिक प्रतिवर्तों का प्रयोग करते हैं जैसे—ऑरोपालेबल या पलकों का झपकना तथा ऑरोप्युपिलरी प्रतिवर्त, जिसका मतलब है बजते हुए ट्यूनिंग फोर्क को सुनाये जाने वाले कान के निकट रखने से पुतली में संकोचन एवं विस्तारण का प्रतिवर्त। अधिक कठिन मामलों में सोपाधिक प्रतिवर्तों के साथ प्रयोग का उपयोग श्रवण की उपस्थिति की जांच के लिए किया जाता है।

(१) वेबर्स परीक्षा—यह परीक्षण संवेदन के अन्तर को जानने के लिए किया जाता है इसके लिए २५६ आवृत्ति वाली कम्पन करती हुई एक स्वरित्र को रोगी के माथे अथवा सिर पर बीच मध्य रेखा में लगाते हैं तत्पश्चात् रोगी से पूछते हैं कि उसे इस ट्यूनिंग फोर्क की आवाज मध्यरेखा में सुनाई दे रही है अथवा किसी एक कान में स्थानिक रूप से सुनी जा रही है। स्वस्थ श्रवण वाले व्यक्ति में आवाज मध्य रेखा में सुनाई पड़ती है। यदि किसी को चालनजन्य बाधिर्य होता है तो उसे यह आवाज प्रभावित कान में

स्थान संश्रित मिलती है। यदि बाधिर्य का रोग चक्रक नाड़ी के विक्षति के कारण हुआ है तो इसे केवल स्वस्थ कान द्वारा सुना जा सकता है। ऐसे ही सिद्धान्त पर एक अन्य परीक्षा है जो नीचे दी जा रही है—

(२) **'रिने' की परीक्षा**—इस परीक्षा के अन्तर्गत कम्पित स्वरित्र को कर्ण प्रवर्ध पर रक्खा जाता है और अंगुली से कान बन्द कर दिया जाता है। जब आवाज का अस्थि संचालन रोगी को सुनाई देना बन्द हो जाता है तब उसे कान खोल कर वहाँ सुनने दिया जाता है। मध्य कर्ण की बधिरता में आवाज का हवा द्वारा संचालन नहीं होता और आवाज अस्थि द्वारा पहुंचायी जा रही थी वह अब बन्द हो जाती है। नाड़ी बाधिर्य में इसका उल्टा होता है जैसा कि रोग रहित कान में होता है।

(३) **श्रावैक परीक्षा**—इस परीक्षा से यह ज्ञात किया जाता है कि रोगी कितना बहरा है। इस परीक्षा में सर्व प्रथम स्वरित्र को रोगी के कर्ण प्रवर्ध पर रख कर आवाज सुनी जाती है। जब वह बन्द हो जाती है तब स्वरित्र को ज्यों का त्यों एक स्वस्थ व्यक्ति के कर्ण प्रवर्ध पर रखा जाता है और आवाज को सुना जाता है। इस प्रकार से श्रवण क्रिया की तुलना की जाती है।

साध्यासाध्यता—'वाग्भट' के मतानुसार बाधिर्य साध्य रोग है। परन्तु आजकल देखने में आता कि बाधिर्य के अनेक भेद असाध्य है। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा का प्रतिपादन किया है जिससे प्रतीत होता है कि रोग साध्य है।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त

(१) जिस कारण से बहरापन (बाधिर्य रोग) हुआ है उसकी चिकित्सा करने से रोगी अच्छा हो जावेगा. किन्तु इसके अच्छा होने में देर लगती है। यहाँ चिकित्सक और रोगी को धैर्य रखना पड़ेगा।

(२) कान में प्रदाह या पीव (Pus) रहने पर उसको दूर करने के लिए पहले ही चेष्टा करें। तत्पश्चात बाधिर्य निवारक चिकित्सा करें।

(३) यदि औषधियों के दुर्व्यवहार से रोग हो तो उन्हें देना बन्द कर देना चाहिए।

(४) कुछ कम बहरे रोगी बिजली और बैटरी से चलने वाले यन्त्र कान में लगा कर इस कष्ट से बच सकते हैं।

(५) बधिर मूकता के उपचार में ... कम सफलता प्राप्त हुई है अतः मौलिक दृष्टिकोण यही है कि दृष्टि, स्पर्श की संवेदना तथा अवशिष्ट श्रवण का उपयोग करने से बधिरमूक को बोलने का प्रशिक्षण दिया जाये। यह प्रशिक्षण विशेष विद्यालयों तथा बालवाड़ियों में दिया जाता है। बहुत से बधिर-मूकों ने न तो सिर्फ बात करना सीख लिया है और विज्ञान के तत्वों का अध्ययन किया है, बल्कि वे उच्चतर विद्यालयों से स्नातक भी हो गये हैं। अनेक बधिर-मूक वैज्ञानिक, कलाकार तथा विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण विशेषज्ञ हैं।

बाधिर्य निवारक आयुर्वेदिक चिकित्सा—बाधिर्य की सामान्य चिकित्सा कर्णशूल के अनुरूप की जाती है यदि इसमें कोई अन्य कारण न हो तो वात नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। यदि सर्दी और कफ का सहयोग हो तो रोगी को वमन कराके कफदोष निकाल देना चाहिये। यदि बधिरता कम हो तो प्रतिदिन बधिरता नाशक कोई तेल डालते रहने से एवं वातकारक आहार विहार से बचे रहने से रोग बढ़ने नहीं पाता है। यदि सूजन हो तो पहले शोथ निवारक चिकित्सा करनी चाहिये, यदि मैल हो तो पहले तैल डालकर उसे फुला लेना चाहिए और मैल निकलवा दें। तो पीव साफकर सुखाने वाली औषधियां दें। यदि गले में दर्द अथवा पाषाणगर्दभ के कारण बहरापन हो तो शराब (मद्य) अथवा लहसुन, प्याज और स्प्रिट डालें। यदि कोई स्पष्ट कारण प्रतीत न हो रहा हो तो कान में तेल डालें और सोते समय ५-७ बूंद ग्लिसरीन की नित्य डालना चाहिए।

विशिष्ट आयुर्वेदिक यो.

शूलप्रणादबाधिर्यक्ष्वेडानां तु प्रकीर्तितम् ।३४।
सामान्यतो विशेषेणा तु बाधिर्य पूरणंशृणु ।

गवां मूत्रेण बिल्वानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत् ।३५।
सजलं च सदुग्धं च बाधिर्ये कर्णपूरणम् ॥
(गु० उ० अ० २१)

बाधिर्य में 'बिल्वतैल' को डालना चाहिए—

नोट—स्नेहन करके वातहर द्रव्यों से नाड़ी स्वेद एवं विरेचन देना। तत्पश्चात सुश्रुतोक्त बिल्वादि तैल डालें।

अपामार्गक्षार तैल, स्वर्जिकाक्षारतैल, दशमूली तैल तथा शुण्ठी एवं गुड़ के जल का नस्य लाभकारी होता है। बिल्व के बीजों का तैल या बकरी के दूध एवं गोमूत्रपिष्ट बिल्वमज्जा के कल्क से बने बिल्व तैल का कर्ण पूरण एवं कुपीलु मिश्रित वातहर योगों का सेवन बाधिर्य रोग की विशिष्ट चिकित्सा है। पञ्चमूल तैल स्थानिक रूप से बधिरता के लिए परमौषधि है।

दार्व्यादि तैल, इन्दुवटी, सारिवादि वटी, गन्धक तैल (यो. र.), मयूर तैल, निशाद्य तैल, कुष्ठादि तैल से कर्ण पूरण करने से पर्याप्त लाभ मिलता है। इसके अतिरिक्त सर्जिका क्षारादि तैल, नागरादि तैल, दशमूल तैल, अपामार्ग तैल, नारायण तैल—इनमें से किसी का स्थानिक उपयोग (नियमित) बाधिर्य रोग में लाभकारी होता है। बाधिर्य के लिए शम्बूक तैल का पूरण लाभप्रद पाया गया है।

खाने वाली औषधियों में प्रतिश्याय की विहित चिकित्सा जैसे 'महालक्ष्मी विलास रस' दे सकते हैं। इन्दुवटी आमलकी के शीतकषाय से सुबह-शाम लेना हितकारी पाया गया है। रसायन चिकित्सा बाधिर्य के लिये बहुत लाभदायक है। 'सारिवादि वटी' ३६० मि. ग्रा.की मात्रा चन्दनासव या शतावरी रस के साथ दिन में २-३ बार नियमित रूप से लेते रहने से पर्याप्त लाभ मिलता है। भैरव रस १२० मि. ग्रा. + आर्द्रक रस या मधु से लिया जा सकता है। कफ प्रकृति के रोगियों स्थानिक चिकित्सा के साथ-साथ इसे अवश्य लेना चाहिए। 'रास्नादि गुग्गुलु' (यो. र.) १ ग्राम की मात्रा दूध से लें। वात प्रकृति के रोगियों के लिए विशेष हितकारी है। 'दशमूलादि क्वाथ' (भ. नि.) २०-३० ग्राम + त्रिकटु चूर्ण २-३ ग्राम के साथ पिलाने से बाधिर्य में लाभ मिलता है। 'महायोगराज गुग्गुलु' का प्रयोग भी बाधिर्य में हितकर होता है।

(क) यदि ज्वर के कारण बाधिर्य रोग हो जाये तो हरीतकी क्वाथ पिलावें। अथवा दोषों का अनुलोमन करके अन्य उपाय करें। इसके बाद कान में अनार का रस डालें। अनार का रस निकाल कर पकावें। पकाते समय सिरका, गुलरोगन एवं कुन्दरू की गोंद थोड़ी मात्रा में डाल लें। रस के गाढ़ा होने पर उसे उतार कर रख लें। इसकी कई बूंदें दिन में २-३ बार डालें।

(ख) काकजंघा का पंचाङ्ग लेकर उसका ५ लीटर रस निकाल लें। इस रस का २५० ग्राम तेल में पकाकर सिद्ध कर लें। नियमित रूप से कान में डालते रहने से बाधिर्य रोग दूर होता है।

(ग) यदि बाधिर्य रोग बहुत पुराना हो गया है अथवा बालकपन से ही हो या वृद्धावस्था के कारण हो, तो उसकी चिकित्सा करना व्यर्थ है।

(घ) यदि सर्दी के कारण कम सुनाई पड़ रहा हो तो तर स्निग्ध भोजन कर प्रकृति को नरम करें। सिर में भारीपन हो, सिर झुकाने से बोझ मालूम पड़ रहा हो तो नस्य लेकर कुल्ला करें। तत्पश्चात् कान में सौंफ का तेल या तिलों का तेल डालें।

आधुनिक चिकित्सा—बालकों में अधिकतर रूप से मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) से बाधिर्य रोग होता है जो कि एक लापरवाही का परिणाम है। मध्यकर्ण शोथ में स्ट्रेप्टोकोकाई आदि जीवाणुओं के संक्रमण से मेस्टोआइडाइटिस का रोग हो जाता है। इसके लिये इफेड्रीन नेजल ड्राप्स २-३ घण्टे पर डालें। कान पर सिकायी करें। कैप्सूल एम्पिसिलीन ५ दिन तक लगातार दें।

यदि मध्यकर्ण शोथ का रोग पुराना पड़ गया है और कान से निरन्तर पीब बह रही हो तो नियोमायसिन इयर ड्राप्स, क्लोरम्फेनिकोल अथवा टायरोथ्रिसिन इयर ड्राप्स (नि० मेडिक्स) अथवा [illegible] की कुछ बूंदें दिन में २-३ बार डालते रहें, पर साथ ही लाभ न मिल रहा हो तो [illegible] के कुछ योग भी लेना चाहिए।

बाल-पक्षाघात

कवि० दिवाकर ठाकुर, जी.ए.एम.एस. (ऑनर्स), डी.एस-सी.ए. (आयुर्वेद-बृहस्पति)
चिकित्सक धन्वन्तरि चिकित्सालय, डावर गली, जेल रोड, आरा (बिहार)

★

रोग का नाम, परिभाषा तथा सन्दर्भ सहित परिचय—इस शीर्षक के शब्दार्थ से ज्ञात होता है कि बच्चों के शरीर का बांये या दांये भाग में आघात करने वाले उपद्रव को पक्षाघात कहते हैं। पक्षवध या पक्षाघात ये दोनों नाम वात व्याधि के पर्यायवाची शब्द है।

आयुर्वेद के किसी भी मूल ग्रन्थ में बाल पक्षाघात नामक कोई स्वतंत्र व्याधि का उल्लेख नही आया है। वात व्याधि प्रकरण मे पक्षाघात के अन्तर्गत एकांग, अर्धाङ्ग और सर्वाङ्ग पक्षाघात को समाविष्ट कर वर्णन किया गया है। लेकिन बाल, युवा और वृद्ध पक्षाघात का वर्णन पृथक् रूपेण उपलब्ध नही मिलता है। सोलह वर्ष की अवस्था वाले बालकों को बाल्यावस्था माना है। बच्चे के अङ्ग पर आक्रमण या पांच कर्मेन्द्रियों में से किसी को संज्ञाहीन (Paralyse) कर देने के कारण बाल पक्षाघात निश्चित् की गई है। कुछ विद्वान् चिकित्सक इसे शैशवीय अंगघात, पक्षाघात, सौपुम्न विकार व ज्वर भी कहते है। यह रोग जिस किसी भाग पर आक्रमण करता है उसे चेतनाहीन एव अक्षम बना देता है। प्रभावित अंग से कोई काम नहीं लिया जा सकता। क्योंकि ऐच्छिक नियंत्रण बिल्कुल समाप्त हो जाता है। अतएव इस प्रकार के पक्षाघात को आचार्य चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि विद्वानों ने पक्षाघात की ही मान्यता प्रदान की है।

आयुर्वेद एवं आधुनिक मतानुसार रोगोत्पत्ति का कारण—प्रकुपित वायु शरीर के आधे भाग में समाविष्ट होकर उस भाग के सिरा एवं स्नायु को सुखाकर संधि बंधनी को शिथिल कर देता है। तदुपरान्त शरीर के किसी एक भाग पर अधिपत्य जमाकर निष्क्रिय एवं संज्ञाहीन कर देता है। इसे हमारे आचार्यो ने एकांग पक्षाघात की सज्ञा दी है। यह शुद्ध वातज व्याधि है। इसलिए बिना वात विकृति के यह व्याधि नही हो सकती है। विशुद्ध वातज पक्षाघात कष्टकर होता है। यदि पित्त और कफ का अनुबन्ध लेकर वायु प्रकुपित हुआ हो तो वह पक्षाघात औषध साध्य एव सौम्य होता है।

जच्चा के आहार-विहार पर बच्चा पलता है। गर्भिणी के पूर्ण आरोग्य का प्रभाव गर्भाशय शिशु पर परिलक्षित होता है। बच्चे के जन्म के बाद पौष्टिक तत्वों का अभाव, दुग्धाभाव, जलवायु या आवास परिवर्तन, मिथ्या विहार या वातवर्द्धक पदार्थ जैसे—पुरवइया हवा का सेवन, शीतयुक्त वातावरण में रहने से पक्षाघात की उत्पत्ति होती है। हां, एक बात और ध्यान देने योग्य है कि बाल्यावस्था में कफदोष की प्रबलता रहती है। जो वायु के शीत गुण के कारण कफावृत्त वायु से पक्षाघात की उत्पत्ति करती है।

यह एक आगन्तुज, दारुण, शीघ्रगामी, आसु, कफानुबन्धी वायु के प्रकोप से उत्पन्न होने वाली व्याधि है।

वर्तमान में दुःसाध्य एवं घातक समझी जाने वाली व्याधियों में बाल पक्षाघात (पोलियो माइलाइटिस) भी एक ऐसा ही रोग है जो सम्पूर्ण विश्व की जनता के लिये चिन्ता एवं चिकित्सकों के लिये चुनौती का विषय बना हुआ है। बाल पक्षाघात वैसे तो किसी भी आयु के बालक को हो सकता है लेकिन ६ माह से ४ वर्ष तक के बच्चे इस रोग से अधिक पीड़ित मिलते हैं। इस व्याधि से पीड़ित बच्चों में अधिकांश उचित एवं सिद्ध चिकित्सा के अभाव में जीवनभर के लिये अपंग हो जाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से बाल पक्षाघात का कारण एक विशिष्ट प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म विषाणु (वायरस) माना जाता है। यह विषाणु नासिका, कण्ठ, श्वसनमार्ग अथवा आन्त्र में प्रविष्ट होकर वहां से रसवाहिनियों में तथा उनमें से मध्यम वातवह मण्डल और उनसे निकलने वाली वाहिनियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में प्रवेश करके यह विषाणु पहले सुषुम्ना पर आक्रमण करता है जिससे सुषुम्ना के परमाणु दूषित होते हैं और उसके धूसर पदार्थ में विकृति उत्पन्न होकर उससे निकलने वाली मोटर नर्वज प्रभावित होकर विकृत हो जाती हैं। सुषुम्ना तथा वातवाहिनियों के इस प्रकार विकृत होने से हाथ तथा पैर की चेष्टाओं को संचालित करने वाली स्नायुओं और मांसपेशियों का नियन्त्रण समाप्त होजाता है जिससे बच्चा पंगु हो जाता है। लक्षणों की दृष्टि से इस रोग का प्रादुर्भाव अकस्मात् होता है। रोग का प्रादुर्भाव तीन अवस्थाओं में सामान्यतः होता है—प्रथम अवस्था में बच्चे को वातश्लैष्मिक ज्वर के समान कास, शिरःशूल, अङ्गमर्द जैसे लक्षणों के साथ-साथ आक्षेप के झटके आते हैं। यह प्रारम्भिक अवस्था प्राक् अवस्था कहलाती है। रोग की दूसरी अवस्था अङ्गघात की मुख्य अवस्था कहलाती है जिसमें प्रारम्भिक अवस्था के लक्षणों में तीव्रता होती है ज्वर तीव्र हो जाता है बच्चे को मन्यास्तम्भ तथा मूत्रदाह के लक्षण मिलते हैं। बच्चा अचेतन हो जाता है और उसकी मांसपेशियां शिथिल पड़ जाती हैं। रोग की तृतीय अवस्था जिसमें मस्तिष्क विकृति होती है जिससे रोगी बच्चे के हाथ-पैरों में पूर्णरूपेण शिथिलता आ जाती है।

आयुर्वेद मत से वातव्याधि के अन्तर्गत खंज, पंगु, अवबाहुक, बाहुशोष, सर्वाङ्गघात आदि रोगों का जो उल्लेख मिलता है वह शिशु पक्षाघात के समान है। बहुत से चिकित्सक इसको 'स्कन्दग्रह' या 'रेवती ग्रह' आदि से भी साम्यता करते हैं लेकिन इसके लक्षण वातजन्य व्याधियों से ही अधिक मिलते हैं।

चिकित्सा की दृष्टि से व्याधि का आक्रमण हो जाने पर रोगी बालक को पूर्ण विश्राम देना चाहिये तथा लाक्षणिक और वातव्याधि नाशक चिकित्सा करनी चाहिये। वात की चिकित्सा सूत्र के अनुसार स्नेहन स्वेदन तथा मृदु विरेचन कर्म करना चाहिये। स्नेह बस्ति इसमें विशेष लाभदायक पाई गई है। औषधिकल्पों के रूप में एकांगवीर रस, समीरपन्नग, मल्लसिन्दूर, रसराज रस आदि योग चिकित्सकों द्वारा बहुतायत से तो प्रयोग कराये जाते हैं और उनसे विशेष लाभ होता है। अभ्यङ्ग के लिये विषगर्भ तैल या महानारायण तैल भी सभी अवस्थाओं में उपयोगी रहते हैं।

हमने अपनी चिकित्सा में बाल पक्षाघात के अनेक रोगी बच्चों को दशमूल क्वाथ का केवल भपारा देकर रोग मुक्त किया है। दशमूल क्वाथ के भपारे का प्रयोग यदि बच्चे को रोग का आक्रमण होते ही कर दिया जावे तो आश्चर्य जनक लाभ देखने को मिलता है। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि बाल पक्षाघात से पीड़ित बच्चों को रोग मुक्त करने के लिये दशमूल क्वाथ के भपारे का प्रयोग करना न भूलें।

प्रस्तुत विषय पर जो लेख विशेषांक में सम्मिलित किया जा रहा है वह रोग के विषय में पर्याप्त जानकारी पाठकों को प्रस्तुत कर रहा है। विद्वान् लेखक ने शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ अनुभवों का जो पुट लेख में दिया है उससे प्रस्तुत लेख इस विशेषांक का महत्वपूर्ण लेख बन गया है।

—गोपालशरण गर्ग।

प्रकुपित वायु शरीर के मध्यमार्ग से होकर सिर के अन्दर प्रवेश करके ज्वरोत्पादक व्याधि को पक्षाघात करती है। यह भी कष्टकर होता है। इसमें बालक का आधा हिस्सा ही बहुलांश प्रभावित होता है। शरीर के ऊर्ध्वभाग में इसका प्रभाव कम तथा अन्यान्य हिस्से में अत्यल्प मात्रा में होता है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति—में इसे Infantile paralysis, Acute Interior polyomylitis, Acute polio enccephelitis, Infantile Hemoplegia आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। लेकिन इन सभी नामों में पोलियो नाम ही अधिक प्रचलित है। Polios and Mucous के मिलान से poliomylitis संयुक्त शब्द की उत्पत्ति होती है। इसका मतलब होता है कि शरीरस्थ मस्तिष्कान्तर्गत सुषुम्ना नाड़ी में घूसर रंग का एक शोथ हो जाता है। यह रोग वातवह संस्थान का क्रियाशील भाग है। आधुनिक मतानुसार वायरस नामक कीटाणु को इसका कारण माना है। यह कीटाणु अति सूक्ष्म होने से अनुवीक्षण यन्त्र से देखा जाता है। इसका संक्रमण कण्ठ प्रदेश में छः सप्ताह तक बना रहता है। निम्न तीन प्रकार के कीटाणुओं के संक्रमित होने पर पोलियो रोग हो जाता हैं। इसमें प्रथमावस्था के कीटाणु से अधिकतर पोलियो होते देखा जाता है। इसके उत्पत्ति का काल सात से तेरह दिनों का है। रोगी के आक्रान्त भाग में बहत्तर घण्टे बाद इसका मूलक देखा जाता है।

बाल पक्षाघात की मुख्य तीन अवस्थाओं में प्रथमावस्था या तीव्रावस्था एक महीना, मध्यावस्था तीन महीने और जीर्णावस्था तीन महीने बाद तक संक्रमण प्रतिक्रिया लक्षित होती है। मध्यावस्था में वर्तमान लक्षण की विशेषता रहती है। इस अवस्था में लक्षण अवस्थां विशेष से होता है।

एक माह बाद तीव्रावस्था के लक्षणों में ह्रास आने लगता है। तब मध्यावस्था प्रारम्भ होती है। तथा कफानुबन्धी लक्षण युक्त रहता है लक्षणानुसार चिकित्सा करने पर रोग से मुक्ति मिल सकती है। उपेक्षित होने पर वही जीर्णावस्था को प्राप्त करता है। जीर्णावस्था में रोगी की टांग या बांह को पूर्णरूपेण आक्रान्त कर निचेष्ट बना देता है। क्योंकि प्रतिसंक्रमित क्रिया निष्क्रिय होने से मांसपेशी भी शिथिल हो जाती है। रस रक्तादि धातुओं के संवहन में कमी आ जाती है।

अगर इसका यथा समय उचित उपचार नहीं किया गया तो दिनानुदिन मांस का क्षय होने लगता है इससे स्नायु में संकोच तथा सन्धि स्थल शिथिल हो जाता है। वह अङ्ग कमजोर, पतला तथा चेष्टाहीन हो जाता है। इसी अवस्था में प्रकुपित वायु सुषुम्ना नाड़ी में शोथ उत्पन्न कर देती है। मिथ्या आहार-विहार से कोष्ठगत वायु प्रकुपित होकर वातवह स्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में पहुंचकर सुषुम्ना और वातवह नाड़ी को प्रभावित करती है। इससे वात नाड़ी में विकृति के फलस्वरूप पक्षाघात की उत्पत्ति होती है। वातवर्द्धक पदार्थों के सेवन से स्नायु तथा पेशियों की शक्तियों में ह्रास तथा संधिस्थलों में शिथिलता पैदा कर पक्षाघात उत्पन्न करती है।

मस्तिष्क के शल्यकीय भाग (Cerebral cortex) की विकृति होने से एकांग (Monopligia) वात का उद्भव होता है। इससे नाड़ी तन्तु एक-दूसरे से अलग रहता है, जिससे विकृति का प्रभाव अल्पतन्तुओं पर होने से एक अङ्ग का ही घात होता है।

बाहरी मस्तिष्क के उद्गम के बाद नाड़ी तन्तु को (Internal capsule) से होकर गुजरना पड़ता है। इस भाग में नाड़ी तन्तु के आपस में सन्निकट होने से अर्धाङ्ग (Hemipligia) हो जाता है जिसका प्रभाव मुख के नीचे वाले भाग पर होता है।

यह जन्तजात रोग है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। इस अवस्था में मुकुल (Pyromidal trect) पूर्णतया सुप्त हो जाता है। इसका प्रभाव शरीर के दोनों भागों पर होता है।

सुषुम्ना के विकृति का परिणाम है अधरांग वात (Paraplegia)। उर्ध्व चेष्टावह नाड़ी और अधःशाखा के नाड़ी तन्तु की विकृति से यह रोग होता है। बच्चों और वयस्कों में यह समान रूप से पाया जाता है।
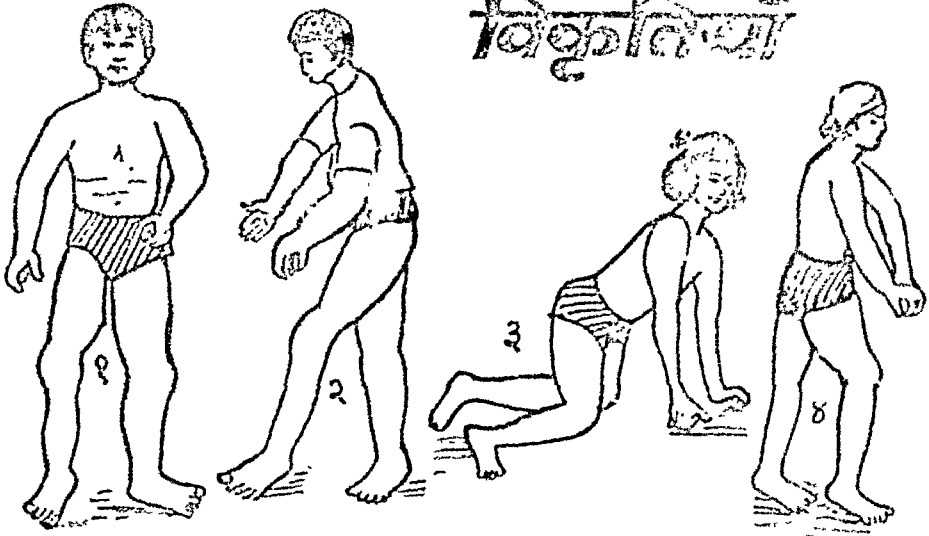
रोग के विशेष लक्षण—यह निर्विवाद है कि विना वायु के प्रकुपित हुए पक्षाघात की उत्पत्ति नहीं होती है। पित्त व कफ के अनुवन्ध से गुणानुसार लक्षण पैदा होते हैं। यह एक दारुण, शीघ्रपाकी, आशुकारी, पित्त व कफ के अनुवन्ध से वात प्रकुपित होकर शरीर के मध्य भाग के द्वारा शिर के अन्दर प्रवेशोपरान्त होने वाले ज्वर के साथ पक्षाघात कृच्छ-साध्य होता है। नूतन अवस्था में प्रतिश्याय, सिरदर्द, जीर्णावस्था में सिरदर्द, कण्ठपाक, नेत्रजलन, अंगमर्द, मन्दज्वर, कास, वमनादि लक्षण प्रकट होते हैं।

जीर्णावस्था में सिरा स्नायु मांस में विदीर्णता एवं संकोच संधि स्थल में शिथिलता अङ्ग वक्रता अस्थि व संधि में शूल, अतिसार आदि लक्षण स्पष्ट होते हैं वालक जब पक्षाघात से आक्रांत हो जाता है। तो आधा भाग निःसंज्ञ होकर निष्क्रिय हो जाता है। जिससे वच्चे चलने फिरने में विवशता अनुभव करते हैं। पैर दुर्वल, रुखड़ापन, शुष्क तथा वक्र हो जाता है। वच्चों का विकास रुक जाता है जिससे वह चिडचिड़ा एवं कुसंस्कारित हो जाता है। वात के साथ पित्त का अनुवन्ध होने पर रोगी दाह, संताप और मूर्च्छा तथा कफ से शीत, शोथ, भारीपन, अरुचि आदि लक्षण महसूस करता है।

रोग की सम्प्राप्ति तथा विकृति विज्ञान (Pathalogy)—स्वायुभूति के आधार पर इस सम्बन्ध में मेरी यह विवेचना है कि आधुनिक चिकित्सक त्रिदोष को नहीं मानकर कीटाणु को ही विशेष महत्व देते हैं। परन्तु कभी-कभी रोगोत्पादक कीटाणु के उपलब्ध नही होने पर अज्ञात कारण भी मानते हैं। यह कीटाणु नाक या मुंह द्वारा वाल शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर ग्रसनिका एवं क्षुद्रान्त का सहारा लेकर फैलने लगता है। वाह्य कारणों से वायु वलवान होकर श्लेष्म धातु के मिलीभगत से पक्षाघात उत्पन्न करते हैं। संक्रमित वच्चों के मल-मूत्र,श्वास-प्रश्वास मे रोगोत्पादक कीटाणु मिलकर नाक, सिर, छाती, आमाशय आदि स्थानों को क्षुब्द कर देता है। इस अवस्था में श्लेष्मा, प्रकुपित होकर अग्नि,मन्द (आमरस) की उत्पत्ति करती हे। यह आमरस पाचाग्नि की दुर्वलता से प्रकुपित कफ वायु से आवृत होकर वातवह स्रोत के सहारे सुषुम्ना नाड़ी के प्रारम्भिक भाग में पहुंचकर वहां के रस रक्तवह स्रोतों में संक्षोभ, उत्सेध, शोथ उत्पन्न करता है। यदि दोष प्रकोप में लगातार वृद्धि रही तो शोथ सुषुम्ना के आधे भाग में पहुंच कर सुषुम्ना और मस्तिष्क को प्रभावित कर लेता है। अगर पाचकाग्नि तीव्र हो तो आग का पाचन होकर स्वेद, मूत्र-मल द्वारा, संशोधन कर देती है। जिससे रोगी की हालत में सुधार होता है, ज्वर निवृति के वाद भी इसका संक्रमण होते देखा जाता है। यदि सक्रमण काल में उपरोक्त प्रकार की सम्प्राप्ति हो तो शास्त्रानुकूल दोषों की अतिशय पुष्टि (Acute pension) जैसी प्रतिक्रिया शरीर में उत्पन्न होती है। जिससे सुषुम्ना या मस्तिष्क प्रभावित हो जाता है और चेष्टावह नाडी विकृति होकर अङ्ग का आघात कर देता है।

रोग के निदान में सहायक आयुर्वेदीय तथा आधुनिक परीक्षा विधि—रोग की पूरी जानकारी के लिये निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति ये पांच साधन है। इन साधनों द्वारा रोग परीक्षण आयुर्वेद शास्त्र में विशेष महत्व रखता है। उक्त सभी उपायों से रोगी और रोग का परीक्षा करने का निर्देश दिया गया है। आयुर्वेदीय रोग परीक्षण में दोषों की अंशांश कल्पना, रोगों की प्रधानता या अप्रधानता, रोगों की सवलता या निर्वलता एवं उत्पत्तिकाल आदि का पूर्ण ज्ञान सम्प्राप्ति द्वारा होता है। इन सबों का ज्ञान होने पर रोगों की विशेष रूप से चिकित्सा भी होती है।

किसी एक उपाय से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर भी अन्य विद्वानों का विचार विमर्श जानना परमावश्यक है, क्योंकि सवों का अपना-अपना विचार है। कहने का तात्पर्य यह हे कि किसी रोग में केवल निदान से ही व्याधि का ज्ञान हो जाता है और किसी में पूर्व रूप आदि से व्याधि ज्ञान में विशेष सहायता मिलती है। इसलिए प्रत्येक का प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। स्पष्ट लक्षणों से युक्त किसी एक ही व्याधि की परीक्षा करने के लिए उपशय का भी अच्छा योगदान

बाल पक्षाघात (पोलियो) साध्यासाध्यता एवं उपद्रव

साध्यासाध्यता—पोलियो एक उत्कृष्टोपाय साध्य रोग है, जिसकी चिकित्सा में अधिक से अधिक तथा उत्तम से उत्तम उपाय करने पड़ते है। साथ ही रोग से मुक्ति भी पर्याप्त समय के पश्चात् ही मिलती है। पोलियो रोग में शरीर के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की विकृतियां पैदा हो जाती है। जब रोग प्रसार तीव्रता से होता है तब १०-१२ प्रतिशत बालक मृत्यु के गोद में चले जाते हैं। पेशियों का घात पूर्ण रूप से नहीं हो पाता है जिससे वह आगे चलकर स्वस्थ हो जाती हैं। कहां तक कौन अङ्ग क्रियाशील रह सकता है यह अंग की प्रकृति पर आधारित होता है। इस प्रकार इसके रोगी को इसलिये निराश नहीं होना चाहिये कि महीनों अथवा वर्षों से उसका अंग क्रियाहीन है क्योंकि पर्याप्त समय के पश्चात् भी उस अंग के क्रियाशील होने की सम्भावना रहती है।

पोलियो में ज्वर मर्यादा के अन्तर्गत रहने वाला होता है वह स्वतः ही ५-६ दिन के पश्चात् शान्त हो जाता हैं। अंगघात प्रारम्भ में अधिक विस्तृत होता है जो अन्त में कुछ पेशी समूहों में स्थायी हो जाता है। घातिक अंग के सुधार की पर्याप्त आशा की जा सकती है। प्रायः १-२ वर्ष तक कुछ न कुछ घातिक अंग में सुधार होता रहता है। सुषुम्ना प्रकार के अंगघातों के ठीक होने की आशा प्रायः नहीं होती है। अन्य प्रकार के घातों के ठीक होने की पर्याप्त आशा की जाती है। एक बार आक्रमण होने पर शरीर में विशिष्ट वायरस के प्रति क्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे रोग का पुनराक्रमण प्रायः नहीं होता है। इसके विपरीत पोट्स नामक विद्वान् ने पुनराक्रमण से युक्त कई रोगियों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

चिकित्सा विद्वानों का विचार है कि रोग के आरम्भ में यदि शिशु में व्याकुलता अथवा भयातुरता के लक्षण विद्यमान हों तो यह अशुभ सूचक चिह्न होते हैं। ऐसा रोगी जिसकी चारों शाखाओं (दोनों हाथ-दोनों पैरों) में पक्षाघात हो गया है तो वह असाध्य होता है। श्वास पेशियों का पक्षाघात रोग का एक प्रमुख अशुभ सूचक है। यह अनुभव के आधार पर देखा गया है कि जो पक्षाघात ६-१२ मास तक ठीक होने के लिये शेष रह गया है वह फिर आगे ठीक नहीं होता है।

विद्वानों की दृष्टि में पूर्व चिकित्सा होने पर इस रोग को घातक नहीं माना गया है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि जितने ही बड़े शिशु या बालक में पोलियो का आक्रमण होगा वह उतना ही अधिक गम्भीर रूप धारण करेगा। मृत्यु प्रायः १ से ७ दिन के अन्दर हो सकती है। पेशीघात में जितनी शीघ्रता से सुधार होता है उतनी ही शीघ्रता से रोग दूर हो जाता है इसलिये चिकित्सा व्यवस्था का प्रबन्ध शीघ्र करना चाहिए।

रोग से उत्पन्न अंगघात के सुधार के सम्बन्ध में भविष्य कथन बड़ा ही कठिन होता है, फिर भी यदि ६ महीनों के भीतर घातिक अंगों में सुधार हो जाय अथवा होने लगे तो घात अधिकांश रूप से ठीक हो जाता है, नहीं तो घात स्थायी स्वरूप का बना रहता है।

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि रोग का पुनराक्रमण प्रायः नहीं होता है, पर यदि १ या २ वर्ष के अन्तर से किसी कारणवश पुनराक्रमण हो जाता है तो यह रोगी के प्राणों के लिये अवश्य ही नितान्त घातक होता है।

पोलियो व्याधि में प्रधान रूप से स्थायी उपद्रव तथा अनुगामी विकार अंगघात है। शीघ्र रोग में किसी प्रकार के डिफारमिटी का उपद्रव हो जाता है। प्रधान रूप से मांसपेशियां मृत होकर कुछ ठीक भी हो जाती हैं पर जो पेशियां मृत होकर ठीक नहीं होती हैं उनमें लघुता एवं संकुचन के हो जाने से विभिन्न प्रकार के पाद वैरूप्य (Talipes) के उपद्रव हो जाते हैं। जैसे कि पेरोनियस मांसपेशियों के पक्षाघात होने से एड़ी ऊपर को उठ जाती है जिससे रोगी पैर के बाहिरी अगले किनारे के बल चलता है। जब टिबिया की मांसपेशियों का पक्षाघात हो जाता है तब रोगी अंगूठे से लेकर एड़ी तक के पैर के भीतरी किनारे के बल चलता है। कमर की मांसपेशियों में अल्प या अधिक पक्षाघात के होने पर रीढ़ की हड्डी एक तरफ को मुड़ जाती है।

(पोलियो पक्षाघात अंक से)

है। निदान पञ्चक के अतिरिक्त शास्त्रों में रोग परीक्षा सम्बन्धी अन्य उपायों का भी वर्णन मिलता है। यथा—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश रोग परीक्षा के साधन हैं। मन और इन्द्रियों के द्वारा जो रोग परीक्षा विधि कहते है पाचन शक्ति की अल्पता से मन्दाग्नि और किसी कार्य को करते-करते शीघ्र थकावट महसुस करना दुर्बलता का द्योतक है। ये अनुमान के उदाहरण हैं। भिन्न-भिन्न कारणों से दोष का प्रकुपित होना भिन्न-भिन्न लक्षणों का होना तथा उनकी शान्ति का जो विभिन्न उपचार किया जाता हे, वह आप्तोपदेश है। आधुनिक चिकित्सक रोग की परीक्षा निम्न तरीके से करते हैं—

प्रश्न—प्रश्न करने पर रोगी अपनी व्यथा, रोग आरम्भ काल का इतिहास तथा चिकित्सा द्वारा होने वाले लाभालाभ का वर्णन करता है।

दर्शन—रोग के उदर, वक्ष, आंख, आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों की आकृति क्रिया एवं वर्ण को यथा सम्भव परीक्षा दर्शन द्वारा की जाती हे।

स्पर्शन—स्पर्श के द्वारा विकृतांग की सीमा, मृदुता कठिनता, स्पर्शसह्य जल पूर्णता (जलोदर) अङ्गों की समान वृद्धि और शारीरिक ताप की परीक्षा की जाती है।

श्रवण—अङ्गों की वर्तमान दशा तथा उसके लक्षणों का बोध करने हेतु श्रवण विधि कार्यकर होती है। स्टेथैस्कोप की सहायता से हृत्शब्द एवं फुफ्फुस गत शब्दों की प्रकृति का ज्ञान किया जाता है।

अंगुलीताडन—अंगुली के ताडन से अङ्ग की प्रकृति के अनुसार विभिन्न प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं। इन ध्वनियों की प्रकृति के अनुसार ही रोगी की स्वस्थता अस्वस्थता विशिष्ट रोग की परीक्षा की जाती है।

उपरोक्त साधनों द्वारा वाल पक्षाघात की प्रचलित परीक्षा विधि है और यही परीक्षा विधि आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र और आधुनिक चिकित्सा जगत में प्रशस्त है।

पक्षाघात रोग का चिकित्सा सिद्धांत—पक्षाघात चिकित्सा के मुख्य तीन सिद्धान्त है–१. दैवव्यपाश्रय २. युक्तिव्यपाश्रय और ३. सत्वाजय अथवा मणिमंगल बलि उपहार, पूजा-पाठ आदि अध्यात्म द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को दैवव्यपाश्रय, हेतु व्याधि विपरीत एवं विपरीतार्थकारी औषध आहार-विहार देशकाल आदि का उपयोग। युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा सिद्धान्त कहलाता है। पक्षाघात की तीव्रावस्था में कफावृत, वायु के शमनार्थ लङ्घन या अपतर्ण चिकित्सा का निरूहण निर्देश किया जाता है। अन्तः शोधनार्थ वमन विरेचन, अनुवासन, नस्य, स्वेदन, उपवास, गरम जल का प्रयोग, हितकर होता है। वहिः शोधनार्थ अभ्यंग, प्रदेह परिषेक, उन्मार्दन, उपनाह, उद्वर्त्तन, उष्णवायु आतप सेवन, व्यायाम अनन्तर विश्राम आदि पक्षाघात निवारणार्थ उपयोगी वताया गया है। शस्त्र-क्रिया द्वारा जैसे–क्षारकर्म, अग्निकर्म शिरामोक्षण आदि द्वारा वात प्रधान रोगों की चिकित्सा का विधान किया गया है।

जीर्णावस्था में केवल वात नाशक वृष्य-वृंहण या संतर्पण चिकित्सा जैसे—स्नेह पान, स्नेह नस्य, स्नेह अभ्यंग, स्नेहनकर्ण पूरण, अनुवासन वस्ति, वृंहण औषध, वृष्य औषध, जीवनीयगण का औषध, रसायन, स्नेह गंडूप, वन्धन, विश्राम, उष्णोदक स्नान, स्नान, निद्रा द्वारा पक्षाघात की जीर्णावस्था की चिकित्सा शास्त्र में वर्णित है।

पक्षाघात रोग की शास्त्रीय चिकित्सा—वाल पक्षाघात वात प्रधान व्याधि होने के कारण रूक्ष, लघुशीतः चलोऽथविशद खरः (जो वायु का गुणन स्वरूप है) के विपरीत आहार-विहार उपचार करना परमावश्यक है। रूक्षादि गुण प्रधान होने से विपरीत गुण युक्त वाह्य एवं आभ्यन्तर स्नेह का विधान करना जरूरी है। यह विधान उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार शुष्क कण्ठ भी स्नेहन कर्म द्वारा सक्षम होकर नमृत्व को प्राप्त करता है। ठीक इसी विधान के द्वारा वाल पक्षाघात से पीड़ित शुष्क धातु भी पोषण को प्राप्त करता है। इससे शारीरिक शक्ति तथा अग्निवल में वृद्धि पुष्टि तथा प्राणदा शक्ति प्राप्त कर

स्थिति में संतोषजनक सुधार होता है। यदि वात स्वतन्त्र हो और रक्तम्भ का आवरण न हो तो प्रारम्भ में स्नेहन उपचार ही श्रेयस्कर होता है।

रोगी को घी, वसा तैल या मज्जा का यथोचित सेवन कराना चाहिए। तदुपरान्त स्नेहपान से उद्विग्न रोगी को सांत्वना देकर दूध, स्नेहयुक्त यूष, बकरा, आदि का मांस, मछली, आनूप देश के पशु पक्षियों का मांस, खीर, अम्ल, लवण युक्त चावल और तिल की खिचड़ी तथा तृप्ति कारक अन्नों से पुनः स्नेह कर्म करना चाहिए। अच्छी प्रकार स्नेहन हो जाने पर स्वेदन कराया जाता है। स्वेदन से पूर्व उस अङ्ग पर भली भांति वात नाशक स्नेह चुपड़ देना चाहिए और विविध प्रकार के स्वेदों से प्रभावित अङ्ग का स्वेदन करना चाहिए। उपरोक्त विचार से कोष्ठमृदु का संशोधन होकर वातरोग तत्व का नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। यदि दोषयुक्त होने की वजह वायु शान्त न हो तो स्नेहयुक्त मृदु द्रव्यों से रोगी को विरेचन देना चाहिए। विरेचन के लिये रेंड़ी का तेल लेना उचित है, अन्य रूक्ष चुनाव ठीक नहीं रहता है फिर वात नाशक तेल, घृत, चूर्ण, रसोषधि का प्रयोग कराना चाहिए।

बाल पक्षाघात में होने वाले उपद्रव एवं चिकित्सा—बाल पक्षाघात के दौरान बच्चों में निम्न-उपद्रव यदा कदा दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे विसर्प, दाह, रुजा, मूर्च्छा, अरुचि, अग्निमांद्य, अतिसार, मांसक्षय, बलक्षय, शोथ, त्वक्विवर्णता, सन्धिवेदना, विशोष, कम्प, आध्मान, अरति, शरीरार्द्ध, अकर्मण्यता, शरीर शिथिलता, सम्मोहन आदि उपद्रव होते हैं। उपद्रव चिकित्सा के सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि मूलरोगों की चिकित्सा के साथ-साथ उपद्रव में होने वाले लक्षण के अनुसार आहार-विहार, औषध, पथ्य आदि को यथा योग्य उपचार के प्रबन्ध पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

बाल पक्षाघात की साध्यासाध्यता—चिकित्सा के अनुसार किसी भी रोग के दो पहलू होते हैं। साध्य और असाध्य। निम्नलिखित लक्षण युक्त पक्षाघात साध्य होता है।

रोग की नवीनता, उपद्रव रहित, रोगी का बल-युक्त होना, कफानुबन्धी, पित्तानुबन्धी, आम अवस्था, युवावस्था का पक्षाघात, वायु का यथा स्थानावस्थित, वायु की प्रवृत्ति स्थिर रहना आदि साध्य लक्षण हैं। कंपन, कृशता, अर्दित, अङ्गशोषण, पंगु, खंजवात, स्तम्भन, मज्जागत वायु, अस्थिगत वायु, शीतलता, आक्षेप, अपतानक, गर्भिणी का पक्षाघात, सूतिका पक्षाघात, बाल पक्षाघात, वृद्ध पक्षाघात आदि असाध्य लक्षण हैं। चिकित्सा के बावजूद भी विरले ही रोग-मुक्त हो पाते हैं।

पक्षाघात में प्रयुक्त प्रमुख शास्त्रीय एवं अनुभूत औषधियां—बाल पक्षाघात की चिकित्सा दो रूपों में प्रयुक्त होती है। बाह्य प्रयोग और अन्तः प्रयोग। बाह्य प्रयोगार्थ निम्न योग हैं—

नारायण तैल, पञ्चगुण तैल, वसा तैल, महामाष तैल, सैंधवादि तैल, अश्वगन्धा तैल, विष्णु तैल, सिद्धलकवा सिद्धार्थक तैल, महा कुक्कुट मांस तैल, निर्गुण्डी तैल, सहाचर तैल, प्रसारिणी तैल, स्वदंष्ट्रादि तैल, अमृताद्य तैल, रास्ना तैल, मूलकाद्य तैल, वृषमूलादि तैल, चतुःस्नेह आदि तैल का प्रयोग आवश्यकता एवं उपलब्धि के आधार पर यथा समय यथाविधि और यथा अवधि के लिए बाह्य प्रयोगों के रूप में रोग विमुक्ति हेतु व्यवहृत करना चाहिए। रोग और रोगी की अवस्थानुसार उचित मात्रा में बाह्य स्नेह कर्म करने से अंगों की रूक्षता स्निग्धता मृदुता तथा सक्षमता में परिवर्तित हो जाती है।

स्नेह के बाद स्वेदन में भी वात नाशक, बलवर्द्धक तथा मृदुता जनक विधानों का उपयोग करना चाहिए। स्वेदन हेतु दशमूल क्वाथ द्वारा नाड़ी स्वेद लगभग पांच मिनट तक प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

द्रोणि स्वेद—रोगी को कमर तक दशमूल क्वाथ काढ़ा युक्त टब में पानी में दस मिनट तक बैठाकर आवश्यकतानुसार स्वेदन करना चाहिए।

पिण्ड स्वेद—इस प्रकार के अन्तर्गत शालि, षष्टि द्वारा लगभग पन्द्रह मिनट तक स्वेद कराना चाहिए।

आभ्यन्तर प्रयोगार्थ निम्न चिकित्सा निर्देश हैं।

शरीर के भीतरी भाग को स्नेहित करने के लिये घृत और तेल का पान करना चाहिए। अश्वगंधा घृत, छागलाद्य घृत, नकुलाद्य घृत, हुसाद्यघृत तथा दशमूलादि घृत का प्रयोग पांच ग्राम की मात्रा में एक कप सुसुम गोदुग्ध के साथ सुवह और शाम पिलाना हितकर होता है। इसी प्रकार तैल में नारायण तैल, अश्वगन्धा तैल, विष्णु तैल, महाकुक्कुटमांस तैल तथा वला तैल को भी पांच ग्राम की मात्रा में गोदुग्ध के साथ प्रात. साय पिलाना वातनाशक प्रभाव दिखलाता है। आभ्यन्तर प्रयोगार्थ चूर्ण वर्ग की औषधियों में हरितकी चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, सारस्वत चूर्ण, अश्वगधा चूर्ण, शतावरी चूर्ण आदि को तीन ग्राम की मात्रा से दिन में दो बार सेवन कराने से प्रकुपित वायु का शमन होकर रोग शान्त करने में योगदान देता है। अनुपान—गरम दूध या गरम जल।

आभ्यंतर प्रयोगार्थ रसौषधि में वृहत् वात चिन्तामणि, नवग्रह रस, स्वरत्नराज, मृगांकरस, चतुर्मुख चिन्तामणि, चतुर्मुख रस, स्वर्णसमीर पन्नग रस, वातगजांकुश, वातकुलान्तक आदि रसौषधि को दोष की प्रमुखता देखते हुये अनुपान भेद से प्रयोग आशुगुणकारी होता है। वटी वर्ग में ब्राह्मी वटी, अश्वकंचुकी, महायोगराज गुग्गुल, त्र्योदशांग गुग्गुल, वातारि गुग्गुल आदि वातनाशक योग भी अत्यन्त हितावह हैं।

भस्म वर्ग में रौप्यभस्म, स्वर्णभस्म, अभ्रकभस्म, वंगभस्म, रससिन्दूर, लौहभस्म आदि औषधि भी वातनाशक प्रयोगार्थ उपयुक्त होता है।

शोधित द्रव्य जैसे मणि, विष, शुद्ध गन्धक, शुद्ध धतूरा वीज, शुद्ध भांग वीज, शुद्ध हरताल, शुद्ध गुग्गुल, शुद्ध कुचला, शुद्ध तूतिया, शुद्ध हिंगुल आदि शोधित द्रव्य भी वातनाशक गुण के कारण वाल पक्षाघात के लिये सटीक हैं।

पाकौषधि में अरंडपाक, कल्याण अवलेह, रसोनपिंड या रसोनपाक, दशमूल क्वाथ, महारास्नादि क्वाथ, गोक्षुरादि क्वाथ आदि पक्षाघात निवारक है।

अरिष्ट वर्ग में वलारिष्ट, दशमूलारिष्ट, द्राक्षारिष्ट, अभयारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, सारस्वतारिष्ट आदि आसवारिष्ट को रोग के लक्षणानुसार उचित मात्रा में समान शीतल जल मिलाकर प्रत्येक भोजन के बाद व्यवहार किया जाता है।

व्याधि के वेग के मुताविक उक्त चिकित्सा व्यवस्था के अनुसार एक वर्ष तक निरन्तर रूप से होते रहने से वाल पक्षाघातरोग का शमन हो जाता है। रोगी के देश काल वल अनुसार औषधियों की मात्रा का विचार कर निर्धारण करना चाहिए। आवश्यकतानुसार चिकित्सा व्यवस्था, औषध मात्रा तथा चिकित्सा अवधि में भी परिवर्तन किया जाना परमावश्यक है।

वाल पक्षाघात में पथ्यापथ्य—पथ्य—बकरा, मुर्गी, तीतर, क्रौंच, कवूतर, जाम्बुक, एवं पशु पक्षी का मांस रस, गोघृत, तिल तैल, एरण्ड तैल, वसा, मज्जा, मधुर, एवं अम्ल रस, लवणरस, दीपन, पाचन, मुद्ग, यव, दूध युक्त घी, घी मिला हुआ चना, बैंगन, मैंथी, प्रसारिणी, घृतकुमारी, आर्द्रक, हल्दी, शाक, रसोन, ब्राह्मी, मंडुकपर्णी, अश्वगन्धा पत्र, शोभांजन फूल, द्राक्षा, सेव, पपीता, काजू, अखरोट, नारियल, आमला, चणक, सत्तू, तिल की पिट्ठी, मद्यआसव, लेह, अन्न, फल इस रोग के निवारणार्थ सदा पथ्य हैं।

अपथ्य—दिन में सोना, अभ्यंग, मैथुन, क्रोध, प्रवात, व्यायाम, कषाय रस, गुरु पदार्थ आदि वालपक्षाघात के समावस्था में अपथ्य वतलाया गया है। निरामावस्था में कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, विदाही, क्षार, अतिव्यायाम, शोक, भय, चिन्ता, लंघन, वेग धारण, शीत, क्षोभ आदि आहार-विहार वाल पक्षाघात के जीर्णावस्था के लिये सदा अपथ्य रहता है।

बालातिसार

आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, विशेष सम्पादक—"सुधानिधि"
त्रिवेदी नगर, हाथरस

(१) निदान—

अतिसार के निम्नांकित ३ कारण हो सकते हैं—

(क) जीवाणुविनाशक शक्ति जो आमाशयिक अम्ल के कारण प्राप्त होती है उसकी अल्पता होना, जिसके कारण रोगोत्पादक जीवाणु बिना विनष्ट हुए ही अन्त्र में चले जाकर वहां प्रकोप उत्पन्न कर देते हैं।

(ख) शिशुओं का खाद्य दुग्ध रहता है जो बहुधा अशुद्ध होने के कारण रोगोत्पत्ति में प्रत्यक्ष सहायता करता है।

(ग) अतिसार का तीसरा कारण पचन-संस्थान के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर जैसे—कर्ण, फुफ्फुस अथवा वृक्कों में किसी औपसर्गिक रोग का होना।

उपर्युक्त तीन कारणों के अतिरिक्त बहुधा ग्रीष्म ऋतु में अनेक प्रकार के सूक्ष्मजीव (Micro organisms) ग्रीष्मातिसार (Summer diarrhoea) या अतिसारिक महामारी (Epidemic diarrhoea) उत्पन्न कर देते हैं। जैसे जैसे गर्मी बढ़ती जाती है अतिसार के नये-नये रोगी बढ़ते जाते हैं। यही नहीं, तापक्रम के कम हो जाने पर रोगियों की संख्या और बढ़ती हुई दिखलाई देती है। हचिन्सन का कहना है कि यह अतिसार भूमिताप के अनुपात में बढ़ा करता है—You will find that what it does follow is not the temperature of the air but the temperature of the soil जब १½ फुट गहरी भूमि खोदने पर तापमापक यन्त्र ५६° ई० तापक्रम बतलावे, तब ग्रीष्मातिसार के प्रसार का सर्वोत्तम काल समझना चाहिए। इस ग्रीष्मातिसार का विशद वर्णन क्षुद्रबालरोगान्तर्गत क्षीरालसक के साथ देखना चाहिए।

सहायक कारण—गन्दी जलवायु, अशुद्ध वातावरण, अधिक जनसंख्यायुक्त वासस्थान और अपवित्र जल, भूमि और वायु के होने पर भी नगरों में बहुधा बच्चों को अतिसार हो जाया करता है।

(२) बालातिसार का श्रेणी विभाजन

वास्तव में अतिसार के प्रकार(Varieties) करके कुछ सीमा नहीं बांधी जा सकती। यह अतिसार अमुक प्रकार का है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तव में वह एक शुद्ध रूप का होता भी नहीं है। एक प्रकार का अतिसार दूसरे में और दूसरा तीसरे में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु सरलता के लिये हम यहां तीव्र और चिरकालीन इन प्रकार के अतिसारों का वर्णन करेंगे।

तीव्रातिसार (Acute diarrhoea)—इसके तीन प्रकार हो सकते हैं—

(क) साधारण—(Dyspeptic)—यह केवल मन्दाग्निजन्य (Feverile diarrheae) कारणों से होता है और इसमें दूसरा कुछ उपद्रव नहीं मिलता।

(ख) सन्तापयुक्त अतिसार या ज्वरातिसार (Feverile diarrhoea)—इसमें अतिसार के साथ

साथ ज्वर भी रहता है। अतिसारिक महामारी(Epidemic diarrhoea) भी इसी का एक रूप होता है।

(ग) **विसूचिकीय अतिसार** (Choleriac diarrhoea)—इसमें विसूचिका की भांति अत्यन्त पतले दस्त अनेक बार होते हैं।

यह साधारण अतिसार से सन्तापयुक्त और उससे विसुचिकीय रूप धारण कर सकता है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

(३) बालातिसारीय लक्षण और चिह्न

(क) यह अकस्मात् या शनैः-शनैः कैसे भी प्रारम्भ हो सकता है।

(ख) दस्तों के साथ-साथ वमी भी रह सकती हे।

(ग) आरम्भ में दस्तों का रङ्ग प्राकृतिक पीला रहता है। कुछ समय वीतने पर हरा हो सकता है और अधिक काल पश्चात् श्लेष्मा तथा रक्तायुक्त भी हो सकता है। अधिक काल तक अतिसार रहने से मल का स्वरूप जलीय (watery) और तीव्र गन्धयुक्त (extremely offentive) देखा जा सकता है।

पुरीष और उसकी विशेषताए—

हरा मल (Green stool)—यह बहुधा मल के साथ पित्त के मिले रहने से होता है परन्तु कभी-कभी एक विशेष प्रकार के सुक्ष्म जीवों (micro organism) के द्वारा वनाये गये रङ्ग द्रव्य के कारण भी होता है।

दुर्गन्धित मल (putrid stool)—क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में पाचनतरंग के अत्यन्त तीव्र होने के कारण भोजन का पाचन ठीक-ठीक नहीं हो पाता। अर्द्धपाचित, अर्द्धशोपित भोजन जब स्थूलान्त्र में जाता है। तो यहां इसमें सड़न क्रियोत्पादक जीव उत्पन्न होकर मल को अत्यन्त दुर्गन्धित वना देते है।

श्वेत मल (Cheesy or Iumpy stool)—मल के अन्दर छोटे-छोटे अनेक श्वेत रङ्ग के कण दिखाई देते हैं जो मल में इतस्ततः फैले रहते है। ये श्वेत कण दुग्ध की केसीन नामक प्रोभूजिन की उपस्थिति के कारण होते है। कभी-कभी दुग्ध स्नेह तथा चूर्णीय लवणों (Lime salts) के संयोग से निर्मित फेनिलीय (soapy) पदार्थ के कारण भी हो सकता है। श्वेत मल वतलाता है कि जितना दुग्ध सम्पाचित होता है उससे कहीं अधिक वच्चे को दिया जा रहा है। कभी-कभी मल में श्लेष्मा की छोटी-छोटी गोलियां वंधी हुई दिखाई पड़ती हैं। यह अन्त्र के अन्दर होने वाले प्रसेक (catarrh) के कारण हुआ करते हैं।

विक्षोभक मल (Irritating stool)—इस मल के कारण शिशु के गुदभाग में क्षुब्धता उत्पन्न हो उठती है। यही नहीं कभी-कभी तो वे इतने प्रकोपी होते है कि उनका एक भी विन्दु यदि पैर पर गिर जाय तो वहां फफोला डाल देता है। उसके कारण नितम्व प्रदेश (Buttocks) में श्वेत पैत्तिक दाने (erytematous eruptons) निकल आते हैं। यह मल एक विशेप प्रकार के स्नेहाम्ल (fatty acid) जैसे व्यूटाइरिक एसिड (Butyric acid) के फलस्वरूप निर्मित होता है। अत्यधिक शर्करा (Suger) सेवन करने से भी आम्लिक मल उत्पन्न होता हैं। परन्तु उसमें झाग (froth) अधिक मिलता है।

श्लैष्मिक मल (Slimy stool)—इसमें श्लेष्मा की मात्रा अत्यधिक रहती है। इसमें स्थूलान्त्र का विशेप सम्वन्ध रहता है। यदि श्लेष्मा के साथ-साथ रक्त और आने लगे तव तो स्थूलान्त्र की ही महत्ता बढ़ जाती है।

(४) अतिसारजन्य सार्वदैहिक लक्षण—

ये लक्षण साधारण अतिसार में नगण्य रहते हुये भी विसुचिकीय प्रकार में जीवाणुजन्य विप के अन्तःशोपण से अनेक सार्वदैहिक परिणामोत्पादन दिखलाई पड़ सकते है। हृदयावसाद (Collapse) और ब्रह्मरन्ध्र का वैठ जाना (depression anterior fontanelle) उनमें मुख्य है। अत्यधिक शोषित हुये जीवाणु विष (toxins) के कारण आंखे बैठने लगती हैं। उनमें श्लेष्मा भरा रहता है और सोते समय भी आधी खुली हुई दिखाई देती है। वच्चे के चर्म पर झुरियां पड़ने लगती है। इस चर्म को नोचने पर उसमें कोई प्रतिकार उत्पन्न न होकर वह नुची हुई (In folds) अवस्था में रहता है जिसका अभिप्राय है कि

शिशुओं में अतिसार का पाया जाना बालातिसार कहा जाता है। इसे शैशवातिसार या शीशातिसार नाम से भी जाना जाता है। यह बच्चों को सामान्य रूप से मिलने वाली एक ऐसी प्रमुख व्याधि है जिसके प्रकोप से बहुत अधिक संख्या में बालक कालकवलित होते हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से बालातिसार का विचार तीन वर्गों में बांट कर किया जा सकता है—(१) आहार दोष जन्य (२) संक्रमण जन्य (३) पाचनेतर या आन्त्रेतर दोष जन्य। वर्णन की दृष्टि से आहार दोष जन्य बालातिसार बच्चों को दूध पिलाने वाली मां या धात्री के गरिष्ट अन्न सेवन के फलस्वरूप अजीर्ण उत्पन्न होने से होता है। कभी-कभी जो बच्चे बोतल का दूध पीते हैं उस दूध में फैट की मात्रा अधिक होने से दूध के अपाच्य होने से भी आहार जन्य बालातिसार मिलता है। उन बच्चों में भी जिन्हें स्टार्च और कार्बोहाइड्रेट युक्त भोजन अधिक मात्रा में या ६ माह से पूर्व ही दिया जाता है उन्हें भी इस प्रकार के अतिसार की सम्भावना रहती है। इस प्रकार के बालातिसार की चिकित्सा बच्चे के आहार को व्यवस्थित करने पर सफल हो जाती है। **संक्रमण जन्य अतिसार** बच्चों के आमाशय या आन्त्र में किसी जीवाणु के संक्रमण से हो जाता है, यह अतिसार ग्रीष्म ऋतु में अधिक होता है इसलिये इसे ग्रीष्मातिसार भी कहते हैं। सामान्यतः स्तनपायी बच्चों में यह अवस्था नहीं मिलती अपितु ऊपर का दूध पीने वाले बच्चों में यह रोग सामान्यतः मिलता है। संक्रमण जन्य अतिसार में दस्तों के साथ वमन भी विशेष रूप से मिलती है। लगातार अतिसार तथा वमन होने से बच्चों में जलनाश (डीहाइड्रेशन) होकर मारक अवस्था उत्पन्न हो जाती है और सूचीवेध द्वारा ग्लूकोज़ देना आवश्यक हो जाता है। संक्रमण जन्य अतिसार में एण्टीबायोटिक्स का भी प्रयोग कराया जाना आवश्यक होजाता है। **आन्त्रेतर या पाचनेतर बालातिसार** एक प्रकार का उपद्रव स्वरूप अतिसार है जो पचन-संस्थान के अतिरिक्त किसी अन्य अङ्ग के रोग की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है जैसे मध्यकर्ण शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसन संस्थान का तीव्र उपसर्ग आदि इसके कारण हो सकते हैं। उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में मूलतः २ बातों का विशेष ध्यान रखकर ही बच्चे की प्राण-रक्षा की जा सकती है—[अ] जल तथा अन्य इलेक्ट्रोलाइट्स की पूर्ति करना, [ब] आमाशय एवं आन्त्र को प्राकृत अवस्था में लाने के लिए पूर्ण विश्राम देना।

आयुर्वेद में बालातिसार की भी वही चिकित्सा की जाती है जो सामान्य अतिसार में की जाती है। अतिसार की आमावस्था में लंघन एवं पक्वावस्था में ग्राही औषधियों का प्रयोग कराया जाता है। रोग की गम्भीरता की अवस्था में बच्चे को ४८ घण्टों तक लंघन पर रखना विशेष लाभदायक रहता है।

शास्त्रीय औषधि कल्पों के रूप में बालार्क चूर्ण, बालसंजीवनी रस, आनन्दभैरव रस, बालचातुर्भद्रिका, सर्वाङ्गसुन्दर रस, अगस्ति सूतराजरस आदि अनेक ऐसे योग हैं जिनके प्रयोग से बालातिसार में सत्वर लाभ होता है। हमारे अनुभव में यदि बच्चे को अतिसार के साथ-साथ वमन भी हो तो अगस्ति सूतराज रस के प्रयोग से विशेष लाभ होता है। यदि बच्चे में जलाल्पता बढ़ रही हो तो सौंफ अर्क में सर्वांगसुन्दर मिलाकर थोड़ा-थोड़ा देने से सत्वर लाभ देखने को मिलता है। दस्त बांधने के लिये हम निम्न मिश्रण बच्चों को देते हैं जो विशेष लाभदायक रहता है—महागन्धक रस २५० मि.ग्रा., शङ्ख भस्म, कपर्द भस्म १२५-१२५ मि.ग्रा., दाड़िम चतुःसम ५०० मि. ग्रा. मिलाकर ६ पुड़िया बनायें। १-१ पुड़िया ३-३ घण्टे के अन्तर से दें। यदि बच्चे को रक्तातिसार हो तो तृण कान्त मणि पिष्टी भी उपरोक्त योग में मिश्रण करना चाहिए। कर्पूर रस का भी उपयोग बच्चों के अतिसार में विशेष उपयोगी है किन्तु इसमें अहिफेन होने से विशेष सावधानी से प्रयोग कराना चाहिए।

बालातिसार के सम्बन्ध में विस्तार से पाठकों को २ लेख पढ़ने को मिलेंगे। प्रथम लेख कृपानिधि के विशेष सम्पादक आचार्य [illegible] जी की लेखनी का प्रसाद है जो उनकी [illegible] कृति 'कौमार भृत्य' से संकलित किया गया है। दूसरे लेख 'बालातिसार की [illegible] चिकित्सा' में [illegible] वैद्य [illegible] जी ने बालातिसार [illegible] अनुभूत प्रयोगों का [illegible] है। आशा है [illegible] दोनों लेख रोग के विषय में [illegible] करेंगे। [illegible] पाठकों को [illegible] करना चाहिए। —वैद्य [illegible] शर्मा

त्वचा में से स्थितिस्थापकता (Elasticity) चली गई है।

यदि उस समय शिशु के मूत्र की परीक्षा की जावे तो उसमें श्विति (Albumin) मिल सकती है। इसी कारण चर्म की ऐसी स्थिति देखकर कुछ कहते हैं कि इसमें वृक्कों का भी कुछ कारण है तथा मूत्र बनने का कार्य रुक गया है। चर्म का यह स्वभाव तभी होगा जब शरीर में जल राशि कम होकर विजलीयता (Dehydration) उत्पन्न होने लगेगी।

यदि अतिसार निरन्तर चलता रहा हो तो हृदयावसाद (Collapse)—के लक्षण और भी अधिक प्रगट हो जाते हैं शारीरिक धरातल का तापमान गिरने लगता है। यद्यपि गुदताप अब भी अधिक रहता है, बच्चा नीला पड़ जाता है और अन्ततः आक्षेप (Convulsions) होकर मृत्यु हो जाती है।

इसी प्रकार हृदयावसाद और विजलीयता के घातक लक्षण अत्यन्त उग्रस्वरूप के अतिसार में अधिकतर मिलते हैं।

शोथ—विजलीयता के साथ-साथ वृक्कों की क्रियाशक्ति घट जाने से या शरीर में प्रोटीन्स की कमी हो जाने से या हृत्क्रिया में कमी आने से बालक के शरीर पर शोथ होता हुआ देखा जाता है। यह आरम्भ में बच्चे के हाथ-पैरों पर दिखलाई देता है, बाद में सर्वाङ्गशोथ का रूप धारण कर लेता है। इसका ज्ञान बच्चे के भार में अकस्मात् वृद्धि से तथा उसकी त्वचा की झुर्रियों के मिटने से किया जा सकता है।

अनाह या अफारा—कभी-कभी बालक का पेट फूल जाता है। विजलीयता के कारण शरीर में पोटाशियम की कमी होने से यह प्रायः होता है। यह साधारण से तीव्रतम स्वरूप का देखा जाता है। यदि साथ में वमन हो और पेट बहुत फूला हो तो आन्तरिक अवरोध और उदरच्छदपाक (पेरीटोनाइटिस) इन दो का विचार करना चाहिए।

यकृतत्क्रियामान्द्य, यकृद्वृद्धि, सिराजन्य घनास्रोतोत्कर्ष (venous thrombosis) उपसर्ग-मुखपाक, मध्यकर्णपाक, ब्रोंकोन्यूमोनिया, त्वग्विकार, वृक्कमुखपाक (Pyelitis) आदि उपद्रव भी मिल सकते हैं।

५–तीव्रातिसार की चिकित्सा (Treatment of acute diarrcea)–इस अवस्था में औषधियों पर बिलकुल विश्वास न करके निम्नांकित ४ कार्य कराने चाहिए—

(१) उपवास (Starvation)
(२) संशोधन (Elimination)
(३) प्रचुर द्रवप्रयोग
(४) पोषक आहार

उपवास—१–शिशु को लंघन कराने की आवश्यकता इसलिए है कि यदि उसकी खाद्य सामग्री विशेषकर दुग्ध, जो अशुद्धता की जड़ है रोकी नहीं जाती तो जीवाणु और अधिक पलेंगे।

२–उपवास ४८ घण्टे से अधिक देर तक कभी न चलने दिया जावे।

३–परन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है उपवास के समय शिशु को उष्ण (warm) बनाए रखना चाहिये तथा पीने के लिए खूब द्रवों (Lipuids) का उपयोग करना चाहिए। अतः दुग्ध देना बन्द करके अर्द्धशक्ति (Half strength) में लवणजल या ५ प्रतिशति द्राक्षाशर्करा (Glucose) का घोल देना चाहिए।

४–जब लक्षण कम हो जावे तो पोषक पदार्थ जैसे शुष्क दुग्ध प्रोभूजिन (Dried milk protein) या अर्द्धस्निग्ध शुष्क दुग्धचूर्ण (Half creamdried milk powder) दिया जा सकता है जिसमें आगे ज़लकर द्राक्षासव शर्करा (डैक्स्ट्री माल्टोज) भी मिलाया जा सकता है। इस समय माल्टयुक्त दुग्ध (Malted milk) का प्रयोग भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

उत्सर्जन (Elimination)—आमाशयिक प्रक्षालन-प्रक्रिया सबसे पहले की जानी चाहिए और यदि अतिसार तीव्रस्वरूप का है तो गुदवस्ति का प्रयोग करके मलाशय की स्वच्छता की जावे। इस प्रकार दोनों सिरों का मुख-गुद को स्वच्छ करते हुए आगे बढ़ा जावे।

गुद-वस्ति—इसके लिए बालक को पीठ के बल लिटाओ। उसके नितम्बों (Hips) को कुछ ऊंचा कर

दो ताकि गुरुत्वाकर्षण की दिशा बृहदान्त्र की ओर हो जावे। एक पतले छिद्र की छोटी रबर की ट्यूब को सावधानी से गुदमार्ग द्वारा २ इञ्च तक प्रवेश कराओ और प्रवेश के समय भी जल निकलते रहने दो। फिर अन्त्र का पूर्णरूप से सेचन (Irrigation) करके समस्त अशुद्धियों को दूर कर दो। यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं अन्त्र फट (Rupture of the colon) न जावे। इस प्रकार करने से जीवाणु और उसका विष अन्त्र के कुछ भाग से बाहर चला जाता है।

प्रचुर द्रवप्रयोग (Administration of adequate fliuids)—पर्याप्त मात्रा में द्रव का प्रयोग प्राकृतिक आवश्यकतापूर्ति, विजलीयता रोकने के लिए तथा अतिसार के कारण होने वाले द्रव की पूर्ति के लिए किया जाता है। शरीर में अम्लोत्कर्ष (Acidosis) की रोक-थाम के लिए भी यह आवश्यक है। शरीर के विद्युद्दंश (Electrolyte) तुलन (Balance) संरक्षक के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है।

साधारण रोग में २४ घण्टे अन्न रोकना, उबला पानी, ½ प्रतिशत नार्मल सेलाइन आधी शक्ति का रिङ्गर, लेक्टेट सोलूशन इन तीनों में से एक देना चाहिए। उन्हें थोड़ा मधुर बना दें। मात्रा कितनी दें इसका निदान यह है कि बालक जितने पौण्ड प्राकृत रूप में भारी हो उतने ही ढाई गुने औंस द्रव पदार्थ दें। अनशन करने से अतिसार बन्द हो जाता है फिर खाद्य (Feed) दें। यदि अतिसार पुनः न हो तो खाद्य की शक्ति बढ़ा दें। अतिसार पुनः आरम्भ हो तो अगले २४ घण्टे पुनः रोक दें। बालक कोथि जलीयता उत्पन्न न होने पावे इसका ध्यान दें। द्रव देने का विधान—उदाहरण के लिए १० पौण्ड भार के बालक में १० × 2½-२५ औंस होगा अर्थात् ५-५ औंस द्रव २४ घण्टे में ५ बार दिया जावे। अनशन के दिन केवल उबला पानी दें। दूसरे दिन हर बार १ चम्मच शुष्क दुग्धचूर्ण डालकर दें। तीसरे दिन हर बार २ चम्मच डालें। इसी प्रकार मात्रा बढ़ाकर प्रकृत मात्रा तक पहुँचें जब तक खाद्य की मात्रा पूर्वस्थिति पर न आ जावे चीनी न मिलायी जावे। १५ पौण्ड भार वाले बालकों को हाफ क्रीम दूध अच्छा रहता है। बड़े बच्चों में गाय का दूध जल मिलाकर दिया जावे।

रोग की उग्रावस्था में जब विजलीयता बढ़ रही हो और बहुत समय से अतिसार तथा वमी चलती हो तो भी २४ घण्टे का अनशन लाभकारी रहता है। साथ में उसे मुख द्वारा (यदि वमन न हो तो) उपत्वचा में सुई से या जंघास्थि के अन्दर (Intertibial) या सिरा से या सतत बिन्दुविधि से द्रवों का प्रयोग किया जाना चाहिए। मुख से उबला पानी बार-बार दें। कई दिन बाद रिंगर लेक्टेट घोल आधी शक्ति का प्रयोग करें। जिन्हें सुई द्वारा द्रव दें उनका मुख थोड़े पानी से गीला रखें, सूखने न दें। इनके रोग में, जो चिरकाल से चलता है, अनशन अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं होता। वहाँ पूरी उष्णता के साथ द्रव थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कई बार मुख से दें। उपत्वचा में सुई प्रवेश करके (Subcutaneous injection) द्रवों का बालक के शरीर में पहुंचाना पहले बहुत चलता था फिर बाद में सिरा का प्रयोग होने से बन्द हो गया। अब पुनः हायलूरोनीडेज के साथ पुनः प्रयुक्त होने लगा है। इस विधि को घर पर आसानी से प्रयोग कर सकते हैं, विशेष यन्त्र आवश्यक नहीं। तथा जब बालक की सिरा ढूंढना कठिन हो तब इसके द्वारा काम चलने में यह विधि अच्छी है। पर इसके २०० मि. लि. से अधिक द्रव शरीर में नहीं जा सकता। द्रव का शोषण बहुत धीरे होता है, दर्द उत्पन्न करती है और त्वचा में दूषकता उत्पन्न कर सकती है अतः इसका प्रयोग मर्यादित है। इधर हायलूरोनीडेज नामक किण्वक का उपयोग होने लगा है। इसे हम विस्तारपूर्वक कह सकते हैं। हमारे शरीर में हायलूरोनिक एसिड धातुओं को संश्लिष्ट रखती है, यह किण्वक धातु के अन्दर इस एसिड पर कार्य करके उसमें द्रव पदार्थ के लिए कुछ स्थान उत्पन्न कर देता है। इसके कारण आसानी से द्रव त्वचा के नीचे सुई द्वारा भेजा जा सकता है। सैकड़ों मि. लि. द्रव त्वचा के नीचे बिना स्थानिक क्षुब्धता उत्पन्न किये प्रविष्ट किया जा सकता है। दर्द भी नाममात्र का होता है। इस विधि में दोष यह है कि इस का स्वास्थ्य के लिए दुष्परिणाम नहीं है तथा ग्लूकोज ५%

प्रतिशत से अधिक का नहीं किया जाना चाहिए। इस विधि से उपसर्ग उत्पन्न हो सकता है यही दोष मुख्य है। इस विधि को काम में लाने के लिए ड्रिप पद्धति जैसे यन्त्र की आवश्यकता होती है। उसकी ट्यूब Y के आकार में रहती है २ सुई एक साथ सिरे पर समाकर दोनों बगलों में एक-एक सुई त्वचा के नीचे प्रविष्ट कर देते हैं। जहां दोनों ट्यूब अलग-अलग बंटती हैं वहां से ऊपर रबरट्यूब में इन्जेक्शन से हायलूरोनीडेज पावडर (Hyalase) १ मिलीग्राम १ मिलीलिटर परिश्रुत जल में तुरत घोलकर प्रवेश करा देते हैं और द्रव को बूंद-बूंद बहने देते हैं। उपत्वक् विधि का प्रयोग उपसर्ग के डर से वही करना चाहिए जहां थोड़ी देर ही द्रव पहुंचाना आवश्यक हो। अधिक कष्ट के लिए ड्रिप या अन्य विधि का उपयोग करना चाहिए। जंघास्थि (टिबिया) के अन्दर द्रव भेजने से वहां से वह उससे बाहर निकलने वाली शिराओं बँट जाता है और शीघ्रतापूर्वक शरीर में वितरित हो जाता है। इस विधि से समबल (Isotonic) लवणजल सुविधा से तथा प्लाज्मा कुछ दिक्कत से प्रविष्ट किया जा सकता है। इसके लिये विशेष सूची (Needle) की आवश्यकता पड़ती है। इसमें भी उपसर्ग लगाकर औस्टियोमाईलाइटिस होने का डर है। पहले त्वचा और पर्यस्त भाग को अन्दर की तरफ सामने के हिस्से में जहां टिबिया की हड्डी टिबियल ट्यूबरोसिटी मे २ अंगुल नीचे साफ दीखती है, पहले संज्ञाहीन कर लें फिर समकोण पर सुई को भीतर प्रविष्ट करें। थोड़ी देर में वह मज्जा तक पहुंच जाती है। उसे सीरिज से खींचकर परीक्षा कर लें। फिर द्रव धीरे-धीरे प्रवेश करें जैसे पहले किया था। सिरा द्वारा द्रव सीधा रक्त में जाता है। रक्त को अन्य विधि से नहीं प्रविष्ट किया जा सकता, इस विधि से आसानी से दिया जा सकता है। कितनी ही बडी मात्रा में द्रव बालक के रक्त में पहुंचाया जा सकता है। दोष यही है कि इसके लिए विशेषज्ञ की आवश्यकता पड़ती है जो सिरा ढूंढ सके। सिरा ढूंढना कठिन होने से आपरेशन द्वारा सिरा निकालनी पडती है। हाथ या पैर (जहां सुई लगाना हो) पर एक लम्बी खपच्ची बांधें इससे आसानी रहती है। इस विधि का प्रयोग वयस्कों की तरह ही करते हैं। दोष यह है कि अन्दर द्रव जाने से हाथ-पैर में शोथ, हाइपोस्टैटिक न्यूमोनियां हार्ट फेल्योर, सुई द्वारा हवा जाने से वायु की अन्तःशल्यता, अतिनाश हो सकता है। पर यदि योग्यतया किया जावे तो ३-४ दिन विधि से द्रव शरीर में बिना किसी उपचार के पहुंचाया जा सकता है। बालक के सिर पर जो सिरायें होती हैं उनमें आपरेशन बिना भी पतली बारीक सुई के प्रयोग से काम निकाला जा सकता है। इसे २ मास या नीचे के बलकों में ही दिया जा सकता है और अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। इसे २४ घण्टे से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

द्रव का स्वरूप: ५ प्रतिशत ग्लूकोज का विलियन—यह सरलतया बनता है। प्रयोग करें। रिंगर लैक्टेटमोडीफाइड सौल्यूशन (हार्टमेन विलयन) में सोडियम क्लोराइड ०·६ प्रतिशत पोटाशियम क्लोराइड ०·०४ प्रतिशत मैग्नेशियम क्लोराइड ०·००२ प्रतिशत इसमें मोलर सोडियम लैक्टेट १० मि० लि०, ४०० मि० लि० रिंगर सोलूशन में मिलाते हैं। ५ प्रतिशत ग्लूकोज डालने से अच्छा रहता है। यह साधारण लवणजल की अपेक्षा शरीर के लिये अधिक नैसर्गिक है। यह शरीर के अम्लोत्कर्ष को नष्ट करता है। सोडियम बाईकार्ब कभी न मिलावें क्योंकि वह शरीर में विष बन जाता है। जब विद्युदंश्य के ह्रास से विजलीयता हो तो इसे दें। मुख, सिरा, जंघास्थि मार्ग से इसे दें। १/२ शक्ति का मोलर लैक्टेट सौल्यूशन कार्बोनेट रहित सोडियम क्लोराइड कोलैक्टिक एसिड के साथ न्यूट्रलाइज करके बनाते हैं। इसे अत्यधिक अम्लोत्कर्ष में देते है। अधिक न दें, सिरा द्वारा १ मि०लि० प्रति पौण्ड शरीरभार का २/३ देना चाहिए। मुख, उपत्वक्, सिरा, जंघास्थि किसी भी मार्ग से दें। Ni 10 हाइड्रो० एसिड विलियन अत्यन्त क्षारोत्कर्ष में देते है, मुख द्वारा दें। रक्तरस और लसी इससे मोडीफाइड रिंगर लैक्टेट सोलूशन में आधी शक्ति मिलाकर देने से विजलीयताजन्य प्रोटीन की रक्त में कमी (Hypoprotienimea) दूर करते हैं। इसको क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) में न दें। लसी (Serum) रक्तरस (Plasma) के स्थान पर अधिक प्रयोग करें।

रक्त यदि देना हो तो — (१००—हीमोग्लोबिन प्रतिशत / १००) × ४० × पौण्डों में भार — मिलीलिटर रक्त देना चाहिए। १०० मि० लि० से अधिक एक बार में न दें। रक्त को सदैव सिरा द्वारा ही दें। अन्य मार्ग बेकार है। सिरा के लिये सिर की सिरा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। एमीनो एसिड सोल्यूशन—इसे प्रोटीन की पूर्ति के लिये ही दिया जा सकता है, खासकर जब बहुत दस्त होने के साथ यकृत् की क्रियाशक्ति भी क्षीण हो रही हो। इसमें दोष यही है कि इसकी शुद्धि (Sterlisation) कठिन है और यह सिरा में शीघ्र घनास्रोत्कर्ष कर देता है। इसका १५-२५ प्रतिशत प्रतिदिन १ ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार के हिसाब से देना चाहिये।

इस प्रकार प्रक्षालन क्रियाओं में आमाशय और आंशिक रूप में स्थूलान्त्र की शुद्धि बतलाई जा चुकी। शेष और वास्तविक शुद्धि तो क्षुद्रान्त्र की है जहां पर कि जीवाणुओं ने अपना अड्डा जमा रक्खा है। उनके लिये निम्नांकित विरेचक द्रव्यों को उपयोग में लाना चाहिये।

अ—शुद्ध एरण्डतैल (Pure castor oil)।

अ—वमी या अन्य कारण से एरण्डतैल के सेवन में आपत्ति हो तो १/२ रत्ती कैलोमिल (Calomel) सोडा बाईकार्ब के साथ दिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में विशिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। यदि हाथ-पैरों को स्थितिस्थापकता कम हो गई हो तो उसे उष्ण रखने के लिये उष्णता-प्रदायक प्रक्रिया (Tepid pack) द्वारा उष्ण रखें।

यदि हृदयावसाद के चिह्न प्रकट हो रहे हैं तो राजिकास्नान (Mystard bath) का प्रबन्ध करें। यह प्रक्रिया अत्यन्त शक्तिशालिनी है। राजिकास्नान में तापमान धीरे-धीरे ११०° फ० तक बढ़ाकर ले जाते हैं। हृदयावसादनाशक द्रव्यों का प्रयोग जैसे कर्पूर तैलीय घोल (1 part of camphor in 15 or 30 parts of olive oil) से ही ५ बिन्दु की मात्रा १/२ बिन्दु कुचेलक द्रव (Liquor strichnine) उपत्वक् वेध से या कर्पूरासव (Spirit of camphor) के ५-१० बिन्दु मुख द्वारा दे सकते हैं या अन्य हृदय द्रव्य कोरैमीन, कस्तूरीभैरव, मकरध्वज आदि भी दिये जा सकते हैं।

शिशु की सार्वदैहिक स्वच्छता की दृष्टि से एक बार मन्दोष्ण जल से स्नान तथा मललिप्त कपड़ों को शीघ्र हटा कर स्वच्छ कपड़ों (Napkins) का प्रयोग कराना चाहिए। कमरे में वायु के प्रवेश का पूरा प्रबन्ध रखना चाहिए। अधिक गर्मी में किसी शीतल स्थान में ले जा सकते हैं।

औषधोपचार

आधुनिक चिकित्सक द्रवचिकित्सा और अनशन के द्वारा ही बालातीसार दूर करने के पक्षपाती हैं तथा औषधि चिकित्सा उपयोगी नहीं मानते। अहिफेन के पदार्थों से बालक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, अतः उन्हें न दें। साधारणतया आयुर्वेदीय अहिफेन योग, कर्पूररसवटी या अगस्तिसूतराज उचित मात्रा में एक या दो बार देकर मल प्रवाह को कम करना आवश्यक है, सदैव नहीं। बिस्मथ और केओलीन भी अधिक प्रभाव नहीं करते। सल्फाग्वानीडीन, क्लोरम-फेनीकोल, औरियोमाइसीन, नियोमाइसीन, टेरामाइसीन आदि के देने से अतिसारकर विकारी जीवाणु की संख्या घट जाती है पर दवा बन्द करने पर पुनः ये जीवाणु लौट आते हैं। पर एक बार विकारी जीवाणुओं की संख्या घटने से बालक की विजयशालिनी शक्ति बढ़ने का अवसर रहने में लाभ हो सकता है अतः इन्हें आवश्यकतानुसार दे सकते हैं। कुछ संग्राहक और आक्षेपहर द्रव्य, जैसे फीनोबार्बीटोन तथा बेला-डोना दे सकते हैं। औरियोमाइसीन आदि कोई समय है अथवा जीवाणुओं में प्रतिरोधी शक्ति उत्पन्न हो जा सकती है। आजकल निओमाइसीन अतिसार में Accli-[illegible] हुआ है। बच्चे-मात्रा मुख द्वारा ५ मि० ग्रा० प्रति ४ घण्टे पर दें।

बालातिसार की सफल चिकित्सा

वैद्य दरबारीलाल आयुर्वेद-भिषक्, अशोक भैषज्य भवन,
फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद) उ० प्र०

बालातिसार यानी बालकों के दस्त यह बीमारी बालकों के लिए बड़ी खतरनाक है और अक्सर मारक प्रमाणित होती है। इसलिए बच्चों को दस्त की बीमारी होने पर बड़ी सावधानीपूर्वक पथ्य के साथ शीघ्र चिकित्सा करानी चाहिये। डाक्टर लोग इस बीमारी को डायरिया कहते हैं। अनजान जनता डाक्टरों द्वारा डायरिया हुआ सुनकर बहुत परेशान हो जाती है।

बालातिसार के कारण—दूध पिलाने वाली माता या धाय के गुरु (भारी) भोजन करने से, विषम भोजन करने से तथा दोष वाले भोजन करने से देह में दोष वात, पित्त, कफ प्रकुपित हो जाते हैं। उससे दूध प्रदूषित हो जाता है। उस प्रदूषित दूध को पीने से बालक को अतिसार रोग पैदा हो जाता है तथा अतिसार के साथ ज्वर, खांसी, वमन (उल्टी), शिरःशूल भी हो जाता है।

प्रायः यह होता है कि जब बच्चा रोता है तो उसको गोद में लेकर दूध पिलाने लगती हैं। ताकि बच्चा चुप हो जाय। जब बार-बार ऐसा होता है तो बच्चे की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है और अतिसार रोग हो जाता है। जब पहले का पीया हुआ दूध पच नहीं पाता और उसी बीच फिर और दूध उसके पेट में पहुंच जाता है तो न तो पहले का पीया हुआ दूध पचता है और न बाद का पीया हुआ दूध पचता है। परिणाम में बालातिसार उत्पन्न हो जाता है। इसलिये माताओं को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे को बार-बार दूध न पिलायें। यदि बच्चा रोता है तो उसे बहलायें, खिलायें। दूध ३-३ घण्टे बाद पिलायें। जब समझ लें कि बच्चा भूखा है तभी दूध पिलायें।

बालातिसार के लक्षण—इस रोग में वात, पित्त, कफ तीनों दोषों के प्रकोप से हरा, पीला, काला, लाल तथा श्वेत रंग का कच्चा, पतला, दुर्गन्धित मल बार-बार गुदामार्ग से निकलता है। मलद्वार में पीड़ा और जलन होती है। प्यास और मूर्छा भी हो सकती है। कभी-कभी वमन भी होने लगती है। ज्वर भी हो जाता है।

चिकित्सा—बडी आयु के लोगों को तमाम रोगों में जो दवायें दी जाती हैं, वही दवायें बालकों को भी दे सकते हैं। परन्तु उनकी मात्रा बालकों की आयु के अनुसार देनी चाहिये।

(१) नागरमोथा, छोटी पीपल, मंजीठ, काकड़ा-समभाग का चूर्ण कर शहद तथा दूध में मिला चटाने से बालकों के ज्वर तथा अतिसार को नष्ट करता है।

(२) पठानीलोध, छोटी पीपल, सुगन्धवाला, तीनों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना दूध व मधु में मिला चटाने से अतिसार ठीक हो जाता है।

(३) राल, धाय के फूल का चूर्ण मधु में मिला चटाने से अतिसार नष्ट हो जाता है।

(४) बेल का गूदा, धाय के फूल, सुगन्धवाला, लोध, गजपीपल सबको समान भाग लेकर चूर्ण बना मधु में मिला चटायें तो अतिसार रोग नष्ट हो जाता

है। यदि चाहें तो इनका क्वाथ बना मधु मिला पिला सकते हैं या चाहें तो अवलेह बनाकर सेवन करायें।

(५) लज्जावन्ती की जड़, धाय के फूल, पठानी लोध, सारिवा समभाग ले क्वाथ कर मधु मिला पिलायें या चूर्ण बना मधु से चटायें तो भयंकर अतिसार भी ठीक हो जाता है।

(६) वायविडंग, अजवायन, छोटीपीपल समभाग ले चूर्ण कर जल से मिला पिलायें या मधु में मिला चटायें तो बालकों का आमातिसार रोग दूर होता है।

नोट—आमातिसार का मल पानी में डालने से मल पानी में डूब जाता है, यह कच्चा दुर्गन्धित मल पीड़ा के साथ बाहर निकलता है। पक्वातिसार का मल पानी में डालने से डूबता नहीं बल्कि उतरता रहता है।

(७) मोचरस, मंजीठ, धाय के फूल, कमलकेशर समभाग ले चूर्ण कर मधु से चटायें तो रक्तातिसार नष्ट हो जाता है। यदि उसमें दम्मुल अखवैन मोचरस के समान मिला लिया जाय तो बहुत शीघ्र रक्त आना तथा अतिसार नष्ट हो जाता है।

(८) सोंठ, अतीस, नागरमोथा, सुगन्धबाला, इन्द्रजो इन सबका क्वाथ या चूर्ण सब प्रकार के अतिसार को नष्ट करता है।

(९) धान की खीलें, मुलहठी, खाँड, शहद इनको चावलों के धुले जल से मिलाकर पिलाने से प्रवाहिका नष्ट होती है।

(१०) इन्द्रजो, पठानीलोध, धनिया, आमला, सुगन्धबाला, नागरमोथा का चूर्ण मधु में मिला चटाने से ज्वर और अतिसार जो साथ-साथ होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

(११) हल्दी, कटु काष्ठ वाली नीम की पत्ती या छाल, देवदार, बड़ी कटेली, गजपीपल, पृश्नपर्णी, सौंफ समभाग ले चूर्ण कर घी तथा शहद से मिलाकर चटाने से अग्निदीप्त होती है, ग्रहणी रोग नष्ट होता है। श्वासरोग, कामला रोग, ज्वर, अतिसार तथा पाण्डु रोग का नाश करता है तथा बालकों के सब रोगों का नाश करने वाला कहा गया है।

(१२) प्याज के रस में मावे बराबर अफीम घोलकर पिलाने से दस्त रुक जाते हैं। अफीम को पेड़े में भी दे सकते हैं। इससे भी दस्त रुक जाते हैं।

(१३) छोटी इलायची के दाने, लौंग १-१ ग्राम, तज ४ ग्राम, बेलगिरी १२ ग्राम, मिश्री २४ ग्राम ले चूर्ण बना दिन में चार बार पानी या दूध में घोलकर पिलाने से अतिसार और प्रवाहिका में आराम हो जाता है।

(१४) अतीस, आम की गुठली, धाय के फूल, बेलगिरी, मोचरस और पठानीलोध समभाग ले चूर्ण कर मधु से चटाने से बहुत बढ़े हुए अतिसार में आराम हो जाता है।

(१५) आम की गुठली, छोटी पीपल और रसौत का चूर्ण मधु के साथ सेवन कराने से बालातिसार में लाभ होता है।

(१६) आम की गुठली व बेलगिरी का काढ़ा बनाकर पिलाने से अतिसार तथा वमन का नाश होता है।

नोट—जिन काढ़ों का उपयोग करना लिखा गया है उनको स्थायी रखने के लिये और बार-बार काढ़ा बनाने की झंझट से बचने के लिए उन काढ़ों का शर्बत बनाकर रख ले और मात्रानुसार प्रयोग करें तो इससे काढ़ों का पूरा लाभ मिलेगा और बार-बार बनाने की परेशानी भी न होगी। डाक्टरों के मिक्चरों की भांति काढ़े अत्यन्त उपयोगी व आशु लाभकारी हैं। परन्तु बनाने व औषधि संग्रह की परेशानी के कारण आजकल काढ़ों का प्रयोग लगभग बन्द-सा हो गया है। इसलिये काढ़ों से लाभ प्राप्त करने के लिये उनको शर्बत के रूप में बनाकर अथवा आसवारिष्ट के रूप में बनाकर प्रयोग कर सकते हैं।

(१७) अफीम, [illegible], केसर, [illegible] और जावित्री ३-३ माशे, पुराना गुड़ [illegible] की [illegible] पानी से मूंग समान गोली बना दिन में ३-४ बार दूध या पानी से देने से रक्तातिसार ठीक हो जाता है।

(१८) अफीम ६ माशा, कपूर, कालीमिर्च और इलायचीबीज १-१ तो०, बरगद की कोंपल [illegible] २½ तो० [illegible]

सबको कूट-पीस अर्क गुलाव में घोट मूग वरावर गोली वना दिन में २-३ बार गाय के मट्ठा या अर्क सौंफ में सेवन कराने से आमातिसार, सग्रहणी तथा प्रवाहिका नष्ट होती है।

(१६) मिश्री मधु के साथ सुगन्धवाला का चूर्ण चावल के धोवन में घोल कर पिलाने से रक्तातिसार नष्ट होता है।

(२०) अफीम ६ माशा, जायफल, जावित्री, वरगद की कोमल जटा, मोचरस, लौंग, शुद्ध हिंगुल (शिगरफ) १-१ तोला ले कपड़छन चूर्ण वना लें फिर एक छटांक पोस्त का छिलका कुचलकर आधा सेर पानी में पकावें और २॥ तोला जल रह जाने पर नीचे उतार कर छान लें और इसी काढ़े में उक्त चूर्ण मिला खरल कर मूग सम वटी वना दिन रात मे ३-४ वार मिश्री के शर्वत या चावल के धोवन के साथ सेवन कराने से बालकों की आंव, पेचिश की वीमारी ठीक हो जाती है।

(२१) अफीम और तलाव हीग कच्ची ६-६ माशा, छोटी इलायची के दाने, चौकिया सुहागा का फूला और पपरिया खैर १-१ तोला, सोंठ २ तोला ले सबको कूट पीस पानी में घोट उड़द वरावर गोली वना १-१ गोली दिन में २ बार मीठे दूध में घोलकर पिलाने से हर प्रकार के हरे, पीले, आंव सहित पतले दस्त वन्द हो जाते हैं।

(२२) अनार का छिलका, कुड़ा की छाल का काढ़ा मधु मिला पिलाने से रक्तातिसार नष्ट होता है।

(२३) सफेदराल तथा कत्था समान लेकर चूर्ण करें। इसमें में से १-१ माशे दवा या कम ज्यादा दवा आयु के अनुसार दिन में ३-४ वार मीठे दूध से दें तो अतिसार, प्रवाहिका, रक्तातिसार, ज्वरातिसार, ग्रीष्मातिसार, आंतों का लफ्रा-फूला रहना, आंतों की सूजन, गुड़गुड़ाहट, मरोड़ दूर होती है,

(२४) सफेद राल, फिटकरी की खील २-२ तोला, सोना गेरू, अनार के फल का छिलका, पोस्त डोंडा, सोंठ १-१ तोला, काला नमक ६ माशा, दम्मुल अखवैन ६ माशा ले चूर्ण कर जल से उड़द वरावर गोलियां वना १-१ गोली दिन में ३ वार मीठ दूध से दें। वालातिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, रक्तातिसार को नष्ट करने में अत्यन्त लाभकर है।

(२५) इन्द्रजी, धाय के फूल, नागरमोंथा, पठानी लोध, कुड़े की छाल, वायविडंग, अतीस, कज्जली, अफीम शुद्ध १-१ तोले ले कूट-पीस जल में मूंग सम वटी वना १-१ गोली दिन में तीन वार मीठे दूध के साथ दे। इससे वातातिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका, विशूचिका शीघ्र नष्ट होती है।

(१६) सोंठ १ भाग, गुड़ दो भाग को घोट पीस चना सम वटी वना दिन में तीन वार १-१ गोली मीठे दूध में घोलकर पिलाने से प्रवाहिका जिसमें सफेद आव आती है ठीक हो जाती है।

(२७) गर्ग वनौषधि भण्डार विजयगढ़ का डायरील कैपसूल अतिसार रोग को नष्ट करता है।

(२८) डाक्टरी दवा में सल्फागुआनेडीन, लोमाफेन, इन्ट्रोफ़ॉनाल, डिपेण्डाल, फ्लैजिल, इन्ट्रोस्ट्रेप, क्लोरस्ट्रेप, इन्ट्रोजायम आदि दवायें भी चमत्कारी लाभ करती है।

(२६) डेस्ट्राल टेवलेट तथा पेचिका भी लाभकारी दवायें हैं।

(३०) आयुर्वेदिक दवायें कर्पूर रस, गंगाधर रस, गंगाधर चूर्ण, महागंगाधर रस, रस पीपरी, नृपतिवल्लभ रस, पीयूषवल्ली रस, दन्तोद्भेद गदान्तक रस, ग्रहणीकपाट रस, कनकसुन्दर रस, अगस्तिसूतराज रस, सिद्धप्राणेश्वर रस, वालरोगान्तक रस भी वालातिसार में अतीव गुणकारी है। कर्पूर रस आदि जो अहिफेन (अफीम) मिश्रित दवायें हैं। उनसे दस्त तो एक दम रुक जाते हैं। परन्तु पाचन-शक्ति न बढ़ने के कारण अक्सर पेट फूल जाता है और फिर एक दम से वड़े-वड़े पतले दस्त आने शुरू हो जाते हैं। ऐसी दशा में अहिफेन मिश्रित दवाओं के साथ पाचन शक्ति वढ़ाने वाली दवायें भी देनी चाहिये। इसके लिये लवण भास्कर चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, शंखवटी, चित्रकादि वटी का प्रयोग साथ में कर सकते है।

अवस्था में विण्मूत्र का त्याग कर देता है। शरीर विनत रखता है, जुम्भा विशेष आती रहती है और मुख से फेन का प्रसर्जन करता है। विशेषत: आक्षेपावस्था में क्वचिद जब संज्ञाहीन हो जाता है तव फेन विसर्जन और माता का स्तन या अपनी जिह्वा काट लेता है। संज्ञाप्राप्ति होने पर रोने लगता है। कभी ज्वर भी हो जाता है।

आधुनिक विचार—उक्त लक्षण समुच्चय प्रायश: आधुनिक विज्ञानानुसार अपस्मार में दिखाई देते हैं। विभिन्न प्रकार के लक्षणों के साथ अपस्मार में पुन:-पुन संज्ञानाश या तन्द्रितावस्था का वेग आता रहता है और साथ में मांसपेशियों की संकुचनशीलावस्था अथवा कम्पावस्था दिखाई देती है। अपस्मार की उक्त आधुनिक व्याख्या से अपने शास्त्र में स्कन्दापस्मार नाम से उसका कितना यथातथ्य वर्णन मिलता है उसका पता चलता है।
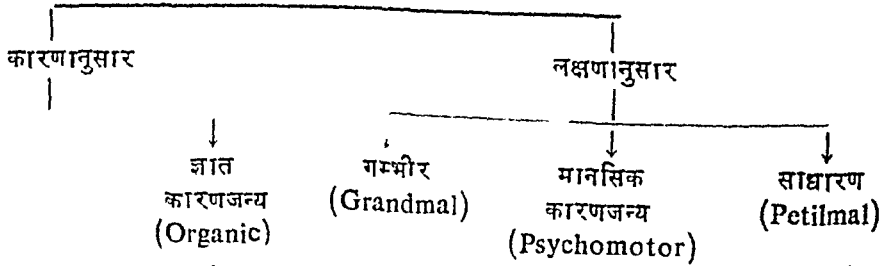
प्रकार—

कारणानुसार—

(१) अज्ञात कारणजन्य अपस्मार—बहुधा वालापस्मार के रुग्णों में पुन:-पुन: संज्ञानाश का कोई कारण नहीं मिलता। ऐसा माना जाता है कि मस्तिष्क चयापचय की रासायनिक क्रियाओं में विशेष प्रकार की आनुवांशिक विकृति के कारण इस प्रकार का अपस्मार होता है।

इलेक्ट्रोएनकेफेलोग्राम (ECG) के द्वारा इस तथ्य पर कुछ प्रकाश डाला जा सका है। अपितु अभी तक आगे और अन्वेषण की आवश्यकता है।

(२) ज्ञात कारणजन्य अपस्मार—इस प्रकार के दो उपविभाग हैं—

[१] शारीर रचना विकृतिजन्य—मस्तिष्क में जन्मवल प्रवृत्त रचनागत विकृति के कारण इस प्रकार का अपस्मार उत्पन्न होता है।

[२] शारीर क्रिया विकृतिजन्य—शरीर में विविध रासायनिक क्रिया चयापचय के एक भाग रूप में होती रहती हैं। उसकी विकृति से मस्तिष्क का प्राकृत रासायनिक संतुलन भी विकृत होता है और वह अपस्मार को उत्पन्न करता है।

लक्षणानुसार—

[१] गम्भीर (Grandmal)—इसमें निम्न लक्षण मिलते हैं—

(अ) आक्षेप पूर्व लक्षण—वालापस्मार के व्याधितों में से तीसरे भाग के रुग्ण ही यह स्थिति आने में समर्थ होते हैं। शिर:शूल, भ्रम, ग्लानि, उदरशूल मिल सकते हैं। अधिक छोटे वालक में एक जोर की चीख निकलती है।

(ब) अचेतनता—रुग्ण खड़ा हो या बैठा हुआ हो तो वह एकदम जमीन पर गिर जाता है।

(स) आक्षेप—इनके साथ चीख सुनाई देती है। ऊपर जो भ्रू, हाथ-पैरों का नचाना लिखा है वह आक्षेप ही है। आक्षेपों की भी अवस्थायें होती है—

आयुर्वेदिक आर्ष ग्रन्थों में बालापस्मार नाम से किसी रोग का वर्णन उपलब्ध नहीं है, लेकिन आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों में स्कन्दापस्मार या विशाखा ग्रह पीड़ित बालकों के लिये जिन लक्षणों का उल्लेख मिलता है, वह बाला अपस्मार के लक्षणों से साम्यता रखते हैं। अतः स्कन्दापस्मार को बालापस्मार का ही पर्यायवाची समझना चाहिये। स्कन्दापस्मार से पीड़ित बालकों के लक्षणों का सुश्रुत इस प्रकार वर्णन करते हैं—बालक कभी बेहोश हो जाता है, कभी पुनः होश में आ जाता है, आँखें, हाथ, पैर, मुंह चलाता है, इसी दशा में विण्मूत्र का त्याग कर देता है, उसका शरीर अकड़ जाता है, दांत जकड़ जाते हैं और मुंह से फेन गिराता है। यह सुश्रुतोक्त सभी लक्षण अपस्मार के लक्षणों जैसे ही हैं। सम्भव है कि निदान की स्पष्टता न होने से बच्चों के इस अपस्मार रोग को संहिताकारों ने ग्रह बाधाजन्य रोग मान लिया हो।

आधुनिक चिकित्सक इसे एपिलेप्सी (Epilepsy) कहते हैं और इस रोग का वर्गीकरण, कारण तथा लक्षणों की उग्रता के अनुसार दो प्रकार से करते हैं। कारण के आधार पर इसे दो वर्गों में बांटा जाता है–ज्ञात कारणजन्य तथा अज्ञात कारनजन्य। स्पष्टतः ज्ञातकारण जन्य भेद में किसी निश्चित मस्तिष्क विकार का पता होता है जबकि अज्ञातकारण जन्य में रोग के कारणों का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह रोग की उग्रता तथा जटिलता के आधार पर अपस्मार के दो भेद किये जाते हैं—तीव्रवेग जन्य ग्राण्डमाल (Grand mal) तथा क्षुद्रावेग जन्य पेटिट माल (Petit mal)। तीव्रवेग जन्य में रोग का वेग तीव्र तथा भयंकर होता है जबकि क्षुद्रावेग जन्य अपस्मार में बहुत कम समय तक रोग के दौरे पड़ते हैं।

चिकित्सा की दृष्टि से बालापस्मार या अपस्मार में दो प्रकार से चिकित्सा का आश्रय लेना होता है–(१) वेगकालीन उपचार, (२) विरामकालीन उपचार। वेगकालीन उपचार में निम्न उपाय करने चाहिये। (१) रोगी को शुद्ध वायु में बिस्तर पर शान्ति से लिटाना चाहिए। (२) गर्दन, सीने, पेट तथा कमर के बन्धनों को ढीला कर देना चाहिए, दांतों के बीच रुई या कपड़े की गद्दी, फंसा देनी चाहिए जिससे रोगी अपनी जिह्वा न काट ले। (४) रोगी के मुंह पर पानी की छींटे देनी चाहिये तथा सिर पर ठण्डे पानी की बोतल रखनी चाहिए। (५) यदि रोगी बच्चा थोड़ा बड़ा हो तो किसी मूर्च्छा हर नस्य के प्रयोग से उसे होश में लाने का प्रयास करना चाहिए। उपरोक्त व्यवस्थाओं से रोगी की संज्ञा वापस आ जाती है। पुराने समय के रीति रिवाजों यथा जूता सुंघाना आदि से बचना चाहिए। रोगी के होश में आने पर रोगी की ठीक से परीक्षा करके रोग के वास्तविक कारणों को जानने का प्रयास करना चाहिये, और कारण ज्ञात होने पर ही उसकी चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए। अपस्मार नाशक जो अनेक योग आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित हैं वही बालापस्मार में भी प्रयोग किये जाते हैं। वातकुलान्तक रस, स्मृतिसागर रस, योगेन्द्र रस, अपस्मारनाशक रस, ब्राह्मीवटी, पंचगव्य घृत, अश्वगन्धारिष्ट सारस्वत चूर्ण एवं कल्याण-चूर्ण रोग के स्थाई उपचार के लिये सहायक हो सकते हैं। केवल नेत्रबाला, कूठ और वच के मिश्रित चूर्ण के प्रयोग से हमने अपस्मार में स्थाई लाभ प्राप्त करने का अनुभव प्राप्त किया है पाठक इससे लाभ उठा सकते हैं।

विशेषांक में बालापस्मार पर दो गुजराती विद्वानों के लेख पाठकों के लिये प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें लेखकों के गुजराती भाषी होने से भाषा की कुछ त्रुटियां पाठकों को खटकेंगी। लेकिन रोग के विषय में दोनों लेखों से पाठक अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

—गोपालशरण गर्ग।

पहली संकुचकशीलावस्था जिसमें वालक मुट्ठी कसकर वांध लेता है, श्वास रोके रहता है, पैर फैला देता है, नाड़ी तीव्र पर अति क्षीण हो जाती है।

श्वेताभ मुख, कनीनिका विस्फार, आंखों का या तो एक तरफ चढ़ जाना, शिर पीछे की ओर या तो एक ओर झुक जाना यह लक्षण भी इस अवस्था में होते हैं। दूसरी कम्पावस्था पहली अवस्था के वाद २० से ४० सेकण्ड पश्चात् आ जाती है। इसमें रुग्ण हाथ-पैरों का शीघ्र संकोच और प्रसार करता है। आंखें शीघ्र वन्द करता तथा खोलता है और मुख भी उसी प्रकार शीघ्र खुलता और वन्द होता है।

(द) सुषुप्ति: आक्षेपों के वाद वालक सो जाता है या तन्द्रा में पहुंच जाता है। सोने से पूर्व घुर्घुर युक्त श्वास हो जाती है। मल-मूल का स्वत: त्याग हो जाता है। उसके मुख से लालास्राव और फेनोद्गम होने लगता है। फिर तन्द्रा आकर वह सो जाता है।

उक्त प्रकार के आवेग वालक को पुन:-पुन: किसी भी समय पर आते रहते हैं।

(य) साधारण वालापस्मार—इसमें अचेतनावस्था नहीं आती है, आक्षेप नहीं होते हैं, लेकिन वेग के समय वालक वोलते-वोलते अचानक रुक जाता है। अपने हाथ में पकड़ी हुई चीज को गिरा देता है। कभी-कभी आंखें ऊपर को चढ़ा देता है। वेगकाल ३० सैकिण्ड से ज्यादा नहीं होता। ३ वर्ष के पूर्व की आयु में प्राय: यह अवस्था नहीं मिलती एवं वाल्यावस्था पूरी होने से व्याधि निवृत्ति भी हो जाती है। इसके आवेग एक-दो से लेकर कई सौ तक एक दिन में आ सकते हैं।

(र) मानसिक कारण जन्य अपस्मार—विषय संदर्भ में इसका उल्लेख आवश्यक है। वस्तुत: वड़े रुग्णों में मिलते अपतंत्रक जैसे ही यह वाल्यावस्था जन्य अवस्था है। साधारण अपस्मार और मानसिक कारण जन्य अपस्मार में विभेदन अति कठिन है। इलेक्ट्रोएनकेफेलोग्राम (EEG) के दोनों में विभेदन कर सकते हैं।

व्याधि निदान के उपकरण—

(१) इलैक्ट्रोएनफेलोग्राम (E E G)।

(२) सी० टी० के न (CT Scan)।

(३) रोएन्ट जेनोग्राफी (Roent genography)। उक्त उपकरणों की सहायता से व्याधि का निश्चित निदान और मस्तिष्क में विकृति का स्थान का पता चल सकता है।

वालापस्मार की चिकित्सा—आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से अपस्मार मानसिक विकार है। तीनों दोषों द्वारा पृथक् अथवा परस्पर मिलकर किसी भी प्रकार का अपस्मार मिल सकता है। क्षीण मनुष्य का अपस्मार और पुराना अपस्मार असाध्य है। इसकी चिकित्सा में आवृत्त स्रोतों को खोलना और मन को प्रवुद्ध करने के उपाय समाविष्ट हैं। उसके लिये प्रारम्भ में तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा संज्ञाप्रवोधन करके वातिक में वस्ति, पैत्तिक में विरेचनयुक्त और कफज में वमनकारक औषधियों को प्रयुक्त करना चाहिये। सव प्रकार के शुद्ध होने के वाद अपस्मार नाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। जव अपस्मारी वालक सर्वत:विशुद्ध हो जाय तव उसे सम्यक्तया आश्वस्त करके अपस्मारघ्न संशमन योगों को देना चाहिये। अपस्मारनाशक संशमन योगों में (१) पंचगव्य घृत, (२) महापंचगव्य घृत, (३) अभ्यंगार्थ सिद्ध तैल, (४) कट्फलादि तैल विशेष उपयोगी है।

इनके साथ अपस्मारनाशक धूपों, उत्सादनों, नस्यों का प्रयोग जैसा कि चरकादि संहिताओं में वर्णित है करना चाहिए। अंजनों, वर्तियों के प्रयोग से रोगी की मूर्च्छा दूर करनी चाहिए।

सुश्रुत ने स्कन्दापस्मार प्रतिषेध अध्याय में निम्न उपाय वताये हैं—

(१) विल्व, शिरीष, सुरसादिगण के द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक।

(२) सर्वगंध द्रव्यों से संस्कारित तैल द्वारा अभ्यंग।

(३) क्षीरी वृक्षों के कषाय से सिद्ध घृत का पान।

(४) वचा और हिंगु के द्वारा उत्सादन (उवटन)।

(५) गृध्र, उल्लूक केश का धूपन।

(६) अनन्ता, विम्वी आदि औषधियों का धारण।

(७) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा।

आधुनिक मतानुसार बालापस्मार की चिकित्सा

वेग की चिकित्सा–(१) रुग्ण को वेग का प्रारम्भ ध्यान में आते ही किसी भी प्रकार की चोट से बचाना।

(२) वेगकाल लम्बे समय तक चले और श्यावता दिखाई दे तो ऑक्सीजन देना।

(३) किसी भी प्रकार की चीज जैसे कि प्याज, जूते आदि रुग्ण को सुघाने की प्रथा की अनुपयोगिता ध्यान में रखकर रुग्ण को उससे बचाना।

(१) वेग की तीव्र अवस्था में चिकित्सा—कई बार वेग पुनः-पुनः आते रहते है। और दो वेगों के बीच का समय कम होने के कारण सतत रोगी आक्षेप की अवस्था मे है ऐसा प्रतीत होता है। चिकित्सक की सूचना बगैर ही अपस्मार मे प्रयुक्त औषधियों को एकायक बन्द करने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होती देखी गई है। डायजेपाम सिरामार्ग अथवा फीनोबार्बीटोन सोडियम को मांसपेशी मार्ग से सूचीवेध द्वारा देना ही उसका उपाय है।

(२) बालापस्मार से ग्रस्त रुग्ण की सतत चिकित्सा—वेगकालीन चिकित्सा के उपरान्त आक्षेप की अवस्था आने ही न पाए उसके लिये फीनोबार्बीटोइद सोडियम ३ से ५ मि० ग्रा० । १ कि० ग्रा० । देह भार से २ व ३ विभाजित मात्रा में २४ घण्टे में सतत दो साल तक देते है। रुग्ण को अन्तिम आक्षेप के बाद कम से कम १ वर्ष पर्यन्त यह चिकित्सा सतत लेते रहने की सलाह दी जाती है।

(३) बालापस्मार से पीड़ित बालक—उसके माता-पिता, उसके परिवार के सदस्य आदि को यह व्याधि के बारे में पूर्ण जानकारी देनी चाहिए ताकि बालक के स्वाभाविक मानसिक विकास को बाधा न पहुंचे।

फिनोबार्बीटोन सोडियम के उपरान्त वालप्रोइक एसिड, डायजेपाम, कार्बामाजेपिन, हाइडेन्टोइन और एसीटाजोलामाइड का भी विभिन्न प्रकार के संयोजनों में प्रयोग किया जाता है।

बालापस्मार से सम्बधित कुछ तथ्य–(१) अपस्मार के साथ किसी भी प्रकार की मानसिक व्याधियां या शारीरिक व्याधियों की उपस्थिति व्याधि को दुःसाध्य बनाती है।

(२) यह व्याधि कष्टसाध्य है और एक बार व्याधि निवृत्ति होने के पश्चात् पुनः आक्रमण होते देखा गया है।

(३) कुछ परिवार आनुवंशिक रूप से इस व्याधि से पीड़ित रहते है। अतः कुलस्थ स्वरूप में भी इसकी प्रवृति होती है।

(४) ८० प्रतिशत बालक सामान्य जीवन क्रम से जीवनयापन कर सकते हैं। परन्तु पुनः पुनः आक्षेप, दुरूह और सतत चिकित्सा रुग्ण की, रुग्ण के परिवार की और चिकित्सक के धैर्य की कसौटी करते रहते हैं।

(५) हैरिसन और टेलर (१९७०) ने २५ वर्ष के अभ्यास के बाद २०० रुग्णों के परीक्षणों के आधार पर ऐसा तथ्य प्रकाशित किया है कि प्राय. दो तिहाई रुग्ण मानसिक और शारीरिक दृष्टि से बच गये थे। परन्तु उनमें से कई को शैक्षणिक उन्नति के लिये ७ गुना परिश्रम करना पड़ा। उनको अपने व्यवसाय और शिक्षा प्राप्त करने के लिये काफी बाधा का अनुभव करना पड़ा। बाकी एक तिहाई रुग्ण मृत्यु, सम्पूर्ण पराधीनता अथवा सतत सुश्रुषा को प्राप्त हुये थे।

बालापस्मार के विषय में प्राप्त आधुनिक-अधिकृत वर्णन को नाति मर्यादित विस्तार से इस ग्रंथ में दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

बालापस्मार-२

श्रीमती नलिनी पी. राठोड, रीडर–स्वस्थवृत्त विभाग
अखण्डानन्द आयुर्वेद कालेज, अहमदाबाद

★

परिचय—चिकित्सा-जगत् में अपस्मार एक सुपरिचित रोग रहा है। प्रचीन एवं अर्वाचीन साहित्य में इसका वर्णन प्राप्त है। व्यवहार में भी सभी देश एवं संस्कृतियों में कम या अधिक रूप में यह पाया जाने वाला रोग है। उसके कई स्वरूप देखने को मिलते हैं। इनसे पेटिटमाल एव ग्रांडमाल प्रमुख स्वरूप है। पेटिटमाल, माइनर एपेलेप्सी या लिटिल इलनेस कई वार पर्याप्त रूप में प्रयुक्त होते हैं। पेटिटमाल को ही क्षणापस्मार या क्षुद्रापस्मार भी कहा जाता है। वच्चों में होने वाले दीर्घ क्षुद्ररूपा अपस्मार के लिए वालापस्मार शब्द प्रयुक्त होता है वालापस्मार को सुविधा के लिए दीर्घ क्षुद्रापस्मार प्रकार भी कह सकते है। उसे Pyknolepsy भी कहते हैं। क्षुद्रापस्मार प्राय: १० वर्ष के वच्चों में कुछ क्षणों (५ सेकेन्ड) के लिये उत्पन्न अचेतनावस्था के रूप में पाया जा सकता है। कई वार इसी रूप में दीर्घापस्मार का रोग भी देखा जाता है। वार-वार वेग आने पर ही इसे Pyknolepsy कहा जाता है।

हेतु—वच्चों में पाये जाने वाले अपस्मार के कारण जन्मजात या सहज प्रकार के ही अधिक होते हैं इसमें वीज दोष (अपस्मार ग्रस्त कुल) एवं कई वार गर्भिणी के दौहृदयापचार भी कारण भूत वनते है। वच्चों के आहार-विहार भी इसमें निमित्त हो सकते हैं। समग्र रूप से उन कारणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

(क) आदि वलप्रवृत्ता कारण—वीज दोष (शुक्र शोणित का अपस्मार कारक विकृति मय होना) अपस्मारी कुल का होना।

(ख) जन्मवल प्रवृत्ता करण—इसमें निम्न कारण प्रमुख हैं।

१. दौहृदयापचार—सूमर–तीतर मांस भक्षण (सु. शा. ३/७४) अद्विग्न एव भीत मनोविकार कहा है।

२. गर्भिणी आहार दोष (रस सेवन दोष)—यद्यपि माता की संताप स्मृतिदोष युक्त (च.शा. ८/५) होती है।

३. गर्भिणी-चर्या एवं विहार दोष—'कलिकलशीला को' अपस्मारी संतान जनक कहा है। (च. शा. ८/५)।

४. प्रसव दोष—कष्ट प्रसव फोरसेप डिलेवटी, प्रसव के समय वच्चा गिरने पर शिर पर चोट आदि।

(ग) वच्चों में प्राप्त जातोत्तर अपस्मार कारक कारण निम्न प्रकार हो सकते हैं।

१. शिरोमर्माभिघात—शिरोमर्माभिघातको अपस्मार कारक कहा गया है।

२. सहज शिरो (मस्तिष्क गत) विकार—न्युरोन गत अपस्मार उत्पादक विकृति।

३. असन्तुलित शिर विकास।

४. असन्तुलित आहार एवं चयापचय दोष।

५. बच्चों का भय, दुःख के परिवेश में लालन-पालन।

(प) अज्ञात कारण।

आयुर्वेदीय विवरण—बालापस्मार के संदर्भ में आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में वर्णित निम्न लिखित संदर्भ ध्यानाकर्षक है।

(१) सहसा बालक का अट्टहास करना अपस्मार का द्योतक माना गयाहै। यथा—

अकस्माद् दृहसनमपस्माराय कल्पते।

—का. स. २५/२०

(यह प्रायः १ वर्ष की वय के बच्चों में प्राप्त लक्षण प्रतीत होता है।)

(२) एक अन्य संदर्भ में बालापस्मार के निम्न लक्षणों को कहा गया है—

क—साध्य बालापस्मार लक्षण—लालास्राव, मस्त-विभ्रांत लोचन, स्तब्धाङ्ग, अचेतन्य।

ख—असाध्य लक्षण—बालापस्मार, श्वास, अति-वेपथु, शिरोर्ति, ज्वर, तन्द्रा एवं विचेतन्य यथा—

यस्य श्वासो विचेतन्यं तन्द्रा चातीव वेपथुः
शिरोऽर्तिः सज्वरश्चैव स सचाप्योभिपद्यतः
लालास्रुतिर्विचेतन्यं दृष्टविभ्रात लोचनम्
स्तब्धांग विकितिर्मस्य चापस्मारी स उच्यते।

(हा० सं० तृ० ५७/२२५-२६)

रोगविनिश्चय—अपस्मार का निर्णय निम्न आधार पर किया जाता है।

(१) रोगी, उसके सम्बन्धी के द्वारा सुनकर।

(२) स्वय वेग देखकर।

(३) मस्तिष्क की E. C. G., केटस्केनटेस्ट, क्ष-किरण आदि परीक्षाओं द्वारा।

लक्षण एवं स्वरूप—बालापस्मार के स्वरूप द्योतक लक्षणों को निम्नानुसार रखा जा सकता है। क्षुद्रापस्मार में यह मिलते हैं।

क— (१) बच्चे का क्षण भर को निश्चेतन होजाना और आगे की ओर झुक जाना।

(२) शरीर चेष्टायें बन्द हो जाना।

(३) चेहरा फीका पड़ जाना बाद में ठीक हो जाना क्षण भर को दृष्टि खाली सी हो जाना।

(४) सिर का कुछ क्षण के लिये चकराना, कुछ हो गया है ऐसा आभास होना।

(५) वेग दिन में कई बार भी आ सकते है।

(६) वेग के बाद कई मनोविकार देखे जाते हैं। यथा बच्चे का इधर-उधर घूमना, कपड़े उतारना कपड़े फाड़ना, किसी भी वस्तु उठा कर जेब में डाल लेना आदि। अनजाने में किसी को नुकसान पहुंचाना आदि।

ख—कुमारों में सामान्यापस्मार भी मिलता है और उसके लक्षण बड़ों में पाये जाने वाले अपस्मार के समान ही होते हैं। इसमें—

(१) स्तम्भावस्था के स्तब्ध (अकड़न) प्रधान लक्षण के सदृश सहसा गिर पड़ना, सकष्टश्वास, जिह्वाक्षत।

(२) आक्षेपावस्था के बहिर्जंघा आदि आक्षेप (झटकना) तथा श्वास में घुरघुराहट।

(३) शिथिलावस्था के मुख में थूक-झाग आना, भौचक्का हो जाग जाना, घटित घटना से अज्ञान।

(४) जाग्रत (प्रबुद्ध) होने पर शिरशूल, निद्रा आदि अनेक लक्षण हो सकते हैं।

चिकित्सा—

अपस्मारे तु बालस्य शीतलानि प्रयोजयेत्।
वचा सैंधवपिप्पल्यो तस्य हि गुडनागर॥
रसं चागस्तिपत्रस्य मरिचैः प्रतियोजिताम्।
एवं वेदा न शोकं स्यात्सदा चान्दोलनहिनम्।
मस्तकान्ते ललाटे न दद्यात्लौह ममाकया॥

—हा० सं० ३/५/२४-३०

इस उपरोक्त हारीत संदर्भ में बालापस्मार चिकित्सा की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है। इस तथा अपस्मार के अन्य विवरण के आधार पर इसकी चिकित्सा योजना को कुछ निम्नानुसार रखकर समझा जा सकता है—

(क) अचेतनावस्था की चिकित्सा—अपस्मार के वेग के समय प्रयुक्त उपक्रम निम्नानुसार है—

(१) शीतोपचार—शीत जल छिड़कादि।

(२) नस्य—[अ] वचा, सैंधव, पीपल, गुडनागर, अगस्त्यपत्र स्वरस, मरिच आदि का नस्य।

[ब] अन्य अवसन्नारोधक नस्य।

(३) अंजन–कायस्थाद्य-मुस्ताद्यवर्ति,पित्तांजन आदि
(४) धूपन–विविध धूपन।
(५) अभ्यङ्ग। उदवर्तन–सिद्ध तैलादि से पलेकपादि, वस्त्रमूत्रादि तैल तथा अपेतराक्षसाद्य, शिग्रुगोमूत्रादि उदवर्तन।
(६) आदोलित करना–हिलाना।

(ख) **औषध उपचार**—रोग मुक्ति के लिए निम्न औषधोपचार उपयोगी है—

(१) वचा, शंखपुष्पी, ब्राह्मी आदि मेध्य द्रव्य प्रयोग, सारस्वत एवं कल्याण एवं करंजचूर्ण आदि प्रयोग।
(२) गुडूची, शतावरी, रसोनादि के कल्प।
(३) रस-वटी–वातकुलान्तक रस, स्मृतिसागर रस अपतन्त्रकारी वटी, सर्पगन्धा घन वटी, इन्द्र ब्रह्म वटी, वृहद् ब्राह्मीवटी आदि।
(४) घृत–पंचगव्य, महापंचगव्य, वचादि, सिद्धार्थकाद्य घृत।
(५) छुद्रादि औषध धारण।
(६) वचा, शंखपुष्पी, ब्राह्मी आदि के रसायन प्रयोग रोग मुक्ति एवं अपुर्नभव के लिये।
(७) समाज एवं मनोविज्ञान द्वारा सत्वावजय उपचार।

(ग) **शल्य तन्त्रीय उपचार**—

[१] **सिरा व्यधन**–हनु संधिगत सिरावेधन।
—सु० उ० ६१/४२

[२] **अग्निकर्म**—निम्न स्थलों पर दग्ध कराया जा सकता है—

(१) मस्ताकांत, ललाट में दग्ध।
मस्तकान्ते ललाटे च दग्धैल्लोहशलाकया।
—हा० स० ३/५७/३७
(२) ललाट, भ्रूमध्य, मूर्धिन पर दग्ध।
ललाटे च भ्रूवोर्मध्येदहेद्वामूर्धिन मानवम्।
—हा० स० ३/११/५१
(३) ब्रह्मरंध्र, कोडी, पादकनिष्टिका पर दग्ध।
(४) भ्रू, शंख, पाद, कृकाट, मूलरंध्र पर दग्ध।
मृगीवाते भ्रूवो शंखौ च पारौ च कृकाटीमूल रंध्रयो। —यो० चि० ७/१७-७/२३१
(५) जिस अवयव से वेग प्रारम्भ होता है उसको ऊपर वांध दग्ध करें। —यु. चि. सा. पृ. ५७
(७) ब्रह्मरंध्र पर एक दग्ध —या. स्मृ. गृ. पृ, ११८ व्याधिनिग्रह पृ. २५२, २५८, अ. द. चि. सा. पृ. १५२, १७६, भै. स. चि. ८/२३, चि. त. प्र. ख. १६२।

[३] **मस्तिष्क में ट्यूमर**–अर्बुद होने की स्थिति में आज का चिकित्सा विज्ञान इसको शस्त्रकर्म द्वारा निकालते हैं।

(घ) **नाड़ी तन्त्रीय उपचार**—चेता तन्त्रीय नाड़ियों पर अवसादक एवं निद्राजनन प्रभावी औषधि की दृष्टि से—

(१) क्षुद्रापस्मार में पेरामेथाडिआन, वेंजीक्वीन आदि का प्रयोग।
(२) सामान्य अपस्मार (ग्राडमाल) प्रयुक्त गार्डीनल, प्रा 'मीडोन आदि का प्रयोग।

(इस प्रकार की औषधियां १-२ वर्ष प्रयोग कर शनैः-शनैः वन्द करनी होती हैं।)

अनागत वाधा प्रतिषेध—आयुर्वेद की दृष्टि से ही नही अपितु आधुनिक समुन्नत चिकित्सा विज्ञान की ओर से भी मानसिक रोगों को पैदा न होने देना ही उनकी समुचित चिकित्सा व्यवस्था है। इस दृष्टि से अनुत्पन्न मानसिक रोगो की तरह अपस्मार को उत्पन्न न होने देने के लिए निम्नलिखित योजना को प्रचारित एव प्रयुक्त किया जाना चाहिये—

(१) जिन परिवारो में अपस्मार का इतिवृत्त मिलता हो उनके वच्चों मे परस्पर शादी-व्याह न कराये।

(२) यदि किन्ही कारणो से अपस्मारी कुल के वच्चो में परस्पर या अन्य स्वस्थ परिवारों में शादी-व्याह करने आवश्यक हो वहा अपस्मारी कुलवृत्त युक्त स्त्री-पुरुषों (जिनका परस्पर विवाह किया जाता है) की विवाह पूर्व पंचकर्मीय चिकित्सापूर्वक कम से कम एक मास तक मेध्य रसायन सेवन कराया जाय।

(३) गर्भाधान पूर्व ऐसे युगलों के शुक्र एवं आर्तव की चिकित्सा शोधन शमन औषधों से करने के बाद ही संतानोत्पत्ति की अनुमति दी जाये। ✻✻

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में बाहुशोष, अंसशोष, अवबाहुक, विश्वाची आदि वातरोगों का उल्लेख मिलता है जिनमें लक्षणों की साम्यता रहने से भेद करना कठिन हो जाता है। यह रोग वाहु या भुजा से और उसके सन्धिस्थल के शोष या सूखने से सम्बन्धित होते हैं। अस्थियों के संधियुक्त भाग एक कला से आवृत होते हैं जिसे श्लेष्मधरा कला कहते हैं। इस कला से निकलने वाला एक चिकना स्राव होता है जिसे आयुर्वेदज्ञ क्लेदक कफ तथा आधुनिक विद्वान् मैंब्रेनस फ्लयुड कहते है। यह संधियों में स्नेहन का कार्य करता है। प्रकुपित वायु जब इस क्लेदक कफ को सुखा देती है तो संधियों के स्नायु भी सूखने लगते हैं। यह अवस्था किसी भी संधि में हो सकती है। लेकिन जब यह वाहु या भुजा की संधि में होती है तो वाहुशोष, अंसशोष, अवबाहुक नाम से जानी जाती है। आधुनिक चिकित्सक इसे ओस्टियो आर्थाइटिस ऑफ सोल्जर जौइन्ट (Osteo arthritis of Shoulder joint) कहते है। शोष शब्द के कारण इसे सन्धि का क्षय भी माना जाता है। पीड़ा, जडता तथा पेशी अस्थि सन्धि का क्षय सामान्य लक्षण होते है जो यक्ष्मा दण्डाणुओं के कारण चिरकारी सन्धि प्रदाह के फलस्वरूप होता है।

चिकित्सा की दृष्टि मे इसमें महावला तैल या प्रसारिणी तैल का अभ्यङ्ग कर पिण्ड स्वेद करना चाहिए। शमन चिकित्सा के रूप में बसन्तमालती रस, वातराक्षस रस, मुक्ता पञ्चामृत, वृ० वातचिन्तामणि, रसराज रस आदि वहुमूल्य योग रोग में विशेष लाभकारी रहते हैं। असगन्ध, उड़द की दाल का आटा १००-१०० ग्राम, रास्ना ५० ग्राम तथा कुचला १० ग्राम की रोटी वनाकर उस पर एरण्डतैल चुपडकर पीड़ित स्थान पर लगाने से विशेष लाभ होता है।

रोग के विषय में जवाहरलाल नेहरू चिकित्सालय एवं अनुसन्धान केन्द्र, भिलाई के पञ्चकर्म-वभाग के चिकित्साधिकारी डा. ओ. पी. तिवारी ने संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित लेख विशेषांक के लिए प्रस्तुत किया है जो रोग के विषय में पर्याप्त जानकारी पाठकों तक पहुंचा रहा है।

—गोपालशरण गर्ग।

स्वर्गीय वैद्यरत्नम पी० एस० वारियर आर्य वैद्य शाला, कोट्टाकल (केरल) के चिकित्सा संग्रह नामक पुस्तक के अनुसार ऐसे रोगों में आवर्तित क्षीरवला आदि वातहर तेलों से नस्य मुख्य दें। सिरोवस्ती और अभ्यंग भी जरूरी होता है। भोजन के वाद वातहर कषाय और तेलों का सेवन करना अच्छा है। आवर्तित तेलों को मल कर स्वेदन करना और धीरे-धीरे हाथ हिलाने की कोशिश करना चाहिए। स्वेदन में षस्टिकशाली पिंडस्वेद अधिक लाभकारी होता है।

विशेष चिकित्सा—मैने वहुत से बाहुशोष से पीड़ित रोगियों में वात नाशक औषधियों के साथ-साथ वृंहण चिकित्सा की है, उससे अच्छे परिणाम आये हैं। इसमें धन्वन्तरि तैल या क्षीरवला तेलो का शिरोअभ्यंग एवं नस्य साथ ही पेरिनथकेरियादि तेल से वाहु का अभ्यंग कर षष्टिकशाली पिंड (नवराकीडी) करने से वाहुशोष में अवश्य ही लाभ होता है। साथ में दोषानुसार औषधि सेवन करावें। औषधियों में क्षीरवला तेल १०१ आवृत्ति का १० बूंद को दूध के साथ सुवह-शाम पान करावें। साथ महारास्नादि-कषाय १०-१० ग्राम सुवह-शाम एवं योगराज चूर्ण २-२ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन प्रयोग अवश्यकरना चाहिए। सारांश में निम्नानुसार चिकित्सा करना चाहिए।

१. क्षीरवला तेल १०१, आवृत्ति का १० बूंद स्नेहपान के रूप में साथ ही वातहर एवं दोषानुसार औषधियों का प्रयोग।

३. षष्टिकशाली पिण्ड 'नवराकीड़ी' अवश्य करें।

२. क्षीरवला या धन्वन्तरि तेलों का अभ्यंग एवं नस्य।

विसर्प

डा० रवीन्द्रकुमार सिन्हा, डी. ए. आई. एम., (बी. एच. यू.) कुजापी, गया

●

रोग का नाम—विसर्प, परिसर्प, Erysipelas।

परिभाषा—विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः। अनेक प्रकार की गतियों से शरीर के सभी प्रदेशों में गमन करने से विसर्प कहलाता है।

सन्दर्भ सहित परिचय—चरक चिकित्सा के ११ वें अध्याय में विसर्प वर्णन मिलता है। सुश्रुत ने निदान स्थान १० तथा चि० स्थान १७ में इसका वर्णन किया है। माधव ने इसे दस प्रकार कहा है।

सर्वतः परिसर्पणादिति सर्वतः परिसर्पणात परि- विविधं सर्पणात विसर्पः। वि उपसर्ग सृप् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर विसर्प शब्द बनता है। विसर्प और वीसर्प दोनों शब्द शुद्ध हैं वमन के वेग को रोकने से इसकी उत्पत्ति होने का वर्णन चरक सूत्र स्थान ७ में किया गया है। यथा—

'कुष्ठहृल्लास वीसर्पपिडकादिनिपद्वजा गदाः।'

यह एक तीव्र सांसर्गिक रोग है जो गोलाणिक मालागोलाणुओं के उपसर्ग से होता है जिसमें चर्म शोथ के साथ ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं।

रोग की उत्पत्ति के कारण—आयुर्वेदीय कारण निम्न लिखित हैं—

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्।
शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम्॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च।
दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात्॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च॥
प्रक्लिन्नानाम सात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात्।
अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात्।
क्षतबन्धप्रपतनाद्धर्मकर्माति सेवनात्।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः॥
(च० चि० २१)

लवण, अम्ल, कटु एवं उष्ण रसों का अधिक सेवन करना, खट्टा दही, दही का पानी, सिरका, सुरा सौवीर विकृति मदिरा का अधिक सेवन करना, उष्ण वीर्य वाले राग-षाडव का अधिक सेवन करना, हरित शाक तथा विदाही अन्न का अधिक सेवन करना, कूर्चिका, किलाट, मन्दक का अधिक सेवन करना, शण्डाकी आदि सन्धान द्रव्यों का अधिक सेवन करना, तिल, उड़द, कुलथी, तिल का तैल, पिष्टक, ग्राम्य मांस, आनूप मांस, औदक मांस, लहसुन, सड़ी मछली तथा विरुद्ध आहार द्रव्यों का सदैव सेवन करना, अधिक भोजन करना, दिन में सोना, अजीर्ण होना, अध्यशन, चाकू आदि शस्त्रों से कट जाना, अङ्गों में आघात लग जाना, अंगों को रस्सी आदि से कसकर बाँधना, उच्च स्थान से गिर जाना, धूप आदि का अधिक सेवन करना, शारीरिक श्रम अधिक करना, विषैली वायु का सम्पर्क एवं अग्नि से जल जाने के कारण विसर्प होता है।

आधुनिक मत—इसका प्रधान हेतु गोलाणिक माला जीवाणु के से वर्ग की अनेक जातियाँ मानी गयी हैं। जब विसर्प में पूय और शोथ भी होता है

तब पूयजनक अन्य तृणाणु भी इसके साथ रहते रहते हैं।

त्वचा में खंरोच, क्षत, व्रण इत्यादि से गोलाणु भीतर प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। अतः व्रणी तथा शस्त्र कर्म किये हुये मनुष्य रजस्वला तथा प्रसूता, नालच्छेदन किए हुए तथा टीका लगाये हुये बालक के इससे पीड़ित होने की सम्भावना अधिक रहती है।

दो वर्ष की अवस्था तक बालक को, ४० वर्ष की अवस्था तक जवान को रोग अधिक होता है पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह रोग अधिक होता है। कर्तलक वृक्कशोथ, यकृत् शोथ, पानात्यय, मधुमेह, वातरक्त तथा अन्य दौर्बल्यजनक रोगों मे पीडित इससे अधिक उपसृष्ट होते हैं। अस्वस्थ स्थानों पर रहने वाले अधिक पीड़ित होते हैं। अपनी प्रकृति के कारण यह रोग अधिक होता है। आन्त्रिक, मसूरिका आदि रोगों में यह रोग होता है।

रोग के विशेष लक्षण—आयुर्वेदीय मत—आभ्यन्तर मार्ग में आश्रित विसर्प के लक्षण—मर्म स्थान में उपघात, सम्मोह, आभ्यन्तर मार्गों में विघट्टन, अधिक तृष्णा, मल-मूत्र और अपान वायु आदि दोनों का विषम रूप में निष्कासित होना, एवं जठराग्नि का शीघ्र नाश होना, आभ्यान्तर विसर्प के लक्षण हैं। ये लक्षण नहीं हों तथा सामान्य वात पित्त और कफज विसर्प के लक्षण हों तो बाह्य विसर्प कहलाते है।

वातज विसर्प का लक्षण—भ्रम, सम्पूर्ण शरीर में ताप, अधिक प्यास लगना, उदरशूल, अङ्गों में वेदना, अंगों में ऐंठन, शरीर में कम्प, ज्वर, तमक श्वास, कास, अस्थिसन्धिभेद, सन्धियों का ढीला हो जाना, वेपन, अरुचि, अन्न का पाक न होना, आंखों में व्याकुलता का अनुभव होना, नेत्र से अधिक आंसू निकलना, अंगों पर चीटियों का चलना अनुभव होना, जिस स्थान पर विसर्प होता है वहां का रंग श्याम और लाल हो जाता है। उस प्रदेश में शोथ, तोद, भेदनवत् पीडा, शूल, तनाव संकोच, रोमाञ्च, फड़फड़ाहट, आदि होते है। चिकित्सा नहीं करने पर शीघ्र फूटने वाली, अरुण एवं श्याम रंग की पीड़िकायें एकत्र हो जाती हैं। उनसे पतला, विशद, अरुण वर्ण का अल्प स्राव होता है। वात, मल-मूत्र रुककर निष्कासित होता है।

पैत्तिक विसर्प का लक्षण—ज्वर अधिक, पिपासा-मूर्च्छा, मोह, वमन, भोजन में अरुचि, अंगों में भेदनवत् पीडा, स्वेदाधिक्य, अन्तर्दाह, प्रलाप, शिरःशूल, नेत्रों में आकुलता, नींद नहीं आना, बेचैनी, चक्कर आना, ठण्डा वायु और जल की अधिक इच्छा होना, मल, मूत्र, नेत्र का वर्ण हरा या हल्दी के समान पीला होना, हरा या पीला प्रत्येक वस्तु को देखना, जहां पहला विसर्प होता है वह स्थान का वर्ण तांबा के समान लाल, हरा, हल्दी के समान पीला, नीला, काला या रक्त वर्ण में कोई एक वर्ण की उत्पत्ति होती है। वहाँ उठा हुआ, अधिक दाह, भेदन के समान पीड़ा से युक्त पीड़िकायें होती हैं। पीड़िकायें शीघ्र पक जाती हैं।

कफज विसर्प का लक्षण—शीत लगना, शीत लगकर ज्वर होना, शरीर में गुरुता, निद्रा, तन्द्रा, भोजन में अरुचि, मुख का स्वाद मीठा होना, मुख कफ लिप्त सा मालुम होना, बार-बार थूकने की प्रवृत्ति वमन, आलस्य, स्तैमित्य, अग्निमांद्य, दुर्बलता होना, जहां विसर्प होता है वहां शोथ होना, पाण्डु वर्ण का स्नेह होना, शून्यता, जकड़ाहट, गुरुता, अन्य वेदना, कठिनता से पकने वाला, बहुत दिनों तक रहने वाला, त्वचा मोटी होना, ऐसी अनेक पीड़िकायें उत्पन्न होती हैं। इसका वर्ण श्वेत और पाण्डु होता है। फूटने पर श्वेत, पिच्छिल, तन्तुमय, गाढा, बधा हुआ, चिकना स्राव निकलता है। इसके बाद गुरु, स्थिर, जल से युक्त, चिकनी, मोटी त्वचा तथा घने मल के लेप से युक्त व्रणों का अनुबन्ध उस स्थान पर बना रहता है और ये अनुबन्धी चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। रोगी का नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और मल श्वेत वर्ण के हो जाते हैं।

वात पित्त जन्य (अग्नि) विसर्प का लक्षण—इस रोग से पीड़ित रोगी समझता है कि शरीर के ऊपर अंगारे रख दिये हैं। रोगी, वमन, अतिसार, मूर्च्छा, दाह, मोह, ज्वर, तमक श्वास, भोजन में अरुचि,

अस्थियों के सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा, प्यास की अधिकता, अपचन, अंगों में भेदनवत् पीड़ा आदि उपद्रवों से ग्रसित रहता है । विसर्प जहां होता है वहां शान्त, कोयले के समान काला या रक्त वर्ण का होता है । आग के जलने पर जिस प्रकार के फफोले होते हैं उसी प्रकार अनेक फफोले उत्पन्न हो जाते हैं । यह द्वन्द्वज विसर्प शीघ्र फैलने वाला होता है । शीघ्र ही मर्म स्थान (हृदय) तक फैल जाता है । मर्म स्थान आक्रान्त होने पर बलवती वायु अङ्गों में काटने जैसी पीड़ा करती है और ज्ञान को नाश कर देती है । हिक्का और श्वास को उत्पन्न करता है । नींद नहीं आती है । नींद नहीं आने से रोगी ज्ञान हीन हो जाता है । मानसिक चिन्ता अधिक हो जाने से रोगी किसी स्थान पर सुख का अनुभव नहीं करता है । जिसके कारण रोगी कहीं आना जाना चाहता है । क्लेश अधिक होने से नींद नहीं आती है । रोगी दुर्बल होने के कारण शयन करने जाता है तो जागना कठिन हो जाता है । यह अग्नि विसर्प अचिकित्स्य होता है ।

कफ वात जन्य ग्रन्थि विसर्प का लक्षण—ग्रन्थि लाल, पीड़ा युक्त एवं ज्वर भी रहता है । इसके अतिरिक्त श्वास, कास, अतिसार, मुख का सूखना, हिक्की तथा विभ्रम लक्षण होते हैं । मूढ़ता, निर्बलता, मूर्च्छा, अङ्गों का टूटना, अग्निमांद्य भी होता है ।

आधुनिक मत—रोग का आक्रमण २-५ दिनों के संचय काल के पश्चात् एकाएक शीत देकर आता है । बच्चों में आक्षेप आते हैं । शीत के अतिरिक्त वमन, अग्निमांद्य, सिर में दर्द, शरीर में दर्द, बेचैनी आदि लक्षण मिलते हैं । कभी-कभी शिरःशूल अधिक बढ़ जाने पर मस्तिष्कावरणशोथ का सन्देह होने लगता है । कुछ घण्टों के बाद नाक एवं मस्तक पर छोटा सा रक्तवर्ण स्थान दिखाई देता है जो धीरे-धीरे चारों तरफ फैल जाता है । यह स्थान उभरा रहता है । यह चमकीला गर्म पीड़ा युक्त, दबाने पर दब जाता है । इसका प्रसार कठोर एवं मृदु के अनुसार तेज या मन्द होता है । किनारा मोटा उभरा हुआ, कड़ा फुन्सियों से युक्त होता है । इसमें मक्खिका पीत रङ्ग की होती है । तीन-चार दिनों में चेहरे पर शोथ होता है तथा कान बाहर की ओर निकल जाता है । आंखें बन्द रहती हैं । गर्दन की लस ग्रन्थियां, जीभ की लस ग्रन्थियां तथा लाला ग्रन्थियां शोथ युक्त हो जाती हैं । रोगी को निगलने में कठिनाई होती है । शोथ कम होने पर भूसी निकलती है । मुख का विसर्प गले के भीतर पहुंच कर कभी-कभी श्वासावरोध उत्पन्न कर देता है । जिन रोगियों की चिकित्सा नहीं होती है वे भी ४-५ दिनों में ठीक होने लगते हैं । विषमयता होने पर १०२-१०४° फ० तक ज्वर हो जाता है, जिह्वा मैली रहती है, मलावरोध तथा हृदय और नाड़ी की गति तेज हो जाती है । मूत्र कम होता है । एलब्युमिन भी मिलता है । ज्वर १०५ फ० होने पर प्रलाप, तन्द्रा, निद्रानाश आदि लक्षण होते हैं ।

सम्प्राप्ति तथा पैथालोजी—

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः ।
सर्वाङ्गसारिण मिहास्थितमात्मलिङ्गम् ॥
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशुशोफं ।
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥
सु० नि० स्थान—१०/३ ।

मिथ्या आहार और विहार से कुपित दोष त्वचा, लसिका, मांस और रक्त में जाकर सब अंगों में फैलने वाले, किसी एक स्थान पर स्थिर न रहने वाले, अपने-अपने वातादि दोषों के लक्षणों से युक्त, विस्तृत तथा अल्प उभार वाले शोथ को शीघ्र उत्पन्न करते हैं । सारे शरीर में शीघ्र फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं ।

इस रोग का प्रधान कारण Streptococus Erysipelas है जो कि क्षत द्वारा त्वचा में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करता है । इसे आघातज (Traumatic) विसर्प कहते हैं । क्षत के सूक्ष्म होने का ज्ञान नहीं होता है, होने से जो विसर्प होता है उसे [illegible] विसर्प कहते हैं । यह युवक, मनुष्य के रोग [illegible] और आन्त्रिक ज्वर के पश्चात् में होता है ।

जीवाणु त्वचा में प्रविष्ट होने पर बढ़ते हैं । ये [illegible] के लसवाहिनियों में जाकर बढ़ते और फैलकर इसका

और अनुत्वचा में फैलकर शोथ उत्पन्न करता है। शोथ के स्थान पर सूजन, लालिमा और दाह उत्पन्न होता है। चर्म और अधिचर्म के मिलन पर फफोले निकलते हैं। विकृत त्वचा का किनारा बिलकुल स्पष्ट और रेखाङ्कित होता है और इससे स्वस्थ त्वचा में जाने वाली कुछ लाल लकीरें दिखाई देती हैं। ये लकीरें शोथयुक्त लसवाहिनियों की होती हैं। तीव्र रोग में अनुत्वचा में विद्रधियां बनती हैं और त्वचा का नाश हो जाता है। विसर्प का शोथ चारों ओर फैलता जाता है और उस का मध्य का शोथ कम होता जाता है। किनारे से चारों ओर की लसवाहिनियों से ये धीरे-धीरे फैलते हैं परन्तु तत्स्थान सम्बन्धित लसग्रन्थियों के परे नहीं जा सकते हैं। उनका विष लस के साथ सम्पूर्ण शरीर में विषमयता पैदा करता है जिससे ज्वर आदि लक्षण होते हैं। बच्चों में तथा दुर्बल रोगियों में ये लसग्रन्थियों के प्रतिकार को तोड़कर रक्त में पहुंचते हैं जिससे दोषमयता होती है। इससे लसग्रन्थियां फूल जाती हैं। वृक्क, यकृत्, प्लीहा इत्यादि अंगों में अपजनन होता है और कभी-कभी घनास्र सिराशोथ, दोषिक अन्तःशल्यता, पूयमयता आदि विकृतियां होती हैं। रक्त में पोलिमोर्फ बढ़ जाता है। एक स्थान में बार-बार विसर्प का उपसर्ग होने से वह स्थान श्लीपद के समान मोटा हो जाता है।

इसमें दोष वात, पित्त और कफ होते हैं। दूष्य रक्त, लसीका, त्वक् एवं मांस ये सात होते हैं। अधिष्ठान सम्पूर्ण शरीर है।

विभेद—विसर्प सात प्रकार के होते हैं। यथा— (१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) संन्निपातज (५) वातपित्तज–आग्नेय विसर्प (६) वातकफज ग्रन्थि विसर्प और (७) पित्तकफज–कर्दम विसर्प। चरक ने क्षतज नहीं माना है किन्तु निदान में क्षत का उल्लेख किया है—अत्यादानाद्दिवास्वजाद जीर्णाध्यशनात् क्षतात्। चरक ने बाह्य और आभ्यन्तर मार्गाश्रित से दो भेद किये हैं।

आजकल अग्नि विसर्प को Erysiplas Visioulo Suon, ग्रन्थि विसर्प को Erysipelas pustulosum, कर्दम विसर्प को Cellulocurancous Ery Sepilas कहते हैं। चेहरे से आरम्भ होकर धीरे-धीरे नीचे शरीर में फैलने वाले विसर्प को सर्वसर–E. migrans कहते हैं। आवर्त्तक विसर्प (Recurring) में हाथ, पैर या मुख पर बार-बार होता है। बार-बार आक्रमण होने से त्वचा मोटी हो जाती है क्योंकि लसवाहिनियों में लस प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है जिसे हस्तिचर्म विसर्प Elephantiasis nostras कहते हैं। नवजात विसर्प में जन्म के बाद नालछेदन करने से विसर्प हो जाता है।

विभेदक निदान

कुष्ठ	विसर्प
(१) चिर क्रिया वाला स्थिर, प्रबल रक्तपित्त दोषजन्य।	(१) अधिर विसर्पण–शील, प्रबल रक्तपित्त दोषजन्य।
(२) गुरु की अवज्ञा, चोरी।	(२) इसमें नहीं है।
(३) त्रिदोषज होता है।	(३) श्रीकण्ठ आदि आचार्य इसे एक दोष से उत्पन्न मानते हैं।
(४) दूष्य–रक्त, लसीका त्वक एवं मांस।	(४) इसमें भी यही होता है।
(५) भेद–महाकुष्ठ सात एवं क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह मिलकर अठारह होते हैं।	(५) चरक अनुसार विसर्प सात होते हैं।
(६) कुष्ठ में बाह्य और आभ्यन्तर योग नहीं किया गया है।	(६) इसमें है।

विसर्प को ही परिसर्प कहते हैं जो अंग्रेजी में 'एरिसिपेलाज' (Erysepalas) के नाम से विख्यात है। यह बहुत ही तेज संक्रामक व्याधि है जो एक विशिष्ट प्रकार के मालागोलाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होती है जिसमें चर्मशोथ के साथ ज्वर आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। वैज्ञानिक प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि जब त्वचा में खरोंच, क्षत, व्रण, घाव आदि से श्रोणांतिक मालागोलाणु अन्दर प्रविष्ट करते हैं तो विसर्प व्याधि उत्पन्न होती है। यही कारण है कि त्वचा के छिन्न जाने, फट जाने, कट जाने या फोड़े-फुंसिया उत्पन्न हो व्रण हो जाने और शल्यकर्म किए मनुष्य के घाव, विशेष देर तक खुले रह जाने, रजस्वला स्त्री एवं प्रसूता स्त्री, नाल छेदन किए हुए और टीका लगवाये हुए शिशुओं को यह व्याधि विशेष रूप से आक्रान्त करती है। यह व्याधि दो वर्ष के वय वाले बच्चे से ४० वर्ष के प्रौढ़ को अधिक होती है। यह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक आक्रान्त करती है। आयुर्वेद में वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज (आग्नेय अर्थात् अग्नि सदृश लक्षण के कारण), वात कफज (ग्रन्थि विसर्प), पित्तकफज (कर्दम), सन्निपातज विसर्प को आचार्य चरक ने बाह्य एवं आभ्यन्तर मार्गाश्रित दो भेदों में रखा है। मर्मस्थान में चोट लगना, सम्मोह, आभ्यन्तर मार्गों में विघट्टन, अधिक प्यास, मल-मूत्र एवं अपान वायु आदि वेगों का विषम रूप में निकलना तथा जठराग्नि का शीघ्र नाश होना आदि लक्षण हों तो आभ्यन्तरिक तथा यदि उपर्युक्त लक्षण न होकर साधारण वात, पित्त एवं कफज विसर्प के लक्षण हों तो बाह्य विसर्प कहलाते हैं। उन्होंने क्षतज विसर्प नहीं माना है किन्तु निदान में क्षत का उल्लेख किया है। इस व्याधि में रक्त, लसीका, चर्म एवं मांस दूष्य होते हैं।

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित दोष—चर्म, लसीका, मांस तथा रक्त में प्रविष्ट होकर समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में फैलने वाले, किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहने वाले निजी वातादि दोषों के लक्षणों से युक्त, विस्तृत एव थोड़े से उभार वाले शोथ को तुरन्त उत्पन्न करते हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रवेत्ता के कथनानुसार जब 'स्ट्रेप्टोकोकस एरिसिपेलाज' नामक जीवाणु त्वचा में क्षतादि द्वारा प्रविष्ट होकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं तो वे वहां के लसवाहिनियों में जाकर चतुर्दिक प्रसारित होकर त्वचा और अणुत्वचा में फैलकर शोथ, लालिमा, दाह उत्पन्न करते हैं। विकृत त्वचा का किनारा पूर्ण स्पष्ट एवं रेखाङ्कित होता है तथा त्वचा और अधित्वचा के संगम पर फफोले निकल जाते हैं। स्वस्थ चर्म में गमन करने वाली लाल रेखायें दृष्टिगोचर होती हैं जो शोथमय लसवाहिनियों की होती है। तीव्र व्याधि में अनुचर्म में फोड़े का निर्माण होता है तथा चर्म का नाश होकर मध्यमार्गीय शोथ, न्यून होता जाता है। विष लस के साथ सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित होकर विषमयता से ज्वर, दाह आदि कुष्ठ उत्पन्न कर देता है। फुंसियों के तरल का प्रलेप कांच पट्टिका पर निर्माण कर-मेथिलीन ब्लू से रंगकर सूक्ष्मदर्शी यन्त्र में देखकर लम्बे मालाकार नीले या बैंगनी रंग के गोलाणुओं को पहचाना जा सकता है।

इस व्याधि की चिकित्सा में आयुर्वेद में उपवास कर रूक्ष द्रव्यों का सेवन, दोषानुसार वमन, विरेचन, परिषेक और रक्तमोक्षण कर अविदाही द्रव्यों का सेवन, द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज प्रकार में कुष्ठ व्याधि प्रकरण में वर्णित घृत, चूर्ण, कषाय, रसायन आदि का सेवन तथा विशिष्ट चिकित्सा के रूप में रास्नादि लेप, कालो-दित लेप, प्रलेपोदरिक लेप, शतधौत घृत लेप, दशांग लेप आदि बाह्य प्रयोगार्थ; अमृतादि कषाय, भूनिम्बादि कषाय, महामञ्जिष्ठादि कषाय पीने के लिए तथा महातिक्त घृत, कांचनार गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, रसमाणिक्य खाने के लिये और खदिरारिष्ट, सारिवाद्यारिष्ट समभाग जल मिला भोजन के बाद पिलाने के लिए प्रयुक्त किया जाना उत्तम लाभ प्राप्त कराता है।

कुर्हानी, जिला गया के निवासी डा० रवीन्द्रकुमार मिश्र जैसे नाम के धनी हैं वैसे वाणी के भी हैं। इनके लेख आयुर्वेद की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं यथा 'रोगी परीक्षा एवं निदान' नामक सुधानिधि के नई बहु विशेषांकों के विशेष सम्पादक के रूप में ये सम्मान पा चुके हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक तो नहीं स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त नामक प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ हैं। 'विसर्प' शीर्षक से प्रस्तुत लेख इनकी विद्वता, अध्ययनशीलता एवं कर्मठता का परिचायक है जो पठनीय, ज्ञानवर्धक एवं उप-योगी है।

—महेश्वरप्रसाद

आधुनिक परीक्षा विधि—किनारे के पास जो फुन्सियां होती हैं उनके द्रव में मालागोलाणु शुद्ध संवर्द्ध में उपस्थित रहते हैं। यदि उस द्रव का प्रलेप कांच की पटरी पर बनाकर मैथिलीन ब्ल्यु में रंग कर देखा जाय तो लम्बे मालाकार नीले या बैंगनी रंग के गोलाणु दिखाई देंगे। इसे संवर्द्ध (Culture) के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है।

रोग की चिकित्सा के सिद्धान्त—

पूर्वमेव विसर्पेषु कुर्याल्लंघन रूक्षणे।
विरेचवमनालेपसेचनासृग्विमोक्षणैं ॥
उपचरेद्यथादोषं विसर्पान विदाहिभिः।
—यो० र०

त्रिदोषघ्नीं क्रिया कुर्याद् विसर्पे द्वन्द्व सम्भवे।
रसायनानि कुष्ठेषु सर्पींषि क्वथितानि च।
चूर्णादीन्यपि सर्वाणि विसर्पेष्वपि तान्यलम् ॥
—यो० र०

इस रोग में सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिये। रूक्ष पदार्थ का सेवन कराना चाहिये। दोषानुसार वमन, विरेचन, परिषेक और रक्तमोक्षण कर अविदाही पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज विसर्प में कुष्ठरोक्त समस्त घृत, चूर्ण, क्वाथ रस योग आदि तथा रसायन औषधियां देनी चाहिये। वाग्भट ने स्नेहन करना अहितकर बतलाया है।

रोग की शास्त्रीय चिकित्सा—

लेप—रास्नादि लेप (यो० र०) वातज विसर्प में कसर्वादि लेप (भै० र०) तथा प्रपौण्डरिक लेप पैत्तिक विसर्प में।

आरग्वधादि लेप (भै० र०)—कफज विसर्प में त्रिफलादि (यो० र०) तथा दशांग लेप सभी विसर्प में, शतधौत घृत लेप, मांस्यादि लेप (यो० र०) पञ्चत्वगादि लेप (यो० र०) न्यग्रोधयादादि लेप (यो० र०], शिरीष त्वगादि लेप (यो. र.)।

क्वाथ—अमृतादि क्वाथ (भै. र.), भूनिम्बादि क्वाथ (भै. र.), लघुपञ्चमूलादि क्वाथ (यो. र.), पटोलादि क्वाथ (यो. र.), गुडूच्यादि क्वाथ (यो. र.) इरलमादि क्वाथ, मुस्तादि क्वाथ, लघुमंजिष्ठा क्वाथ (यो, र.), वृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ (यो. र.) १५ मि० लि० प्रातः-सायं पीना चाहिये।

घृत—वृषादि घृत, दूर्वादि घृत (यो. र.), तिक्तक घृत (भै. र.), सोमराजी घृत (भै, र.) १ तोला, प्रतिदिन प्रातः-सायं खाना चाहिये।

कांचनार गुग्गुल, कैशोर गुग्गुल (भै, र.) प्रातः-सायं १ गोली देनी चाहिये।

माणिक्य रस (भै. र.), रसमाणिक्य, तालकेशर, कालाग्नि रूद्र रस १२५ मि. ग्रा. दो वार ५० ग्राम पीपर चूर्ण मधु के साथ मिलाकर देना चाहिये।

अरिष्ट—खदिरारिष्ट, सारिवाद्यारिष्ट १५ मि. लि. सम जल से भोजनोपरान्त दो बार देना चाहिये।

तैल—करञ्जादि तैल तथा शिलाजित्वादि तैल को लगाना चाहिए।

रोग में होने वाले उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा—

वमन—वदर पाषाण चूर्ण २५० मि. ग्रा. मधु से ३-४ वार देना चाहिये। छर्दिरिपु १ गोली मधु से ४ वार देनी चाहिये। मलावरोध होने पर त्रिफला चूर्ण, पंचसकार चूर्ण देना चाहिये।

अन्य शोथ—जीवाणु नाशक आधुनिक औषधों को देने से शमन हो जाता है। आयुर्वेद में कज्जली का प्रयोग जीवाणु नाशन के लिये करना चाहिए। इसमें सफलता मिलती है।

रोग की साध्यासाध्यता—वातज, पित्तज और कफज विसर्प साध्य होते हैं। सन्निपातज, विसर्प और वातज असाध्य होते हैं। अंजन के समान काला रोगी असाध्य होता है। मर्म स्थानों के विसर्प कृच्छसाध्य होते हैं।

रोग में प्रमुख शास्त्रीय एवं अनुभूत औषधियां-यहां तिक्त घृत, पंचतिक्त घृत, अमृतादि क्वाथ, मंजिष्टादि क्वाथ, महामंजिष्टादि क्वाथ, आरोग्यवर्धनी, कैशोर गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु, रसमाणिक्य, कालाग्निरुद्र रस, दशांग चूर्ण, शतधौत घृत आदि।

रोग पर चिकित्साकालीन अनुभव—विसर्प में आरोग्यवर्धनी, कैशोर गग्गुलु अच्छा काम करता

है। शिलाजित्वादि तैल लगाकर उस पर दशांग चूर्ण का छिड़काव कर देने से व्रण ठीक होने लगते हैं। शिलाजित्वादि तैल से मक्खियां तङ्ग नहीं करती हैं। साथ ही आधुनिक जीवाणु नाशक पेन्सिलीन आदि का इन्जेक्शन देने से रोगी को आराम होता है और कोई उपद्रव भी नहीं होता है।

विविध चिकित्सा प्रणालियों द्वारा उक्त रोग के परिहार हेतु व्यवस्थाओं तथा चिकित्सा का परिज्ञान—रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। रोग जिस अंग में हो उसे हिलाना नहीं चाहिए। मुख प्रभित होने पर आवश्यकतानुसार ही बोलना चाहिये। सुपाच्य भोजन देना चाहिए। पेन्सिलीन का इन्जेक्शन देना चाहिये। एम्पीसिलीन ५०० मि० ग्रा० प्रातः-सायं देना चाहिये। टेट्रासाइक्लीन सल्फा ड्रग भी दिया जाता है। उपद्रव इन सब औषधियों से शान्त हो जाते हैं।

इसमें प्राकृतिक चिकित्सा भी की जाती है। उपवास करते समय फलों का रस आदि देना चाहिये। ज्वर रहने पर उपवास कराना चाहिये। गर्म जल का व्यवहार करना चाहिये। उपवास के एक सप्ताह तक फलाहार करना चाहिये। धीरे-धीरे सुपाच्य आहार देना चाहिये। आक्रान्त स्थान पर गीली मिट्टी का लेप लगाना चाहिये। ज्वर समाप्त होने पर गर्म जल से स्नान कराना चाहिये। तौलिया से अंगों को रगड़ कर पोंछना चाहिये। मलावरोध नहीं होना चाहिये इसके लिये वैसा ही भोजन करना चाहिये।

स्थानीय चिकित्सा—व्रणों पर सोफरामाइसीन मलहम लगानी चाहिये।

पथ्य व्यवस्था—पुराना जौ, गेहूं, शालि चावल, साठी चावल, मूंग, मसूर, चना, अरहर, जंगली जीवों का मांस रस, मक्खन, गोघृत, गोदुग्ध, करेला, लौकी, परवल, आंवला, कत्था, अनार, अंगूर, मुनक्का, अंजीर, अविदाही, रक्तशोधक एवं तिक्त पदार्थ।

अपथ्य—विरुद्ध भोजन, गुरु अन्नपान, कुलथी, तिल, विदाही, अम्ल, कटु रस वाले पदार्थ, लवण, पत्तों का शाक, गर्म मसाला, दही, पनीर, कांजी, सिरका, मद्य, खोवा, छेना, आनूप और जलज जीवों का मांस, स्वेदन, धूप सेवन, परिश्रम, दिन में सोना, मैथुन, तेज वायु का सेवन, क्रोध, शोर, वमन का वेग रोकना इत्यादि।

शिलाजित्वादि तैल का निर्माण—निम्ब पत्र २० तोले, सिन्दुआर पत्र १५ तोले, त्रिफला ५ तोले को ५ सेर पानी में भिगोकर क्वाथ कर लें। अवशेष सवा किलो जब रहे तब एक किलो तिल तैल में डालकर पका लें। पकाते समय शिला रस ५ तो०, सफेद धूना चूर्ण ५ तो०, गुग्गुलु ५ तो०, मोम ५ तो०, गन्धविरोजा ५ तोला लेकर तैल पका लें। धूना चूर्ण तैयार होने पर देना चाहिये, क्योंकि पहले देने से उफान अधिक आता है। तैल को छान कर रख लें। ५ तोले कपूर को कार्बोलिक एसिड में घुला लें। इसे तैयार तेल में डालकर बोतल में रख लें। यह सभी तरह के व्रण, जले हुये पर, फोड़े, फुन्सी सभी में भी काम करता है।

~~~~~~~~~~~~~~~~

बुद्धिभ्रंश

डा० विजयशंकर पाण्डेय, एम. डी. (आयु०), राज० आयु० कालेज, पपरोला (कांगड़ा)

पर्याय, परिभाषा व ससन्दर्भ परिचय—बुद्धिभ्रंश, अतत्वाभिनिवेश, महागद, ब्रह्ममोह, गद्वोद्वेग, व अपदार्थ-गद ये परस्पर एक दूसरे के पर्याय हैं। बुद्धि एवं भ्रंश के संयोग से 'बुद्धिभ्रंश' शब्द का निर्माण हुआ है। संस्कृत व्याकरणानुसार बुध् से क्तिन् प्रत्यय के मिलने से बुद्धि शब्द बना है। बुध् धातु ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिये ही 'बुध्यते ज्ञायते वा अनयेति बुद्धि' यह निरूक्ति दी गयी है। यानि जिसके द्वारा बोध या ज्ञान लाया जाता है या कराया जाता है, वह बुद्धि है। अमरकोष तथा चरक संहिता में बुद्धि के लिये धी व प्रज्ञा शब्द भी प्रयुक्त है। निष्कर्षतः शरीरस्थ मन से सम्बन्धित वह तत्व या शक्ति जिसके द्वारा किसी वस्तु या तथ्य के बारे में आवश्यक बोध या ज्ञान प्राप्त होता है एवं जिसकी सहायता से तर्क-वितर्क पूर्वक सभी प्रकार के अन्तर सम्बन्ध आदि समझ में आते हैं, वह बुद्धि है।

दार्शनिक दृष्टि से यह मन से भिन्न तत्व है या शक्ति है। यह व्यवसायात्मक बुद्धि अन्तःकरण की चार वृत्तियों में से एक वृत्ति है। 'बुद्धिज्ञानमनेन च स्मृति चेतना धृतिः अहंकारादीनां बुद्धि विशेषाणां ग्रहणां' चक्रपाणि दत्त के इस कथन के बावजूद भी बुद्धि (धी), धृति, स्मृति आदि को एक दूसरे से पृथक्-पृथक मानना ही उपयुक्त है क्योंकि चरक ने इनके पृथक्-पृथक लक्षणों का भी वर्णन किया है। धी का कार्य यथा शीघ्र वस्तु के यथार्थ रूप को समझना तथा हित-अहित, उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय आदि का निर्णय करना है। भ्रंश होने पर इन स्वाभाविक कार्यों का नाश हो जाता है।

भ्रश् धातु से घञ् प्रत्यय जोड़ने पर 'भ्रंश' शब्द बना है, जिसका शब्द कोषों में मुख्यतः ३ अर्थों में प्राप्त होता है (१) अधः पतन या स्थानच्युति, (२) ध्वंस यानि नाश, एवं (३) खण्डित या विकृत होना।

सारांशतः किसी वस्तु स्थिति आदि के यथार्थ-स्वरूप का ज्ञान कराने वाली निश्चयात्मक बुद्धि नामक क्षमता या शक्ति का विकृत होना या नष्ट होना बुद्धि-भ्रंश है।

'बुद्धि भ्रंश' नाम से किसी स्वतन्त्र रोग का वर्णन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। प्रायः इसका वर्णन विभिन्न मानसिक रोगों के लक्षण या कारण रूप में प्राप्त होता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में क्रमशः सर्वाधिक प्रसिद्ध मानस रोग 'उन्माद व अपस्मार' है, जो मानस रोगों का सामान्यतः प्रतिनिधित्व भी करते हैं। दोनों में कुछ न कुछ सीमा तक बुद्धि-भ्रंश अवश्य पाया जाता है। श्रीमद्भागवद् गीता के अनुसार भी स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश होता है। तथा व्यवहारिक रूपेण भी स्मृतिभ्रंश प्रधान 'अपस्मार' में बार-बार स्मृति भ्रंश होते रहने से अन्ततः बुद्धिभ्रंश भी हो जाता है। मुख्यतः धृतिभ्रंश प्रधान रोग 'उन्माद में 'मन बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, स्मृति, भक्ति, शील, चेष्टा और आचार विभ्रम हो जाता है। किन्तु इस आधार पर उन्माद को बुद्धिभ्रंश नामक रोग मानना यथोचित नहीं है क्योंकि इसमें बुद्धिभ्रंश

५. असात्म्य विषयों का सेवन–हितकर, अहितकर समझ न पाने के कारण व्यक्ति असात्म्य वस्तुओं का सेवन करने लगता है।

आधुनिक मतानुसार बुद्धि के न्यून (अल्प) हो जाने से बुद्धि की ग्रहण करने की क्षमता, निर्णय लेने की तथा एकाग्रता की क्षमता समाप्त हो जाती है। साथ ही स्वभाव व शक्ति परिवर्तन व विषाद के लक्षण भी मिलते हैं।

रोग विनिश्चय में सहायक आयुर्वेदीय व आधुनिक परीक्षा विधियां—अतीन्द्रिय होने से मन का तथा उसमे सम्बन्धित विषयों का ज्ञान अनुमान द्वारा ही सम्भव है। फलस्वरूप उसकी विकृतियों का ज्ञान भी अनुमान द्वारा ही सम्भव है। यह भी एक मानसिक विकृति है, जिसका ज्ञान हम आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष व प्रश्न की सहायता से मुख्यतः अनुमान द्वारा करते हैं। विशेषतः इस रोग का नैदानिक परीक्षण निम्नलिखित आधारों पर सम्भव है।

१. यथार्थ प्रवृत्ति यानी निश्चयात्मक ज्ञान से विज्ञान (बुद्धि) की परीक्षा होती है।

२. भ्रम की रहितता (अभाव) से अवसान (बुद्धि) की परीक्षा सम्भव है।

३. ग्रहण शक्ति यानि ग्रन्थादि वचनों को शीघ्र समझ लेने या याद करने से मेधा की परीक्षा करनी चाहिए।

इन तीन आधारों पर परीक्षा करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि वास्तव में बुद्धि भ्रंश है कि नहीं! उदाहरण स्वरूप यदि कोई व्यक्ति यथार्थ रूप से निश्चयात्मक ज्ञान नहीं प्राप्त कर रहा है, भ्रम पूर्ण स्थिति है तथा किसी सामान्य ग्रन्थादि के वचनों को समझने या याद करने में असमर्थ है तो निश्चय ही उस व्यक्ति की बुद्धिभ्रंश है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि लब्धि परीक्षा तथा मनोविश्लेषण परीक्षा द्वारा इसकी परीक्षा की जाती है।

१. बुद्धिलब्धि परीक्षा(I. Q Test)–जिस व्यक्ति की बुद्धि लब्धि ७० से कम है, उसमें बुद्धिभ्रंश माना जा सकता है। लीगवर्ध के अनुसार ७० या उससे कम बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति की बुद्धि दुर्बल होती है।

२. मनोविश्लेषण पद्धति (Psychoanalysis)—के अन्तर्गत आने वाले निम्नांकित तीन प्रणालियों के आधार पर रोगी द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण प्राप्त कर हम निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(१) मुक्त साहचर्य (Free Assciation)—में रुग्ण को उन्मुक्त रूपेण अपने विचारों, आशाओं, अनुभवों व कठिनाइयों आदि के बारे में बोलने के लिये कहा जाता है तथा उसे आगे-आगे बोलने के लिये उकसाया जाता है।

(२) स्वप्न विश्लेषण—रुग्णा द्वारा देखे जाने वाले स्वप्नों को ज्ञात कर के उसका विश्लेपण किया जाता है।

(३) सम्मोहन विश्लेषण–में सम्मोहन की दशा में विभिन्न संकेतों द्वारा रोगी के दमित अनुभवों का पुनः स्मरण कराया जाता है एवं उसे उस सम्बन्ध में मुक्तसाहचर्य के रूप में बोलने के लिये कहा जाता है।

साध्यासाध्यता—यह रोग सुखसाध्य तो किसी भी स्थिति में नहीं है, किन्तु रोग की आरम्भिक अवस्था में कष्ट साध्य है तथा उपेक्षा करने से शीघ्र ही असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा सिद्धान्त—

(१) स्नेहन स्वेदनोपरान्त वमन, विरेचन, वस्ति और शिरोविरेचन द्वारा शरीर शुद्धि करते हुए संसर्जन क्रमोपरान्त मेध्य औषध रसायन व आहार का प्रयोग करने से रोग ठीक होता है।

(२) चित्त प्रसादक उपदेश, वार्तालापादि द्वारा तथा आचार-रसायन का पालन कराकर ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति व समाधि सम्पन्न करे। (इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आधुनिक मनोविश्लेषण चिकित्सा भी की जा सकती है।)

(३) दीपन, पाचन, वातानुलोमक तथा नातिकफवर्धक औषधि तथा हृद्य, स्निग्ध, सुपाच्य व बृंहण अन्नपान देना चाहिए।

(४) वातव्याधि, उन्माद व अपस्मारोक्त चिकित्सा औषध योगों का प्रयोग कर सकते है।

किसी पदार्थ या स्थिति आदि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने वाली निश्चयात्मक विवेक, शक्ति या क्षमता के विकृत होने, अधःपतित होने, स्थान-च्युति/या नष्ट होने की क्रिया को बुद्धिभ्रंश कहते हैं। विभिन्न आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसका वर्णन एक स्वतन्त्र रोग के रूप में नहीं होकर विभिन्न मानसिक व्याधियों के लक्षण या कारण रूप में उपलब्ध होता है। सर्वाधिक विख्यात उन्माद और अपस्मार व्याधि जो प्रायः मानस व्याधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, में अल्प सीमा तक बुद्धिभ्रंश अवश्यमेव पाया जाता है।

पाश्चात्य चिकित्सा वैज्ञानिकों ने बुद्धिभ्रंश को स्वतन्त्र व्याधि नहीं वरन् मानसिक व्याधियों का एक लक्षण माना है तथा बुद्धि के क्षीण हो जाने से बुद्धि की ग्रहण करने की शक्ति, निर्णय लेने की सामर्थ्य और एकाग्रता नष्ट हो जाने से स्वभाव और शील में परिवर्तन तथा विषाद की अभिव्यक्ति ही बुद्धिभ्रंश उत्पन्न होता है—ऐसा समझते हैं।

आयुर्वेद में इसकी परीक्षा आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं प्रश्न की सहायता से मुख्यतः अनुमान द्वारा की जाती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं परा मनोवैज्ञानिक बुद्धि लब्धि परीक्षा द्वारा और मनोविश्लेषण पद्धति के मुक्त साहचर्य, स्वप्नविश्लेषण, सम्मोहन विश्लेषण—इन तीन विशिष्ट प्रणालियों द्वारा इसकी जांच करते हैं।

बुद्धिभ्रंश प्रारम्भ की अवस्था में कष्टसाध्य किन्तु उपेक्षा कर यथोचित चिकित्सा नहीं करने पर शीघ्र ही असाध्य रूप धारण कर लेता है। इसकी चिकित्सा स्नेहन, स्वेदन के बाद वमन-विरेचन, वस्ति एवं शिरोविरेचन द्वारा काया की शुद्धि करके संसर्जन करते हैं और फिर मेध्य औषधि, रसायन और पथ्य-निषेधादि का सेवन करके करते हैं। इतना ही नहीं मन को प्रसन्न करने वाले उपदेश, वार्तालाप, कथा-कहानी सुनाकर तथा आचार रसायन (सुन्दर और सत्यशील, स्वभाव एवं आचरण बनाकर) का पालन कराकर धैर्य, स्मृति एवं समाधि की क्रिया सम्पादित कराते हैं।

विशिष्ट चिकित्सा में ब्राह्म घृत, पंचगव्य घृत, ब्राह्मीपत्र या शंखपुष्पी पत्र स्वरस एवं गोदुग्ध, रसोन कल्प, तिल तैल के साथ शतावर कल्क, गोदुग्ध से, वचाचूर्ण मधु से एवं मीठा कूठ स्वरस या क्वाथ मधु से दें। इसके अतिरिक्त क्षीरकल्याण घृत, शिवा घृत, कूष्माण्ड घृत, वचा घृत, पावनादि चूर्ण, योगेन्द्र रस, स्मृतिसागर रस, सारस्वतारिष्ट आदि विधि विधान से मौखिक सेवन करायें तथा [illegible] तैल, हिमांशु तैल, शतधौत घृत, पुरातन घृत (१० वर्ष से अधिक पुराने घी) आदि में से किसी एक की सिर पर मालिश तथा नारायण तैल का समस्त शरीर पर अभ्यंग करावें। मांसाहारी को तित्तिर [illegible] सिद्ध मांस सेवन कराकर निर्वात घर में सुखपूर्वक शयन कराना भी लाभप्रद है। पथ्य में केवल दूध, भात (उबाला चावल) देवें तथा आश्वासन, स्मरण, विस्मरण, आश्चर्य, कर्म, दान, प्रणाम, बन्धन, भय, तर्जन, ताड़ना, हर्ष, विस्मय, धी, धैर्य, अभ्यंग, स्नान, निद्रा, सुशीतल, अनुलेप आदि विहार करावें।

राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, पपरोला, कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) के प्रो० [illegible] पाण्डेय जी कलम के धनी और विलक्षण आयुर्वेदज्ञ हैं। इनकी भाषा स्वच्छ और पारदर्शी है। इनके ग्रन्थ सरल, ज्ञानगम्भीर गरिमा से पूर्ण और सुबोध हैं। इनकी [illegible] उसका [illegible] करती है। [illegible] पाण्डेय जी 'विद्या ददाति विनयम्' के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत यह 'बुद्धिभ्रंश' शोध ग्रन्थ, उपयोगी एवं पठनीय है।

—आचार्य महेन्द्रप्रसाद "[illegible]"।

उपरोक्त चिकित्सा सिद्धान्तों के आधार पर निम्नां कित चिकित्सा-क्रम अपना सकते हैं—

१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. वमन, ४. विरेचन, ५. वस्ति, ६. शिरोविरेचन (नस्य), ७. संसर्जन क्रम, ८. मेध्य औषध, ९. मेध्य रसायन, १०. मेध्य आहार, ११. दीपन पाचन औषध, १२. वातानुलोमक किन्तु नातिकफवर्धक औषध, १३. हृद्यस्निग्ध, सुपाच्य व बृंहण आहार १४. ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि सम्पनार्थ चित्तप्रसादक उपदेश, १५. ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि सम्पन्नार्थ चित्तप्रसादक वार्तालाप, १६. ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि सम्पनार्थ चित्त प्रसादक व्यवसाय, १७. ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि सम्पन्नार्थ चित्तप्रसादक मनोरंजन, १८. ज्ञान-विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि सम्पन्नार्थ चित्तप्रसादक प्राणायाम, १९. वातव्याधि प्रकरणोक्त चिकित्सा, २०. अपस्मारोक्त व उन्माद चिकित्सा—

(१) तीक्ष्ण, वमन, विरेचन, नस्यादि व तीक्ष्ण अंजन द्वारा शोधन।

(२) मन, बुद्धि व शरीर में उद्वेगोत्पादक कार्य, यथा—ताड़न, तर्जन, त्रास, दान, हर्षण, सांत्वन, भय, विस्मापन (आश्चर्य आदि उत्पन्न करना) इसके अन्तर्गत आधुनिक भौतिक चिकित्सा व इलैक्ट्रिकथिरैपी भी आ सकती है।

(३) काम, शोक, भय, क्रोध, अतिहर्ष, ईर्ष्या, द्वेष तथा लोभ के कारण उत्पन्न विकृति में परस्पर प्रतिद्वन्द्वी भावों को उत्पन्न कर शान्त करनी चाहिए।

(४) उन्माद व अपस्मार अधिकारोक्त औषध योग व पथ्यापथ्य का पालन करना चाहिए।

शास्त्रीय चिकित्सा—

(१) सर्वप्रथम स्नेहन करना चाहिये क्योंकि शोधनार्थ तो स्नेहन आवश्यक है ही, साथ ही इस रोग में प्रायः वात प्रकोप रहता है और स्नेहन वात की उत्तम चिकित्सा है। गाय, भैंस या बकरी का घृत या इनके अभाव में तिल या एरण्ड तैल का पान अभ्यङ्ग आदि के रूप में प्रयोग करे।

(२) सम्यक् स्नेहन के बाद विभिन्न विधियों द्वारा स्वेदन करें यानि शरीर में स्वेद उत्पन्न करें।

(३) शरीर का अच्छे ढंग से स्नेहन और स्वेदन हो जाने के बाद वमन, विरेचन व वस्ति द्वारा शरीर का संशोधन करके तथा यथावश्यक ससर्जन का पालन करके शरीर को सामान्य अवस्था में लाना चाहिये। इससे रोगियों में प्रायः उदरस्थ वायु प्रतिलोम हो जाती है। अतः वस्ति अत्युपयोगी है। शिरस्थ दोषों को बाहर निकालने के लिए शिरोविरेचन नस्य अत्युत्तम है। नस्य और प्रधमन के रूप में सूखे द्रव्यों का चूर्ण तथा नावन के लिये तरल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिए कटफल चूर्ण, श्वासकुठार रस, अणुतैल या षट्बिन्दु तैल का प्रयोग उपयुक्त है।

(४) ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मुलहठी, गिलोय, जटामांसी, कुष्माण्ड (सफेद पेठा) आदि मेध्य औषध द्रव्यों तथा इनसे निर्मित योगो का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही शतावरी, अश्वगन्धा आदि बल्य बृंहण औषध तथा हर्र, यवानी आदि दीपन पाचन औषध भी दें।

चरकसंहिता में इसकी अधः अंकित औषधियां बताई गई है—

(अ) ब्राह्मघृत या पंचगव्य घृत ब्राह्मी या शंखपुष्पी स्वरस से रोग-रोगी के बलानुसार यथोचित मात्रा में देना चाहिए।

(ब) ब्राह्मीस्वरस या शंखपुष्पी स्वरस दूध से दें।

(स) रसोन कल्क तिल तैल से दें।

(द) शतावर कल्क दूध से दें।

(य) वचा चूर्ण मधु से दें। या

(र) मीठा कूठ स्वरस या क्वाथ मधु से दें।

चिकित्सादर्श के अनुसार इसकी अग्रांकित औषधियां हैं—

(अ) क्षीर कल्याणक घृत, शिवाघृत, चैतसघृत, पंचगव्य घृत या कूष्माण्ड घृत २ तोला की मात्रा में प्रातःकाल मिश्री मिलाये हुए दूध से देना चाहिए।

(ब) सारस्वतारिष्ट १ तोला की मात्रा में समभाग जल से भोजनोत्तर २ बार दें।

लशुनाद्य घृत प्रथम	+			+	+	
लशुनाद्य घृत द्वितीय	+		+	+	+	
हिग्वदि घृत	+					
कायस्थादि घृत	+					
वयःस्थादि घृत	+	+				
पुराण घृत						
प्रपुराण घृत	+				+	
सिद्धार्थक घृत		+			+	
फल घृत	+		+	+	+	
महापंचगव्य घृत	+		+	+	+	
ब्राह्मी घृत				+	+	
कुलथादि घृत			+			
सैंधवादि घृत	+					
वचा घृत	+		+			
यमक स्नेह	+		+			
क्षीरेसुरसादि घृत	+		+			
आमलकादि घृत			+			
काकोल्यादि घृत					+	
सारस्वत चूर्ण						+
चन्द्रावलेह					+	
सारस्वतारिष्ट						
सिद्धार्थक अगद	+		+	+	+	
चतुर्भुज रस					+	
पर्पटी रस					+	
कल्याण चूर्ण					+	
वातकुलान्तक रस					+	
इन्द्रब्रह्म वटी					+	
स्मृति सागर रस						+
रसायन भैरव प्रधमन नस्य						+

चिकित्साकालीन अनुभव—चिकित्सा के दौरान उपयुक्त मात्रा में रोगी की शक्ति के अनुसार यदि रोगी को भूख प्यास लगने पर दिन के दोपहर तक केवल शङ्खपुष्पी स्वरस पर रखा जाय तथा दोपहर के बाद क्षीरोदन (दुग्ध + भात) का सेवन करायें तथा सायंकाल कोयल का घृत संस्कार सिद्ध मांस खिलाकर रोगी को निवात स्थान में सुलाया जाय तथा साथ ही उपयुक्त औषधियां भी देते रहें तो शीघ्र ही वान्छित परिणाम प्राप्त होता है। साथ ही आधुनिक मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति द्वारा रोग जनक कारणों का पता लगाकर उसका यथोचित प्रतिकार करने पर और भी शीघ्र सफलता मिलती है।

पथ्य—

विहार—आश्वासन, स्मरण, विस्मरण, आश्चर्यकर्म, दान, त्रासन, वन्धन, भय, तर्जन, ताडन, हर्ष, विस्मय धी धैर्यारमादि विज्ञान, स्नान, अभ्यङ्ग, निद्रा अभ्यङ्ग सुशीतल अनुलेप।

आहार—लाल शालि चावल, मूंग, पुराना गेहूं, पुरातन घृत, कच्छपमांस, जांगलमांस रस, धारोष्णदुग्ध, पटोल, पेठा, वथुआ, मीठा अनार, शोभान्जन, नारियल, अंगूर, आंवला, फालसा, तिल तैल, वर्षा ऋतु का जल।

अपथ्य—

विहार—चिन्ता, शोक, क्रोध, अधिक मैथुन, अधिक व्यायाम, तृष्णा, निद्रा एवं क्षुधा का वेग रोकना, वेग धारण, अति श्रम।

आहार—अपवित्र अन्न, मद्य, मत्स्य, विरुद्धान्न, तीक्ष्ण, गुरु भोजन, पत्र शाक, विम्बीफल, अषाढ मास में होने वाला फल।

दस्त हो कोष्ठों की शुद्धि एवं अल्प वायु का निष्कासन होगा।

पश्चात् वस्ति द्वारा एरण्ड तैल ६० मि० लि० से १०० मि० लि० तक प्रयोग करें।

विशिष्ट चिकित्सा—(१) प्रातः, दोपहर एवं सायं को शूलवर्जिनी (सि० यो० सं०) वटी १ गोली तथा वृद्धिवाधिका वटी (भा० प्र०) १ गोली-ऐसी एक मात्रा ईषत् उष्ण जल से खिलायें। भोजनोपरान्त गोक्षुरादि गुग्गुलु (शा० सं०) १ से २ गोली खिलाकर ऊपर से दशमूल क्वाथ (शा० सं०) ३० से ६० मि० लि० दिन और रात में सेवन करायें। रात में सोते समय नीम तैल (नि० रत्नाकर) १० मि० लि०, एरण्ड तैल ३० मि० लि०, कसीस १० ग्राम तथा सैन्धवलवण ५ ग्राम एवं कर्पूर १ ग्राम लें—इनमें से ठोस पदार्थों का सूक्ष्म चूर्ण कर के तैलों में भली-भांति मिलाकर पीडित अण्डकोष पर लगायें तथा एरण्ड के पत्ते उस पर डाल लंगोट कस लें। इस औषधि का अमिट दाग वस्त्र पर पड़ जाता है। इसलिये त्याज्य-स्वच्छ व्यर्थ वस्तु का ही लंगोट में और औषधि प्रयोग के समय उपयोग करें।

(२) हरे मकोय के पत्ते, हरा धनियां, हरी कासनी के स्वरस प्रत्येक १५-१५ मि० लि० एकत्र मिलाकर इसमें अफीम और कर्पूर प्रत्येक १-१ ग्राम और खुरासानी अजवायन ? ग्राम एकत्र सूक्ष्म पीसकर भलीभांति मिला लेप निर्माण करें तथा दर्द स्थान पर इस लेप को पतले रूप में हर ४-६ घण्टे पर लगायें।

(३) गुलाबजल उत्तम और सिरका प्रत्येक ३०-३० मि० लि० में उत्तम कर्पूर १ ग्राम भली-भांति मिलाकर इसमें वस्त्र खण्ड भिगोकर पीड़ित वृषण कोष पर रख बांध दें। वस्त्रखण्ड सूखते ही पुनः औषधि से भिगो कर बांध दें।

(४) सोंठ, एलुवा, बाल हरीतकी, श्वेत पुनर्नवा की जड़, कुन्दरू, शिग्रुछाल, गुग्गलु प्रत्येक १०-१० ग्राम, नीम का तैल, घृत, भुनी हींग २-२ ग्राम इन्हें एकत्र पीस लेप बना (जल में पीस कर) पीडित अण्ड-कोष पर लगाकर लंगोट कस दें।

(५) नीम के पत्तों के उष्ण क्वाथ में हलकी सी अफीम मिलाकर इसमें वस्त्र-खण्ड भिगोकर दर्द युक्त वृषण की सेंक करें।

(६) महासुदर्शन चूर्ण (शा० सं०) २ से ४ ग्राम तथा पोस्तदाना १ ग्राम एकत्र मिला गर्म जल से दिन में २-३ बार खिलायें तो दर्द, ज्वर दूर हो।

(७) टेसू के पुष्प तथा पोस्त की डोंडी—प्रत्येक ६०-६० ग्राम जौकुट कर जल में विधिवत् क्वाथ करें तथा उसकी धारें वृषणशूल ग्रस्त अण्डकोष पर डालेंगे। क्वाथ को वस्त्र से छानने पर जो ठोस शेष बचे उसे पीस गरम-गरम पीडित अण्डकोष पर बांधें।

(८) 'वृषणशूल हर महेश्वम्' की १ से २ गोली या वृषणशूल ईषत् उष्ण जल या महारास्नादि क्वाथ शा० सं०) से प्रातः-सायं एवं रात को सेवन कराया गया तो वृषणशूल एवं शोथ में उत्तम लाभप्रद प्रमाणित हुआ। इसके सेवन के पहले कब्ज अवश्य दूर कर लें।

(९) नीम के हरे पत्ते, शरपुंखा के पत्ते, कण्टकारी की जड की छाल, श्वेत पुनर्नवा की मूलत्वक्, दर्दमेदा, पोस्तदाना, कटकरंज बीज की मींगी प्रत्येक १०-१० ग्राम ले जल से पीस कर उसके मोटा लेप पीड़ित अण्डकोष पर करें तो शूल दूर होगा। दिन में ३ बार।

पथ्यापथ्य—यवमण्ड, यव के पकाये लेई, मूंग की खिचडी, बकरी के छानकर उबाले दूध, अन्य सुपाच्य लघु आहार एवं लघु पेय देवें। वातवर्द्धक, गरिष्ठ दुपाच्य एवं मिर्च मसालेदार भोजन आहार से परहेज रखे।

पर शुक्रवहा मोटी और नोड्यूलर हो जाती है। शुक्राशय भी विवर्धित और परिस्पर्श्य हो जाते हैं। शुक्रवाहिनियों (Vasa deferens) के अधिच्छद को बहुत हानि पहुंचती है। व्रण वस्तु के संकोच करने पर इसके सुषिरक मुड़ जाते हैं जिसके करण शुक्रवहन में गड़बड़ी होकर क्लैव्यता हो जाती है।

तीव्रावस्था व्यतीत होने पर जीर्णावस्था प्रारम्भ होती है जो वर्षों रहती है। तन्तुत्कर्ष इस अवस्था का प्रधान लक्षण है। जिसके कारण ऊति का शनैः-शनैः क्रमिक नाश होता रहता है।

चिकित्सा—कई मास तक यक्ष्मा रासायनी चिकित्सा आवश्यक है। एक ओर के रोग में अधिवृषणोच्छेदन और रोग बढ़ने पर वृषणोच्छेदन करना उचित है।

☆∿∿∿∿∿∿∿∿∿∿☆

वृषणार्बुद

[TUMOUR OF TESTIS]

डा० प्रेमशंकर शर्मा ए., एम. बी. एस.,

इञ्चार्ज–राज. आयु. चिकि. तसीमो वाया धौलपुर (राज०)

दस वर्ष के बालक से ३० वर्ष के युवक में यदि गुप्त वृषणता या कोई लिंगसूत्री विकृति हो तो वृषणार्बुद पाये जाते हैं। दुर्दम अर्बुद वृषण के अन्दर उत्पन्न होते हैं, जो निम्न लिखित है—

(१) सेमिनोमा (Seminoma)—सूक्ष्म, शुक्राणुजन नलिकाओं (सेमीफेरस ट्यूब्यूल्स) में उत्पन्न होते हैं। अर्बुद कडा, ठोस, एक समान आकृति वाला व धीरे-धीरे वृहदाकार हो सकता है।

(२) टेरटोमा (Tertoma)—ये जनन कोषाओं मे बनते हैं, जिनमें पेशी, तान्तव ऊतक और उपास्थि कोषिकायें होती हैं और रक्तस्राव क्षेत्र भी हो सकते हैं।

(३) कोरियन उपकलार्बुद (Chorion Epithelioma)—यह वृषण का सबसे दुर्दम अर्बुद है जो अनावरोहित वृषण में अधिकतर होते हैं।

लक्षण—जब भी वृषणार्बुद बनने लगता है, वृषण बढ़ने लगते हैं, पर वेदना का सर्वथा अभाव रहता है। अर्बुद चिकना, ठोस और एक समान तथा भारयुक्त होता है। वृषण रज्जु धमनी (स्परमेटिक आर्टरी) के प्रारम्भ पर स्थित परामहाधमनी (पेरा एओरटिक नोड्स) में स्थानान्तरण होता है जिससे नाभि से एक ओर उदर में एक प्ररूपक (Typical) पिंड बन जाता है। कुछ रोगियों में क्षीणता (Cachexia) भी होती है।

जब अन्तर्स्तरीय केशिकाओं में अर्बुद बनता है, तो लड़कों के कम उम्र में ही दाढ़ी-मूंछे आ जाती हैं। स्तनों की वृद्धि भी साथ-साथ पायी जाती है।

चिकित्सा—वृषणोच्छेदन और वृषणरज्जु का उच्च बन्धन (Ligastion) किया जाता है तथा परामहाधमनी पर्वों की गम्भीर 'एक्स-रे' चिकित्सा की जाती है। यह विषय शल्य चिकित्सा (Surgery) से सम्बन्धित है। अतः शल्य शास्त्र की पुस्तक में बृहद वर्णन द्रष्टव्य है।

मानते है। यथा—पति-पत्नी की खटपट, रजोनिवृत्ति काल।

स्थानिक हेतु—१. अस्वच्छता, २. बाह्य जननाङ्गों की गन्दगी।

(२) रासायनिक द्रव्यों का उपयोग। यथा—वस्त्र धोने के तीव्र साबुन से जननाङ्गों को धोना। गर्भनिरोध के लिए प्रयुक्त उत्तरवस्ति।

(३) तीव्र मलहम तथा घोलों का प्रयोग। यथा—द्रवीभूत मोम (Parafin Liquid) डिटोल (Ditol) आदि तीव्र लोशनों से योनि धोना।

(४) अप्राकृतिक मैथुन। यथा—हस्त क्रिया।

(५) योनि प्रदाह।

(६) गर्भावस्था।

(७) भगोष्ठ के भीतरी भाग मे सूक्ष्म केश उत्पन्न होना।

(८) यूका, जुएं पड़ जाना (गुप्तागों में) इनकी उत्तेजना से।

(९) भगोष्ठ के भीतरी भाग में मैल जम जाना—यह अविवाहित बालिकाओ में होता है।

लक्षण—योनि मे तीव्र खुजली होती है। खुजलाते खुजलाते रुग्णा दुखित तथा लोहू-लुहान हो जाती है। खुजली के स्थान पर सुई चुभने जैसी पीडा होती है। खुजलाने से त्वचा का वर्ण लाल हो जाता है। कण्डू स्थान को खुजलाने के पश्चात् वहां दाह होने लगती है। खुजलाने से नखों द्वारा जितनी चर्म कट-फट जायेगी कण्डू भी उतनी ही उत्पन्न होगी। कण्डू के करण मैथुन इच्छा बढ़ जाती है।

आचार्य चरक ने अचरणा योनि का वर्णन इस प्रकार किया है—

योन्यामधावनात्कण्डू जाताः कुर्वन्ति जन्तवः।
तस्मात्स्यादचरणाकण्डूवातयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ॥

अर्थात् योनि को प्रतिदिन धोकर शुद्ध न रखने से उत्पन्न हुएं जन्तु योनि में कण्डू उत्पन्न करते हैं। उस योनि को अचरणा कहते है। स्त्री को उस खुजली के कारण पुरुष से संभोग की अत्यन्त उत्कट इच्छा बनी रहती है।

अष्टांग संग्रह में इस योनि व्यापद को विप्लुता कहा गया है—

विप्लुताऽरूपात्वधावनात्।
सञ्जायत जन्तुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरतिप्रिया ॥

चरक तथा वाग्भट इस रोग को कृमि दोष से मानते है। ये कण्डूकारक कृमि रक्तज होते हैं। जैसा कि रति रहस्य मे कहा है—

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्योग्रशक्तयः।
कण्डूकारक ये कृमि रक्तज होते हैं।

चिकित्सा सूत्र

(१) रोग के कारण को दूर करें।

(२) रोगी को उपयुक्त आहार दें।

(३) मानसिक अशान्ति को दूर करें।

(४) संशामक का प्रयोग करें।

(५) स्थानिक प्रयोगार्थ कण्डूहर लेप, मलहम, तैल, आदि का प्रयोग करें।

(६) भग स्थान को स्वच्छ तथा शुष्क रखें।

(७) योनि कण्डू रोग में शीतल जल का परिषेक करें।

(८) स्नेहन, स्वेदन तथा उत्तर वस्ति का प्रयोग करें।

चिकित्सा

१. योनि प्रक्षालन योग—(१) वट् पीपल, गूलर, सिरस की छाल ४-४ ग्राम, जल १ लिटर लेकर क्वाथ करें। अर्धावशेष रहते उतार कर छान लें। इस कोष्ण क्वाथ से योनि को धोवें। अथवा—फिटकरी चूर्ण ६ ग्राम को १ लिटर जल में घोल सुषुम कर दिन में तीन बार योनि को धोवें। अथवा—त्रिफला क्वाथ से योनि को धोवे। अथवा—उदुम्बर पत्र क्वाथ से योनि को धोवें।

२. योनिरोगान्तक वर्तिका—पिप्पली, मरिच, हरीतकी, शतावर, कूठ, सेंधवलवण समभाग लें। सब का वस्त्रपूत चूर्ण बना जल के संयोग से अंगुष्ठवत् वर्तिका बनकर योनि में धारण करने से अचरणा आदि कफज योनि रोग नष्ट होते हैं।

भगन्दर

वैद्यराज डा० जहानसिंह चौहान, आयुर्वेद-बृहस्पति, साहित्यायुर्वेद वाचस्पति
चौहान आयुर्वेद निकेतन, [illegible]वीगंज, मैनपुरी (उ० प्र०)

परिचय—यह रोग भग (योनि), गुदा एवं वस्ति (मूत्राशय) के चारों ओर के प्रदेश में दारण छिद्र करके भग के समान आकृति वाला व्रण उत्पन्न करता है, इसलिये इस रोग को भगन्दर कहते हैं। भगन्दर में सर्वप्रथम जो कि पिड़िका होती है उनको 'भगन्दर पिड़िका' और पिड़िका फूटने पर जो व्रण बनता है उसको भगन्दर कहते हैं। भावप्रकाश में लिखा है कि गुदा की बगल में, २ अंगुल के बीच में, पीड़ा उत्पन्न करने वाली और फटी हुई जो पिड़िका या फुंसी होती है, उसे ही भगन्दर कहते हैं।

आचार्य 'भोज' का विचार है कि यह गुदा की ओर मूत्राशय को चारों ओर से योनि की तरह फोड़ देता है, इसलिये इस रोग को 'भगन्दर' कहते हैं। एक जगह लिखा है कि गुदा के इर्द-गिर्द दो-दो अंगुल की दूरी पर फुंसियां एवं गांठें होती हैं जो पकती, फूटती तथा बहती हैं, इसी रोग को भगन्दर कहते हैं।

वास्तव में भगन्दर, नाड़ीव्रण का एक प्रकार है। गुदा के चारों ओर दो अंगुल के स्थान में होने वाली, वेदनायुक्त पिड़िका फूट जाने पर भगन्दर कहलाती है। गुदा के चारों ओर का भाग अधिक ढीला होता है। पिड़िका के पक कर फूट जाने पर पूय (Pus) ढीले स्थान की धातुओं (Tissues) की ओर फैला जाता है, जिससे उसका पूर्ण निर्हरण नहीं हो पाता है, परिणामस्वरूप वहां पर नाड़ीव्रण बन जाता है। यह भगन्दर जब अपथ्य सेवन से बिगड़ जाता है तब उस जगह सूराख हो जाता है और उसमें कभी-कभी मल तथा मूत्र भी निकलने लगता है। कुपित वातादि दोषों से, पहले गुदा से २ अंगुल की दूरी पर व्रणशोथ उत्पन्न होता है। जब वह पक कर फैल जाता है तब उसमें से लाल रक्त का झाग तथा पूय आदि आने लगता है। घाव बढ़ने पर मल-मूत्रादि निकलते हैं।

भगन्दर को पाश्चात्य वैद्यक में फिस्चुला इन् एनो (Fistula in Ano) कहते हैं, वास्तव में यह एक नाड़ीव्रण होता है। यह नाड़ीव्रण गुदा तथा मलाशय के पास पाया जाता है इस स्थान के नाड़ीव्रणों को ही भगन्दर कहा जाता है।

भगन्दर एक संक्रमित मार्ग होता है जो गुदद्वार के निकट की त्वचा से भीतर गुदा या मलाशय तक जाता है। कुछ ऐसे भी भगन्दर होते हैं जो त्वचा पर न खुल कर भीतर मलाशय मार्ग की श्लैष्मिक कला द्वारा खुलते हैं अतएव इनके छिद्र गुदद्वार के भीतर श्लैष्मिक कला में होते हैं। मलाशय या गुदा की ओर जाकर उसके मार्ग में [illegible] फूटती है, वही पूय का मार्ग 'भगन्दर' कहलाता है।

भगन्दर के सामान्य हेतु—हाथी घोड़े की सवारी करना, कठिन एवं विषम आसनों पर बैठना, अर्श की उत्पत्ति [illegible] कारणों के सेवन करने से, [illegible] आदि दूसरे कारणों के सेवन से, कुपित

कर्म के परिपाक से अथवा तुरन्त सज्जनों की निंदा करने से, दिन चर्या में अन्य अनिष्ट-अपथ्य सेवन आदि से रोग की उत्पत्ति होती है।

भगन्दर के भेद—आचार्य 'सुश्रुत' ने ५ प्रकार के भगन्दर माने हैं यथा—शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शम्बूकावर्त तथा उन्मार्गी।

वृद्ध 'वाग्भट' ने भगन्दर के ८ भेद माने हैं। इनमें वातादि दोष से पृथक्-पृथक् ३ प्रकार का, सन्निपात से एक प्रकार का, संसर्गज तीन प्रकार का और आठवां आगन्तुज भगन्दर माना है। इस प्रकार से वाग्भट् के अनुसार—(१) वातजन्य (शतपोनक), (२) पित्तजन्य [उष्ट्रग्रीव], (३) कफजन्य [परिस्रावी] ४ सान्निपातक (सम्बूकार्वत) ५ आगन्तुज (उन्मार्गी) ६ वातपित्तज (परिक्षेपी) ७ वातकफज (ऋजु) कफपित्तज (अर्शोभगन्दर) ये ८ भेद बताये हैं।

पाश्चात्य ग्रन्थों मे स्थान तथा आकृति के भेद से अनेक प्रकार के नाम दर्शाये गये हैं किन्तु तीन प्रधान भेद होते हैं यथा—(१) द्विमुखी या पूर्ण भगन्दर, (२) बहिर्मुखी या बाह्य अन्ध भगन्दर, (३) अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर।

अब हम यहां पर सुविधा की दृष्टि से भगन्दर के भेदों का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

वातिक या शतपोनक भगन्दर—वातिक, कषाय तथा रूक्ष पदार्थों के सेवन से अत्यधिक दूषित हुआ वायु गुदा के स्थान मे एक पिड़िका को उत्पन्न कर देता है जिसका समय पर उपचार न करने से उसका पाक हो जाता है उसमे भयंकर वेदना होती है। पिड़िका के फूटने पर रक्तवर्ण का फेनयुक्त स्राव, अनेक मुख वाले व्रणों से मल, मूत्र तथा शुक्र का निकलना आदि लक्षण होते है।

इसमें वातज भगन्दर सूक्ष्म मुख वाले बहुत से छेदों से चलनी की भांति भरा होता है। इन छिद्रों में से क्रमश: झागयुक्त स्वच्छ स्राव निरन्तर बहता रहता है। इसीलिये इसका नाम शतपोनक है। संस्कृत भाषा में 'शतपोनक' को चलनी कहते हैं। वास्तव में इस भगन्दर के अन्तर्गत चलनी के समान ही छिद्र होते हैं।

पित्तज उष्ट्रग्रीव भगन्दर—अत्यन्त पित्तकारक पदार्थों के सेवन करने से कुपित हुआ पित्त, गुदा प्रदेश में लाल रङ्ग की फुंसी उत्पन्न कर देता है। यह फुंसी (पिड़िका) शीघ्र पक जाती है और इससे दुर्गन्धित उष्णस्राव होने लगता है पिड़िका का आकार ऊंट की गर्दन के समान होता है इसीलिये इसे उष्ट्र ग्रीव भगन्दर कहते है।

कफज या परिस्रावी भगन्दर—कफप्रकोपक कारणों से प्रकुपित तथा वायु से अध: प्रेरित कफ गुदा के समीपवर्ती १ या २ अंगुल के क्षेत्र में स्थिर होकर मांस तथा रक्त को दूषित कर श्वेतवर्ण की स्थिर कठिन, स्निग्ध, गहरी तथा कण्डूसह पिड़िका उत्पन्न करता है। इस प्रकार की पिड़िका में अत्यन्त दारुण कफजन्य वेदनायें होती हैं। जिसकी उपेक्षा करने से पाक हो जाता है और वहां पर व्रण बन जाता है। यह व्रण अत्यन्त कठिन एव शोथयुक्त रहता है। इसमें खुजली तथा निरन्तर पिच्छिलयुक्त स्राव होता रहता है। उसकी चिकित्सा न करने पर व्रण से वात-मूत्र-मल तथा वीर्य आने लगता है।

सन्निपातज या शम्बूकावर्त भगन्दर—प्रकुपित वात, पित्त, कफ अपने साथ लेकर नीचे आकर गुदा के निकट १ या २ अंगुल क्षेत्र में स्थिर होकर पांव के अंगूठे के अग्रभाग के प्रमाण की तीनों दोषों से युक्त लक्षणो वाली पिड़िका उत्पन्न करता है। इसमें दाह, कण्डू, शूल, तृषा, ज्वर एवं वमन आदि लक्षण होते हैं। पिड़िका की उपेक्षा (चिकित्सा न करने) करने से पाक होकर व्रण में परिणत हो जाती है। व्रण की गतियां-नलियां दारुण वेदनाओं के वेग के साथ गुदा को विदीर्ण करती है जिससे विविध वर्ण का स्राव होता है।

यह भगन्दर शम्बुक (घोंघा, छोटा शङ्ख) के आवर्त्त—चक्कर के समान होता है। इसमें अतिशय वेदना के कारण गतियां गुदा को फाड़ती रहती हैं। जैसा कि अष्टांग हृदय में लिखा है कि—

सर्वज: शम्बुकावर्त: शम्बुकावर्त संन्निभ:।
गतयो दारयन्त्यस्मिन रुग्वेगैदीरुरौर्गुदम् ॥

(३) अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर—इस प्रकार के भगन्दर का छिद्र चर्म पर नहीं होता है। वह भीतर की ओर मलाशय में खुलता है और उससे उत्पन्न पूय मलाशय में ही जाती है। इस प्रकार के भगन्दर में मल के साथ पूय भी आती है। इस प्रकार के भगन्दर में अंगुली के द्वारा मलाशय में स्थित भगन्दर के छिद्र को प्रतीत नहीं किया जा सकता है। एषणी को अन्दर डाल कर अनुभव किया जा सकता है।

साध्यासाध्यता

पट् कृच्छ्रमाघनास्तेषां, निचयक्षतजौत्यजेत ॥
प्रवाहिणी वलीं प्राप्तं सेवनीं वा समाश्रितम ।

अर्थात् ६ भगन्दर (एक दोषज और द्विदोषज) कष्ट साध्य हैं। सन्निपातज तथा क्षतज असाध्य है। अथवा प्रवाहिणी वली या सेवनी में पहुंचे सभी भगन्दर असाध्य होते हैं।

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि सभी तरह के भगन्दर भयंकर तथा कष्ट साध्य होते हैं। इनमें शम्बूकावर्चक्त, उन्मार्गी विशेष रूप से असाध्य माने गये हैं। जिस भगन्दर रोगी के भगन्दर से मल, मूत्र, वायु वीर्य एवं कीड़े निकलते हैं वह व्यक्ति शीघ्र ही मर जाता है। जैसा कि लिखा है कि—

वातमूत्रपुरीपाणि क्रमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात स्त्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम ॥
—गदनिग्रह ।

भगन्दर का स्पष्टीकरण

आधुनिक विधि—भगन्दर के छिद्र द्वारा 'लिपियोडोल' या नियोहाइड्रियोल जो तैल में आयोडीन का घोल होता है को सिरिंज द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। तत्पश्चात 'एक्स-रे' चित्र लेने से तथा एषणी प्रविष्ट के भगन्दर के मार्ग का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार के भगन्दर के मुख्य भाग तथा उसकी शाखायें चित्र में दिखाई देती है।

भगन्दर की चिकित्सा में सिद्धान्त—(१) जहां तक हो सके भगन्दर की चिकित्सा करने से पूर्व ही की जाय, चिकित्सक को चाहिये कि पिडिका को किसी भी अवस्था में पकने न दिया जाय। क्योंकि पकने पर भगन्दर अत्यन्त कष्टसाध्य हो जाता है। इसलिये एक चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी चिकित्सा करे जिससे कि पीडिका बैठ जाय। कच्ची अवस्था में पिडिका से रक्तमोक्षण अर्थात् खून निकलना ही इसकी प्रधान चिकित्सा है।

(२) वमन, विरेचन, रक्त का निकलना, परिषेक तथा विभिन्न प्रकार के प्रलेपों का प्रयोग करें, जिससे कि पिडिका (फुंसी) पकने न पावे और वह बैठ जावे।

(३) भगन्दर की चिकित्सा में वह सभी उपाय काम में लाने चाहिये जो एक विद्रधि (Abscess) बैठाने में काम में लाये जाते हैं।

(४) पिडिका के पक जाने पर नाड़ीव्रण की भांति उपनाह, शोधन तथा रोपण का कार्य करें।

(५) क्षार प्रयोग तथा शास्त्रकर्म ही इसकी प्रधान चिकित्सा है। आवश्यकतानुसार अग्निकर्म का भी प्रयोग करना चाहिये।

(६) यदि भगन्दर का व्रण सूख गया हो तो भी भगन्दर वाले रोगी को १ वर्ष तक दण्ड, कसरत, मैथुन, युद्ध, घोड़े, हाथी की सवारी, गरिष्ट भोजन आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

आयुर्वेदीय चिकित्सा

पिड़िका (फुंसी) को बैठाने के लिये—(१) सोंठ, गिलोय, पुनर्नवा, वड के पत्ते तथा पानी के अंदर की ईंट—इन सब द्रव्यों को पीस लें और लेप तैयार कर भगन्दर की फुंसी पर प्रयोग करें तो वह बैठ जाती है।

(२) अफीम ६ ग्राम, एलुआ (मुसब्बर) ६ ग्राम, मुनक्का २ ग्राम इन सब द्रव्यों को पानी के साथ पीसकर टिकिया बना लें और पिड़िका पर बांधें तो वह बैठ जाती है।

(३) सोंठ, पुनर्नवा, गिलोय, मुलहठी तथा बेरी के पत्ते सभी द्रव्यों को समभाग लेकर महीन पीस लें और गरम करके गांठ पर बांधें तो वह बैठ जाती है।

(४) गदनिग्रहकार का मत है कि गुदा के शोथ को देखकर विशेष रूप से उसका शोधन करें। तत्पश्चात् रक्तमोक्षण करें जिससे पिढ़िका पकने न पावे। इसके लिये पूर्व में दिया गया योग नं० १

भगन्दर व्याधि वस्तुतः नाड़ीव्रण या नालव्रण (फिस्चुला, Fistula) का एक भेद है। योनि, गुदा, वस्ति, मलाशय आदि रिक्त अर्थात् खोखले प्रदेशों के चारों ओर कहीं भी वेदना वाली पिड़िका फूट जाने से दारुण छिद्र होकर भग अर्थात् योनि के सदृश आकृति वाला पूय से आप्लावित नाड़ीव्रण उत्पन्न हो जाता है तो उसे भगन्दर कहते हैं। यह प्रायः गुदा और मलाशय के समीप ही उपलब्ध होता है इसलिये पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र वेत्ता इसे 'फिस्चुला इन एनो' (Fistula in Ano) नाम से सम्बोधित करते हैं। फिस्चुला का शाब्दिक अर्थ नालव्रण या नाड़ीव्रण होता है तथा 'इन एनो' का अर्थ गुदा में होना है—इस प्रकार कुल शब्द 'फिस्चुला इन एनो' का अर्थ गुदनाल व्रण, गुदनाड़ी व्रण या भगन्दर होता है। यद्यपि यह नाल व्रण (Fistula) शरीर के किसी भी रिक्त खोखले स्थान में हो सकता है। इसीलिये तो पाश्चात्य चिकित्सा एवं निदान ग्रन्थों में महाफुफ्फुस धमनी नालव्रण (Aorticopulmonary Fistula) से प्रारम्भ करते हुये मूत्राशय-योनिनालव्रण (Vesico-vaginal Fistula) और भगन्दर (Fistula in Ano) से अन्त करते हुये लगभग ६१ प्रकार के फिस्चुला के नाम एवं वर्णन का उल्लेख मिलता है। किन्तु भगन्दर को छोड़कर अन्य प्रकार के फिस्चुला का वर्णन यहां करना हमारा अभिप्राय नहीं है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ८ प्रकार के भगन्दर का उल्लेख मिलता है। यथा—पृथक्-पृथक् दोष से ३, सन्निपात से १, दो-दो दोषों से ३ जिन्हें संसर्गज भी कहा जाता है तथा आगन्तुज १। भगन्दर की चिकित्सा में सदैव यह ध्यान रखें कि यथासम्भव पाक से पूर्व ही इस विद्रधि को बैठाने में प्रयुक्त वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, परिषेक तथा विभिन्न प्रलेप प्रयोग द्वारा पिड़िका को बैठाने की चिकित्सा करें पकाने की नहीं क्योंकि पाक हो जाने पर यह कष्टसाध्य हो जाता है। भावप्रकाश के अनुसार शुण्ठि, गिलोय, श्वेत पुनर्नवा, वट के पत्ते और जल के अन्दर की ईंट को सूक्ष्म पीस जल से लेप निर्माण कर भगन्दर की पिड़िका पर लगावें या शुण्ठि, श्वेत पुनर्नवा, गिलोय, मुलहठी और बेर के पत्ते को समभाग में ले सूक्ष्म पीसकर गरम करके पिड़िका या गांठ पर बांधें तो वह बैठ जाती है। यदि दर्द युक्त पिड़िका हो तो अहिफेन, मुग-ब्बर ६-६ ग्राम और मुनक्का २ ग्राम को एकत्र जल के साथ पीस चक्रिका बना पिड़िका पर बांधने से वेदना दूर होकर पिड़िका बैठ जाती है। गुदा की शोथ की दशा के अनुसार इस प्रकार पहले शोधन करें और फिर रक्तमोक्षण करें कि पिड़िका पकने न पावे। दुर्भाग्यवश यदि पिड़िका अर्थात् फुन्सी न बैठे और पक जाय या पाक होकर पिड़िका फूट कर गतिमान व्रण हो जाय अथवा भगन्दर की अवस्था में रोगी वैद्य के समीप आवे तो नालव्रण की तरह उपनाह, शोधन और रोपण कर्म करके क्षार प्रयोग एवं शस्त्रकर्म द्वारा तथा कहीं-कहीं आवश्यकता के अनुसार अग्निकर्म करके इसकी चिकित्सा की जाती है। हर समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बहिर्गुद संकोचनी पेशी को कटने से बचाया जाय तथा नाड़ीव्रण को छेदन से युक्त किया जाय एवं विशेष आवश्यकता पड़ने पर इसे केवल एक बार ही काटा जाय अन्यथा इसके कटने पर इसकी सक्रियता के बिना नष्ट होने से मल-मूत्र का निकलना, आटोप, गुदशूल, गुदभ्रंश आदि उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं। शतपोनक आदि अनेक छिद्र वाले विशिष्ट प्रकार के भगन्दरों में यदि एक दूसरे से सम्बद्ध अनेक नाड़ीव्रण बन गये हों तो बाहर की ओर से अर्द्धलांगलक, लांगलक, सर्वतोभद्र, गोतीर्थक आदि विशिष्ट प्रकार से छेदन किया जाय (चीरा लगाया जाय)। सबसे पहले सबल नाड़ी की चिकित्सा की जाय तथा जब एक नाड़ी का रोपण हो जाय तब दूसरे का शस्त्रकर्म किया जाय। यदि भगन्दर की नाड़ियां एक दूसरे से सम्बद्ध न हों तो एक बार में ही सबका छेदन करने से हानि की सम्भावना रहती है, अतः ऐसा [illegible] करें या न करें।

विशिष्ट चिकित्सा में मुख से सेवन योग्य भगन्दरहर रस, सप्तविंशति गुग्गुलु, नारायण रस, [illegible] रस, [illegible] गुग्गुलु, खदिरारिष्ट, [illegible], [illegible] क्वाथ, [illegible] रसायन तथा भगन्दर [illegible], [illegible] हेतु बाह्य प्रयोगार्थ [illegible] तैल, [illegible] चूर्ण, [illegible] तैल, [illegible] तैल आदि की उपयोगिता प्रमाणित हुआ है। —[illegible]

पर्याप्त प्रशस्त बताया गया है। जैसाकि भावप्रकाश में लिखा है।

वटपत्रेष्टकाशुण्ठीसगुडूचीपुनर्नवाः।
सुपिष्ट पिड़िकाऽवस्थे लेपः शस्तो भगन्दरे ॥

पिड़िका के पक जाने पर—यदि किसी कारण से अथवा पूर्व चिकित्सा न करने से फुंसी न बैठे और पाक हो जावे तो उसकी निम्न प्रकार से चिकित्सा करें।

जब पाक होकर पिड़िका फूट जाय और गतिमान व्रण हो जाय अथवा भगन्दर की अवस्था में रोगी चिकित्सक के पास आये तो शस्त्रकर्म करना चाहिए। इसके लिये पूर्वकर्म तथा प्रधानकर्म सामान्य विधान हैं।

रोगी को स्नेहन, स्वेदन करके शय्या या फलक पर लिटा दें, साथ ही अर्श के समान यन्त्रण कर (संकुचित-जानु कर्पूर में रखकर) शस्त्रकर्म करना चाहिये। इसके बाद गुदा के छिद्र में भगन्दर यन्त्र (रेक्टोस्कोप) डालकर भगन्दर के छिद्र का ठीक-ठीक ज्ञान किया जाता है। भगन्दर के आन्तरिक मुख के ज्ञान के लिये एषणी (Probe) का प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा व्रण का मार्ग देखकर एषणी को और ऊपर उठाकर शस्त्र से मलाशय के साथ ही काट दिया जाता है। अन्तमुख भगन्दर में भी ऐसे ही भगन्दर यन्त्र को डालकर ऊपर से मलाशय गत छिद्र के द्वारा एषणी को डालकर शस्त्रपातन किया जाता है। आवश्यकतानुसार अग्निकर्म तथा क्षार का पातन भी किया जाता है। शस्त्रकर्म की यह एक सामान्य विधि है।

आधुनिक युग में भी यही क्रिया अपनाई जाती है। इसमें गुद संकोचनी पेशी को काटने से बचाया जाता है। बहिर्गुद संकोचनी को एक से अधिक बार नहीं काटा जाता, साथ ही नाड़ीव्रण का लेखन (Curette) कर शुद्ध किया जाता है। प्राचीन काल में यह कार्य क्षार या अग्नि के द्वारा किया जाता था।

विशेष प्रकार के भगन्दरों में—शतपोनक एक अनेक छिद्रयुक्त भगन्दर होता है। इसमें सर्वप्रथम मध्यनाड़ी की चिकित्सा करनी चाहिए। जब एक का रोपण हो जाये तब दूसरी की चिकित्सा करनी चाहिए।

यदि भगन्दर में एक दूसरे से सम्बद्ध नाड़ीव्रण बने हों तो बाहर की ओर से विविध प्रकार से छेदन किया जाता है। यदि नाड़ियां एक दूसरे से सम्बद्ध न हों तो एक बार भी बड़ा छेदन होने से हानि की आशंका रहती है। इस तरह से इस बात का ध्यान रखा जाता है कि गुद संकोचनी पेशी न कटने पावें और यदि बाह्य गुदसंकोचनी पेशी कटे भी तो एक बार से अधिक न कटने पावें। गुदसंकोचनी पेशी के कटने पर उसकी संकोचन की क्रिया समाप्त हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मलमूत्र का निकलना, आटोप, गुदा में शूल, भ्रंश आदि उपद्रव हो जाते हैं।

शतपोनक भगन्दर में जब कई प्रकार के छिद्र होते हैं तब कई प्रकार के छेदन (Excision) यथा—१. अर्द्धलाङ्गलक (आधा हल के समान) २. लाङ्गलक, T के आकार ३. सर्वतोभद्रक (मण्डलाकार या गोल) ४. गोतीर्थक (गो येनि सदृश्य अण्डाकार) करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

पश्चात् कर्म—शस्त्रकर्म करने के पश्चात् सभी स्रावयुक्त भागों का अग्नि से दाह किया जाता है।

रुजा एवं स्राव को दूर करने के लिये तत्काल स्वेदन क्रिया करनी चाहिये। इसके लिये तिल-तण्डुल एवं उड़द की कृशरा निर्मित कर अथवा खीर को पकाकर इनसे स्वेदन करना चाहिये। इस कार्य के अतिरिक्त नाड़ी स्वेदन भी परमावश्यक होता है। इसके लिये ग्राम्य, आनूप तथा औदरिक जीवों के मांस, लावादि पक्षियों के मांस, वन्दाक, बृहत् पंचमूल इन द्रव्यों का कषाय निर्मित कर स्नेहयुक्त कुम्भ में रखकर नाड़ी का योग करके स्वेदन करना चाहिये। इन क्रियाओं से पीड़ा तथा स्राव कम होकर भगन्दर का रोपण शीघ्र हो जाता है।

उपर्युक्त स्वेदन क्रिया के पश्चात् रोगी को पीने के लिये कूठ, लवण, वच, हींग, अजमोद इन सबका चूर्ण बराबर घृत मिलाकर देना चाहिये।

पद्मकेशर, पद्माख, धव, मोम, राल—इन औषधियों से सिद्ध तैल भगन्दर के व्रण रोपण में पर्याप्त प्रभावकारी रहता है।

(१०) तिलादि या हरिद्रादि लेप, रसांजनादिलेप, कुष्ठादि लेप, (भै. र.) इनमें किसी का प्रयोग भगन्दर के व्रण रोपण के लिए पर्याप्त लाभकारी सिद्ध हुआ है।

(११) विश्यन्द तैल, करवीराद्य तैल, निशाद्य तैल या सैन्धवाद्य तैल (भै० र०)—इनमें से किसी एक को पिचकारी के द्वारा भगन्दर में भरने तथा इन्हीं तैलों में रुई धर करके गर्म कर व्रण पर बांधने से शोधन तथा रोपण होता है।

(१२) कुछ चिकित्सा विद्वानों का अनुभव है कि भगन्दर के रोगी को यदि अग्निमांद्य न हो तो उसे १ माह तक गीदड़ का मांस खिलाने से अवश्य ही रोगमुक्ति प्राप्त होती है।

(१३) निशाद्य तैल—हल्दी, मदार का दूध, सेंधानमक, गुग्गुल, कनेर, तथा इन्द्र जौ—इन औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए तैल का अभ्यङ्ग भगन्दर में पर्याप्त लाभकारी होता। —भावप्रकाश

(१४) निशोथ, तिल, नागदन्ती, मंजीठ,—इन सबको पीसकर सेंधानमक + घी + मधु मिलाकर भगन्दर के ऊपर लेप करने से भगन्दर नष्ट हो जाता है।

—भावप्रकाश चि० प्र०

(१५) हल्दी, दारुहल्दी, वच, लोध, गृहधूम—इनका लेप तैयार कर भगन्दर पर लेप करने से उत्तम लाभ मिलता है। व्रण का शोधन होकर रोपण होता है।

—भै० र०।

(१६) खदिरादिक्वाथ खदिरकाष्ठ तथा त्रिफला—इनका क्वाथ बनाकर भैंस के घी + वायविडङ्ग चूर्ण का प्रयोग देकर पीने से भगन्दर में उत्तम लाभ मिलता है। —भै० र०।

(१७) तिलादि कल्क—तिल, हरीतकी, कूठ, नीम की पत्ती, आमाहल्दी, दारुहल्दी, वच, लोध तथा भोजनालय का धूम—इन द्रव्यों का कल्क बनाकर भगन्दर पर लगावें। इसके प्रयोग से व्रण का शोधन होकर रोपण होता है। —गदनिग्रह

(१८) खररुधिरादि लेप—खर (गदहा) के साथ केंचुआ तथा कुत्ते की अस्थि अच्छी तरह पीसकर भगन्दर के व्रण पर लेप करने से उत्तम लाभ होता है। यह भगन्दर की पीड़ाओं को शान्त करता है।—गदनिग्रह

(१९) दन्त्यादिलेप—दन्ती, हल्दी, आंवला—इन औषधियों को पीसकर भगन्दर पर लेप करने से व्रण का रोपण होता है। —गदनिग्रह

(२०) कुष्ठादि प्रलेप—कूठ, त्रिफला, नागकेसर, पुष्करमूल, दालचीनी, मोथा, वच, त्रिकुट, कुटकी, अतीस, अजमोद—इन द्रव्यों का समभाग चूर्ण गोमूत्र में पीसकर गुड़ मिलालें। इस प्रलेप को भगन्दर के व्रण पर लगाने से उत्तम लाभ मिलता है। —गदनिग्रह

(२१) न्यग्रोधादि गण की औषधियां भगन्दर व्रण के शोधन तथा रोपण में प्रशस्त मानी गई है। इनसे पाक किया हुआ तैल या घृत भगन्दर में स्थानिक प्रयोग के लिये काम लाया जाता है।

(२२) तिलादि लेप—तिल, एरण्ड का बीज तथा मुलहठी को दूध के साथ पीसकर रक्तस्राव तथा वेदना युक्त भगन्दर में लेप करने से पर्याप्त लाभ होता है।

(२३) कालादिवर्ति—मजीठ (काला), अमलतास तथा हल्दी—इन सबका चूर्ण मधु में मिलाकर नोकदार वर्ति बनावें और भगन्दर में लगावें। यह व्रणों के शोधन करने से प्रशस्त है।

(२४) निशाद्य तैल—हल्दी, मदार, खस, सीधु (मद्यविशेष), चित्रक, हाऊबेर, कनेर, कौरैया छाल—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल का अभ्यंजन करने से भगन्दर में अच्छा लाभ होता है। —गदनिग्रह

(२५) गधे के खून में अर्जुन वृक्ष की छाल पकाकर लेप करने से भगन्दर नष्ट होता है।

(२६) नीलाथोथा, गन्दा विजौरा, सरेश, तथा पुराना गुड़—सब द्रव्यों को समभाग लेकर पानी में पीसकर मलहम बनालें। इस मलहम को कपड़े पर रखकर घाव पर लगावें। चिकित्सा शास्त्रियों की राय है कि इस मलहम के २-४ बार प्रयोग से ही भगन्दर में वांछित फल प्राप्त होता है।

(२७) चीता, आक, निशोथ, पाढ़, कठूमर, सफेद कनेर, थूहर, वच, कलिहारी, हरताल, सज्जी, माल

बनालें। इस चूर्ण को मधु के साथ चाटने से भगन्दर तथा नाड़ी व्रण नष्ट होता है।

भगन्दर चिकित्सा में विशेष ज्ञातव्य—भगन्दर की चिकित्सा में रोग की प्रथमावस्था में पिड़िका (फुंसी) दीखने पर रोगी को उपवास करायें तथा विरेचक औषधि दें। इस प्रकार से कुछ दिन तक पिड़िका के बैठाने का यत्न करें। असफलता मिलने पर रक्त-मोक्षण करावें। इसके लिए जोंक लगवानी चाहिए।

जब पिड़िका न बैठे और पक जावे तो शस्त्र कर्म का अविलम्बन करें। शस्त्र कर्म न चाहने पर क्षार का प्रयोग करें।

भगन्दर के व्रण का शोधन नितान्त आवश्यक है। इसके लिए—रसान्जनादि लेप, तिलादि लेप, कुष्ठादि लेप या त्रिवृतादि लेप का स्थानिक प्रयोग करें। साथ ही आभ्यान्तरिक प्रयोग के लिये खदिरादि क्वाथ, नवकार्षिक गुग्गुल, सप्तविंशतिक गुग्गुल—वातादि दोष के अनुसार प्रयोग करें। जब तक व्रण पूर्ण रूप से शुष्क न हो जाय तब तक तथा आभ्यन्तरिक चिकित्सा करते रहे।

रोग के जीर्ण होने पर विष्यन्दन तैल तथा पंचतिक्त घृत का उपयोग बाह्य तथा आभ्यन्तरिक करते रहें। ज्वर की अवस्था में तैल प्रलेप लगावे। इस अवस्था में घृत का प्रयोग न करे।

नोट—भगन्दर की चिकित्सा मे 'नारायण रस', चित्रविभाण्डक रस, सप्तविंशति गुग्गुल, खदिरारिष्ट आदि शास्त्रीय औषधियों का प्रयोग लाभकारी सिद्ध हुआ है।

प्यास लगने पर जल के स्थान पर खदिरोदक का पान करावें।

भगन्दर नाशक विशिष्ट औषधि चिकित्सा-क्रम—अब हम यहां पर एक ऐसा उत्तम चिकित्साक्रम प्रस्तुत कर रहे हैं जो भगन्दर की चिकित्सा में सफल प्रमाणित हुआ है।

भगन्दर हर रस १२० मिलिग्राम, नवकार्षिक गुग्गुल १॥ ग्राम दोनों १ मात्रा। ऐसी १ मात्रा दिन में दो बार प्रातः सायं १॥ ग्राम विडंग चूर्ण + त्रिफला क्वाथ से।

भोजनोपरान्त—विडंगारिष्ट—२० मि० लि० समान जल से। दिन में २ बार। साथ ही—निर्गुण्डी तैल—नस्य, पान, अभ्यंग व शोधनान्तर वत्ती लाकर पट्टी बांधने के लिये।

अपना चिकित्साक्रम—

(१) नारायण रस १२० मिलिग्राम + चित्रविभाण्डक रस १२० मिलिग्राम। १ मात्रा—ऐसी एक मात्रा दिन में २ बार प्रातः सायं मधु से दें तथा ऊपर से त्रिफला क्वाथ पिलावें।

(२) खदिरारिष्ट ३० मि. लि. समान जल से भोजनोपरान्त दिन में २ बार।

(३) पूर्व वर्णित योग नं. ७—१ गोली दिन के २ बजे।

(४) रसान्जनादि लेप या पंचतिक्त घृत का बाह्य स्थानिक प्रयोग—प्रतिदिन १ बार।

आधुनिक औषधि चिकित्सा

सूचीवेध—कष्टकर पीड़ा की स्थिति में—

(१) न्यूपरकेन Niupercaine (हिन्दुस्तान सिबा-गैगी) ३ मि. लि. आक्रान्त स्थान पर।

(२) क्रिस—४ Crys 4 (साराभाई)—१-१ सूचीवेध प्रति १२ घण्टे पर मांस में।

(३) ओम्नामाइसीन Omnamiycin (हैक्स्ट)—१ सूचीवेध प्रतिदिन मांस में।

नोट—इनमे से किसी एक का प्रयोग करें। साथ ही लगाने के लिए—

आइण्मेण्ट—(१) जाइलोकेन आइण्टमेण्ट Zylecaine Oint. (एस्ट्रा कम्पनी)

(२) न्यूपरकेनल (Nupercainal) (हिन्दुस्तान-सिबा-गैगी)।

(३) प्रोक्टोकेन (Proctocalne)।

(४) लिवोडर्म (Livoderm) (रैलीज)

(५) हैडेन्सा।

(६) एमीथीकेन आइन्टमेन्ट १%

(७) एड्रोनेलीन क्लोरेटीन मलहम।

नोट—इनमें से किसी १ का उपयोग दिन में २-३ बार किया जाता है। न० १ के लगाते ही पीड़ा शांत हो जाती है।

★★

भगन्दर की सफल चिकित्सा

वैद्य श्री दयानन्द विशारद, मु० मिसरी (भवानी) हरियाणा

भगन्दर चिकित्सा सूत्र—

१. भगन्दर पिडिका को पकने से पूर्व ही उपचार प्रारम्भ कर दें। ऐसी औषधों का प्रयोग करें कि भगन्दरी पिडिका पकने ही न पावें। एतदर्थ—(१) कोष्ठशुद्धि, (२) रक्तशोधन, (३) शीतसेवन, (४) लेपन आदि करें।

२. पाकारम्भ होने पर प्रथम स्नेहन एवं अवगाहन स्वेदन करें।

३. भगन्दर तथा नाड़ीव्रण में प्रथम एषणी (probe) द्वारा व्रण का अन्वेषण करें कि कहाँ तक गमन है। फिर उसका शस्त्र द्वारा विदारण कर व्रणवत् उपचार करें।

४. विबन्ध न होने दें। यदि विबन्ध हो जावे तो तीव्र रेचन न दें।

५. पक्व भगन्दर नाली पर दबाव डालकर निचोड़ दें। इससे आभ्यान्तर पूय निकल आवेगा। जब नाली पूय रहित हो जावे, तब आतुर को चित लिटाकर नितम्ब के नीचे तकिया रखकर भगन्दर स्थान को ऊँचा रखकर जात्यादि घृत तैल या पञ्चगुण तैल से नाली को भर दें। यह क्रिया प्रतिदिन करें।

६. यदि भगन्दर के छिद्र के भीतर गति आ सके तो [illegible] की बत्ति बनाकर पञ्चगुण तैल में भिगोकर नाली में प्रविष्ट करें।

७. यदि भगन्दर [illegible] कहें और [illegible] वात के साथ [illegible] निकलने लगें तो [illegible] अवस्था को प्राप्त हो गया है ऐसा जानकर शस्त्रोपचार करें।

८. जीर्ण भगन्दर कष्टसाध्य होता है।

भगन्दर की चिकित्सा—

१. भगन्दरी पिडिका नई हो, पाकारम्भ न हुआ हो, तो ऐसी स्थिति में पिडिका बैठाने का प्रयत्न करें। एतदर्थ—

२. दशाङ्गलेप १ भाग, गोघृत १ भाग, मधु १ भाग, अलसी चूर्ण ५ भाग लेकर [illegible] मिलाकर मन्द आँच पर पकाकर वस्त्रखण्ड पर बिछाकर थोड़ा गरम रहते हुए पिडिका पर बांध दें। प्रति तीन घण्टे पर बदल कर बांधते रहें। इससे अधिकांश फोड़ा बैठ जाता है। यदि पाकारम्भ हो गया हो, तब बांधने से फोड़ा फूट जाता है। फूटने पर भी २-३ दिन बांधते रहें ताकि सम्यक् प्रकार सब पूय निकल जाए।

दशाङ्ग लेप—सिरीष की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, छोटी इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ तथा सुगन्धवाला। प्रत्येक समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें।

३ [illegible], मुलहठी, [illegible], [illegible], [illegible] (जो [illegible]) [illegible] चूर्ण [illegible] करें, [illegible] भगन्दरी पिडिका पर बांधने से पिडिका [illegible]।

४ [illegible]

[illegible] करें।

४. अहिफेन, एलुआ, मुनक्का समभाग ले खरल कर कल्क बना कोष्ण कर पिड़िका पर बांधें।

२. रक्तमोक्षण काल—

रक्तमोक्षण पाकारम्भ से पूर्व ही करना चाहिए। इससे भगन्दरी पिड़िका शान्त होती है। रक्तमोक्षणार्थ शृङ्ग, अलाबू तथा जोंक आदि का प्रयोग करें।

३. पाकारम्भ होने पर—

पिड़िका को शीघ्र पका कर फोड़ने का यत्न करें। एतदर्थ—

१. दशाङ्ग लेप का उपनाह पूर्वोक्त विधि से करें।

२. निम्बपत्रादि उपनाह (सि० यो० सं०) नीम की ताजी पत्ती, हल्दी, घी, शहद, तिल और जौ का आटा इनको यथावश्यक लेकर जल में पीस कर अग्नि पर पका कर कपड़े पर बिछाकर ऊपर से दूसरा पतला सा कपड़ा रख कर भगन्दरी पिड़िका या व्रणशोथ पर बांधने दो-दो घण्टे से बदल कर दूसरी पुल्टिश बांधें। इससे पाकारम्भ न हुआ हो तो जल्दी पक कर फूट जाता है।

३. सन के बीज, मूली के बीज, सहिजन के बीज, तिल, सर्षप, अलसी, जौ का आटा समभाग ले कल्क बना कोष्ण कर पिड़िका पर बांधने से शीघ्र पक कर फूट जाती है।

४. भेदनकर्म—

पक्व पिड़िका जिसमें पूय की उत्पत्ति हो गई हो, किन्तु फूटी न हो, ऐसी पिड़िका को शीघ्र फोड़ने का उपाय करें। एतदर्थ—शल्यकर्म ही श्रेष्ठ उपाय है।

वृद्ध, बालक, दुर्बल, भीरु, तथा स्त्रियों के लिये शल्य कर्म न कर औषधियों द्वारा पिड़िका को फोड़ें एतदर्थ—

(१) सांभर नमक, लोटिया सज्जी ३-३ ग्राम, हल्दी १ ग्राम, घृत ६ ग्राम, अलसी या बाजरे का चूर्ण २४ ग्राम लें। सबको एकत्र खरल करें, फिर जल मिला कर मन्द अग्नि पर पकावें। वस्त्र पर फैला पक्व व्रण पर कोष्ण बांध दें।

(२) करञ्जत्वचा, भल्लातक, जयपाल बीज गिरी, चित्रक मूलत्वक, कबूतर की बीठ, समभाग लें, पानी से पीस, थोड़ा गरम कर लेप करें।

(३) हाथी दांत को जल में घिसकर लेप करें।

५. शल्यकर्म—

१. पूर्वकर्म—सर्वप्रथम रोगी को विरेचन करावें।

२ विरेचनान्तर एषणी द्वारा उसकी गति का पता लगावें। गति का ठीक-ठीक ज्ञान कर पाटन करें, चीरा लगावें। जब उचित शोधन हो जाये तब तप्त पञ्चगुणतैल द्वारा व्रण में दाह क्रिया करें अथवा भगन्दर के पक जाने पर क्षार सूत्र बांध उसका भेदन करें। भेदनोपरान्त चिकित्सा करें।

भगन्दर मलाशय का रोग है। अतः मल का शोधन करना परमावश्यक है। मलाशय शुद्ध हो जाने पर एषण-क्रिया द्वारा व्रण की गति का ज्ञान ठीक-ठीक हो जाता है। एषणी (शलाका Probe) द्वारा एषण कर व्रण मार्ग में पूय आदि की रुकावट हो तो उसे दूर करें जब एषणी से व्रण की गति का ज्ञान हो जाये, तब शल्यकर्म करें। पाटन कर—चीरा लगाकर व्रण का शोधन करें। पाटित स्थल में तैल में सिक्त क्षौमवस्त्र (Gauze) भिगोकर रखें। एतदर्थ—अनन्त गुण तैल का प्रयोग करें। व्रण शोधनोपरान्त तप्त तैल से दाह करें ताकि विकृत धातुएं दग्ध हो जायें और व्रण की एषण क्रिया में बाधा उपस्थित न हो सकें। यदि शस्त्र क्रिया से आतुर भय करे तो क्षार का प्रयोग करें किन्तु क्षार का प्रयोग अधिक दिनों तक किया जाता है, जिससे रोगी को अधिक कष्ट होता है। अतः शस्त्र से पाटन करना ही श्रेष्ठ है। पाटन या क्षार के अनन्तर रोपण क्रिया करें। अतदर्थ—अनन्तगुण तैल उत्तम है।

क्षार सूत्र प्रयोग विधान—भगन्दर नाली छिद्र में प्रविष्ट हो सके ऐसी रजत की एषणी के एक ओर सूचिकावत् छिद्र हो और दूसरी ओर का भाग कुण्ठित हो तीक्ष्ण न हो। इस सूचिका को शुद्ध-स्वच्छ कर सूची के छिद्र में क्षार सूत्र बांध-पिरो दें। गुद स्थान को शुद्ध कर सूची को भगन्दर के छिद्र में प्रविष्ट करें। दूसरे हाथ की तर्जनी अंगुली गुदा में डालकर सूची के छिद्र से क्षार सूत्र को निकाल लें। सूत्र को पकड़ कर रख लें और सूची को धीरे से निकाल लें। अब क्षार सूत्र के दोनों किनारे बांध दें, ये तीन दिन में

भगन्दरी व्रण का मार्ग खुल जायेगा, पीछे शोधन तथा रोपण तैल या मलहम अथवा वर्ति को व्रण मार्ग में प्रविष्ट करें। वर्ति को प्रतिदिन बदलते रहें।

क्षार सूत्र—एक पतली रेशम की डोरी लें। इस डोरी को हल्दी चूर्ण तथा सेंहुड क्षीर में लिप्त करें। फिर डोरी को सुखा लें। इस प्रकार सात बार सेंहुड दुग्ध में मिश्रित हरिद्रा चूर्ण में लिप्त करें।

स्वानुभूतोपचार—

स्थानीय उपचार—व्रण की स्वच्छता आवश्यक है। एतदर्थ—त्रिफला क्वाथ अथवा व्रणकुठार मिश्रण का प्रयोग करना चाहिये।

२. स्वच्छव्रण में—भगन्दरी व्रण के छिद्र में पिचकारी से तैल प्रविष्ट करें, एतदर्थ—अनन्तगुण तैल का प्रयोग श्रेष्ठ है।

३. भगन्दरी व्रण संकुचित हो तो उसका मुख चौड़ा बड़ा करने के लिये ग्रन्थि भेदन क्षार का प्रयोग करें। तत्पश्चात् वर्ति, तैल आदि प्रविष्ट करें। अथवा—नाड़ीव्रणान्तक तैल पिचकारी से प्रविष्ट करें। इस तैल में एक विशुद्ध वस्त्रखण्ड भिगो वर्ति बना व्रण में रखें।

व्रणकुठार मिश्रण—बाष्पोदक (उड़ाया हुआ जल) ७२० मिलि० को एक बोतल में भर उसमें ७५० मिलिग्राम उत्तम कर्पूर डाल, सुदृढ़ डाट लगा १ सप्ताह पर्यन्त खुले स्थान में रख दें। ताकि दिन में कड़ी धूप और रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश उस पर पड़ता रहे। कर्पूर गलने पर उसमें पिसी हुई फिटकरी १५० ग्राम और उत्तम नीलाथोथा २० ग्राम उपर्युक्त कर्पूरोदक में डालकर २४ घण्टे रख दें। फिर शुद्ध वस्त्र में छानकर दूसरी बोतल में भर लें। इससे व्रण को स्वच्छ करें। लेपन क्रिया के लिए इसका फोहा व्रण में रखें।

वाष्पजल ६६० मि० लि० में व्रणकुठार मिश्रण ६० मि० लि० मिलाकर रख लें। इससे व्रण को स्वच्छ करें नाड़ीव्रण भगन्दर में डौसइस [illegible] रखें।

प्रलेप—१. [illegible] के [illegible] से बिल्ली की हड्डी घिसकर लेप करें। यह [illegible] भगन्दर नाशक है।

२. [illegible] के [illegible] से [illegible] की [illegible] का चूर्ण मिला कर [illegible] लेप करें।

३. गिरगट १ नग, तिल तैल २५ मिलि. में जला कर श्वेत मोम १२ ग्राम डालकर पिघलावें, पश्चात् सुहागा की खील, हिंगुल, सिन्दूर, मुर्दासंग [illegible], राल श्वेत प्रत्येक ६ ग्राम, कमीला २ ग्राम, तूतिया भुना ६ ग्राम, अंगार २ ग्राम पीसकर मिला, मलहम बनावें और नाड़ीव्रण, भगन्दर पर लेप करें।

४. रसौत, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मजीठ, निम्बपत्र, त्रिवृत्तमूल, तेजबल दन्तीमूल समभाग लें, पीस वस्त्रपूत चूर्ण बना, जल के साथ घोटकर लेप करें, भगन्दर, नाड़ी व्रण नाशक है।

वर्ति—१. सेंहुड का दूध, आक का दूध तथा दारुहल्दी समान भाग लेकर खरल करें [illegible] करते-करते वर्ति बनाने योग्य हो जाये तब वर्ति बनाकर सुखा लें। इस वर्ति को भगन्दर एवं नाड़ीव्रण में सुख द्वारा प्रविष्ट करें, भगन्दर नाशक है।

२. सर्पकंचुकी को जलाकर राख करलें। इस राख को वटक्षीर में मिलाकर एक स्वच्छ वस्त्रखण्ड में लतपत कर भगन्दर मुख पर रखें। पांच दिन रखा रहने दें, पांचवें दिन बदल दें। इस प्रकार ३-४ बार लगाने से नाड़ीव्रण-भगन्दर नष्ट हो जाते हैं।

मलहम—(१) रस कपूर, सिन्दूर, मैनशिल, मुर्दासंग, श्वेत कत्था, कपूर, [illegible] सुपारी की राख १०-१० ग्राम, मक्खन [illegible] ५०० ग्राम लें। सब द्रव्यों को कूट-पीस कपड़छन करलें। पश्चात् [illegible] गोघृत [illegible] में मिलाकर मलहम बना लें। इसके लगाने से नवीन भगन्दर [illegible], उपदंश, नाड़ीव्रण, [illegible], अर्श, पामा, [illegible] दूर होते हैं।

(२) बिल्ली के पांव की हड्डी, [illegible] के [illegible] की हड्डी ५०-५० ग्राम लें। [illegible] में [illegible] कोयला बना लें। फिर [illegible] पीस [illegible] गोघृत मिला मलहम [illegible], इससे भगन्दर, नाड़ीव्रण तथा [illegible] में लाभ होता है।

(३) [illegible] के [illegible] के [illegible], [illegible] के [illegible], [illegible] के [illegible] १०-१० ग्राम, [illegible] गोघृत, [illegible] ग्राम

लें। सब पत्रों को कूटकर टिकिया वना लें। फिर घी तथा तैल में डालकर आंच पर रखें। जब टिकिया जल जाए, तब उतारकर छान लें। पीछे उसमें सफेदा काश्मरी, मुर्दासंग, रस कर्पूर, काकड़ासिगी, संगजराहत ३-३ ग्राम, हरा तूतिया २ ग्राम, गंधाबिरोजा, सफेद राल, शुद्ध मोम अन्तर्धूम दग्ध, कुक्कुर जिह्वा १०-१० ग्राम, अन्तर्धूम दग्ध, नरकंकाल, ३० ग्राम, सबको सूक्ष्म पीसकर मिला दें।

यह मलहम कपड़े पर लगाकर व्रण के ऊपर चिपका दें। वर्ति वनाकर व्रण के भीतर रखें। यह नाड़ीव्रण भगन्दर, दुष्ट व्रण नाशक है। कर्कटार्वुद नाशक है।

तैल—(१) निम्ब अन्तरत्वक् या छायाशुष्क पत्र, निर्गुण्डी पत्र या वीज १५०-१५० ग्राम, त्रिफला १५० ग्राम लेकर ३½ लीटर जल में यथाविधि क्वाथ करें। फिर इस क्वाथ में एक लिटर शुद्ध तिल तैल मिला आसन्न पाक करें, पश्चात् राल, मोम देशी, गुग्गुल, गन्धाविरोजा, शिलारस ५०-५० ग्राम का सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण मिलावें। खरपाक होने तक साफ वस्त्र में छान लें। पीछे इस गरम-गरम तैल में कर्पूर ५० ग्राम, कार्वोलिक एसिड २५ ग्राम, तारपीन तैल २५ मिली० नीलगिरी तैल २५ मिली. मिलाकर रखें।

इस तैल को पिचकारी से भगन्दर नासूर में भरना चाहिए। यह उत्तम वेदनाहर तथा व्रण का शोधन, रोपण करने याला हैं।

(२) तिल तैल १ लिटर, जंगाल १५ ग्राम, कर्पूर २५० ग्राम, नृशिरोऽस्थि चूर्ण १५ ग्राम लें। तैल कढ़ाही में डालकर खरपाक कर जंगाल का चूर्ण डाल दें। जव झाग उठकर समाप्त हो जायें-तैल स्वच्छ हो जाये तो शेष द्रव्य डालकर उतार लें और घोट लें। शीतल होने पर निथरा हुआ तैल ले लें। इस तैल में क्षौम वस्त्र (गाज) भिगोकर भगन्दर या नाड़ीव्रण में रखें अथवा पिचकारी से नासूर में भर दें।

अन्तः प्रयोज्य भेषज—(१) नाड़ीव्रणान्तक—हरताल तवकी ३० ग्राम कृष्ण सर्पकंचुकी १५ ग्राम, भल्लातक २५ नग लें। तीनों द्रव्यों को अलग अलग सूक्ष्म पीस लें और फिर तीनों को मिला:कर घोट लें। पीछे एक सप्ताह पर्यन्त स्नुहीक्षीर के साथ खरल करें। प्रतिदिन स्नुहीक्षीर ताजा डालें। फिर घुटाई करते-करते सुखा दें। सूखने पर एक शराव में डाल, दूसरा ऊपर औंधा रखकर संधि वन्धन कर कपड़मिट्टी कर दें। कपड़मिट्टी सूखने पर चूल्हे पर चढ़ा, नीचे दो अंगुल मोटी वेरी की दो लकड़ी जलावें, तीन प्रहर तक आंच दें। ऊपर वाले शराव को गीले वस्त्र से शीतल रखें। स्वांग शीतल होने पर सत्व निकाल लें। खरल कर सुरक्षित रखें।

मात्रा—६० मिलिग्राम।

अनुपान—घृत। प्रातः, सायंकाल।

गुण—नवीन तथा पुराना बिगड़ा हुआ नाड़ीव्रण, भगन्दर ठीक होते हैं। परम अनुभूत है।

(२) नाड़ीव्रणादि—हरताल तवकी, श्वेत सोमल रस कर्पूर प्रत्येक १५ ग्राम लें। पीछे एक स्वच्छ वस्त्र में पोटली वांध लें। तत्पश्चात् फिटकरी चूर्ण १५ ग्राम एक शराव में बिछाकर ऊपर पोटली रखकर और पोटली के ऊपर फिटकरी चूर्ण ७५ ग्राम डालकर अंगुलियों से दवाकर पोटली को वन्द कर दें। पीछे शराव को कोयलों की तीव्र अग्नि पर २ घण्टे रखें। फिटकरी फूलकर सूख जायेगी। स्वांग शीतल होने पर फिटकरी हटाकर पोटली को निकाल लें। पश्चात् ४० घण्टे खरल करें।

मात्रा—१२५ मि० ग्राम।

अनुपान—मधु। प्रातः, सायंकाल। इसके सेवन से सर्व प्रकार के नाड़ीव्रण, भगन्दर २१ दिन में समूल नष्ट हो जाते हैं। जटिल दीर्घ बिगड़ा हुआ नासूर भगन्दर विना किसी वाह्योपचार के भी ठीक हो जाता है। यह शतशोऽनुभूत है। भगन्दर की विशेष औषधि है।

अपथ्य—लवण, तैल गुड़ तथा खटाई न दें।

(३) त्रिफला घृत गोदुग्ध के साथ प्रातःकाल दें। दोपहर नवकार्षिक गुग्गुल और भोजनोत्तर दोनों समय आरोग्यवर्द्धिनी वटी, सारिवाद्यरिष्ट के साथ दें। सर्प की केंचुली जलाकर वरगद के दूध में घोटकर रुई का फोहा तर करके व्रण पर बांध दें। इस फोहे को एक सप्ताह पश्चात् वदलें। ★★

भस्मक रोग

डा० गिरीशकुमारसिंह, बी.एस-सी., बी.ए.एम.एस., पी.एच.डी., शरीर क्रिया विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री स्मारक राज० आयु० महाविद्यालय, हंडिया, इलाहाबाद (उ०प्र०)

परिचय, परिभाषा, एवं सन्दर्भ सहित—

"अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्नतः।
दिवाऽपि स्वपतोऽस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः॥"

तीक्ष्णाग्नि पुरुष का किया हुआ अतिमात्र, पक्का, लघु, गुरु हर प्रकार का भोजन अति शीघ्र सुखपूर्वक पच जाता है। उपर्युक्त श्लोक में उत्तम का अर्थ तीक्ष्ण है, इसलिये इस अवस्था को भस्मक रोग कहते हैं। क्योंकि इसमें खाया हुआ सब पदार्थ भस्म हो जाता है। उसका रस एवं मल नहीं बनता। इस अवस्था में कफ अत्यन्त क्षय हो जाता है। तथा पित्त अत्याधिक कुपित होकर वायु की सहायता से जठराग्नि को अत्यन्त प्रबल एवं प्रचण्डतम बना देता है। कफ की हीनता से शरीर रूक्ष हो जाता है। तथा मरुत्सखा पित्त या अग्नि अन्न का पाचन अति शीघ्र कर डालती है। इस प्रकार अन्न का पाचन होने पर भी उस पुरुष का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता जाता है। क्योंकि तीक्ष्ण अग्नि अन्न का शीघ्र परिपाक करने के उपरान्त अन्न के अभाव में क्रमशः रक्त आदि धातुओं का पाचन करने लगती है। और इसके भौतिक परिणामस्वरूप रोगी को सदा भूख लगी रहती है। जो कि आन्तरिक कमी की सूचक है। धातुओं का निरन्तर क्षय होने के कारण रोगी दुर्बल हो जाता है। एवं इस रोग से उसकी मृत्यु भी हो सकती है। ऐसे रोगी को भोजन करने पर कुछ शान्ति होती है। किन्तु पचते ही तुरन्त उसे व्याकुलता होने लगती है।

यह अग्नि हर प्रकार के मिथ्याहार-विहार को सहन करने में समर्थ होती है। पाक के अनन्तर यह गला, तालु, ओष्ठ में दाह और सन्ताप आदि पैत्तिक रोग उत्पन्न करती है। यही अग्नि अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाने पर "भस्मक" या अत्यग्नि कहलाती है। आचार्य डल्हण ने सुश्रुत के टीका में अत्यग्नि को "भस्मक" नाम दिया है।

आधुनिक विज्ञान में तीक्ष्णाग्नि को Acid Dispepsia (एसिड डिस्पेप्सिया) और Bulimia (बुलीमिया) कहते हैं। तीक्ष्णाग्नि अवटुका ग्रन्थि की विकृति (Thyrotoxicosis या थायरोटोक्सीकोसिस) में मुख्यतया मिलती है।

रोग उत्पत्ति के कारण : आयुर्वेदिक मत से— अग्नि के तीक्ष्ण गुण के बढ़ाने वाले कारण तथा वे अवस्थाएं जिनमें शरीर में कफ का क्षय हो तथा वायु की (समान वायु की) वृद्धि हो। भस्मक रोग के सम्बन्ध में एक बात अत्यन्त विचारणीय है कि यह एकमात्र ऐसी व्याधि है जो कि अत्यग्नि के कारण होती है। आचार्य वाग्भट्ट के मत से "रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ" का स्पष्ट अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अधिकतर सब व्याधियां मन्दाग्निजन्य होती हैं। भस्मक रोग के कारण को समझने के लिये अग्नि का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः यहां अग्नि की विस्तृत जानकारी देना आवश्यक है। विश्व की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें अग्नि के सहारा [illegible]

हो। पृथ्वी, पत्थर, जल, बादल, चर एवं अचर सभी में अग्नि किसी न किसी रूप में उपस्थित रहती है।

"इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहुरथो स सुपर्णो गुरुत्मान" —ऋग्वेद।

"जाठरो भगवान् अग्नि" —सुश्रुत।

ऋग्वेद ने अग्नि को सब कुछ माना है। अग्नि को मानव ने "दव या दाव" के रूप में बनों में "वडप" के रूप में सागर मे तथा जठर के रूप में मनुष्य में देखा है। आचार्य सुश्रुत ने अग्नि को भगवान् का रूप माना है। समस्त आध्यात्मिक एवं भौतिक सृष्टि अग्नि द्वारा ही संचालित है।

अग्नि का स्वरूप—"अग्निदेव शरीरे पिगन्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति।" —चरक सू०

अग्नि का आयुर्वेद शास्त्र मे विशेष महत्व बताया गया है। अग्नि स्वरूप पित्त शरीर में विकृत होकर रोगों को उत्पन्न करता है।

"जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकिरसेत्सीदन्तं सर्वः कायचिकित्सकः॥
—चरक।

काय का अर्थ जठराग्नि एवं देहाग्नि से है।

"कायोदेहः तस्य चिकित्सा काय चिकित्सा"

काय शब्द जठराग्नि के विशिष्ट अर्थ मे लिया गया है। अग्नि वैषम्य के कारण ही अतिसार, अर्श, ज्वर, ग्रहणी, यकृत् विकार, अग्निमांद्य, भस्मक आदि रोग उत्पन्न होते है। आचार्य सुश्रुत ने स्वस्थ्य व्यक्ति की परिभाषा निम्नवत् कही है।

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्स्येन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

अर्थात् समाग्नि को श्रेष्ठ माना गया है। रोगों की उत्पत्ति के कारण भूत दोषों की समावस्था या प्रकोप, अग्नि के ही अधीन है। अग्नि के मन्द होने पर प्रसाद भूत अन्न रस एवं रक्तादि धातुओं का पोषण यथावत् नही होता और मलभूत दोषों की उत्पत्ति विशेष रूप से होती है। इसका विशेष (विशिष्ट) गुण ऊष्मा है। यह मानव शरीर के छूने से ज्ञात होता है। यह ऊष्मा अग्नि या तेज नामक महाभूत का रूपान्तर है। जब यह समावस्था में रहती है तो मानव स्वस्थ रहता है। शरीर में ऊष्मा बढ़ने पर ज्वर होता है। जिससे शरीर की हानि होने लगती है। जब मनुष्य में ऊष्मा लुप्त हो जाती है तब मनुष्य को मृत घोषित कर दिया जाता है।

त्रिदोष के आधार पर शरीर में स्थित ऊष्मा का आधार पित्त है। जो शरीर को धारण करने पर धातु कहलाता है। शरीर की इस प्राकृत ऊष्मा को बनाये रखना प्राकृत पित्त का कार्य है। यह पित्त पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक एवं भ्राजक भेद से शरीर में विभिन्न तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, अम्ल, आदि गुणों से क्रियाएं करता रहता है। यह अग्निद्योतक उष्ण गुण शरीर में आहार के पाचन के साथ शरीर में ताप को भी स्थिर रखता है। आहार को पचाने वाला सार एवं किट्ट को अलग करने वाला पित्त ही है।

आचार्य चरक के अनुसार शरीर स्थापित (अग्नि) अग्नि वैषम्य का मूल कारण है। अतः कहा जा सकता है कि पित्त (अग्नि) प्राणियों की देह में वैश्वानर के रूप में रहता है। जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान गम्य है। पित्त रूपी कार्य का गुण कर्म के कारण रूप वैश्वानर का गुण कर्म अनुमेय है। आग्नेय और उष्ण गुण के कारण पित्त में दहन, पाचन आदि कार्य करने की शक्ति है। शरीर में अग्नि के तीक्ष्ण होने पर अग्निवर्द्धक द्रव्यों का उपयोग करने से यह बढ़ती है एवं शीतल क्रिया करने से अग्नि का शमन होता है। शरीर में पित्त को अग्नि का प्रतिनिधि माना है। पित्त और अग्नि की साम्यता के कारण दोनों में स्पष्ट भिन्नता होने पर भी पित्त एवं अग्नि का अभेद सम्बन्ध है।

"तच्चा दृष्ट हेतुकेन विशेषेण पक्वामाशय मध्ययस्थं पित्तंचतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेनपति दोष रस मूत्र पुरीषाणिः, शरीरस्य चाग्नि कर्मणानुग्रहं करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा।"

—सुश्रुत।

अग्नि की विशिष्टता : प्राचीन मत से—अग्नि को प्राण भी कहा गया है। रोगों की उत्पत्ति के कारण

वैषम्य-अग्निमान्द्य, अजीर्ण अरोचक, भस्मक आदि रोगों में जठराग्नि की महत्वपूर्ण भूमिका है। दोषानुसार पाचन शक्ति के भेद से जठराग्नि के चार भेद किये गये हैं। १. सम, २. विषम. ३. तीक्ष्ण ४. मन्द अर्थात् कफ दोष से मन्द अग्नि, पित्त दोष से तीक्ष्ण अग्नि, वात दोष से विषम अग्नि तथा साम्यावस्था में में सम अग्नि होती है। अन्न को ग्रहण करता तथा उसे पचाना ग्रहणी का कार्य है। ग्रहणी का बल अग्नि है जो ग्रहणी में आश्रित है। अग्नि के दुष्ट हो जाने पर ग्रहणी भी दुष्ट हो जाती है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने ग्रहणी को पित्तधराकला भी कहा है। आमाशय में पाचक पित्त रहता है। अतः पक्वाशय मध्यस्थ पित्त भोजन को पचाकर उसे शोषण के योग्य बनाता है।

प्रोटीन, एमिनो एसिड, फैट को फैटीएसिड तथा ग्लिसिरॉल और स्टार्च को ग्लुकोस में परिवर्तित कर देता है। उक्त कार्य कायाग्नि द्वारा सम्पादित होता है। यह कायाग्नि मुख्य रूप से महास्रोतस में होने वाली पाचन क्रिया का आधार भूत कारण है। पाचकाग्नि के विकृत होने पर ही अग्नि-वैकृत्य होती है। जिनमें निम्न लक्षण मिलते हैं।

१. मन्दाग्नि—कफ प्रकृत के पुरुषों में अग्नि का अधिष्ठान श्लेष्मण से आवृत्त होने से अग्निमांद्य हो जाती है। यह अल्पकाल में लिये गये अन्न को चिरकाल तक पचाती है तथा उदर रोग, शिर में गौरव कास, श्वास, वमन, और अङ्गसाद आदि कफज रोगों में उत्पन्न करती है।

२. विषमाग्नि—विषमाग्नि में वात प्रधान दोष माना गया है। इसमें अग्नि कभी मन्द एवं कभी तीक्ष्ण होती है। विषमाग्नि कभी अन्न को सम्यक् प्रकार से पचाती है और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदर गौरव, अन्न कूजन आदि लक्षण कर अन्न का सामपाक करती है। विषमाग्नि, भुक्तान्न को विषम रूप से पाक करके वातादि एवं रस-रक्तादि धातुओं में विषमता उत्पन्न कर देती है।

३. धात्वाग्नि (वैषम्य)—प्रत्येक धातु में एक अग्नि मानी गयी है। रसाग्नि, रक्ताग्नि आदि भेद से सात धात्वाग्नियां होती हैं। इन अग्नियों के क्षय एवं वृद्धि भेद से भी धातुओं पर प्रभाव पड़ता है। इनका नियमित व्यापार जठराग्नि पर निर्भर होता है। इसी प्रकार प्रत्येक धातु में पांच भूतों की पांच अग्नियां होती हैं। जिन्हें भूताग्नि कहते हैं।

४. तीक्ष्णाग्नि—यह अग्नि हर प्रकार के मिथ्याहार-विहार को सहन करने में समर्थ होती है। पाक के अनन्तर यह गल, तालु, ओष्ठ में शोषण, दाह और सन्ताप आदि पैत्तिक रोग उत्पन्न करती है। यहां अग्नि उपेक्षावश बढ़ जाय तो भस्मक रोग उत्पन्न करती है। यह बार-बार लिए गये अन्न को शीघ्र पचाती है एवं धातुओं को क्षीण कर देती है।

रोगोत्पत्ति-कारण आधुनिक मत से—आयुर्वेदीय व्याधियों को आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से सामञ्जस्य स्थापित करते समय मेरी यह मान्यता है कि यह अक्षरशः सत्य या रूपान्तर नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही विधाओं का नामकरण एवं चिकित्सा-सिद्धान्त का आधार सर्वथा भिन्न है। भस्मक के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकोक्त कई व्याधियों का ग्रहण किया जा सकता है। जिनका कि प्रमुख लक्षण इस व्याधि से साम्यता रखता है। जिनमें से प्रमुखतया नॉन अल्सर डिस्पैप्सिया तथा थाइरोटोक्सिकोसिस का ग्रहण किया जा सकता है।

नॉन अल्सर डिस्पैक्सिया के प्रमुख कारण निम्न हैं—

(१) आहार में तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन (अधिक मिर्च-मसाले आदि उत्तेजक पदार्थों का ग्रहण)।

(२) मानसिक रूप से अत्यधिक चिन्ता करना।

(३) हर कार्य में अधिक शीघ्रता करना (अर्थात् मानसिक क्षोभाधिक्य)।

थाइरोटोक्सिकोसिस का मूल कारण—रक्त में थाइरोक्सिन नामक हारमोन की अधिकता है। इस व्याधि में भी शरीर चयापचयात्मक दर में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। फलतः खाये हुए अन्न का परिपाक तो शीघ्रता से हो ही जाता है तथा क्षुधाधिक्य भी

उपस्थित रहता है। इसके अतिरिक्त इस व्याधि में भी आहार रसस्थ पोषकांशों का इतनी तीव्रता से परिपाक होता है जिससे कि उसका अधिकांश भाग जलकर भस्म हो जाता है। एवं धातुपोषण में अत्यधिक कमी बनी रहती है।

रोग के विशेष लक्षण : आयुर्वेदिक मत से—

(१) आहार बहुत शीघ्र और बार-बार पच जाता है।

(२) आहार पाचन के बाद (आहार न मिलने पर) वह अग्नि धातुओं को भी पचा देती है। (नष्ट कर देती है)।

(३) अधिक धातुपाक से क्षयात्मक स्थिति दौर्बल्य, अनेक व्याधियां और मृत्यु हो सकती है।

(४) खाना खाने पर कुछ देर के लिए शान्ति मिलती है। भोजन पचते ही पुनः भूख लग जाती है।

(५) तृष्णा।

(६) श्वास।

(७) दाह।

(८) मूर्छा।

आधुनिक मत से—(१) क्षुधाधिक्य (पॉलीफेजिया)।

(२) हृत्कण्ठदाह (हार्ट एण्ड थ्रोट बर्न)।

(३) तिक्त अम्लोद्गार (एसिड इरक्टेशन)।

(४) भोजनोत्तर दाह शान्ति (रिलीफ आफ्टर मील)।

रोग की सम्प्राप्ति तथा पैथोलॉजी—शरीर में कफ क्षय की अवस्था में वायु (समान वायु) पाचकाग्नि को अधिक बलवान् बना देती है। और वह प्रवृद्ध अग्नि आहार का पाचन बहुत जल्दी कर देती है। और रोगी को बार-बार आहार लेना पड़ता है।

उक्त सम्प्राप्ति पर विहंगम दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस व्याधि में अग्नि की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि यह आहार को बहुत कम समय में ही पचा देती है। फलतः पाचित आहार रस को अंगों में अवशोषित होने हेतु भी कम ही समय मिलता है। अतः अधिक भोजन करने के उपरान्त भी इससे ग्रस्त रोगियों में दौर्बल्य मिलता है।

इस व्याधि की पैथोलौजी के सन्दर्भ में यह तथ्य अत्यन्त आवश्यक है कि जाठराग्नि, धात्वाग्नि तथा भूताग्नियों से भिन्न-भिन्न आधुनिक शरीर क्रियात्मक भावों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अवस्था में अग्नि सामान्य की तीक्ष्णता हो जाती है। सामान्य तौर पर यह समझा जाता है कि जाठराग्नि ही अन्य अग्नियों के स्तर को निर्धारित करती है तथा जाठराग्नि से किसी एक तत्व का ग्रहण न होकर जठरान्त्रगत जठर-रस, पित्त, अग्न्याशय रस तथा क्षुद्रान्त्रस्राव (सक्कस एण्ट्रीकस) आदि का सम्मिलित रूप से ग्रहण होता है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में यह समझा जाता है कि भस्मक रोग में उक्त समस्त भावों की अधिकता हो जाती है।

रोग के निदान में सहायक, आयुर्वेदीय तथा आधुनिक परीक्षा विधियां—

आयुर्वेद में अग्नि परीक्षण हेतु अप्रत्यक्ष विधि अपनायी जाती है, जिसके अनुसार अग्नि स्तर का आंकलन उसकी क्रियाओं के आधार पर होता है। इसके निर्धारणार्थ सामान्यतया निम्न परीक्षण किये जाते हैं।

१. क्षुधा की स्थिति—सामान्य/कम/अधिक।

२. अभ्यवहरण शक्ति—सामान्य/अल्प/प्रवर।

३. पाचनशक्ति—सामान्य/अल्प/प्रवर।

४. मल परीक्षा—बद्ध/अबद्ध/अतिद्रव।

आधुनिक दृष्ट्या सामान्यतया—[illegible] परीक्षण किया जाता है जिससे [illegible] की तीव्रता का ज्ञान हो जाता है। सामान्यतया इस व्याधि से ग्रस्त रोगियों में उच्च [illegible] (हाई [illegible] बढ़ी हुई) मिलती है। इस परीक्षण हेतु [illegible], [illegible] तथा [illegible] विधियां प्रयोग में लायी जाती है। [illegible]

व्यावहारिक दृष्टि से अधिकांश रोगियों में हाइपर एसीडिटी मिलती है।

रोग के चिकित्सा सिद्धान्त—तीक्ष्णाग्नि का उपचार मन्दाग्नि की चिकित्सा के ठीक विपरीत पड़ता है। अग्नि को प्राकृत एवं साम्यावस्था में लाने के लिये अग्नि को मन्द करने का उपचार इस अवस्था में करना पड़ता है। अस्तु तीक्ष्ण अग्नि को सम करने के लिये दधि, दूध, पायस का अधिक प्रयोग करना चाहिये। गुरु, सान्द्र, मन्द, शीतल, अन्न पान से तीक्ष्णाग्नि को शान्त करना चाहिये। पित्त के संशमन के लिये विरेचन कराना चाहिये। जो द्रव्य मधुर रस मेदोवर्द्धक, कफवर्द्धक, और देर में पकने वाला हो, वह हितकर होता है। भोजन करके दिन में सोना इसमें आदेश है।

रोग की शास्त्रीय चिकित्सा—

(१) गुरु, स्निग्ध, शीत, मधुर पदार्थ खाने को दें।

(२) वार-वार खाने को दें। पाचन होने के पूर्व ही खाना दे दें।

(३) खीर, गुड से बने पदार्थ, हलुआ आदि बनाकर दें।

(४) आनूप देश के प्राणियों का मास खाने को दें

(५) आहार में मछलियों का प्रयोग अधिक करें।

(६) बकरी का मांस अधिक मात्रा में दें।

(७) घी पिलायें एवं सत्तू का प्रयोग करें।

(८) दूध के साथ घी, शक्कर मिलाकर पिलाएं।

(९) घृत में थोड़ा मधु मिलाकर शीतल जल से पिलाएं।

(१०) उदम्बर त्वक् का प्रयोग करें इसमें साधित दुग्ध दें।

(११) रोगी को विरेचन भी कराना चाहिये कोष्ठ-शुद्धि तथा कोष्ठस्थ दोष ठीक होते हैं।

(१२) लाक्षा चूर्ण को दुध के साथ दें।

(१३) **त्रिवृतादि क्षीर**—निशोथ और अमलतास की गूदी एक-एक तोला, दूध १६ तोला और जल ६४ तोला, सब एक में (हांडी में रखकर) पकावें जब १६ तोला दुग्ध मात्र शेष रह जाय तो छानकर पीयें। उससे रेचन होकर पित्त का निःसरण हो जाता है, जिससे अत्याग्नि शान्त हो जाती है। इसका प्रयोग नित्य या एक दिन, दो दिन छोड़कर रोगी को बलानुसार करना चाहिए।

(१४) **अगारधूमादि वटी**—गृहधूम तथा नया चावल (व्रीहि) समभाग लेकर कपड़छान चूर्ण कर बबूल के गोंद के द्रव से घोटकर ३-३ माशे की गोली बनालें। भैंस के दूध या पानी से दिन में चार बार खायें।

(१५) **अपामार्ग तण्डुल योग**—अपामार्ग के बीज को भैंस के दूध में पकाकर शक्कर और घी मिलाकर यथाविधि खीर बनाकर उसे प्रातः खायें। इससे बार-बार भूख लगना बन्द हो जायेगी।

(१६) **मधूच्छिष्टादि लप्सिका**—गेहूं के या उर्द के आटे को भैंस के दूध (या जल) छोड़कर पकावें अन्त में उसमें यथावश्यक शक्कर तथा कुछ मोंम (गलाकर) छोड़कर घोटकर उतार लें। इसे पथ्य के रूप में देना चाहिए।

रोग पर चिकित्साकालीन अनुभव—पहले तो इस व्याधि से ग्रस्त रोगियों की संख्या अल्प होती है। तथापि अनेकों रोगियों में अपामार्ग तण्डुल योग से अभूतपूर्व लाभ मिलता है। साथ ही साथ रोगियों को हर तीन घण्टे पर कुछ न कुछ खाने के लिये देना भी इसमें अत्यन्त पथ्यकारक सिद्ध होता है।

आधुनिक चिकित्सा—आधुनिक चिकित्सा इस अवस्था विशेष में विशेषतया अम्लरोधी द्रव (एण्टासिड) का प्रयोग बहुतायत से करते हैं तथा साथ ही साथ उच्च प्रतजन युक्त भोजन की सलाह देनी चाहिए।

साध्यासाध्यता—अन्य व्याधियों की तरह भस्मक रोग भी प्रारम्भिक अवस्था तथा बलवान रोगियों में 'साध्य' तथा अत्यन्त दुर्बल, रोगियों में व्याधि की अति उग्रतावस्था में प्राणघातक भी हो सकते हैं।

पथ्य—पुराने शालि साठी का चावल लाजमण्ड, पेया, मूंग की खिचड़ी, आदि लघु भोजन मूंग की दाल का जूस, लौकी, परवल, करेला, बेंथुआ, मूली, नींबू, अदरक, सेंधा, काला नमक, तक्र, सिरका, लवा, बटेर, मृग के मांस का रस, भोजनाग्र, लवणाद्रक भक्षण पथ्य है।

★★

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृत-
मात्मनोजग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनराभरत्वं
शरीरे मांसमसुमेरियामः ॥
(अथर्व) ।

भावार्थ—इस मनुष्य का जो मांस पिशाचों ने काट लिया, उखाड़ कर शरीर से पृथक् कर दिया और खा लिया उसे शरीर में पुनः अग्नि भर दे पूरा कर दें। (इससे सिद्ध है कि ये पिशाच आदि सूक्ष्म जन्तु हैं।)

ये राक्षस, पिशाच आदि कैसे भूतोन्माद करते है—

"स्पृशन्ता गन्धर्वाः समाविमन्तो यक्षाः राक्षसा-स्त्वामगन्धमाघ्रापयन्सः पिशाचाः पुनरधिरुह्य वाहयन्तः" ये चरक (नि० ७/१५) के वचन हैं।

अर्थात्—गन्धर्व स्पर्श करते हुये यक्ष भीतर प्रविष्ट होते हुये राक्षस आमगंध देते हुये पिशाच ऊपर आलिंगन करते हुए स्त्रियों तथा सुकुमार पुरुषों के मुख तथा अंगों को स्पर्श आदि कर्म द्वारा भूतोन्माद उत्पन्न करते हैं।

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।
इति यत्प्रागभिहितं विस्तरस्य वक्ष्यते ॥
(सु० उ० ६०) ।

भावार्थ—निशाचर क्षत द्वारा भीतर घुसकर मनुष्य शरीर पर अपना विषैला प्रभाव डालते है। फलतः भूतोन्माद उत्पन्न कर देते हैं। यहा पर आचार्य ने क्षतयुक्त आतुर को नित्य निशाचरों से बचाने को कहा है।

राक्षस, अप्सरा, गन्धर्व तथा पिशाच नामक सूक्ष्म कृमि मनुष्यों पर आक्रमण कर भूतोन्माद रोग उत्पन्न कर देते है। क्योंकि वे कृमि विषतुल्य मादक प्रभावकारी होते हैं। उनके विषैले प्रभाव से मनुष्यों के मस्तिष्क जडवत् बन जाते है।

अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ३७ में भूतोन्माद की चिकित्सा कही है।

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योवधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

हे औषधि ! तेरे द्वारा स्थिर चित्तयुक्त मनोवैज्ञानिक वैद्य जन रक्षांसि-रुधिर पीने वाले राक्षस कृमियों को उनके आक्रमण से पहले ही नष्ट करते हैं। तेरे द्वारा विशेष सूक्ष्मदर्शी भिषक् तथा तेरे द्वारा मेधावी वैद्य और नैघण्टुक भी नष्ट करता है।

"इस मन्त्र में रक्षांसि कृमियों का उल्लेख है। रक्ष (राक्षस) के विषय में कहा है—असृग्भाजानि ह वै रक्षांसि (कौ० १०/४) अर्थात् रक्त पीने वाले कृमि राक्षस हैं। राक्षसों से आक्रान्त मनुष्य के लक्षण सुश्रुत ने निम्नलिखित कहे हैं।

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु
निर्लज्जो भृशमति निष्ठुरोऽतिशूरः ।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विड् भवति च रक्षसा गृहीतः ॥

अर्थात्—राक्षसों से आक्रान्त मनुष्य मांस, रक्त, शराब के चाहने वाला, निर्लज्ज, अत्यन्त निष्ठुर, शूर, क्रोधी, बहुत बलवान्, रात्रि में घूमने वाला, शुद्धि से द्वेश करने वाला होता है।

राक्षसोन्माद में मनुष्य राक्षसों जैसे कर्म करने लगता है। राक्षस नामक सूक्ष्म कृमि दुर्गन्धित स्थानों में रहते है।

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे ।
अजश्रृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥२॥

हे मेढासींगी औषधि ! तेरे द्वारा हम रूपवान सूक्ष्म जन्तुओं को तथा गन्धर्व नामक क्रिमियों को नष्ट करते हे। अतः राक्षस को भगा एवं इन सब को निज गन्ध से नष्ट कर।

इस मन्त्र में अप्सरस नामक कृमियों को नष्ट करने वाली अजश्रृङ्गी-मेढासींगी का उल्लेख किया है। निघण्टु रत्नाकर में अजश्रृङ्गी के गुण इस प्रकार लिखे है—

अजश्रृङ्गी रक्तरुक्कासतिमिरश्वासव्रणविषापहाः।
कृमिघ्नः शूलहृद्रोगनाशिनी ॥

अर्थात्—मेढासींगी रक्तरोग, तिमिर, व्रण, विष, कृमि तथा हृद्रोग नाशक है।

चरक संहिता का आगन्तुज उन्माद भूतोन्माद पूर्व जन्म में किये गये पापकर्म या त्रुटियों से उत्पन्न एवं मूल रूप से प्रज्ञापराधजन्य व्याधि है। इसमें भूत-प्रेतादि द्वारा उत्पन्न मन तक ही सीमित न होकर मन की उच्चतम अवस्था बुद्धि भी विभ्रमित होकर दूषित हो जाती है, जिससे उस व्यक्ति का ज्ञान, स्मृति, मेधा, भक्ति, शील, स्वभाव, चेष्टा और आचार भी बुरी तरह प्रभावित हो जाते हैं। भूतादि मनुष्य को हिंसा, रति एवं अभ्यर्चना के उद्देश्य से आक्रमित करते हैं—ऐसी विद्वानों की उक्ति है।

किसी प्रकार के पापकर्म के प्रारम्भ में पूर्व जन्मों के कर्मों के परिपक्व होने पर, किसी त्रुटिपूर्ण आचरण की अधिकता होने पर, शून्य (निर्जन) गृह में अकेले रहने पर, चौराहे पर ठहरने पर, दिन और रात के सन्धिकाल में, प्रतिपदा एवं अमावस्या को मैथुन करने पर, रजस्वला स्त्री से मैथुन करने पर, आकाश में दुष्ट ग्रहों के उदित काल में, देश, नगर या समूह विघटन काल में, महिलाओं के प्रसवकाल में अपवित्र होकर चैत्य वृक्ष के नीचे रहने पर, रक्तस्राव के समय, मांस, तिल, मधु, शर्करा एवं मद्य सेवन के समय, नग्नावस्था में रहने के समय, रात्रि में नगर, चौराहा, बाग, श्मशान, निर्जन घर में टहलते समय, ब्राह्मण, ऋषि, देव, गुरु आदि के तिरस्कार करने पर, धार्मिक पूजा पाठ या व्रत उपवास अनियमित करते समय, नियम विरुद्ध होमादि करते समय, धार्मिक कार्यों को गलत रूप में करते समय, धार्मिक ग्रन्थों की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था करते समय, दुष्ट एवं निम्न प्राणियों से सम्पर्क काल में, अपवित्रावस्था में, तीर्थ यात्रा करने के समय में, वमन और विरेचन काल में भूतादि से, सूक्ष्म जीवाणु-कीटाणुओं से आविष्ट होने की सम्भावना रहती है। 'भूत' शब्द अति सूक्ष्म एवं हानिप्रद जीवाणुओं एवं कीटाणुओं का भी बोध कराते हैं।

अतः उपर्युक्त कार्यों से बचकर ही भूतोन्माद से बचा जा सकता है। इनके अतिरिक्त ग्रहाविष्ट भी होते हैं जिनकी विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। देवग्रह, देव शत्रु, गन्धर्व, यक्ष, पितृ, नाग ग्रह या भुजङ्ग, राक्षस, पिशाच, ऋषि, गुरु, सिद्ध, ब्रह्मराक्षस, प्रेत, निषाद, औकिरण, वेताल, कूष्माण्ड, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, वायु, नैऋती, कुबेर, शिव (ईशान्य), ग्रहक, किन्नर, गुह्यक, भूत, [illegible], वृद्ध इत्यादि लगभग २८ संख्या के आधार पर चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गहृदय, शार्ङ्गधर, माधव, भावप्रकाश, हारीत आदि संहिता ग्रन्थों में भूतोन्माद की उत्पत्ति बताई गई है। ये सब विभिन्न कारण हैं। अत्यधिक प्रलाप, शान्त मुखमण्डल, नग्न होना, घूमना, कर्कश भाषा बोलना, भयभीत रहना, भयानक एवं लाल नेत्र होना, काँपना आदि उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुसार लक्षण हैं।

इनकी सामान्य चिकित्सा मन्त्रों का उच्चारण, औषध और मणियों के धारण, होम, बलि, उपहार, व्रत, प्रायश्चित, उपवास, तपस्या, वरदान, सत्य बोलना, सदाचार, देवी-देवताओं की आराधना, दान, गुरु-ब्राह्मण पूजा, वेदोक्त नियमों का पालन, प्रभावशाली जड़ी-बूटियों का प्रयोग, धूप प्रदान, इष्ट-ईश्वर-परमात्मा की पूजा, योग-साधना, ध्यान-साधना, भ्रकुटी पर ध्यान, गायत्री ध्यान सहित गायत्री मन्त्रोच्चारण आदि द्वारा की जाती है।

विशिष्ट चिकित्सा दर्द के अनुसार नस्य, अञ्जन का प्रयोग, सिद्ध घृत-मूत्र-दुग्ध अवलेह, दोषप्रकृत्यनुसार द्रव्यों का प्रयोग, हेम एवं पुनः युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा रूप में कल्याणक घृत, महाकल्याणक घृत, लशुनादि घृत, महापैशाचिक घृत, अमर घृत, ब्राह्मी घृत, बृहद्वातचिन्तामणि रस, स्मृतिसागर रस, सारस्वतारिष्ट आदि औषधियों के मौखिक प्रयोग द्वारा सामान्य चिकित्सा की जाती है।

प्रस्तुत लेख आयुर्वेद-जगत् के जाने माने विख्यात विद्वान् वैद्य [illegible] की लेखनी का प्रसाद है। आशा है पाठक हमेशा की तरह लेखक की विद्वता एवं अनुभवों का लाभ इस लेख के माध्यम से उठा सकेंगे।

—आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद।

वेद के इस मन्त्र में अप्सरस नामक कृमियों का वर्णन है। अप्सरस के सम्बन्ध में लिखा है—"गन्ध इत्यप्सरसः उपासते।" अर्थात् गन्धयुक्त स्थानों में रहने वाले सूक्ष्म कृमि अप्सरस कहलाते हैं। गन्धयुक्त स्थान सुगन्धित पुष्प हैं। इन पुष्पों को कोई मनुष्य सूंघता है तो उसके नासा के द्वारा ये सूक्ष्म जन्तु घुसकर मस्तिष्क आक्रान्त कर रोग उत्पन्न करते हैं। इस मन्त्र में गन्धर्व शब्द भी आया है। जिसका अर्थ—"रूपमिति गन्धर्वा उपासते" अर्थात् रूप का सेवन करने वाले कृमि और भी—"अघोगन्धेन च घैं रूपेण स गन्धर्वाश्सरसवरन्ति" अर्थात्—गन्धर्व कृमिगन्ध फैलाते हुये तथा अप्सरस कृमि रूप फैलाते हुए विचरते हैं। अप्सरस का अर्थ अप्सरा हैं। गन्धर्व कृमि गन्धर्वोन्माद करते हैं।

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तोसेवी स्वाचारः प्रियवरिगीतगन्धमाल्य नृत्यन् प्रहसति चारु वाल्यशब्द गन्धर्वग्रह पीड़ितो मनुष्यः।

गन्धर्वों से पीड़ित मनुष्य प्रसन्न वनों में विहार प्रिय तथा निज कार्य में लगा हुआ प्रियगान सुगन्धित माला आदि को पसन्द करता है और नाचता हंसता सुन्दर शब्द बोलता है।

गन्धर्व कृमियों से आक्रान्त मनुष्य उन जैसी ही चेष्टायें करता है। गन्धर्व कृमि गन्ध तथा रूप को पसन्द करते हैं। ये कृमि कोमल मन वाली विशेषतः रूपवती स्त्रियों पर आक्रमण करते हैं। क्योंकि गन्धर्व गन्ध एवं रूप को पसन्द करते है।

अजशृङ्गी में विषतुल्य कृमियों को नष्ट करने की शक्ति है। इसका प्रयोग नस्य धूपन मे तथा अन्तः प्रयोग किया जाता है। यह विषतुल्य मादक वाले जन्तुओं को नष्ट करती है। अतः मेढ़ासीगी भूतोन्माद नाशक है।

गन्धर्व विशेष रूप से स्त्रियों तथा कोमल मन वाले पुरुषों पर ही आक्रमण करते है। जैसा कि अथर्ववेद के २१ वें मन्त्र में कहा है—

'प्रियोद्दृश इनभूत्वा गन्धर्व, सचते स्त्रियाः'

अर्थात् गन्धर्व नामक सूक्ष्म कृमि उड़ता हुआ स्त्रियों पर आक्रमण करता है। यह जन्तु स्त्रियों, सुकुमारों अथवा रूपवान पुरुषों पर आक्रमण करते हैं।

नदी यन्त्वप्ससोर्वा तारववूलसम्।
गुग्गुलु पीला नलद्योक्षगन्धि, प्रमन्दनी
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥३॥

अप्सरा नामक जन्तु जलाशय को तथा नदी जो नीचे वेग से वहती है। को प्राप्त हों। गूगल, पिप्पली जटामांसी, तथा धाय इन द्रव्यों द्वारा अप्सरा कृमियो तुम दूर हो जाओ-निर्वल हो जाओ।

इस मन्त्र में जो द्रव्य वताये गये हैं, उनके अन्तः प्रयोग तथा हवन के द्वारा सूक्ष्म जन्तुओं को नष्ट करने का विधान है। उक्त द्रव्य कृमि नाशक, विषहर एव भूतमारी हैं। यथा—

"गुग्गुलु...वस्तिमेदाप्रणात् मेहशोफभूतविकारजित" (ध० नि०)

"गुग्गुलुः कटुतिक्तोष्णः कफमारुतकासजित्।
कृमिवातोदरप्लीहशोकार्शोघ्नोरसायनः॥" (रा. नि.)

'पिप्पली कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्' (भा० प्र०)

"सुरभिस्तु जटामासी कषाया कटुशीतला।
कफहृद भूतदाहघ्नी मोदकान्तिकृत ॥
तिक्ता कटुचातिवलावातघ्नीकृमिनाशिनी।" (रा० नि०)

"धातुकी कटुकाशीता मदहृत् तुवरा लघुः।
तृष्णातिसार पित्तास्रविषकृमिविसर्पजित्।" (भा० प्र०)

भावार्थ—१. गुग्गुलु-शारीरिक तथा मानसिक रोग सक्रामक रोग एवं वातव्याधि नाशक है और विषतुल्य मादक प्रभावकारी कृमियों का नाश करता है। भूतोन्माद नाशक है।

२ पिप्पली—वातव्याधि नाशक, रसायन, कृमिहर भूतोन्मादहर है।

३. जटामांसी—विषतुल्य मादक प्रभावक कृमियों को नष्ट करती है।

४. बला—कृमि नाशक, भूतोन्मादहर है।

५. धाय—कृमिहर तथा भुतोन्माद नाशक है।

इन द्रव्यों को धूप देना, इनके रस का पान अथवा क्वाथ का सेवन, इनके क्वाथ से स्नान तथा चूर्ण

यह सुश्रुत उत्तरतन्त्र भूतोन्माद चिकित्सा ६० का वचन है। अर्थात् पिशाच नामक कृमियों से आक्रान्त मनुष्य हाथ ऊपर उठाये हुये दुर्बल, कठोर, देर तक प्रलाप करने वाला, दुर्गन्धयुक्त, अति अपवित्र अति लालची, अति खाने वाला, शून्य स्थान, शीतल जल, रात्रि का सेवन करने वाला और विरुद्ध चेष्टायें करता, रोता हुआ फिरता-घूमता है।

पिशोन्मत्त पुरुष अस्वस्थ चित्त रहता है। नाचता है। गाता है। भाषण करता है। स्वर फटा सा रूक्ष होता है। एक स्थान पर नहीं टिकता है। अपने कष्टों को कहने वाला स्मृति हीन होता है।

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकशकः।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो।
नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥११॥

कुत्ते के समान आकार, व्यवहार वाला एक है। बन्दर के सदृश आकार, व्यवहार वाला एक है। देखने में केशयुक्त प्रिय होकर वह गन्धर्व स्त्रियों को प्राप्त होता है। उस कृमि को बलवान् औषधि से हम नष्ट करते हैं।

ये सूक्ष्म कृमि स्त्रियों के गुह्य स्थान तथा मुख-मण्डल पर आक्रमण करते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर ये जन्तु कुत्ता या बन्दर के आकार के दिखाई देते है। ये स्वभाव में लोलुप तथा चन्चल होते हैं। इन सूक्ष्म जन्तुओं को तीक्ष्ण गुणयुक्त द्रव्यों से नष्ट किया जा सकता है।

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वा पतयो यूयम्।
अपधावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥१२॥

हे गन्धव तुम्हारी स्त्रिया अप्सरा नामक कृमि हैं, तुम उनके स्वामी हो। अतः हे कृमियो ! मनुष्य जाति की स्त्रियों को प्राप्त न होओ, भाग जाओ।

अथर्ववेद के इस सुत्र में कोमल मन वाले मनुष्यों विशेषतः स्त्रियों पर आक्रमण करने वाले कृमियों का वर्ण, उनके रहने के स्थान, उनका स्वभाव एवं नष्ट करने के उपायों का उल्लेख किया है।

भूत-पिशाच, राक्षस आदि क्या है ? इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। कतिपय विद्वान् इनको विभिन्न रोगों के उत्पादक जीवाणु मानते हैं। ऐसा मानना युक्तियुक्त है। किन्तु कुछ विद्वान् इन्हें योनि मानते हैं। इन की सत्ता का विषय विवादास्पद है। यदि इन की सत्ता को स्वीकार किया जाए तो किस रूप में ?

कुछ रोग ऐसे भी है जिनमें वात, पित्त, कफ (शारीरिक रोगों में) तथा मानसिक रोगों में रज एवं तम की उपलब्धि नही होती। यथा भूतोन्माद गन्धर्वो-आदि। इन रोगों से आक्रान्त रोगी में विचित्र लक्षणों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। रोगी में त्रिदोष अथवा रज एवं तम न मिलने पर ही आयुर्वेद ने ऐसी अवस्थाओं का कारण भूत-पिशाच आदि स्वीकार किया है।

महर्षि चरक ने भूत-पिशाच आदि को रोगोत्पत्ति का साक्षात कारण स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया है। यथा—

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्ट मुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥
ये त्वेनयनुपवर्तक्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा।
न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥

जिस मनुष्य ने स्वयं अशुभ कर्म न किये हों, उसे न देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस तथा न अन्य कोई क्लेश देते है। अपने कर्म द्वारा कष्ट पाते हुए पुरुष को ये जो देव आदि अनुवर्तन करते है, वे उस क्लेश का कारण नही होते क्योंकि जो किसी द्वारा किया जा चुका है, वह किये जाने वाला नहीं रहता। इन आगन्तुक उन्मादों के हेतु अपने किये हुए अशुभ कर्म ही हैं। अपने पूर्वकृत कर्म का फल है। देव आदि उसके कारण नही।

रोगी से करने योग्य व्यवहार—

(१) भूतोन्माद रोगी को पवित्रता के साथ रखना चाहिए।

(२) रोगी को बंकाने तथा चिढ़ाने का यत्न कदापिन करें।

(३) रोगी के साथ सौम्य वर्ताव रखना चाहिए।

(४) रोगी के पास लोगों की भीड़ न होने पावे।

(५) रोगी आपको घूरकर देखता है तो आप करुणायुक्त भाव भरी आंखों से देखें।

(६) रोगी को स्नान करावें, स्वच्छता रखें।

मक्कल शूल

वैद्या (कुमारी) ज्योत्स्ना एच० रावल एम० डी० (आयु०)
न्यू सिविल अस्पताल, असारवा, अहमदाबाद (गुज०)

मक्कल शूल होने के मुख्य कारण निम्न हैं—

(१) कई बार प्राकृत प्रसव न होकर विलंबित प्रसव या कष्ट प्रसव होने पर गर्भाशय को गर्भ के निष्क्रमण के लिए लगातार लम्बे समय के लिए आकुञ्चन करने पडते हैं। इसी कारण से गर्भाशय क्षुब्ध हो जाता है, श्रमित हो जाता है और वायु की वृद्धि हो जाती है तथा प्रसूति के पश्चात् भी वह आकुञ्चित होता रहता है, जो शूल पैदा करता है

(२) प्राकृत प्रसव या विलम्बित कष्ट प्रसव के बाद जब अपरा पूर्ण रूप से बाहर नही निकलती है, उसके कुछ टुकड़े गर्भाशय में शेष रह जाते हैं। उन टुकडों को बाहर निकालने के लिये भी गर्भाशय को प्रयत्न करना पडता है, अतः गर्भाशय सकोच करता है जिससे भी शूल उत्पन्न होता है।

इसी मत के साथ आयुर्वेद का मत मिलता है। वायु से रक्त अवरुद्ध होकर ग्रन्थि बना देता है, ऐसा वर्णन है। मैं ये मानती हूं कि अर्वाचीन विज्ञान में जो प्लेसेण्ट्रल या मेम्ब्रेन्स के अंश रह जाते हैं, ऐसा कहा है, उसी को प्राचीन आचार्यों ने रक्तग्रन्थि से अवबोधित कर दिया है।

(३) गर्भावस्था में ही उचित एवं पोषणयुक्त आहारादि न करने पर गर्भिणी और गर्भाशय दोनों दुर्बल होते जाते हैं। इस अवस्था में प्रसूति के बाद गर्भाशय निर्बल होते से वह उचित रूप से सकोच-विकास नही कर सकता है। अतः रक्तस्राव अधिक होता है परन्तु वह बाहर निःस्रत न होकर अन्दर ही रहकर जम जाता है और ग्रन्थि सी बना लेता है। उस ग्रन्थि को बाहर निकालने के लिये गर्भाशय को निरन्तर संकोच करना पडता है, जो शूल का कारण बनता है।

(४) इसके अलावा एक और भी कारण है जो मक्कल शूल को तो नहीं, परन्तु मक्कल शूल होने का भ्रम पैदा करता है। मल-मूत्र के अवरोध से वायु विमार्गगामी एवं ऊर्ध्वगामी होकर अधः उदर प्रदेश में वेदना उत्पन्न करता है, जो मल-मूत्र विसर्जन से शमन हो जाती है। इस तरह उसका मक्कल शूल से विभेद करना आवश्यक होता है।

मक्कल शूल में मुख्यतया निदानात्मक निम्न लक्षण मिलते हैं।

(१) नाभि के नीचे पक्वाशय में, मूत्राशय में या उदर में शूल होता है।

(२) वह शूल गर्भाशय के संकोच के कारण होता है।

(३) यह शूल नियत समय पर होता है।

(४) उदराध्यमान होता है।

(५) उदर (गर्भाशयिक भाग) दबाने पर कड़ा होता है।

(६) मूत्र का अवरोध होता है।

(७) शूल तीव्रतम–सुई से चुभोने जैसी असह्य पीड़ा होती है।

मक्कल शूल

डा० शशि घोष, अनुसन्धान सहायक डी-५ ग्रीनपार्क, प्रलेख एवं प्रकाशन प्रभाग
केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसन्धान परि० नई दिल्ली-११००१६

*

प्रसव के बाद उत्पन्न होने वाले रोग सूतिका रोग कहलाते हैं। प्रसूता स्त्री को उत्पन्न होने वाले विभिन्न विशिष्ट रोगों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। महर्षि कश्यप ने इन विशिष्ट व्याधियों की संख्या खिल स्थान के सूतिकोपक्रमणीय अध्याय में ६४ बताई है तथा चिकित्सा-स्थान के दुष्प्रजाता चिकित्साध्याय में ३५ व्याधियों का निर्देश किया है। जिनमें २५ व्याधियां नामान्तर से सूतिकोपक्रमणीय अध्याय में वर्णित की जा चुकी हैं किन्तु १० व्याधियां इनमें विशेष हैं। इस प्रकार सूतिका रोगों की संख्या ७४ हो जाती है। सूतिकाव्यापद स्वरूप में होने वाली एक महत्वपूर्ण एवं दुसाध्य व्याधि मक्कल शूल है। जिसका वर्णन काश्यप ने सूतिकोपक्रमणीय अध्याय में किया है।

परिचय—"मक्कल" शब्द की व्युत्पत्ति मक्क गमनं आत्यन्तिकगति मरण लाति आदत्ते योजयतीत्यर्थ।

मक्कल शब्द "मक्क" शब्द से बना है जिसका गमन या गति अर्थात् जो कि मृत्यु के समीप से जाता है अर्थात् प्राणघात्री वेदना होती है[1]।

रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में बताते हुये आचार्य माधव ने लिखा है कि यह रोग वायु एवं रक्त की दुष्टि से होने वाला एक अत्यन्त कष्टकारी शूल विशेष है जो प्रसूता में पाया जाता है। यथा—

"रक्तमारुतजः शूल विशेषः" (माः नि. मधुकोष)

प्रसव के बाद अपरापातन द्वारा गर्भाशय की पूर्ण शुद्धि होती है। तथा अशुद्ध रक्त भी स्रावित होकर इस आमाशय को पूर्ण शुद्ध करता है। किन्तु जब इस रक्त की पूरी तरह शुद्धि नहीं हो पाती तथा अविशोधित रक्त गर्भाशय में रुक कर उदर में भयानक शूल उत्पन्न करता है तो इसी को आचार्य सुश्रुत ने मक्कल शूल कहा है।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने अति संक्षेप में लिखा है कि प्रसूता स्त्री के वस्ति शीर्ष अथवा वस्ति एवं शिर तथा उदर में उपस्थित शूल को मक्कल शूल कहते हैं।

परिचय—अष्टांग हृदयकार ने भी लिखा है कि शिर, वस्ति एवं कोष्ठ के शूल का नाम मक्कल शूल है।

आधुनिक मतानुसार मक्कल शूल को आफ्टरपेन्स (After pains) कहते हैं जिसके प्रमुख कारण जो निम्न हैं। प्रायः प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, अपितु धीरे-धीरे संहरण होता रहता है। कभी विलम्बी प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रक्षुब्ध, (Irritated) हो जाता है और प्रसव के बाद भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है। इसी संकोच के समय शूल होता है। मक्कल शूल के नाम से जाना जाता है। कभी-

---

१—शब्द कल्पद्रुम तृतीय भाग, पृष्ठ संख्या ५६२।

कभी अपरा और जरायु के कुछ टुकड़े गर्भाशय में रह जाते हैं उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है। कभी-कभी गर्भाशय की कमजोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का स्राव कुछ अधिक होता है। रक्त गर्भाशय में जमने लगता है और उनकी गांठे बनती है। इनको निकालने के लिये उत्पन्न हुए संकोच से शूल होता है अर्थात् कभी प्रक्षोभ के कारण कभी अपराजरायु शेष रहने के कारण, कभी भीतर-रक्त जमने के कारण और कभी ठीक-ठीक कारण मालूम न होने के कारण भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो सकोच होते हैं उन्हें मक्कल शूल कहते हैं।

हेतु—

(१) रूक्ष आहार—जौ, चना, मक्का, बाजरा, मकुष्ठ कषाय रस प्रधान पदार्थों का सेवन श्विवर्ध एवं वात प्रकोपक आहार।

रूक्ष विहार—रात्रिजागरण, आतप सेवन, रूक्ष। वायु अतिश्रम।

गर्भवृद्धिजन्य—धातुक्षय, गर्भिणी चर्या में बताये गये आहार का समुचित प्रयोग न करना।

(२) मानसिक कारण—शोक, भय, चिन्ता, मोह आदि।

संप्राप्ति—आचार्य सुश्रुत ने सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुये बताया है कि रुक्ष शरीर वाली प्रसूता स्त्री का तीक्ष्ण औषधियों के सेवन करने के बाद भी अथवा उनका समुचित प्रयोग न करने से अशुद्ध रक्त वायु के द्वारा अवरुद्ध होकर ग्रन्थि उत्पन्न कर देता है। जिससे नाभि, वस्ति, एवं उदर में तीव्र शूल होता है तथा मिध्यमान तथा मूत्र सग की उत्पत्ति भी हो सकती है।[१]

आचार्य भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाश में इसको और भी स्पष्ट किया है कि रुक्ष शरीर में बढ़ा हुआ वायु तीक्ष्ण एव उष्ण औषधियों के सेवन करने पर भी रक्त की शुद्धि नही कर पाता अपितु उसके तरल भाग का अवशोषण करके अवरोध उत्पन्न करते हुए ग्रन्थि बना देता है। वस्तुतः यहां पंचकोल एवं पिप्पली तथा दशमूल औषधियों के साथ रूक्षता निवारणार्थ घृत एवं तैल का प्रयोग होना चाहिए था, उसी के अभाव में यह तीक्ष्ण एवं उष्ण औषधियां शोणित शोधन के बजाय उसका शोषण करके अवरोध उत्पन्न करती है क्योंकि वायु योगवाही होने के कारण उष्ण एवं तीक्ष्ण औषधियों के साथ में अपनी रूक्षता से प्रकुपितावस्था की ओर भी तीव्र कर देता है।

इस सम्प्राप्ति विषयक गहनता के परिज्ञान हेतु अद्यः प्रस्तुत तालिका में दिये गये संप्राप्ति घटकों द्वारा जाना जा सकता है।

तालिका सं० १

संप्राप्ति घटक

रूक्ष आहार विहार — धातुक्षय
|
वात प्रकोप
|
उष्ण तीक्ष्ण औषधि
|
रक्त दुष्टि
|
अवशोषण
|
संग
|
दोष दूष्य संमूर्च्छना
|
स्रोतोदुष्टि (आर्तववह)
|
ग्रन्थि
|
तीव्र रुजा
|
मक्कलशूल

लक्षण—

ग्रंथ	सुश्रुत	वाग्भट्ट	माधवनिदान
ग्रन्थि स्थान	१. पार्श्व	...	...
	२. वस्ति शिर	...	...
	३. वस्ति	...	...

१—सुश्रुत शारीर १०/१९।

१ से ३ ग्राम पुराने गुड़ के साथ दिन में दो बार दें।

४. भारङ्गी, सोंठ, देवदारु के कल्क को गर्म जल के साथ दिन में दो बार दें।

५. दशमूल क्वाथ को २० मि. लि. में १० मि.लि. घृत मिलाकर सुबह सायं दें।

६. निर्गुण्डी, लहसुन, एवं सोंठ के क्वाथ में १ ग्राम पिप्पली का चूर्ण मिलाकर २० मि. लि: की मात्रा में सुबह सायं दें।

७. देवदार्व्यादि क्वाथ इस रोग की उत्तम औषधि है जो २३ औषधियों के संमिश्रण से तैयार की जाती है[१] इस क्वाथ के प्रयोग से शूल, कास, ज्वर, श्वास, प्रलाप, तन्द्रा, तृष्णा, अतिसार एवं तीनों दोषों से उत्पन्न सूतिका रोग नष्ट होते हैं।

पथ्य—लघु स्निग्ध एवं उष्ण आहार का सेवन जैसे, हींग, लहसुन,मेथी, अजवायन, पुराना गुड़ इत्यादि का सेवन प्रसूता को करायें।

अपथ्य—रूक्ष पदार्थ (चने, जौ, मक्का इत्यादि) गरिष्ठ पदार्थ, दूध के विकार उड़द एवं तली हुई चीजें इत्यादि का अधिक प्रयोग।

इस कष्टसाध्य रोग के बचाव के लिये प्रारम्भ से ही शास्त्रोक्त गर्भिणी परिचर्या का विधिपूर्वक पालन करना चाहिये। तथा गर्भ एवं गर्भिणी के लिए सुपाच्य एवं पौष्टिक आहार प्रदान करते हुए धातु क्षय की स्थिति को नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए तभी दोष साम्य एवं धातुसाम्य रखते हुये वातादि दोषों के प्रयोग की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती तथा सुख प्रसव के साथ-साथ बालक स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है।

\~\~\~\~\~\~\~\~\~\~

[पृष्ठ २२९ का शेषांश] : मक्कल शूल

(३) गर्भाशय के स्थान पर उदर में नीचे की ओर धीरे-धीरे मालिश करनी चाहिए।

(४) योगराज गुग्गुल २ गोली दशमूल क्वाथ से दें।

(५) पिप्पल्यादि क्वाथ या पिप्पल्यासव में यवक्षार अथवा अपामार्ग क्षार मिलाकर पिलाना चाहिए।

(६) सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण गुड़ के साथ दें।

(७) घृत एवं यवक्षार गर्म जल के साथ दें।

(८) कोई भी आसव-अरिष्ट उपलब्ध हो उसमें मरिच या पिप्पली या सोंठ जो भी हो, डालकर पिलावें।

(९) सोंठ, मरिच, पिप्पली, तज, तमालपत्र, इलायची, नागकेशर और धान्यक के चूर्ण में पुराना गुड़ मिलाकर देना चाहिए।

(१०) कोई भी वातघ्न व शूलघ्न या उष्ण औषधि से विचारपूर्वक चिकित्सा कर सकते हैं।

उपरोक्त औषधियां प्रायः घर में ही प्राप्त होने वाली औषधियां हैं। अतः मक्कलशूल की तात्कालिक चिकित्सा करने में जरा भी कठिनाई नहीं हो सकती।

यह रोग वातप्रधान होने से वातकारक रूक्ष, शीतल अन्नपान का सेवन न करके वात एवं शूलशामक उष्ण घृत, चाय, क्वाथ, शुण्ठीजल-दूध पीना चाहिए। ५-६ दिन तक लवणयुक्त अन्न, गुड़ मिश्रित पेया, लस्सी, दूध, चाय आदि दें।

\~\~\~\~\~\~\~\~\~\~

१—भाव प्रकाश एवं शार्ङ्गधर

मंजिष्ठामेह

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद, आयुर्वेद-वृहस्पति, "विशेष सम्पादक"
आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध-संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

परिचय—"अथातो मञ्जिष्ठामेह नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोवुरात्रेय धन्वन्तरि आचार्य महेश्वर प्रभृतयः।"

"विस्त्रं मांजिष्ठ मेहेन मंजिष्ठासलिलोपमम् ॥"
—मा० नि०

इस लेख में "मंजिष्ठामेह" व्याधि का उल्लेख किया जाता है। यह व्याधि पित्तज प्रमेह का एक भेद है। विभिन्न पित्त दोषोत्पादक कारणों से पित्त प्रकुपित होकर रक्तधातु को आकृष्ट कर उनमें विकार उत्पन्न कर देता है तो रुग्ण मंजीठ वर्ण के सदृश रक्त वर्ण का आम दुर्गन्धित मूत्र का त्याग करता है तो उसे मञ्जिष्ठामेह कहते हैं।

कारण—पित्त की दुष्टि से सुखपूर्वक सुकोमल तोशक पर या गद्देदार कुर्सी पर दिनभर बैठकर समय व्यतीत करने पर अधिक शयन करने, दिवास्वप्न, पित्त दोषोत्पादक पशु-पक्षियों के मांस, मछली, कछुवा आदि के खाने, अधिक क्रोध करने आदि कारणों से यह व्याधि उत्पन्न होती है।

सम्प्राप्ति—इसकी संकेत-तालिका नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

कारण—पित्त प्रकोप—रक्तधातु की आकृष्टि एवं पित्तज विकृति
|
मंजिष्ठामेह —मूत्र में रक्त एवं पित्त का अंश छन-छनकर आना

लक्षण—शरीर क्षीण, पीला, रक्तहीन एव दुर्बल होता चला जाता है। मूत्र अल्प दाह एवं वेदनायुक्त आम दुर्गन्धित तथा मजीठ के वर्ण सदृश रक्त वर्ण का त्याग होता रहता है। मूत्र की परीक्षा करने पर मूत्र में पित्त एवं रक्त के अंश उपलब्ध होते हैं। शरीर में यत्र-तत्र विशेषकर वस्ति प्रदेश में दाह की अत्यन्त अनुभूति होती है। कभी-कभी मल भी पीला त्यक्त होता है।

चिकित्सा—दुबले-पतले और निर्बल एवं संशोधन के अयोग्य रुग्ण को बृंहण एवं संशमन तथा मोटे-ताजे एवं शक्तिशाली रुग्ण को प्रथम संशोधन चिकित्सा करके तब सन्तर्पण चिकित्सा करनी चाहिए। मजीठ, रक्तचन्दन और नीम के अन्तर्छाल को समभाग में ले विधिवत् क्वाथ बनाकर ३० से ६० मि० लि० बराबर मंजिष्ठार्क मिलाकर प्रातः सायं पिलायें।

विशिष्ट चिकित्सा—प्रातः चन्द्रप्रभावटी १ गोली—धात्री घृत या मक्खन से दें तथा ऊपर से मंजीठ, रक्तचन्दन समभाग के क्वाथ ६० मि० लि० में मधु १५ मि० लि० मिलाकर पिलायें।

भोजनोपरान्त—लोध्रासव और मंजिष्ठाद्यारिष्ट प्रत्येक १५ मि. लि. और जल ३० मि. लि. मिलाकर ऐसी एक मात्रा दिन और रात्रि में पिलायें।

दो बजे दिन—चन्द्रकला रस १ गोली, कच्ची हल्दी स्वरस १५ मि.लि., आंवला स्वरस १५ मि.लि.—इन्हें एकत्र मिला ऐसी एक मात्रा १० मि.लि. मधु के साथ सेवन करायें।

चार बजे दिन (सायं)—मधुमेहेश्वरम् रसायन दो कैपसूल करेला के स्वरस एवं गुडूचीकाण्ड से स्वरस प्रत्येक १५-१५ मि.लि. एकत्र मिला करके इसके साथ सेवन करायें।

रात्रि को—द्राक्षापाक (ग्रथ-यो. र.)–१२ ग्राम से २५ ग्राम (रोगी के सहन सामर्थ्य एवं बलाबल के अनुसार) गोदुग्ध (उबाल) ईषत् उष्ण १०० से २५० मि.लि. के साथ सेवन करायें।

पथ्यापथ्य—इस व्याधि में पथ्यापथ्य का विशेष महत्व है। मात्र यव या गेहूं के आटे को तावा पर लाल भूनकर उसकी रोटी, परवल, करेला की सब्जी, बिम्बी फल (कच्चे) की सब्जी, बिम्बी पत्र फल, निम्बौली, मौसम्बी आदि सेवन करायें। मीठे, खट्टे, चटपटे, मसालेदार, पित्तवर्धक, रक्त विकृति कारक पदार्थों एवं खाद्य-पेय से परहेज रखें। प्रातः नंगे पैर खुली हवा में (सूर्योदय से पूर्व) भ्रमण करें। दिवास्वप्न, अधिक शयन, मैथुन, चिन्ता, क्रोध, मानसिक तनाव आदि से बचे रहें। नीम के पत्तों का रस या कुटकी, चिरायता और नीम की छाल को कूटकर रात्रि में, जल में भिगोकर रखें तथा प्रातः निथार छान कर प्रतिदिन पिला दिया करें। ★★

[पृष्ठ २७१ का शेषांश]

मि० लि० में विशुद्ध उत्तम मधु ३० मि० लि० मिला कर सेवन करावें। पूर्ण लाभ होने तक देते रहें।

दो बजे दिन—मेघनाद रस ५०० मि० ग्राम को मधु से चटा ऊपर से शतावरी स्वरस एवं गुडूचीकाण्ड स्वरस १२-१२ मि० लि० एकत्र मिला पिला देवें।

सायं—बृहत् वंगेश्वर १२५ मि. ग्राम, आंवला स्वरस १५ मि. लि. में हरिद्रा चूर्ण १ ग्राम मिलाकर इसके साथ सेवन करायें।

रात्रि में शयन काल—मार्कण्डेयादि लेह १२॥ ग्राम, ईषत् उष्ण गोदुग्ध १०० से २५० मि. लि. के साथ सेवन करायें। इसके अतिरिक्त निम्नांकित औषधियां भी लाभप्रद हैं।

शास्त्रोक्त औषधियां—(१) वसन्त कुसुमाकर रस (२) त्रिवंग भस्म (३) गिलोय सत्व (४) चन्द्रप्रभावटी (५) शुद्ध शिलाजीत (६) न्यग्रोधादि चूर्ण (७) विजयसारस्वर चूर्ण।

नवीन गवेषणा—बिल्व पत्र स्वरस, करेला पत्र एवं फल स्वरस, नीम पत्र स्वरस, गिलोयकाण्ड स्वरस, नीम तैल, जामुन की बीज की मींगी का चूर्ण, मेथी बीज चूर्ण, बिम्बी अथवा फल स्वरस या पत्र स्वरस आदि द्रव्यों पर जो आयुर्वेद के कई अनुसन्धान शोध संस्थानों में जो शोधकार्य हुए हैं हैं उनका उन्हें लाभप्रद पाया गया है किन्तु नव आविष्कृत औषधि 'मधुमेहेश्वरम् रसायन' के कैप्सूल को अधिक लाभप्रद,

मंजिष्ठामेह

पूर्ण निरापद एवं स्थायी लाभ करने वाली औषधि पायी गयी है। विशेषता तो यह है कि यह मात्र मधुमेह में ही लाभ नहीं पहुंचाती वरन् मधुमेह, मंजिष्ठामेह, बहुमूत्र तथा अन्य प्रमेह में भी उत्तम लाभ पहुंचाती है। इसके सुचिराभरण रस के रूप में निर्माण के निमित्त शोध कार्य चल रहे हैं जिससे कि यह आधुनिक इंजेक्शन 'इन्सुलिन' का प्रभावशाली एवं पूर्ण निरापद विकल्प सिद्ध हो सके। आज के भीषण इस व्याधि प्रसार की परिस्थिति में इस विकल्प की बड़ी आवश्यकता है जो प्रमेह पीड़ित मानवता का महान उपकार कर सके।

पथ्यापथ्य—इस व्याधि को समूल नष्ट करने में शरीर के संशोधन, पूर्ण प्रभावशाली दिव्य औषधि के सेवन के साथ-साथ पथ्य और निषेध की भी बड़ी महत्ता है। पथ्य में यव के छने आटे को भूनकर उसकी रोटी, भुने यव के सत्तू, जामुन बीज मज्जा, करेला, परवल की सब्जी, करेला-परवल-बिम्बी पत्रों का शाक, शिलाजतु (खजूर), मेथी, नीम के फल (निम्बौली) आदि सेवन कराना चाहिए। खांड (शर्करा-चीनी), गुड़, मधुर रस प्रधान भोजन, घृत तैल, मिठाई, मिठाई कोई भी मधुर पदार्थ, दूध या दही का अधिक उपयोग करें। मधुमेह में गरिष्ठ भोजन का त्याग, दिन में शयन, अधिक शयन आदि से भी पूर्ण परहेज करें। प्रतिदिन शारीरिक एवं मानसिक श्रम करें।

मधुमेह

वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तूरे, एम. ए. डी. एस-सी., एच. पी. ए., काव्यतीर्थ
निदेशक—भारतीय चिकित्सा-पद्धति तथा होमियोपैथी, गुजरात राज्य, गांधीनगर

आज के युग में अत्यन्त जटिल समस्या पैदा करने वाला, चिकित्सा के लिये दुष्कर और मृत्युकारक रोगों में जिसकी गणना की जाती है उनमें ऐसा एक मुख्य रोग 'मधुमेह' है। आज के शास्त्रज्ञ कैन्सर, हृद्रोग, वृक्क विकार से जितने परेशान हैं उतने ही मधुमेह से परेशान हैं। आयुर्वेद में २० प्रकार के प्रमेहों का वर्णन मिलता है। प्रमेह का एक प्रकार मधु-है। गुजरात में तो मधुमेह नाम प्रचलित ही नहीं है मधु प्रमेह प्रचलित है। यद्यपि प्रमेह को २० प्रकारका रोग मानकर मधुमेह को १/२० का महत्व दिया जाये तो बड़ गलत कार्य होगा। सभी १९ प्रमेह एक तरफ और मधुमेह एक तरफ ऐसा इसका महत्त्व है। सम्भवत: इसी लिए सुश्रुत कहते हैं कि सभी प्रमेह योग्य चिकित्सा न किये जाने पर मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं तब वे असाध्य हो जाते हैं।

मधुमेह व्याख्या और स्वरूप—मधुमेह शब्द में दो शब्द सम्मिलित हैं। एक मधु (शहद), फूलों का रस, मद्य, शक्कर, चैत्रमास, अशोकवृक्ष, आम का एक प्रकार, आस्वाद, इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त होता है। और मेह शब्द का अर्थ है मूत्र विसर्जन, अथवा मूत्र। अर्थात् जिस रोग में मधुर अथवा शक्कर अथवा शहद युक्त या समान मूत्र विसर्जन होता है वह रोग मधुमेह है। अनेक फूलों का रस, मद्य, सुरा, आदि के लिये मधु शब्द पर्याय है। इससे तो शर्करामेह, क्षौद्रमेह, सुरामेह, उदकमेह, इक्षु वालिका मेह, सान्द्रमेह, आदि अनेक प्रकारों का नाम ग्रहण भी हो सकता है। तथापि मधुमेह यह विशिष्ट शब्द है और माधुर्य युक्त मूत्र प्रवृत्त करने वाला रोग डायबिटीज ही लेना चाहिए। वाग्भट कहते हैं कि जिस मेह में शरीर में मधुरता रहती है (माधुर्याच्च तनो:) और मधुर पेशाब आती है वह रोग मधुमेह है। इसका अर्थ मात्र मधुर पेशाब नहीं बल्कि शरीर के रस रक्त में अधिक मधुरता का होना भी आवश्यक है। प्रमेह के वात कफज १०, पित्तज ६ तथा कफज ४ प्रकार दिये हैं जिससे २० प्रकार होते हैं। वातज मेह में चरक ने 'मधुमेह' और वाग्भट माधव ने 'क्षौद्र मेह' का वर्णन किया है। जिससे मधुमेह का 'वातज मेह' होना प्रसिद्ध है। किन्तु मेरे मत से मधुमेह मात्र वातज प्रमेह नहीं है अपितु त्रिदोषज प्रधान व्याधि है। माधवकार कहते हैं कि मधुमेह दो प्रकार का होता है—धातुक्षय के कारण तथा दोषों के आवरण के कारण। धातुक्षय से वात प्रकोप होकर होता है दूसरे प्रकार में कफ तथा पित्त का आवरण हेतु है। अत: मधुमेह में तीनों दोषों का प्राधान्य है। चरक ने भी कफ प्रधान दोषों का वर्णन सामान्य सम्प्राप्ति में किया है। इसको स्मरण रखना चाहिए। मधुमेह—हृद्रोग उच्च रक्तचाप तथा रक्तवाहिनियों में अनेक रोगों को उत्पन्न करने के लिए कारणभूत होने से आज का सर्वाधिक घातक रोग सिद्ध हुआ है।

मधुमेह संप्राप्ति और शेष द्रव्य विकार—प्रमेह की सामान्य संप्राप्ति मधुमेह की सामान्य सम्प्राप्ति

समझ लेनी चाहिये। प्रमेह के निदान–दोप-दूष्य सभी मधुमेह उत्पादक भी होते है। यह संतर्पणोत्थ व्याधि है फिर भी धातुक्षय जन्य प्रकार विशेष अपतर्पण जन्य भी–और आवृत जन्य भी हो सकता है। संतर्पण का अर्थ है धातुओं को तृप्त करने वाला आहार। वह बृंहण होना जरूरी नही है पर इस रक्त मांस आदि धातु के लिये अलग-अलग संतर्पण होता है। रक्तसंतर्पण-मेदोकर नही होगा लेकिन जो बृंहण होगा वह अवश्य मास मेदोकर होगा। मेद और कफ को बढ़ाने वाले सभी हेतु प्रमेह और मधुमेह कारक होते हैं २० प्रमेह में यद्यपि यह वातज प्रमेह है तथापि 'कफप्रधान' दोष का प्राधान्य सामान्यतया समझना चाहिए। चरक ने प्रमेह की सम्प्राप्ति मुद्रा समवेत स्पष्ट की है वह इस तरह है।

(१) जब भी तीनों दोषों के प्रकोपकर कारणों द्वारा निदान विशेष के अनुसार कफ का विशेष प्रकोप होता है।

(२) वह प्रकुपित होकर शीघ्र ही (रसायनी मेदा का) पूर्ण शरीर में प्रसृत होता है। क्यों कि उस समय शरीर शिथिल होता है इसे ही शरीर की 'अव्याधि क्षमत्व' या ससेप्टिबिटीटी (Succeptbe-tity) कहते हैं। तदनुसार

(३) प्रकुपित कफ १. प्रधान दोष (वात-मधुमेह में) मेद धातु में मिल जाता है। मेद भी प्रमेह हेतु के कारण शिथिल और दुष्ट होता है। उसे और विकृत करता है। क्योंकि दोनों में समान भाव है।

(४) इसी समय शरीर मे मांस, वसा, क्लेद आदि की दुष्टि होती है। मेद का मल स्वेद है यह क्लेद को धारण करता है। क्लेद का बहन मूत्र से होता है। क्लेद शरीर का आप्य वह अश है जो फलीभूत होकर बार-बार निकलना चाहता है। अतः रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा सभी धातुओं के विकृत आप्यांसों को क्लेद द्वारा निर्हरण बताया है।

(५) मेद-मांस-क्लेद और वसा और सभी प्रकुपित दोष एक दूसरे में मिश्र होकर, मूत्रभाव में परिणत होते हैं और मेदोवह–स्रोत के मूल वपावहन, (पेनक्रियाज) मूत्रवह स्रोत तथा वंक्षण स्थित अन्य अवयव वृक्कादि की दुष्टि कर–सभी स्रोतों में दुष्टि उत्पन्न कर प्रमेह रूप या मधुमेह रूप विकृति उत्पन्न करते है। प्रत्यक्षतः इसी कारण मूत्राधिक्य से रोग प्रारम्भ होता है।

बहुद्रव युक्त कफ दोप होता है और मांस मेद वसादि दूष्य है। प्रमेह में मेद, मांस, क्लेद, शुक्र, रक्त, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज इन्हीं १० को दूष्य कहा है।

इस सप्राप्ति विशेष को और कफ प्रधान दोष को सामान्य मानने का यह कारण है कि वातज प्रमेह के निदान में कहे गये हेतु रूक्ष, कटु कषाय सेवन इत्यादि, व्यायाम, वमन विरेचनादि अतिरेक आदि भाव विशेष सघन स्वरूप होने के कारण किसी प्रकार से मधुमेह कारक नहीं होंगे विशेषतः सतर्पणोत्थ मधुमेह में तो ये कारण कभी नहीं हो सकते। अतः आस्या सुखं, स्वप्न सुखं, दधीनि, नवान्न पान इत्यादि सामान्य कारण जन्य प्रकोप और वहु द्रवयुक्त कफ को मधुमेह में सामान्य समझना होगा। मधुमेह में वात प्रकोप द्वारा ओजो दुष्टि होती है। ओज—यह शरीर का मधुर पदार्थ है। यह रस, रक्त, मांस, मेद सभी धातु में सार रूप से रहता है। इसमधुर स्वभाव युक्त ओज को वायु रूक्षता तथा कषायादि से अभिसंसृष्ट करता है तब सम्पूर्ण शरीर में से बहन करते हुए मूत्राशय में लेजाकर मूत्र द्वारा बाहर कर देता है–उसे मधुमेह कहते है। अतः (१) मधुमेह कफ प्रधान रोगों में कफज प्रमेह है। (२) इसमें १० प्रकार के दूष्य है। खासकर रस, रक्त, मेद, वसा और क्लेद। (३) स्वेदवह स्रोत, मेदोवह स्रोत, मूत्रवह स्रोत इसमें विकृत होतेहैं। तथापि यह प्रधानतया मेदोवह स्रोत की व्याधि है। (४) क्लेद की दुष्टि अनिवार्य है। (५) रसोज की दुष्टि अनिवार्य है। वपावहन और वृक्क की भी दुष्टि होती है। (७) यही दूष्य–मांस, मेद इत्यादि प्रमेह पिड़िका भी उत्पन्न करते है। (८) क्लेद में–उदकाधिक्य, नील, वसा, मज्जा, ओज, माधुर्य क्षार, पूय, श्वेतता, शीतता, शर्करा, हरिद्र बर्ण, रक्तवर्ण इत्यादि जो जो क्षरण होगा उसके अनुसार

१०. व्य. हित — सर्वाङ्ग
रस-रक्त, मांस, मेद, मूत्र, मूत्रवह स्रोत

११. भे — कफज—१०
पित्तज ६
वातज ४
मधुमेह पिडिका—१०

१२. उपद्रव — मुख्यतः हृद्रोग, बलमांस परिक्षय, ओजक्षय

१३. स्वभाव — प्रथम—मृदु
पश्चात्—तीव्र और चिरकारी

१४. साध्यासाध्यता—१. कफज प्रमेह विना पूर्वरूप—साध्य
२. पित्तज कृच्छ्रसाध्य
३. वातज—असाध्य
४. कुलज—सहज—असाध्य

मधुमेह के हेतु—चार प्रकार के कारणों में हेतु को विभक्त किया जा सकता है।

(१) आदिबल प्रवृत्त या कुलज या सहज—जो जन्म के पूर्ववर्ती—शुक्र शोणित दोषों में से पारंपारिक रूप से सन्तान में आते है। ये मातृज, पितृज या उभय जन्य ३ प्रकार के हो सकते हैं। मधुमेही माता या पिता के शुक्र में बीज या बीज भाग या बीज भागावयव (Sporm या OVUM में Chromosome और DNA तथा RNA तत्व में मधुमेह कारक भाग गर्भजनन हुआ हो तो ऐसे बालकों में मधुमेह सहज रूप में (कौटुम्बिक कुलज) प्रसृत होता है। कभी-कभी ... प्रकारक जमीन (गर्भसूत्र) में विकृति न आने से सन्तान में छूट भी जाते हैं। सहज मधुमेह या 'जातः ...' की संभावना सभी संहिताओं में बताई गई है। मधुमेह रोगी बीजदोष के कारण असाध्य (या ...) प्रकार के होते हैं।

(२) आहारजन्य या पथ्य जन्य—इसमें बीज... है तथापि प्रमेह कारक आहार विहार जन्य ... से दोष प्रकोप और दूष्य संमूर्च्छना होने के ... तोत्तर को किसी भी उम्र में मधुमेह होता ... कारण निम्न प्रकार के है।

१. दूध, दही, गुड़, तिल, मछली, (ग्राम्य-आनूप मांस रस) नवीन धान्य जैसे नवीन चावल इत्यादि और घी, मक्खन, बीज इत्यादि स्निग्ध पिच्छिल पदार्थ जो कफ प्रकोपक होते है वे सब सेवन से।

२. मधुर पदार्थों की अतिरेकी सेवन।

३. वात प्रकोपक हेतु—रूक्ष, कटु, कषाय, तिक्त, लघु, शीत अन्न का अति सेवन।

विहार हेतु—प्रमेह और मधुमेह कारक विहार में निम्न लिखित विहारों का समावेश होता है।

(१) आस्या सुख—गुदगुदे विस्तरे पर पड़े रहना।
(२) व्यायाम न करना, जरा भी आसन न करना।
(३) स्नानादि स्वच्छता का ख्याल न रखना।
(४) हमेशा आलस में जीवन गुजारना।
(५) दिन में सोना—(कफ प्रकोपक, मेदो दुष्टि कारकत्व)
(६) अतिव्यवाय—(धातुक्षय और आवरक होने से)
(७) वमन विरेचनादि पंचकर्म में अतियोग।
(८) वेग संधारण—मल, मूत्र, वात आदि के वेग।
(९) अनशन—भोजन कम लेना या उपवास या अपतर्पण जन्य प्रमेहों में निमित्त होता है।
(१०) अति जागरण।
(११) वात प्रकोपक मांसादि सेवन।

(४) मानस हेतु—१. उद्वेग (Mental Stress)
२. शोक।
३. भयादि—(Fearfullness)
४. चिन्ता—(Anxiety, Worrics) उपर्युक्त कारणों से संप्राप्ति निर्माण और व्यक्ति तक की अवस्था चित्रबद्ध की है। देखे चित्र कल्पना। मधुमेह की अपतर्पण जन्य अवस्था। तथा—आवरण जन्य अवस्था में निम्नांकित अवस्थायें चरक ने मधुमेह कारक बताई है।

(१) उदानावृत प्राणवायु—ओजोनाश, बलनाश, प्राणनाश।

(२) अपानावृत व्यान वायु—मल, मूत्र, शुक्र शुक्र की अति प्रवृत्ति शुक्रमेह के कारण अन्ततोगत्वा मधुमेह सम्भावना।

स्पष्ट है कि चरक, वाग्भट और माधव निदान सभी में एकमत है। मात्र सुश्रुत ने कालमेह के स्थान पर अम्लमेह अधिक दिया है। कुल संख्या ६ होती है।

वातज ४ प्रमेह

क्रमांक	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	माधव निदान
१	वसा मेह	वसा मेह	वसा मेह	वसा मेह
२	मज्जा मेह	सर्पि मेह	मज्जा मेह	मज्जा मेह
३	हस्ति मेह	हस्ति मेह	हस्ति मेह	हस्ति मेह
४	मधुमेह	क्षौद्रमेह	मधुमेह	ममेधुह

स्पष्ट है कि सुश्रुत ने मज्जामेह के स्थान में सर्पिमेह नामांतर मात्र किया है। मज्जा को स्थान घृताकार (मस्तिष्क मज्जा) मानकर २२ अ० सुश्रुत ने मज्जामेह और सर्पिमेह में कुछ फर्क न समझ लिया हो यह स्वाभाविक है।

उपर्युक्त सभी प्रमेहों में मात्र मधुमेह के पूर्वरूप, रूप इनका विचार हम विस्तार से करेंगे। वाकी प्रमेहों के नाम से ही उनमें किस प्रकार का मूत्र का विसर्जन होता है इसकी कल्पना आ सकती है। तथापि माधव निदान-आचार्य सुदर्शन शास्त्री, तथा आचार्य यदुनन्दन उपाध्याय द्वारा सम्पादित तथा विमर्श टीका में उपरोक्त विद्वान आयुर्वेद मूर्धन्य विद्वानों ने वहुत गम्भीर अध्ययन द्वारा हरेक प्रमेह के सामने सम्भाव्य आधुनिक प्रमेह की एक सम्भावना वर्णन की हैं। सूज्ञ वाचकों के लिये हम उन्हें मात्र उद्धृत करते है।

प्रमेह का नाम		सम्भाव्य आधुनिक विकार
१. उदक मेह	कफज	Diabetes Insipidus
२. इक्षु मेह	,,	Alimentary Glycosuria
३. सान्द्र मेह	,,	Phosphaturia
४. सुरा मेह	,,	Acetonuria/Phosphaturia (मुख्य रोग-Diabetes अन्तर्गत)
५. पिष्ट मेह	,,	Chyluria
६. शुक्रमेह	,,	Spermaturia
७. सिकता मेह	,,	Lithuria
८. शनैर्मेह	,,	मूत्राघात का एक भेद है।
९. लाला मेह	,,	Albuminuria
१०. शीत मेह	,,	कोई नाम नहीं दिया जा सकता
११. क्षार मेह	पित्तज	Enlarged prostate or Cystits alkaline Urine
१२. नील मेह	,,	Indecanuria
१३. काल मेह	,,	Haematuria, Melauria
१४. हारिद्र मेह	,,	Biluria, Haematuria
१५. मंजिष्ठ मेह	,,	Haemoglobinuria/Choluria
१६ रक्त मेह	,,	Haematuria
१७. वसा मेह	वातज	Lipuria/Chyluria
१८. मज्जा मेह	,,	Pylitis, Gonorrhoea
१९. हस्ति मेह	,,	Polyuria,
२०. मधुमेह	,,	Diabetes mellitus.

उपर्युक्त में से मंजिष्ठामेह को हीमेच्यूरिया यानी की रक्तमेहण मानने के वदले Porphyria—जिसमें Porphyrin (पोर फायरिन) नामक वस्तु मूत्र में से जाती है। और रक्तकण नही होतें—मंजिष्ठा जल के समान मूत्र आना है मानना चाहिए ऐसा हमारा नम्र मत है। यहा एकीय मत है-हमारी सहमति का प्रश्न नही है।

मधुमेह के पूर्वरूप तथा रूप—सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थों मे मधमेह के निम्नांकित पूर्णरूप वताए गये है।

१ दांतों में मलीनता मिलना, चिकनाहट मिलना।

से उत्पन्न होता है। अन्यथा उसे रोग संकर कहते हैं।

कफज प्रमेह की उपेक्षा से—(१) शरीर पर तथा मूत्र पर मक्खियों का बैठना यह उपद्रव कहा है। वस्तुतः यह माधुर्य का अतिरेक का लक्षण ही है। (२) प्रतिश्याय, (३) अंग शैथिल्य, (४) अरुचि, (५) अग्निमांद्य या अविपाक, (६) मुख में से सतत् लालास्राव, (७) उलटी छर्दि, (८) कास, (९) श्वास से रोग कफज प्रमेह की उपेक्षा से हो सकते हैं। उपरोक्त सभी रोग कफ की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं, यह स्पष्ट है। इसी तरह शरीर में मधुर रस (ग्लूकोज) द्रव्य के अधिक संचय के कारण उत्पन्न होते हैं।

पित्तज प्रमेह की अधिक काल तक उपेक्षा की जाने पर—(१) वृषण पर त्वचा में दरारें पड़ना (यह वृषण, बस्ति, वंक्षण में विचर्चिका सदृश स्थिति का ज्ञापक है)।

(२) बस्ति प्रदेश में भेदनवत् पीड़ा।

(३) मेढ़ू अथवा योनि में सुई चुभन जैसी वेदना, तोद।

(४) हृच्छूल–उदरशूल या वस्तुतः हृदयशूल दोनों हो सकते हैं।

(५) अम्लपित्त, (६) ज्वर, (७) अतिसार, (८) अरुचि, (९) छर्दि, (१) श्वास में से धूमगन्ध आना, (११) अंगदाह, (१२) मूर्च्छा (Coma), (१३) तृषाधिक्य, (१४) निद्रानाश, (१५) पांडु, (१६) मूत्र, मल, नेत्र में पीतता (कामला) तथा—

वातज उपद्रव–(१) हृद्ग्रह–यहां हृदय का जकड़ जाना यह अर्थ होने से Cardiac Involvment अर्थ कर सकते हैं। वात कारण से।

(२) खाने-पीने में अधिक लालच।

(३) अनिद्रा, (४) स्तम्भ–हाथ-पांव का जकड़ जाना हो सकता हैं। पक्षाघात या अंगाघात हो जाये। मधुमेह में आवृत वात में प्राण, व्यान, समानादि वात का सम्बन्ध हो तब तो अवश्य अंगाघात हो सकता है।

(५) कंप—वेपथु वात—या शरीर कम्प (६) सर्वाङ्ग ये वातज प्रमेह में उपद्रव हो सकते हैं। उपर्युक्त उपद्रव सर्व शरीर व्यापी है और कुछ तो मुख्य मधुमेह लक्षण के अतिरेकी (रोग वृद्धि) प्रमाण का द्योतक है। उदा.—कफज में क्र. १, ३, पित्तज में नं. १, ४, १२, वातज में—१, २, ४, इत्यादि। कुछ उपद्रव ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि दोषों का विसर्पण बहुत क्षेत्र व्याप्त कर रहा है और शरीर बलक्षय कारण अन्य रोगों की उत्पत्ति हो रही है--उदाहरण—कास, श्वास, अंगघात, वेपथु, हृद्रोग इत्यादि।

प्रमेह पिडिका—मधुमेह के कारण रोगी को पिडिका (Carbuncle) उत्पन्न हो सकती है बहुत सामान्य उपद्रव है। इसकी खूब चिन्तापूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए अन्यथा कभी अत्यन्त दुष्ट व्रण, कोथ (गेंग्रीन) के कारण अंग का शस्त्रकर्म करना पड़ता है। प्रमेह के बिना भी पिडकायें उत्पन हो सकती हैं। चरक ने मधुमेह के सम्प्राप्ति के साथ ही पिडका का वर्णन किया है।

सूत्रस्थान १७ में मधुमेह की स्वतंत्र सम्प्राप्ति दी गई है—जो निदान स्थान और चिकित्सा स्थान के समान ही है। कहा है कि उनकी अपेक्षा से ७ प्रकार की पिडकायें उत्पन्न होती हैं। वे हैं—शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता तथा विद्रधि। सुश्रुत ने पुत्रिणी, मसूरिका, और विदारिका ये तीन पिडकायें अधिक वर्णन की है। इनका वर्णन स्वतन्त्र अध्यायों में पढ़ना चाहिये। चरक कहते हैं पिडकाओं की चिकित्सा में शल्य विशेषज्ञ का अधिकार है और ऐसे वैसे नहीं-- कुशल चिकित्सक द्वारा चिकित्सा करना चाहिये।

चरक ने प्रमेह के उपद्रवों में—अतिसार, ज्वर, दौर्बल्य, पूति मांस, पिडका, इत्यादि तथा हृद्रोग का उल्लेख किया है।

मधुमेह और हृद्रोग—चरकादि सभी आचार्यों ने मधुमेह के कारण हृद्रोग की उत्पत्ति की सम्भावना बताई है। आजकल मधुमेह का सबसे खतरनाक उपद्रव यही माना जाता है जो मृत्यु का कारण बन जाता है। हृच्छूल, हृद्ग्रह तथा हृदय में ग्रन्थि ऐसे ३ रोग मधुमेह उपद्रवों में निर्दिष्ट है।

सुश्रुत ने पिडका का एक स्थान हृदय भी वर्णन किया है वह हृदयावसाद की इनफारक्शन की संप्राप्ति

युक्त अवस्था भी हो सकती है या हृद्रोग हो सकता है। इसे सुश्रुत ने असाध्य कहा है। आवृत्तवातज हृद्रोग में व्यान वायु का प्रकोप होता है जो हृदयरक्ताभिसरण से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है। हृदय ओज का स्थान है। ओज के व्यापद के कारण कोई भी हृदय रोग उत्पन्न हो यह प्रमेह-मधुमेह में सामान्य घटना है। मधुमेह का मेदो रोग के साथ भी नजदीक का सम्बन्ध है। मेदो बहुलता में मधुमेह तथा हृद्रोग दोनों सम्भव हैं मेद दूष्य है—मेद टूटने से जो क्लेदोत्पन्न होगा वह व्यान दुष्टि से कोई भी रसायनी में अटककर आवरण जन्य हृद्रोग में कारण होता है। और प्रमेह के सभी द्रव स्निग्ध पिच्छिल, क्लेद युक्त पदार्थ धमनी उपलेप उत्पन्न कर सकते हैं। मेद संक्लेद से रक्तस्थ स्नेह (Cholesterol) बढ़ने की सम्भावना होती है जो हमेशा हृदयरोग के लिये समान होती है।

क्या प्रमेह स्त्रियों में होता है?—डल्हण ने टीका में यह प्रश्न उठाया है कि क्या प्रमेह स्त्रियों में हो सकता है?

डल्हण ने तंत्रांतर से श्लोक दिया है वह इस प्रकार का है—

'अथाहुरेके स्त्रीणां प्रमेहा न भवन्तीति इति।
तथापि तंत्रांतरे,

'रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति।'
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥ इति

अर्थात् स्त्रियों में हर मास में रजः प्रवृत्ति द्वारा शरीर और दोषों की शुद्धि होती है अतः स्त्रियों में प्रमेह नहीं होता ऐसा कहा जाता है। खुद ही इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य कोई तंत्र में इसका उल्लेख नहीं है। और प्रत्यक्ष में भी स्त्रियों में प्रमेह मिलता है। सम्भवतः प्रमेह प्रकरण में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग होने से यह भ्रम हुआ हो। लेकिन यहां पुरुष याने चिकित्सा पुरुष है जो उभय स्त्री-पुरुषार्थी प्रयुक्त है।

यदि प्रत्यक्ष में यही देखा जाता है। तथापि निरीक्षण निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा प्रमेह का प्रमाण कम है ऐसा एक मत है तथापि इसका कारण 'लिंगभेद' नहीं है परन्तु स्त्रियों से मेद—वजन न बढ़े इसके लिये सतत प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक देखी जाती है यह हो सकता है।

सहज प्रमेही और जातोत्तर प्रमेही में भेद—साधारणतः जिनेटिक—कुलज प्रवृत्ति के कारण जो प्रमेह होता है और जो जन्मोत्तर अपथ्याहार के कारण उत्पन्न होता है उनमें निम्नांकित भेद से जाना जा सकता है।

कुलज-सहज प्रमेही	अपथ्य निमित्तज प्रमेही
१. रोगी कृश होता है।	१. रोगी सामान्यतः मेदवान होता है।
२. रोगी रूक्ष होता है।	२. रोगी स्निग्ध शरीर होता है।
३. रोगी को सतत तृष्णा रहती है।	३. आवश्यक नहीं है।
४. आहार का प्रमाण अल्प रहता है।	४. आहार का प्रमाण बहुत होता है।
५. रोगी को घूमना फिरना अच्छा लगता है।	५. रोगी बिस्तरे में पड़ा रहना या आराम करना पसन्द करता है।
६. कुलज प्रवृत्ति का इतिवृत्त मिल सकता है।	६. इतिवृत्त नहीं मिलता।

प्रमेह मधुमेह का ऐतिहासिक विवरण—प्रमेह मधुमेह का व्याधि स्वरूप प्राचीन काल से अस्तित्व में है। चरक मतानुसार दक्ष यज्ञ में महादेव का जो घोर अपमान हुआ—तब उन्होंने क्रोध कर भूतगणादि उत्पन्न कर यज्ञ का विध्वंस किया। उस समय अनेक रोगों—ज्वर, रक्तपित्त—गुल्म इत्यादि की उत्पत्ति हुई।

उसी समय 'हविष्यान्न' सेवन के कारण प्रमेह उत्पन्न हुआ ऐसा संदर्भ है। हवि यज्ञ में आहुति देने के लिये बनाया हुआ तिल और घी के पदार्थ को कहते है। नवान्न पान, तिल विकृति, घी इत्यादि प्रमेह हेतुओं में शामिल है ही। मतलब वैदिक काल से इस रोग का प्रादुर्भाव था। इसमे कोई संदेह नही है। चाईनीज मेडीसिन में प्राचीन काल में मूत्राधिक्य, क्षुधाधिक्य तृष्णाधिक्य—लक्षणों द्वारा इसकी चिकित्सा की जाती थी। ग्रीक फिजीशियनों ने इ० स० के प्रारम्भ में इसे डायबिटीज नाम दिया। आयुर्वेद में तो नाम—लक्षण, हेतु—सम्प्राप्ति इत्यादि सभी पहलुओं के सम हजारों वर्ष से इसका नाम वर्णन मिलता है।

डायबिटीज का आधुनिक संक्षिप्त विवरण—डायबिटीज शब्द ग्रीक भाषा का है (Dia-be-Ter) इसका अर्थ है पसार होना—पासिंग थ्रू (Passing through)—में से गुजरना। जिसका मुख्य लक्षण अधिक मूत्र प्रवृत्ति होना माना गया है। सामान्यतः डायबिटीज का अर्थ डायाबिटीज मैलीटस लिखा जाता है। डायबिटीज ब्रोंझ (Diadets Bronz), डायबिटीज मैलीटस तथा डायबिटीज इन्सीपिडस ऐसे ३ प्रकार इस संदर्भ मे लिखे जाते है। प्रथम में लोह तत्व की धातुपाक की विकृति होती है। इसमें यकृत विकृति रोग नेत्रपीतादि परिवर्तन होते है और उसके परिणाम स्वरूप 'डायाबिटीज मैलीटस तथा हार्डफेल' का सम्भव रहता है। तृतीय (D. Insipidus) में बारम्बार मूत्रप्रवृत्ति होना, प्यास अधिक लगना, ये लक्षण होते है। इसका कारण वासोप्रेसीन नामक मूत्रप्रतिरोध करने वाले हार्मोन (सीक्रेशन) स्रावो की मात्रा कम होना यह है। और इस रोग में प्रतिदिन मूत्र प्रवृत्ति से ५से १० लीटर तक हो सकती है। यह वस्तुतः सोमरोग कहा जा सकता है। हमारा प्रस्तुत विषय मुख्यतः डायाबिटीज मैलीटस है। डायाबिटीज को मुख्यतः दो प्रकारो में विभक्त किया जाता है। (१) इन्सुलिन पर निर्भर जिसमे अनिवार्यतः इन्सुलिन की प्राकृत मात्रा अनुपस्थित होती है अतः चिकित्सा में इन्सुलिन देना पड़ता है। (२) इन्सुलिन स्वतन्त्र है। जिसमें इन्सुलिन की आवश्यकता नहीं होती। प्राकृत मात्रा का प्रमाण कम होता है।

(१) डायाबिटीज मेलीटस ब्रिटल—उसे कहते हैं जिसमें ग्लूकोज का चयापचय कोई नियमानुसार अनुचित नही हो सकता। कभी अधिक, कभी कम। जिन आतुरों से बाल्यवय में डायाबिटीज होता है उनमें यह विकृति हो जाती है।

(२) डायाबिटीज केमीकल—उसे कहते हैं जिसमे डायाबिटीज का मुख्य लक्षण समुच्चय मिलता नहीं है पर फास्टिंग ग्लूकोज (रक्त में प्रातःकाल कुछ खाने के पूर्व) के सिवाय अन्यत्र सभी समय रक्तशर्करा का प्रमाण ऊंचा रहता है और मूत्र में ग्लूकोज का विसर्जन होता है। यह अवस्था ग्लाइकोसुरिया नाम से जानी जाती है।

(३) डायाबिटीज इण्डोक्राईन—यह एक ऐसा डायाबिटीज है जिसमें मस्तिष्क के स्थित पिच्युटरी तथा कण्ठ स्थित थायराइड तथा वृक्क के ऊपर स्थित एड्रीनल ग्लेण्ड (Pitutary, Thyroid and Adrenal) ग्रन्थियों की विकृति भी शामिल होती है और उनके स्रावों का वैषम्य होता है।

डायाबिटीज के दो प्रकार है—(१) वह जो २५ वर्ष की उम्र के पहले उत्पन्न होता है जिसमें इन्सुलिन की उत्पत्ति बिलकुल ही नही होती। पाठकों को स्मरण होगा कि उदरस्थ पेनक्रियाज नामक अवयव (सम्भवतः वपावहन) में रहने वाले बीटा टाईप के सैलस इन्सुलिन निर्माण करते हैं। उन सेल्स में विकृति सम्भवतः जिनेटिक (बीजदोष) प्रकार से होने से अपना कार्य छोड़ देती है और इन्सुलिन की कमी से रक्तशर्करा का पाचन (मसलन ग्लयकोजन में परिवर्तन) न किया जाने के कारण रक्त में प्रमाण बढ़ने लगता है। इसे ही जुबीनाइल डायाबिटीज भी कहते है। यह चिकित्सा के लिये बहुत माफिक होती है। इसे इन्सुलीन डिपेन्डिट डायाबिटीज कहते हैं।

(२) दूसरा प्रकार नॉन इन्सुलिन डिपेन्डेन्ट कहलाता है। जिसमे इन्सुलिन की उत्पत्ति तो होती है परन्तु वह इतनी मात्रा नही होती जो रक्तशर्करा

नियंत्रण प्राकृत रूप से कर सके। रोगी यदि मेधावी हो तो भोजनादि नियम से व्यायाम और चिकित्सा द्वारा ठीक होता है।

डायाबिटीक पैनक्रियाटिक—उसे कहते हैं जिस में पेनक्रियाज की और भी विकृतियां शामिल होती है।

डायाबिटीक फ्लेरोसिस—उसे कहते हैं जिसमें फ्लोरीन होने के कारण उत्पन्न होता है।

डायाबिटीक रीनल—उसे कहते हैं जिसमें मूत्र में शर्करा आती है पर G. T. T. और अन्य परीक्षा में प्राकृत रहती है। डायाबिटीज के अन्य लक्षण भी अल्प होते हैं।

डायाबिटीज मेलीटस को वास्तविक मधुमेह (D. True) कहा जाता है। जो इन्सुलीन के आधार पर दो प्रकार का है। इसका विशेष विस्तार नीचे दिया जा रहा है—

विशेषता	टाइप I इन्सुलिन निर्भर	टाइप II इन्सुलिन स्वतन्त्र
(१) वय तथा प्रारम्भ	साधारणतः २५ वर्षायु तक।	४० वर्षायु के बाद।
(२) स्वभाव	*एकाएक (तीव्र)।*	*शनैः-शनैः (धीरे-धीरे)।*
(३) इन्सुलिन	रक्त में बिलकुल नहीं या कम।	थोड़ी मात्रा अवश्य रहती है।
(४) यकृत् विकृति	हो सकती है।	नहीं होती।
(५) पेनक्रियाज में आयलेट सेल के एण्टीबोडीज	रहते हैं, शुरू में।	नहीं रहते।
(६) मुख्य लक्षण	बारम्बार मूत्रता, तृष्णा, भारहानि, कीटोएसिड का बढ़ना, रक्त ग्लूकोज का बढ़ना।	मूत्रता अधिक, तृष्णा, कण्डू, हाथ-पांव में सुप्ति-शूल इत्यादि।
(७) नियमन	इन्सुलिन से ही।	आहार और डायबिटीज निरोधक
(८) रस रक्तवहस्रोत की विकृति	कभी-कभी होती है।	मुख द्वारा औषधि से हमेशा होती है।
(९) चिकित्सा के लिये प्रतिभाव	हमेशा प्रमाण परिवर्तन से कठिन (साध्य)।	सहज साध्य।

डायाबिटीज के विषय में विशेष—समझा जाता है कि अमेरिका और ब्रिटेन में ४० लाख लोगों से अधिक लोग इससे पीड़ित है। भारत में भी व्यापक है। भात, घी, तेल, दूध, मक्खन, शक्कर, गुड़, तिल, मद्य इत्यादि के अधिक सेवन से तथा मेदो रोगी को विशेषतः होता है। एक अनुमान के अनुसार ८०% प्रमाण मेदस्वी लोगों में है। इसी तरह चिकित्सा में मृत्यु का प्रमाण जिन लोगों का वजन प्राकृत से अधिक है उनमें कृश लोगों की अपेक्षा १½ गुना अधिक है। अतः पथ्याहार का ही महत्व अधिक है।

मुख्य लक्षण—

(१) मूत्राधिक्य—पेशाब बहुत मात्रा में आता है इसे (Polyuria) कहते हैं। इसी स्पेसिफिक ग्रेविटी १०३० से १०४० तक। मूत्र में शर्करा (ग्लूकोज) जाता है। लेबोरेट्री में इसकी परीक्षा की जा सकती है।

(२) तृषाधिक्य—खूब प्यास लगती है। इसे पोलीडिप्सिया कहते हैं। मुख, तालु, जिह्वा का सूख जाना (शोष) इसमें पाया जा सकता है।

(३) पिण्डिकोद्वेष्टन—पैरों में ऐंठन होती है।

(४) भार हानि—वजन कम होता है, यदि रोग नियंत्रण न हो तो।

(५) क्षुधा—भूख अधिक लगती है। यदि कोई का सम्बन्ध न हो।

(६) अन्य लक्षणों में—शरीर शैथिल्य, थकावट और अवसाद होते हैं।

(७) त्वचा—रूक्ष-खर बनती है। उसकी स्थिति स्थापकता कम हो जाती है।

(८) रक्तशर्करा हमेशा प्राकृत से अधिक रहती है। प्राकृत मान ८०-१२० मि.ग्रा: प्रति १०० मि.लि. है। ग्लुकोज टॉलरन्स टेस्ट, फास्टिंग वलगुकर तथा भोजनोत्तर रक्तशर्करा का परीक्षण कर डायबिटीज का निदान किया जाता है।

उपद्रव (Complication)—हृदय तथा रक्त-वाहिनियों में अवरोध (स्रोतोसंग) उत्पन्न होना प्रधान उपद्रव है। खासकर मेदस्वियों में होता है। रक्तचाप बढ़ जाता है। पैरों में रक्ताभिसरण के विकार हुआ–सनसनाहट, सुप्ति रक्त न मिलने से उत्पन्न हो सकते हैं। विद्रधि, विस्फोट, पिडका, शोथ उत्पन्न हो सकता है जो बहुत गम्भीर उपद्रव है। किडनी में स्थित ग्लेमीरूलर सेल की विकृति हो सकती है। रीनल फेल्यूअर हो सकता है। नर्वस सिस्टम की विकृति हो सकती है। किटोन बोडीज का प्रमाण रक्त में बढ़ने पर कोमा (संन्यास-मूर्च्छा) हो सकती है। आंखों में प्रन्क्षापन आ सकता है। (मोतियाबिन्दु, तिमिर इत्यादि) लेन्स सूख सकता है। रूप का अदर्शन, अस्पष्ट दर्शन हो सकता है। प्रोटीन का (C. S. F, में) प्रमाण बढ़ने पर रात में अतिसार होता है। मृत्यु हार्टअटैक इत्यादि से होना बहुत सामान्य है।

आधुनिक चिकित्सा—इन्सुलिन इन्जेक्शन द्वारा देना प्रचलित मुख्य चिकित्सा है। अनेक प्रकार की इन्सुलिन प्राप्त हैं। उनका विवरण, योग्य पुस्तकों में पढ़ें।

अन्य मुख द्वारा लेने योग्य औषधियों में डायबिनीज, डायोनिल, ग्लायनेज, ग्लायसीफेज इत्यादि प्रसिद्ध औषधियां हैं। प्रथम अल्प मात्रा में प्रारम्भ कर मात्रा बढ़ा दी जाती हैं। और रक्त शर्करा का परीक्षण कर स्थिर की जाती है। इन द्रव्यों के कुछ उपद्रव भी हैं लेकिन सम्भाव्य बड़े उपद्रव (मृत्यु) के सामने छोटा सकट पसन्द किया जाता है।

मेरी राय में आधुनिक औषधि की अधिक तीव्रता न हो तो आगे वर्णन किये हुए आयुर्वेद उपचार और पथ्य पालन कर मधुमेह को नियन्त्रण में रखना चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—चरक ने चिकित्सा के भेद से प्रमेह को दो प्रकार में विभक्त किया है।

(१) स्थूल शरीर युक्त और बलवान रोगी।

(२) कृश शरीर युक्त और निर्बल रोगी। इनमें बलवान को संशोधन--वमनादि चिकित्सा देनी चाहिए और कृश दुर्बल को संशमण चिकित्सा देनी चाहिए। सुश्रुत ने चिकित्सा की दृष्टि से प्रमेही को मुख्य २ प्रकार में विभक्त किया है—(१) एक सहज-जो कुबेज प्रवृत्ति से आता है। (२) अपथ्याहार निमित्त इसमें प्रथम प्रकार का कृश होता है जिसे संस्कृत अन्नपान, द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए और दूसरे जो स्थूल हैं उन्हें संशोधन करना चाहिये। पंचकर्म जिस तरह करना चाहिये इसका वर्णन सुश्रुत ने चरक की अपेक्षा बहुत सुन्दर और विस्तार से किया है इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

संशमन चिकित्सा—सर्व प्रथम प्रमेहजनक हेतु का त्याग करना, योग्य आहार विहार का चयन करना और औषध सेवन करना चाहिये।

औषधियों में बनस्पतियों के क्वाथ, स्वरस, चूर्ण, घटिका, आसव अरिष्ट तथा रसौषधी सभी का वर्णन है। इन सबका वर्णन यथा संक्षिप्त प्रमेह चिकित्सा के लिये हम निम्नांकित पॉइण्ट (मुद्दा) के अनुसार देंगे।

(१) सामान्यतया प्रमेह में आहार का बहुत महत्व है। हमारे शरीर के लिये जितनी शक्ति मात्रा आहार की जरूरत है उतना ही आहार लेना चाहिये। स्थूल मेही को उपवास—अल्प भोजन, अल्प स्नेह या अस्नेह भोजन लाभकारक होता है। साधारणतः आधुनिक मत से १२०० कै० से २००० कै० प्रतिदिन अपने कार्य शक्ति के अनुसार आहार द्रव्य व्यवस्थित किये जाते है। मधुर पदार्थ सम्पूर्ण बन्द करना चाहिये, तिल-तैल, घी, मक्खन, मलाई, चीज, को शरीर स्नेह मेद प्रमाण को ध्यान में रखकर निश्चित करें। मेदस्वी लोग सम्पूर्ण बन्द कर सकते हैं। यदि कोई दिन लेवे

गोक्षुर, (१८) पुनर्नवा, (१९) अगरु, (२०) चन्दन, (२१) सप्तपर्ण, (२२) विल्व, (२३) उशीर, (२४) मुस्ता-मोंथा, (२५) लोध्र, (२६) वड़, (२७) असन, (२८) गुड़मार इत्यादि।

चरक ने सन्तर्पणोत्थ रोगों के प्रशमार्थ मुस्तकादि क्वाथ का वर्णन किया है जो वहुत ही परिणामकारक है उसका पाठ नीचे दिया जाता है।

मुस्तादि क्वाथ (च० सू० २३)—

(१) मुस्ता—नागरमोंथा।
(२) आरग्वध—अमलतास।
(३) त्रिफला—हरीतकी, विभीतक, आमलकी।
(४) देवदारु—स्वनाम प्रसिद्ध।
(५) श्वदंष्ट्रा—गोक्षुर।
(६) खदिर—खैर।
(७) निम्ब—नीमपत्र।
(८) हरिद्रा—हल्दी।
(९) दारुहरिद्रा।
(१०) त्वक्—दालचीनी।
(११) वत्सक—कुटज-इन्द्रयव।

इनसे हमने किराततिक्त और गुडूची और जम्बु-बीज चूर्ण को मिलाकर क्वाथ वना लिया।

इसका विधिवत् क्वाथ ३० मि० लि० २ वार पीना चाहिये। मद्य, शक्कर, गुड़ कुछ न डालें। कड़वा ही पी लें। सुश्रुत ने प्रत्येक मेह के लिये एक-औषधि वताया है।

(१) उदकमेह—पारिजात क्वाथ।
(२) मधुमेह।
(३) सुरामेह—निम्ब कषाय
(४) सिकता मेह—चित्रक कषाय
(५) शनैर्मेह—खदिर कषाय
(६) लवण मेह—पाठा, अगुरु, हरिद्रा कषाय
(७) पिष्ट मेह—हरिद्रा, दारु हरिद्रा कषाय
(८) सान्द्र मेह—सप्तपर्ण कषाय
(९) शुक्रमेह—दूर्वा, शैवाल, करंज, कसेरुक कषाय अथवा अर्जुन, चन्दन कषाय
(१०) फेनमेह—त्रिफला, आरग्वध, मुनक्का कषाय
(११) नील मेह—शालसारादि, या पीपल यकषा
(१२) हरिद्रा मेह—आरग्वध कषाय
(१३) अम्ल मेह—न्यग्रोधादि (वड़) कषाय
(१४) क्षार मेह—त्रिफला कषाय
(१५) मंजिष्ठामेह—मंजिष्ठा-चन्दन कषाय
(१६) शोणित मेह—गुडूची, तिंदुक-काश्मरी खर्जूर कषाय
(१७) सर्पि मेह (असाध्य)—कुष्ठ, कुटज, पाठा हिंगु, कटुका, गुडूची तथा चित्रक कषाय के साथ दें।
(१८) वसा मेह (असाध्य)—अग्निमंथ, शिंशप कषाय
(१९) क्षौद्र मेह (,,)—कदर, खदिर कषाय
(२०) हस्ति मेह (,,)—तिंदुक, कपित्थ, शिरीष पलाश, पाठा, मूर्वा कषाय।

मधुमेह में प्रयुक्त योग—(१) चन्द्रप्रभा वटी (२) मामेजवा घन वटी (३) सप्तरंग्यादि वटी (४) रसायन चूर्ण (५) त्रिफला चूर्ण (६) सुदर्शन चूर्ण (७) असतर्पण सारांबु (८) खदिरारिष्ट (९) मध्वासव (१०) त्रिवंग भस्म (११) आरोग्यवर्धिनी (१२) शिलाजितु या शिलाजित्वादि वटी (१३) मकरध्वज वटी (सु० युक्त) (१४) वसंत कुसुमाकर (१५) मधुमेहादि वटी इत्यादि (१६) संशमनी वटी, (१७) अश्वगन्धादि चूर्ण (१८) आमलक्यादि चूर्ण (१९) शु० न्यग्रोधादि चूर्ण (२०) मेहकालानल रस [भै० र०] (२१) पंचानन रस।

शार्ङ्गधर संहिता—प्रमेह के लिये निम्नांकित योग है। (१) अमृता स्वरस (२) धात्री (आमला) स्वरस (३) वरादि क्वाथ (४) न्यग्रोधादि क्वाथ (५) त्रिफला चूर्ण (६) त्र्यूषण चूर्ण (७) बाहुशाल गुड़ (८) सूरणादि वटक (९) मंडूरादि वटक (१०) चंद्रप्रभा वटी (११) योगराज गुग्गुल (१२) कैशोर गुग्गुल (१३) गोक्षुरादि गुग्गुल (१४) उशीरासव (१५) कुमारीआसव (१६) वसंत कुसुमाकर रस (१७) प्रमेह बद्ध रस (१८) अभयादि मोदक इत्यादि।

सुश्रुतोक्त पंचकर्म चिकित्सा—१. प्रथम प्रमेही रोगी को कोई औषधि सिद्ध तैल से स्नेहन करे। यहां

वसामेह १६.३ प्रतिशत, मज्जा मेह १०.६ प्रतिशत, पिष्टमेह १.८ प्रतिशत, कोई प्रमेह नहीं १.८ प्रतिशत, रोगी मिले। तुलनात्मक रोगियों में आधुनिक तलास करने पर निदान में जो भूल हुई उसका प्रतिशत प्रमाण यह रहा —उदकमेह ०, इक्षुमेह ०, सुरामेह १.८ प्रतिशत, लालामेह ३.६ प्रतिशत, पिष्टमेह ०, रक्त मेह कोई भूल नही, हरिद्रामेह १२.७ प्रतिशत, मंजिष्ठामेह ६.३ प्रतिशत, वसामेह २३.५ प्रतिशत, मधुमेह ३.६ प्रतिशत, N.A.D. 1.8।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि आयुर्वेद के २० प्रमेहों को आधु० के साथ तुलनात्मक लाभ देकर चिकित्सा करें। उससे अच्छा है कि आयुर्वेदिक पद्धति से निदान कर चिकित्सा करें। मधुमेह में भूल अल्प सम्भव है। तथापि रक्त शर्करा परीक्षण करना ही चाहिए ऐसा हमारा मत है।

(२) प्रमेह के जो प्रत्यात्म लक्षण है—आतुरों मे निम्नांकित प्रतिशत मिले।

विषय	कुल रोगी	प्रतिशत
[१] अच्छत्व	२२	४०
[२] आविल	३३	६०
[३] प्रभूतमूत्रता	५०	९०.९
[४] अल्पता	५	९.१
[५] विस्रता	९	१६.३
[६] पीतता	१२	२१.८
[७] गाढ़ पीतता	२६	४७.२
[८] रक्तता	१७	२९
[९] श्वैत्याध	२१	४७.९
[१०] पिष्ट Deposit	८	१४.८
[११] फेन	१	१.८

३. अहमदाबाद सिविल होस्पीटल—मे डा० ओ० पी० गुप्ता प्रोफेसर ऑफ मेडीसिन जो आगे डायरेक्टर मेडीकल सर्विस और शिक्षण हुए उनके मार्गदर्शन में डायबिटीज के ऊपर बहुत कार्य हुआ। उनके अन्तर्गत वैद्य जी० के० दुबे, वैद्य अग्रावत, वैद्य शहाणे, डी० एन० आदि लोगों ने कार्य कर मधमेह पर निम्नांकित संशोधन तारण निकाले है। यह यूनिट ने लगभग १४ वर्ष काम किया और जम्बु बीज चूर्ण, बिल्व पत्र तथा सप्तरंग्यादि वटी पर विश्लेषण किया।

सप्तरंग्यादि वटी मे सप्तरंगी, आमलकी, हरिद्रा, मामेजवा, जम्बु बीज, महासुदर्शन चूर्ण, आरोग्यवर्धिनी वटी, और त्रिवंग भस्म ये घटक द्रव्य हैं। प्रत्येक ७५ मिली ग्राम, आ० व० २५, त्रिवंग भस्म २५ ग्राम कुल ५०० ग्राम मात्रा होती है। ३ गोली या ३ बार पानी के साथ दी गई।

सप्तरंग्यादि वटी कुल रोगी १७१, आहार नियंत्रण के ४१ और उपरोक्त द्रव्य में साथ इन्सुलिन युक्त १२२—कुल ३३४ रोगी थे। १७१ में से रक्तशर्करा-- नौर्मल ४० में २३.४ प्रतिशत में नौर्मल से कम हुई ४६.२ प्रतिशत में और कोई कम ज्यादा न हुई ५२ = ३०.४ प्रतिशत रोगियों में।

अन्य औषधियों की अपेक्षा सप्तरंग्यादि परिणाम कारक सिद्ध हुई है।

उपसंहार—यह मधुमेह का संक्षिप्त विवरण है। मधुमेहियों को खास सूचना यह है कि कभी भी 'अब मेरा मधुमेह नौर्मल है--चलो लड्डू खायें--आईसक्रीम, पेड़ा खायें इत्यादि' अपथ्य न करें। क्यों कि तुरन्त रक्तशर्करा बढ़ने लगती है। उसी तरह बहुत से लोग भ्रम में होते हैं कि १७० से २०० मिली ग्राम तो मेरे लिए प्राकृत है उससे कम होने पर मुझे तकलीफ होती है यह भी मिथ्या समाधान है। बाह्य लक्षण कुछ न मिलना वेशक सिद्ध हो सकता है। आभ्यन्तर वृद्ध रक्तशर्करा कभी भी घातक हो सकती है। अतः नित्य पथ्य और औषधि का सेवन करना चाहिए।

कर दीं। मैं उन दिनों जिला मुरादाबाद के एक आयुर्वेदिक अस्पताल (रानी नागल) में चिकित्साधिकारी था उन दिनों मुरादाबाद शहर की तहसील में हमारे रिश्ते के फूफा जी तहसीलदार थे। उनका नाम भरतसिह था, उनको मधुमेह था, उनके एक जवान लड़के को भी मधुमेह था। जब मैं कभी-कभी अस्पताल के कार्यवश शहर मुरादाबाद जाता तो तहसील में उन्हीं के यहां ठहरता था।

एक दिन उनके लड़के ने मुझ से कहा कि क्या कोई ऐसी तरकीब है कि पेशाब में शक्कर तो हो, परन्तु टैस्ट करने में शक्कर न मालूम पड़े। मैंने कहा कि देखूंगा, फिर पूछा कि ऐसी क्या जरूरत है तुम्हे ? बोला कि मुझे मिलिट्री में भर्ती होना है, वहां पेशाब की जांच होगी, अतः अगर जांच में शक्कर आ गयी तो मुझे भर्ती नहीं किया जा सकेगा।

इसके कुछ दिनों बाद मैंने घर पर प्रयोग किया अपने पेशाब की पहले जांच की, कि शक्कर न हो, शक्कर नहीं थी, फिर उसमें एक चुटकी शक्कर डालकर परीक्षा की तो शक्कर का प्रमाण मिल गया। अब मैंने गुड़मार-बूटी का एक पत्ता थोड़े से पेशाब में डालकर उसे एक दो मिनट उबाला। ठण्डा होने पर उसकी परीक्षा शक्कर के लिये की शक्कर की प्रतिक्रिया बिल्कुल नहीं हुई, थोड़ी शक्कर और डालकर पुनः परीक्षा की तब भी शक्कर नहीं आई जांच में। मेरा काम हो गया।

मैंने फिर एक रूमाल लेकर उसको गुड़मार के काढ़े में भिगोकर सुखाया, इस प्रकार उस रूमाल को गुड़मार से प्रभावित कर दिया।

अब उस रूमाल के एक कोने पर अपने पेशाब की धार डालकर एक पात्र में पेशाब किया, ताकि रूमाल में लगा गुड़मार का अंश पेशाब के साथ आजाये।

अब इस पेशाब में थोड़ी शक्कर डालकर जांच की, शक्कर का पता नही लगा। अगले दिन मैं उस रूमाल को लेकर मुरादाबाद गया और उस लड़के को समझाया कि पेशाब के पात्र में पेशाब करते समय लिंग को इस रूमाल से ऐसा पकड़ना कि पेशाब की धार रूमाल में लगकर पात्र में गिरे, उसने ऐसा ही किया और उस पेशाब को तुरन्त डाक्टर के पास जांच कराने ले गया। लौटकर आने के बाद उसने बताया कि काम हो गया, पेशाब में शक्कर नहीं आई, डाक्टर भी देखकर आश्चर्य करने लगे, बोले तुम्हारा पेशाब तो अब ठीक है।

इस प्रयोग ने उसका काम तो बना दिया और वह मिलिट्री में कैप्टन के स्थान पर चुन लिया गया, परन्तु इसी के कारण उस बेचारे का अन्त भी हो गया। वह ऐसे कि मिलिट्री में रहते-रहते दो वर्ष के बाद उसकी एक उंगली में व्रण हो गया, जो मधुमेह के कारण गैन्ग्रीन बन गया। नौबत उंगली काटने की आ गई, और डाक्टरों ने उसकी रिपोर्ट देखी कि इसको मधुमेह तो नही है, परन्तु हर बार रूमाल के प्रयोग से शक्कर जांच में नहीं आती थी। अतः मधुमेही नहीं समझते हुए उसका आपरेशन करने के लिए उसे मेज पर लिटाकर बेहोश करना पड़ा, फलतः उसे फिर होश नहीं आया और उसने मेज पर दम तोड़ दिया। अत. तभी से मुझे मधुमेह के लिए जिस प्रयोग में गुड़मार होता है और उस योग से पेशाब में शक्कर की सम्प्राप्ति का दावा किया जाता है। मैं उस योग से घृणा करने लगा हूं क्योंकि रोगी के पेशाब में शक्कर बदस्तूर विद्यमान् रहती हैं, परन्तु गुड़मार के प्रभाव से वह जांच मे नहीं आती। रोगी और चिकित्सक एक धोखे में आ अनजाने पड़े रहते है। रोगी समझता है मुझे आराम हो रहा है और चिकित्सक समझता है मेरी दवा कमाल कर रही है, मगर होता कुछ भी नहीं। इसके लिये कुछ दिनों तक गुड़मार का प्रयोग बन्द करके मूत्र परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिये कि शक्कर पुनः पेशाब में आ गई या नहीं, हमने प्रयोग करके देख लिया है शक्कर फिर आ जाती है। और गुड़मार योग देने पर फिर नहीं रहती, यद्यपि उसके पेशाब में शक्कर होती है।

निम्ब गिरी, करेला पाउडर, जामुन की गुठली, विजयसार का पानी (विजयसार की लकड़ी का

(वसा, मज्जा, लसीका एवं मधु) ये चारों गाढ़े और पिच्छिल हैं। तो मधुमेह में भी पेशाब को मधुसम गाढ़ा आना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि मधुमेह में पेशाब पतला पानी सा आता है, गाढ़ा नहीं आता, यह भी एक और कथन वाग्भट का है।

कालेनोपेक्षिताः सर्वेयद्यान्ति मधुमेहताम् ॥
मधुर यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विवमेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या, माधुर्याच्च तनोस्तः ।

—वाग्भट निदान १०-२०-२१

सभी प्रमेहों को भी मधुमेह कह देते हैं, यह मध्विव से मधु के समान लें, या मधु के समान मीठा लें। समझ में नहीं आता। सभी प्रमेह कालान्तर में उत्तरोत्तर गाढ़े होते जाते हैं (मधु के समान)।

अब एक बात एलोपैथी की भी 'ओजोमेह' की लेते हैं। कोई-कोई ओज को शुक्र से भी लेते हैं। अण्डकोषों से पुंबीजों को जो द्रव मिलता है वह क्रमशः शुक्रनाल (Vasdeferens) शुक्रग्रन्थियों (Seminal vesiclc) एवं पौरुष ग्रन्थि Priostate के ही स्राव Secretion का मिश्रण होता है इस स्राव युक्त शुक्र की जब परीक्षा की जाती है तो उसमें (जिस प्रकार मधुमेह की परीक्षा मे पेशाब में शक्कर की परीक्षा की जाती है और शक्कर का होना स्पष्ट हो जाता है) भी यदि 'शुक्रनाल अवरुद्ध न हो' तो शुक्रनाल द्वारा सम्मिलित स्राव के कारण शुक्रमें भी Fructose शर्करा की उपस्थिति प्रमाणित हो जाती है, प्रत्येक शुक्र की परीक्षा विधि विशेष से करने पर इसमें शर्करा होना पाया जाता है। अतः यदि ओजोमेह पूर्णतया शुक्रयुक्त या शुक्र ही शुक्र है तो वह मधुर होगा और उसका घनत्व भी मधु के समान होगा।

यहां यही एक शङ्का होती है कि मधुमेह में पेशाब पतला और शर्करायुक्त होता है, परन्तु शास्त्रों में वर्णित मधुमेह को यद्यपि चरक ने मधुमेह के लिये स्पष्ट कहा है।

कषाय मधुरं पाण्डुं रूक्ष मेहतियोनरः ।
वात कोपादसाध्यं तं प्रतीयन्मधुमेहिनम् ॥

—चरक निदान ४-३८

यहां मधु समान पिच्छिल गाढ़ा नहीं कहा गया है। अस्तु जो भी हो अब यह शब्द अर्थात् मधुमेह डायबिटीज के लिये सर्वत्र पर्याय हो गया है, उसे वापिस भी नहीं लिया जा सकता और उसको वापिस लेना भी ठीक नहीं होगा, प्रचलित शब्द मधुमेह से सर्वत्र अब डायबिटीज को ही ग्रहण किया जाता है।

दूसरी तरफ कफज प्रमेहों में आने वाला शीतमेह और इक्षुमेह, दोनों ऐसे प्रमेह है जिनके लक्षणों को देखने पर लगेगा कि दोनों मधुर हैं (मधु के समान नही हैं), परन्तु इनको मधुमेह श्रेणी में क्यों नही माना गया ?

इक्षुमेह—इक्षोरसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षु मेहता

—वाग्भट निदान १०-७

गन्ने, ईख के रस के समान मधुर मूत्र त्याग होता है।

शीतमेह—शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृतशीतलम्

—वाग्भट निदान १०-१२

शीतमेही बहुत बार 'मधुर' एवं शीतल मूत्र त्याग करता है—

अब दूसरा प्रश्न जो हमारे मन से उठता है वह यह है कि जब मधुमेह मधुर है, तो उसे बजाय वातज प्रमेहो में रखने के कफज प्रमेहों में स्थान दिया जाना चाहिये था। मगर ऐसा नहीं हुआ, शायद इसलिये कि—

काले नोपोसेता सर्वे यद्यन्ति मधु मेहिनाम् ।

कालान्तर में सभी प्रमेह मधुमेह की गति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, इक्षुमेह और शीतमेह भी। और सम्भवतः यही वातज के चारों मेह कालान्तर में असाध्यावस्था को पहुंचे हुए विविध प्रमेहों का अन्तिम स्वरुप होगा। इसी से सभी प्रमेहों को, विशेषकर वातज प्रमेहों को मधुमेह की संज्ञा दी गई है।

इस प्रसंग को यहीं पर छोड़ते हैं और मधुमेह (डायबिटीज) की चिकित्सा की तरफ आते हैं। पाठकों ने गुड़मार के प्रसंग में पढ़ ही लिया है कि गुड़मार बटी जिसे मधुमेह के लिये विशेष माना जाता है कितनी भ्रामक और अविश्वासनीय है। पेशाब में शक्कर

होते हुए भी गुड़भार के प्रभाव में परीक्षा करने पर पेशाब में शक्कर का प्रमाण नहीं मिलता, रोगी और चिकित्सक दोनों भ्रम में रहते हैं कि रोग घट रहा है, दवा लाभ कर रही है अत. यही उपाय फिर क्या है और सैद्धान्तिक उपचार क्या होना चाहिये।

वर्तमान में मधुमेह के रोगियों को दो श्रेणियों में बांटा गया है।

(१) इन्सुलिन आश्रित—Insulin Dependent (इन्सुलिन)।

(२) बिना इन्सुलिन आश्रित—Non Insulin Dependent (बिना इन्सुलिन के)।

प्रथम श्रेणी—पहली वाली श्रेणी में मधुमेह प्रायः युवावस्था में होता है, बच्चों में भी ज्यादा होता है, क्योंकि उनकी Pancreas इन्सुलिन का उत्पादन या तो बिल्कुल ही नहीं या अत्यल्प मात्रा में उत्पन्न करता है, जो प्रायः पर्याप्त नहीं होता, अतः उनको आयु पर्यन्त इन्सुलिन पर ही निर्भर रहना पड़ता है, ऐसे रोगियों का मधुमेह रोग Insulin उचित भोजन व्यवस्था और व्यायाम एवं सावधानीपूर्वक आहार-विहार बनाये रखने पर ठीक रहता है।

होता है और अधिकतर दवाओं, व्यायाम इत्यादि से शीघ्र सुधारा जा सकता है, प्रथम श्रेणी वाला मधुमेही अर्थात् इन्सुलिन आश्रित मधुमेही प्रायः थोड़े दिन ही जीते हैं यदि इन्सुलिन का प्रयोग समुचित रूप से तथा नियमित, उचित समय और आवश्यक मात्रा में व्यवहार किया जाता रहे तो रोगी पूर्ण आयु को भी प्राप्त कर सकता है।

M.R D.M.—इसके अतिरिक्त एक प्रकार का मधुमेह और भी होता है जो कुपित अपोषण सम्बन्धित मधुमेह (Malnutrition Related Diabetes Mellitus) संज्ञा दी गयी है यह भी दो प्रकार का माना गया है—

1. protien Deficient

2. Fibrocalculoos pancreat

गर्भज मधुमेह Gestational Diabetes—यह प्रायः स्त्रियों में गर्भधारणावस्था में होता है, फिर मधुमेही स्त्रियां प्रायः सामान्य, स्वस्थ बच्चा भी पैदा कर सकती है बशर्ते कि गर्भावस्था में उचित देखभाल की जाय। ऐसी स्त्रियों को प्रायः प्रातःकालीन

इन्सुलिन आश्रित (Insulin Dependent)— प्रायः बचपन में २० वर्ष की अवस्था से पहले शुरू हो जाता है (पर किसी भी अवस्था में भी हो सकता है, प्रायः कम) रोग एक दम तेजी से बढकर एक दम प्रकट हो जाता है। परिवार के अन्य सदस्यों को नहीं होता, पुरुष स्त्रियों में प्रायः १-१ के अनुपात से बराबर होता है। ऐसा रोगी प्रायः मोटा स्थूल नहीं होता और नाही स्थूलता से कोई सम्बन्ध होता है। वंशज भी बहुत कम होता है। ऐसे रोगियों में Ketosis (Ketone का शारीरिक जलीयांश एवं तन्तुओं में अत्यधिक एकत्रित हो जाना) Ketone एक प्रकार का शर्करा का ऐसा रूपान्तर है जो शरीर में असामान्य लक्षण पैदा कर देता है। जल्दी पैदा हो जाता है तथा रक्त रस Serum में इन्सुलिन की मात्रा या तो अत्यल्प होती है अथवा बिल्कुल नहीं होती तथा Pancrease Islet Antibodies अग्न्याशय तन्तु विरोधी भाव रोग के प्रारम्भ तो वर्तमान रहता है परन्तु एक वर्ष के अन्दर-अन्दर समाप्त हो जाता है किसी-किसी रोगी में थोड़ा बहुत बना रहता है। इन्सुलिन की बिल्कुल कमी हो जाती है, इसीलिए इस प्रकार के रोगी को इन्सुलिन की थोड़ी बहुत आवश्यकता पड़ती है, तथा विशेष बात यह है मुख द्वारा दी जाने वाली दवाएं जैसे Sulphonylurea इत्यादि कुछ भी कार्य नहीं करती और बेकार होती है। ऐसा रोगी वृक्करोग Nepheopathy, Ketoacidosis एवं शर्कराभाव Hypoglycaemia के उपद्रवों के कारण ही मरता है।

इन्सुलिन निराश्रित—प्रायः जवानी के आरम्भ होते-होते १०-२० वर्ष के आस-पास आरम्भ हो जाता है, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ज्यादा होते देखा गया है। अधिकतर माल्टानिवासी, मेक्सीकोनिवासी, अमरीकन, प्रवासी भारतीय को ज्यादा, भारत मे भी प्रायः प्रौढावस्था, वृद्धावस्था में ज्यादा देखा गया है, परन्तु एस्कीमो जाति एवं चीनी लोगो में कम देखा गया है यह प्रायः वंशज होता है, इस प्रकार का रोगी प्रायः स्थूलकाय का ज्यादा होता है, दुबला पतला भी हो सकता है। इस रोग का प्रकोप धीरे-धीरे होता है कभी-कभी कई वर्ष तक ध्यान नहीं जाता इस रोग की तरफ। कभी-कभी अचानक जांच करने पर ही पता लगता है इसमें Ketosis प्रायः नहीं होता, एवं शर्करा रक्त रस में या तो कम होती है। अथवा बढ़ी हुई होती है, एवं अग्न्याशय तन्तुओं के विरोधी भाव या तो होते ही नहीं, अगर होते हैं तो बहुत ही कम वे भी दुबले रोगी में ही। ऐसे रोगी के शरीर में इन्सुलिन की कमी प्रायः नहीं होती और मोटे स्थूल रोगों में इन्सुलिन से लाभ भी नहीं होता कभी इन्सुलिन की आवश्यकता अधिक मात्रा में पड़ भी सकती है, हां यह विशेष है कि मुख द्वारा दी जाने वाली दवाएं गोलियों से रोग में लाभ होता है। ऐसा रोगी हृद्रोग है Stroke एवं वृक्क रोगों के उपद्रवों के कारण मरता है।

अपोषण सम्बन्धित मधुमेह

यह विकार प्रायः १०-३० वर्ष की आयु में अपोषण के कारण होता है, ज्यादातर गांवों के युवा वर्ग, बच्चों में १० से ३० वर्ष की आयु में शुरू हो जाता है. मालूम करने पर पता लगता है कि बचपन से ही अपोषण, कुपोषण तथा भोजन की कमी रही है, तब ऐसे रोगी रोग शुरू होने से पहले ही दुर्बल कृश होते हैं, रोग धीरे-धीरे बढ़ता है। तभी अति दुर्बलता एवं अन्य उपद्रवों की तरफ ध्यान देना चाहिये। बहुत दिनों तक उपवास करना पड़े, फिर अत्यधिक कार्बोहाईड्रेट जैसे चावल, मक्का इत्यादि खाना पड़ जाय, वह भी दिन में प्रायः एक ही बार खाने को मिले। परीक्षा करने पर उनके रक्त में Ketosis तो होता नहीं परन्तु शर्करा की मात्रा ज्यादा होती है (Hyper Glycemia) इसी को अपोषण जानते या सम्बन्धित मधुमेह की संज्ञा दी गई है।

इसी सिलसिले में एक बात और भी कह देनी जरूरी है कि कभी-कभी अग्न्याशय pancreas की बीमारी के कारण भी protein के अभाव में ,जब शक्तिहीन होकर अपोषण होता है तब भी मधुमेह होने के लक्षण पैदा हो जाते है। सन् १९६२ में केरल में pancreas की बीमारी के उपरान्त मधुमेह देखा गया

तब से इसका नाम pancreatic Diabetes रखा गया। वहीं पर अपोषण से ग्रसित बहुत से बच्चे एवं युवा देखे गये थे। यद्यपि सभी अपोषण से ग्रसित नहीं होते, पर अधिक संख्या में वे लोग कम भोजन उपवास इत्यादि के शिकार रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विकासशील सभी अङ्गों को उचित हार्मोन, या प्रोटीन एवं प्रचुर मात्रा में रक्त नहीं मिल पाता और फलस्वरूप शरीर में इन्सुलीन की मात्रा कम हो जाती है, और शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है।

इसी बात को सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है–

द्वौ प्रमेहौ भवतः सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च तत्र सहजो मातृपितृ बीजदोष कृतः अहिताहार जोऽपथ्यनिमित्त। तयोः पूर्वेणो पद्रुतः कृशो रूक्षो अल्पाशी, पिपासु भृश परिसरण शीलश्च भवति उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासन स्वप्न शीलःप्रायेणेति:।

सु० चि० ११–३।

अपथ्य के कारण·········अल्पाशी · ·······अपथ्य और अल्पाहार करने वाले होते हैं।

मधुमेह जनित रक्तशर्कराम्लता के प्रमुख लक्षण—

(१) शरीर में जलीयांश की अत्यन्त कमी हो जाती है यही Dehydration प्रमुख विशेष लक्षण है।

(२) भ्रम अर्धनिद्रावस्था (Drowsiness)।

(३) श्वासगति तीव्र एवं लम्बा-लम्बा सांस आना, जैसे कि सांस का भूखा हो।

(४) श्वास में शर्करा की सी गन्ध आना (Acetone smell)।

(५) पेट का भारीपन एवं जैसे कुछ भरा हुआ हो। कभी-कभी वमन से पेट का पानी निकलना।

(६) शीत धारणा (Hypothermia)।

(७) न्यून रक्त दाब (Hypotension)।

इसमें दो प्रकार के प्रमेही पाये गये हैं, एक सहज (जन्मजात) जो कि दुर्बल होता है रूक्ष और अल्प खाने वाला इत्यादि, दूसरा अपथ्य कारणजन्य, जो कि स्थूल होता है, अधिक खाता है इत्यादि।

चरक ने भी कहा है—

स्थूलः प्रमेही बलवानि [illegible] [illegible] दुर्बलश्च खलु इस विषय को यहाँ [illegible]

इसी प्रसङ्ग पर्वात अपोषण (अपथ्य) जनित मधुमेह (M. R. D M) के विशेष ऐसे लक्षणों को देते हैं जिसे जानकर पाठक इस प्रकार के मधुमेही को जान लेने में सफल होंगे।

(१) मधुमेह का आक्रमण प्राय १५ से ४० वर्ष के मध्य होता है।

(२) लगभग ३०% से ६०% के रोगी प्रायः युवा वर्ग के होते हैं।

(३) वंशगत मधुमेह का परिचय प्राय. १० प्रति० से भी कम मिलता है।

(४) पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक पीड़ित होते हैं २ से ३ प्रतिशत।

(५) साधारण से अत्यधिक रक्त में शर्कराधिक्यता (Hyper glycaemia) रहता है।

(६) Ketosis (शर्करा सन्ताप) प्रायः नहीं होता होता भी है तो बहुत कम।

(७) इन्सुलिन अधिक मात्रा नहीं चाहती। रोगी Insulin Resistant होते हैं।

(८) बचपन में अपोषण, कुपोषण, उपवास इत्यादि का वर्णन मिलता है।

(९) प्रोटीन की कमी प्रायः बाल्यकाल से रहती है। और यदि प्रोटीन की कमी के फलस्वरूप मधुमेह हुआ है तो इसमें अग्न्याशय (Pancreas) में कुछ गड़बड़ी होती है। तथा यदि [illegible] क्रिया (pancreatice TCalcification) हो गयी हो तो इसमें pancreas [illegible] [illegible] हो जाता है।

अतः ऐसे व्यक्तियों को जिन्हें बचपन से ही अपोषण एवं अल्पाहार, [illegible] वातावरण में रहने पर मजबूर होना पड़ा हो उन्हें [illegible] मधुमेह होने की सम्भावना बनी रहती है।

अतः मधुमेही के बच्चों की [illegible] परीक्षा करते रहना चाहिए [illegible] [illegible] [illegible] परीक्षा करवाते रहना [illegible] है [illegible] [illegible] स्त्रियों को जिन्हें [illegible] [illegible] होता रहा हो [illegible] [illegible] स्त्रियों के शिशुओं का भार [illegible] [illegible] [illegible] ३.५ कि० ग्रा० या अधिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

चाहिये तथा सम्भव हो तो २३ से ३० सप्ताह की गर्भिणी को भी शर्करा हेतु परीक्षा करा लेनी चाहिये।' इसके अतिरिक्त यकृत्, हृदय, या रक्तदावाधिक्य इत्यादि के रोगियों को भी अपनी परीक्षा करानी चाहिये।

गर्भजन्य मधुमेह—अब एक प्रकार का मधुमेह जो स्त्रियों में देखा जाता है उसका भी वर्णन करना अप्रासांगिक नहीं होगा। यह है Gestational Diabetes अर्थात गर्भावस्था में होने वाला मधुमेह—

गर्भिणी को चूंकि अपने शरीर से दूसरा शरीर निर्माण करना पड़ता है, अतः उसको पोषण की अधिक आवश्यकता रहती है मगर ऐसा अपने देश में प्रायः कम ही होता है और गर्भिणी प्रायः अपोषण में ही रहती है, इसका शरीर पूर्णरूप से तृप्त नहीं होता। फलतः वारवार गर्भ होता रहता है या फिर भ्रूणपूर्ण रूप से विकसित न होकर विकृतांगों का हो जाता है विशेषज्ञों का तो यही कहना है कि गर्भ धारण से पूर्व भी स्त्री के रक्त की परीक्षा शर्करा इत्यादि के लिए अवश्य करा लेनी चाहिए ताकि भ्रूण में विकार न आये' गर्भपात न हो, अतः जैसा ऊपर कह आये हैं प्रत्येक गर्भिणी की परीक्षा २५ वें सप्ताह से ३० सप्ताह की गर्भावस्था के बीच में करा लेनी चाहिये। रक्त में ग्लूकोज की सामान्य सीमा नीचे दी जा रही है यदि इससे अधिक शर्करा हो तो समझना चाहिये कि शंका वाली बात है। १०० ग्राम ग्लूकोज को पिलाने के बाद जो रक्तशर्करा ग्लूकोज से पूर्व ६० मि० ग्राम थी वह एक घण्टे दो घण्टे तीन घण्टे के उपरान्त क्रमशः १६५ मि० ग्राम, १४५ मि० ग्राम तथा १२५ मि० ग्रा० होनी चाहिये। यदि इससे अधिक हो तो मधुमेह होने की सम्भावना अधिक होगी।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि गर्भिणी के रक्त में तो शर्करा तो पहले ही अपेक्षा ज्यादा बढ़ी नहीं है, परन्तु मूत्र में शर्करा आने लगी है, ऐसे समय में घबराना नहीं चाहिये, इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि मूत्र परीक्षा या रक्त परीक्षा नहीं करानी चाहिए, बल्कि सचेत रहना चाहिये अतः खान पान की सावधानी वरतनी चाहिए। चरक में इसको पुत्रघ्नी-योनिव्यापद के अन्तर्गत देखा जा सकता है—

> रौक्ष्याद्वायुर्यदागर्भं जातं-जातं विनाशयेत।
> दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता—
>
> —च० चि ३०-२७-२८

रूक्षता के कारण जब कुपित वात स्त्री के दुष्ट रक्त जन्य गर्भ को वारवार स्थापित होने के बाद नष्ट करने लगे तो वह पुत्रघ्न मानी जाती है अर्थात दुष्ट रक्त के कारण बार-बार गर्भस्राव होता है।

> वह्निमान्द्यामवाता............,
> लसीका वीर्य पूयास्रै: दुष्टे मूत्रेनृणां तथा।
> गर्भ काले स्त्रियः द्रव्यैं मैथुरौजस्करैस्तथा॥

इत्यादि गर्भकाल में ओजस्कर द्रव्यों के सेवन से ओज के दूषित होने, ओजमेह होने का वर्णन मिलता है यह श्लोक कहां का है याद नहीं। भैं० र० का है शायद।

इस प्रसंग को यहीं छोड़ते हैं और संक्षेप में जो लिखा गया है पाठक उसी से ही पर्याप्त ज्ञान मधुमेह के विविध प्रकारों को पा जायेंगे तथा उनका भेद समझ जायेंगे, उनकी चिकित्सा का तथा साध्यासाध्यता के वर्णन को थोड़ा बहुत लेना ठीक रहेगा।

एक बहुत ही अच्छा श्लोक सामने है जिसमें चिकित्सा का तथा साध्यासाध्य का सार रूप में वर्णन मिलता है—यथा

> यूनां बलवतां प्रायो नवोत्थः साध्यउच्यते।
> दुर्बलानां तु वृद्धानां चिरोत्थोऽसाध्य एव सः॥
> कदाचिद्व लमेरुढः या पथ्याहारैः प्रशाम्यति।
> प्राप्तोत्थानः पुनः कालान्नयत्येव यमालयम्॥

अर्थात—युवा तथा बलवान् को यदि यह (लसिकादि) मधुमेह हो गया है तो वह साध्य है। दुर्बलो एवं वृद्धों का तथा चिरकालीन (Chronic) मेह असाध्य होता है फिर कभी-कभी यह बढ़ा हुआ रोग भी पथ्यापथ्य से (Diet control) स्वयं शांत हो जाता है और फिर कुपथ्य सेवन से प्रकोपक कारणों से यह रोग पुनः उत्पन्न हो जाता है, पुनः उत्पन्न हुआ रोग (Relapse) फिर कालान्तर में मृत्यु का कारण हो जाता है। मधुमेह की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धांत वर्तमान में—

के प्रमुख मधुमेह अनुसन्धान मद्रास के मधुमेह के विशेषज्ञों के अनुसन्धान के उपरान्त निश्चित किया गया है।

इस आहार व्यवस्था को पहले तो शंका की निगाह से देखा गया, परन्तु बाद मे जब उसके परिणाम सामने आये तो यही लगा कि रोगी को यह आहार व्यवस्था अच्छी लगी और उसका मधुमेह पर औषधियों का सन्तोषजनक प्रभाव पर तथा रक्त में लिपिड़ (वसा का एक प्रकार का ऐसा रसायन जो लिपिड़ के रूप में रक्त में भ्रमण करता है, और मधुमेह के रक्त में उसकी मात्रा कुछ बढ़ जाती है) की मात्रा भी इन रोगियों में कम हो गई। इस आहार व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि रोगी को नई व्यवस्थ: अपनाने में कोई अड़चन नही हुई, तथा मधुमेह पर नियन्त्रण करना सरल हो गया, और यह कि मधुमेह के लिये दी जाने वाली औषधियों की मात्रा भी कम हो गई। इस बात की पुष्टि अन्य अनुसन्धान के कर्त्ताओं ने भी की है।

अब कार्बोहाइड्रेट की मात्रा तो बढ़ाई गयी, परन्तु प्रोटीन की मात्रा न्यून ही रही, रोगी को कम प्रोटीन मिलती थी, इसके लिये प्रोटीन की मात्रा ड्राप्स ५० ग्राम के १२० ग्राम कर दी गई, और इसके कारण केलोरी का ध्यान रखते हुये वसा की मात्रा बहुत कम ४० ग्राम करदी गयी। इस आहार से मधुमेह पर और अधिक नियंत्रण पाया जाने लगा।

इस व्यवस्था के अतिरिक्त एक और प्रकार के आहार का प्रबन्ध सोचा गया जिसमें तन्तु रेशे अधिक हों, और अधिक रेशे वाले आहार से मधुमेही को लाभ भी अधिक होता है।

अब तीसरा आहार फार्मूला तैयार किया गया जिसमें कार्बोहाइड्रेट अधिक हो और रेशेदार आहार भी ज्यादा हो। वह है—

कार्बोहाइड्रेट	३०० ग्राम =	१२०४ केलोरी
प्रोटीन	८५ ग्राम =	३४४ ,,
वसा	३० ग्राम =	२५२ ,,
		१८००

इसमें भी एक बात का ध्यान रखना पड़ता है कि प्रत्येक रोगी की अलग-अलग परीक्षा करके दो-चार बातें ध्यान में रखनी चाहिये एक यह कि उसके शरीर की आवश्यकता के अनुसार जितना जरूरी हो उतना भोजन कम से कम देना चाहिये। प्रत्येक रोगी में मात्रा भी न्यूनाधिक हो सकती है, जैसे कि एक स्थूलकाय वाले को थोड़ी केलोरी वाला आहार देना चाहिये तथा एक दुर्बल एवं कृश रोगी को अधिक केलोरी वाला आहार देना चाहिये।

इसी को चरक में चिकित्सा स्थान में स्पष्टतया कहा है—

स्थूल: प्रमेही बलवानि है क:,
कृशस्तथैक: परिदुर्बलश्य।
संवृंहणं तत्र कृशस्य कार्य,
संशोधन तस्य बलाकि मस्य।
—चरक चि० ६-१४।

सुश्रुत ने भी यही कहा है—

तत्र कृशमन्नपान प्रति संस्कृताभि: क्रियाभिश्चिकित्सेत स्थूलमपतर्पणयुक्ताभि:।
—चि० १२-२८।

अब थोड़ी सी और जानने योग्य बातें लिखकर आहार के प्रकरण को समाप्त रकते हैं।

कार्बोहाइड्रेट—ये विशेषकर चावल, गेहूं, मक्का, बाजरा, ज्वार इत्यादि से जिन धानों के दो दल नहीं होते (जैसे दाल इत्यादि के दो दल हो जाते हैं) रोगी चावल, गेहूं इत्यादि रोजाना व्यवहार करता है, परन्तु चीनी, गुड़, मधु इत्यादि बिल्कुल ही लेना निषिद्ध है।

प्रोटीन—हमारे देश में यद्यपि बहुत से लोग मांसाहारी है, फिर भी वे उसे रोजाना नहीं लेते, सप्ताह में एक या दो बार, फिर आजकल तो मांस का भाव भी आसमान छू रहा है, अत: कम ही प्रयोग होता है मांस। अत: रोगी के आहार में वानस्पतिक प्रोटीन जैसे चना, मटर, उड़द इत्यादि की व्यवस्था करनी चाहिये ये भी प्रोटीन ही हैं, मांस अण्डा, दूध, दाल, चना, मसूर, मटर, उड़द इत्यादि सभी प्रोटीन के स्रोत हैं।

वसा (Fat)—हम लोग प्रायः वसा के लिए तेल सरसों, तिल, नारियल, मूंफली इत्यादि का तेल प्रयोग करते हैं, जहां तक सम्भव हो वसा का आधा भाग Polyunsaturated Fattyacid के रूप में हो। डालडा इत्यादि नहीं।

फल शाक सब्जी—भोजन की मात्रा भी बढ़ जाये और शर्करा की मात्रा भी न्यून हो ऐसी सब्जी होनी चाहिए। हरे साग, लौकी, तरोई, केला कच्चा कद्दू, गोभी, भिण्डी तथा अन्य फीकी सब्जी इससे बिना किसी कैलोरी के बढ़ोतरी के रोगी का पेट भी भर जायेगा और उसे तृप्ति भी हो जायेगी।

तन्तु रेशे वाले आहार—हमारे आहार में अधिकतर अनाज, दालें, पत्तेदार सब्जी के ऐसे आहार हैं जिनमें रेशे ज्यादा होते हैं, यदि ये उपलब्ध न हों तो ग्वारफली, सेम इत्यादि से काम लें। इनसे रक्त-शर्करा भी कम हो जाती है। रेशेदार आहार के लाभ अनेक हैं परन्तु विशेष लाभ है इससे भोजन करने के उपरान्त बढ़ने वाली रक्तशर्करा बहुत कम ही बढ़ पाती है, मधुमेह नाशक औषधियों की मात्रा भी कम हो जाती है। और यह रक्त में बढ़े हुए रक्तवसा Triglycerides एवं कोलेस्ट्राल को भी घटा देती हैं। फिर शरीर के भार को भी कम करता है जो कि मधुमेही के लिये परमावश्यक है। साथ साथ रक्त की शर्करा भी कम होती रहती है।

आहार का निर्णय लेते समय तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिए कि उसकी पोषण शक्ति कितनी है, उसकी कैलोरी कितनी है, एवं उसमें शर्करा की मात्रा कितनी है। क्योंकि अधिक शर्करा वाले पदार्थों के सेवन से भोजनोपरान्त शर्करा भी बढ़ जाती है। फिर यह भी देखना जरूरी है कि रोजाना के खाने की मात्रा को दिन में ३-४ बार करके खाया जावे यानी थोड़ाई मात्रा कैलोरी के हिसाब से बार बार लेना चाहिये।

इसी को चरक ने ऐसा कहा है—

मुद्गादियूषं (Protein) [illegible]

पुराण शाल्योदनमाददीत ।

दन्तीङ्गुदी तैल (Fat) युतं प्रमेही

तथाऽतसी सर्षप (Fat) तैल युक्तम् ॥

—चरक चि० ६/२०

सुश्रुत ततः शालिषष्टिक यवगोधूम...आढ्यमे-मांसै घृहत...घृतैश्चेति । —सु० चि० ११/६

यही विधान आहार का आयुर्वेद में भी ज्यों का त्यों दिया गया है—

अर्थात् मूंग का यूष, (दाल) जो कि प्रोटीन है, तथा तिक्त रस वाले शाक जैसे करेला इत्यादि रेशा तन्तु वाले शाक, फाइबर पुराने शालि चावल कार्बोहाइड्रेट तथा दन्ती, हिंगोट, अलसी अथवा सरसों के तैल Fats (वसा) युक्त साठी का चावल, या तृण धान्य समा कोदों का सेवन करें इत्यादि। यही भाव और आदेश सुश्रुत ने भी व्यक्त किये हैं। पाठक ग्रंथ का अवलोकन करें।

मुख द्वारा दी जाने वाली मधुमेह नाशक औषधियां (म. ना. औ.)—

यद्यपि आधुनिक इन्जेक्शन, इन्सुलिन तो अभी विकसित हुई है मधुमेह की चिकित्सा आदि काल से मुख द्वारा औषधि देकर ही की जाती थी। इनका भी सीमित लाभ होता था।

इन्सुलिन की खोज के उपरान्त म० ना० औ० का महत्व यद्यपि कुछ कम होगया था, परन्तु धीरे धीरे मुख द्वारा म० ना० औ० जो सल्फोनील-यूरिया श्रेणी कहलाती है। मधुमेह की चिकित्सा में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया।

इन औषधियों को प्रयोग करने से पूर्व रोगी की पूर्ण परीक्षा करनी अत्यावश्यक होती है इन मुख द्वारा देने वाली औषधियों सभी प्रकार के मधुमेही में अंधा-धुंध नहीं देना चाहिये। हम नीचे इनको देने न देने के निर्देश दे रहे हैं।

इन औषधियों को कहां नहीं देना चाहिए—

जो रोगी इन्सुलिन आश्रित हों, यकृत अथवा वृक्क रोग से ग्रसित हों, जिन्हें उपरोक्त औषधि असात्म्य (Allergy) करती हो, लिवर गुर्दे [illegible] एवं [illegible] में दुष्प्रभाव देता करती हो, जैसे शरीर

में दाने कामला अथवा पोटाशियम की कमी Hyponatremia पैदा करते हो। जिस रोगी को अत्यधिक शंका भय तनाव (Stress) व्रण अथवा शल्य क्रिया हुई हो। जो कृश एवं वृद्ध रोगी समुचित आहार न ले सकते हों, तथा किसी प्रकार का ऐसा जीर्ण रोग जिसके कारण शरीर कृश दुर्बल हो गया हो, मधुमेह युक्त गर्भिणी स्त्री, मधुमेह की बढ़ी अवस्था, अथवा जो रोगी अपनी आयु के अनुपात से कम भार वाले हों, ऐसों को मुख द्वारा दी जाने वाली म० ना० औ० को या तो नहीं देनी चाहिए या फिर बहुत ही सावधानी से प्रयुक्त करनी चाहिए।

इन मुख द्वारा म. ना. औ. देने का लाभ और सुविधा—

एक तो रोगी को दवा लेने में परेशानी नहीं होती फिर रोगी को बार बार डाक्टर के पास जाकर स्वतन्त्रता पूर्ण दवा लेता रहता है, आसानी से प्रयुक्त की जा सकती है, इन्सुलिन की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि इन दवाओं से रक्त की शर्करा कभी-कभी न्यून होती है, एवं स्थानीय किसी प्रकार की प्रतिक्रिया (Reation) नहीं होती।

असुविधायें एवं हानियां—चिकित्सक को रोगी की परीक्षा करने का कम अवसर मिलता है, अतः मधुमेह से होने वाले उपद्रवों की तरफ पहले ध्यान नहीं जाता और यदि कोई दवा साथ-साथ ली जाती है तो इन दवाओं का आपस में प्रतिक्रियायें अच्छी या बुरी होने की सम्भावनायें होती हैं।

इन्हे अधिक लेने पर कभी-कभी विषैले प्रभाव Toxic Reaction भी हो सकते है। एक निर्धारित मात्रा में लेनी पड़ती है अपनी इच्छा से इन्हे घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता, फिर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है इन औषधियों का शरीर को सात्म्य हो जाने से लाभ भी कम होने लगता है।

नीचे हम इन औषधियों की एक सूची दे रहे हैं इनको शक्ति रोजाना दी जाने वाली मात्रा, कितनी बार दी जानी चाहिए—

	नाम औषधि	शक्ति मिलिग्राम में	दैनिक मात्रा मिलिग्राम में	कितनी बार में दी जानी चाहिये
प्रथम प्रकार —	(१) टोलब्यूटेमाइड	५००	५००–३०००	२–३
	(२) क्लोरीप्रोडेमाइड	१००–५००	१००–५००	१
	(३) एसीटोनेक्सेमाइड	२५०–५००	२५०–१५००	१–२
	(४) टोलेजेमाइड	१००–२५०–५००	२५०–१०००	१–२
द्वितीय प्रकार—	(५) ग्लीवेंचेलमाइड	१.५, २.५, ५	५–२०	१–२
	(६) ग्लिपिजाइड	५	२.५–३०	१–२
	(७) ग्लाइवोमोराइड	२५	१२.५–७५	१–२
	(८) बूफार्मिन	१००	१००–३००	१–२
	(९) मेटाफार्मिन	५००	१०००–१५००	२–३
	(१०) फेनफारमिन	२५–५०	५०–२००	२–३
	(११) एकेरेबास	१००	१००–६००	२–३
	(१२) गारगम	५०००	५०००–१००००	२–२

मुख द्वारा म० न० औ० देने से पहले उसके आहार और थोड़े बहुत परिश्रम या व्यायाम के साथ-साथ इन दवाओं का प्रयोग शुरू करना चाहिए।

स्थूल व्यक्तियों में जो इन्सुलिन निराश्रित है उनको तभी देना चाहिये जब भोजनोपरान्त रक्त-शर्करा की मात्रा, उपवास के समय की रक्त शर्करा

की मात्रा से अधिक हो। यदि एकेरबोस उपलब्ध हो तो दे सकते हैं अथवा मेटाफार्मिन दें, यदि उपरोक्त उपचार से लाभ न दिखाई पड़े तो टूलब्यूटेमाइड या ग्लिपिजाइड दे सकते हैं। यदि उपवास के समय एवं भोजनोपरान्त भी रक्तशर्करा की मात्रा अधिक है तो फेनफारमिन देना चाहिये। मगर बहुत देख-भाल कर सावधानी बरतते हुए दें। जब से भी काम न करे तब क्लोरोप्रोपेमाइड/ग्लाबिनेक्लामाइड दें। क्लोरोप्रोपेमाइड दिन भर में एक बार और ग्लीबिनेक्लमाइड आधी-आधी मात्रा भोजन से पहले दो बार देनी देनी चाहिये।

कृश रोगियों में ऊपर दिये गये सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर कोई सा एक Sulfonyl urea देना चाहिये। अगर भोजनोपरान्त रक्तशर्करा की मात्रा बढ़ जाती है, तो एकेरबोस को इन्सुलिन के साथ-साथ दे सकते हैं।

जब उपवास की हालत में रक्तशर्करा २०० मि. ग्रा. के आसपास हो, Chlorpropamide दें। ऐसे वृद्ध रोगियों को नहीं देनी चाहिये जो दुर्बल हों, कृश हों और वृक्कविकार से पीड़ित हों अथवा उन लोगों को भी नहीं देनी चाहिये जो मदिरापान करते हों अथवा यकृदाल्युदर Cirrhosis of Liver से ग्रसित हों। यदि उपवास के समय रक्तशर्करा ज्यादा बढ़ा हुआ न हो तो उस समय Blibenclamide शर्करा को बहुत कम देने का खतरा पैदा कर सकती है। Glipizide उन रोगियों को नहीं देना चाहिये जिन्हें रक्त में बिना खाये भी रक्तशर्करा बढ़ी रहती है। Piguanide विशेषकर Phenformin यकृत् विकार, वृक्करोगी अथवा हृदय रक्तदाब इत्यादि से ग्रसित रोगी को नहीं देनी चाहिये। Guargum का प्रयोग [illegible] मधुमेही, [illegible] है। [illegible] यदि [illegible] पैदा हो जाये या [illegible] अथवा दवा से [illegible] औषधि [illegible] चाहिये।

यदि औषधि के एक मास के प्रयोगोपरान्त भी लाभ न हो तो समझना चाहिये कि दवा ने अपना काम नहीं किया क्योंकि या तो रोगी की परीक्षा पहले ठीक से नहीं की गई, आहार में भी गड़बड़ी हो गई होगी, किसी प्रकार का संक्रमण शरीर में होगा। इसे प्राथमिक असफलता कहते हैं, इसके विपरीत यदि पहली दवा ने लाभ किया हो और फिर बाद में रक्तशर्करा पुनः बढ़ गयी हो तो इसे द्वितीय असफलता कहते हैं। इसका कारण गलत दवा का प्रयोग, अन्य प्रयुक्त दवाओं से दवा का मेल न खाना, भोजन में सावधानी न बरतना, गर्भावस्था इत्यादि।

अतः चिकित्सा में सफलता पाने के लिये दवा खाने और आहार लेने में सावधानी एवं समय का ख्याल रखें, दवा को बदल दें. किसी अन्य औषधि के साथ इन्सुलिन का प्रयोग करके देख लें। यदि इन्सुलिन से लाभ हो तो इन्सुलिन को ही कुछ दिन देकर देख लें।

इन दवाओं के साथ अन्य दवायें जैसे कि Phenyl butazone, Pas, Aspirin A. O. E, सल्फा दवाईयां क्लोरम फेनिकोल, रक्तदाब को कम करने वाली कुछ दवायें, मदिरा का अत्यन्त सेवन, कुछ Anabolic steroids (शरीर भार इत्यादि बल बढ़ाने वाले योग) देने से भी ये दवायें अपना प्रभाव नहीं कर पातीं और इन दवाओं से विशेषकर विपरीत प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है।

इसके अतिरिक्त जो दवायें मुख द्वारा दिये जाने वाली मधुमेह निवारक औषधि के साथ सेवन करने पर ऐसा विपरीत प्रभाव डालती है कि इन मुख द्वारा सेवन की जाने वाली दवाओं का प्रभाव कम हो जाता है वे हैं —Phenobarbitone, Rifampin, Isoniazid, मूत्रल दवायें, Corticosteroids, Oestrogen Indomethacin, Phenytoin, Diazoxide और मदिरापान इत्यादि हैं।

अब जब इन दवाओं का [illegible] प्रयोग किया जाता है तो निश्चित ही [illegible] होती है। [illegible]

उचित सोच-समझकर दी गई दवा अवश्य लाभ करती है।

आयुर्बेद में मधुमेही के लिए अनेकों औषधियाँ हैं। उनमें से अपने विशेष रोगों के लिए उपयुक्त दवा का निर्णय कर पाने पर दवा देने पर लाभ अवश्य होता है। आयुर्बेद में बहुधा शिलाजीत, बसन्तकुसुमाकर, स्वर्णमाक्षिक-भस्म का प्रयोग अधिक होता है।

आयुर्वेद मत—

ओजोमेह में—लोहभस्म का प्रयोग विशेषकर करना चाहिये।

विशेषाद्योजेय तत्र लोह मुख्यं हि भेषजम्।

यदि ओजमेह में वृक्करोग हो तो पारदयुक्त रस को सेवन करें। इसके अतिरिक्त हरीतक्यादि क्वाथ—

हरड़, अनार का छिलका, सोये के बीज, आंवला, बबूल की छाल का क्वाथ। इसके बारे में कहा है—

अनेन दारुणः स्रंसुस्तोजसो तक्ष्यति ध्रवम्।

—भैं० र०

अजमोदादि चूर्ण, सर्वेश्वर, बृहदङ्गेश्वर, चन्द्रकान्ति रस देना चाहिये, यहां भी मुख द्वारा दी जाने वाली मधुमेह नाशक औषधि देने से पूर्व वृक्करोग की चिकित्सा कर देनी चाहिये। यही नीचे कहा गया है—

वृक्क शोथ समुदभूतं त्वोजोमेहे प्रयत्नतः।
वृक्क रागाधिकाररोक्त क्रियां सम्परियोजयेत्॥

—भैं० र०

लसीकामेह—जैसा आधुनिक चिकित्सा में कहा गया है कि नवीन, युवाओं में, बलवान् का रोग साध्य है वृद्ध कृश दुर्बल की चिकित्सा में परेशानी होती है इसी प्रकार आयुर्बेद में कहा है—

यूना बलवतां प्रायोनवोत्थः साध्य अचते।
दुर्बलानां तु वृद्धानां चिरोत्थोऽसाध्य एव स.॥

—भैं० र०

जैसा ऊपर कह आये है दवाओं के सेवन से कभी-कभी रोग शान्त हो जाता है पर कुपथ्य प्रकोपों के कारण से पुनः बढ़ जाता है—

कदाचिद्व वमा रूढ़: पथ्याहारैः प्रेशाम्यति।
प्राप्तोत्थानः पुनः कालाक्षयत्येव यमालयम्॥

—भैं० र०

लसीकामेह में सारस्वरादि क्वाथ, चन्दनादि चूर्ण, तथा—बहुमूत्रं प्रमेदोक्तान् सोमनाथादिकम् रसान्
लसीकामेहशान्त्यर्थं नरः सम्यक् प्रयोजयेत—

—भैं० र०

अर्थात् लसीकामेह वाले को सोमनाथ रस, वंगेश्वर, चन्द्रप्रभा, वसन्त कुसुमाकर, स्वर्ण वंग रसों का प्रयोग करना चाहिये।

पथ्य—मूंग, जौ, बथुवासाग, लाल शालि चावल, केला, पेठा, पालक, ठण्डे पर्वतों पर निवास, मन को सदा प्रसन्न रखे। थकान न होने दें, ये सब लसीका मेह में हितकर हैं।

मधुमेह—इसकी चिकित्सा में सबसे ज्यादा बल शिलाजीत को दिया गया है कहा हैं—

नसोऽस्ति रोगो मुख साध्यरूपः
शिलाह्वयं यन्त्रजयेत्प्रसह्य।

विस्तार के लिये पाठक सुश्रुत के चिकित्सा स्थान १३ का मधुमेह प्रकरण देखें।

शिलाजीत के प्रयोग काल में कुल्थी दाल और कबूतर मांस को त्याग देना चाहिए।

तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थाश्चि विवर्जयेत्।

—सु. चि. १३-१८

शिलाजीत के अन्दर कुछ ऐसी धातुयें (Minerals) होने हैं जो एलोपैथिक मुख द्वारा प्रयुक्त मधुमेह नाशक औषधियों में नहीं होते। ये हैं लोह, सीसा, ताम्र, चांदी, सोना, जिनके आत्म/सात Assimilation होने में कठिनाई नहीं होती अतः शिलाजीत को विविध द्रव्यों के क्वाथों से भावित करके सेवन कराया जाता है।

पयांस तक्राणि रसाः सयूषाः
तोयं समूत्राः विविधा कषायाः।
आलोडनार्थं गिरजस्य रास्ताः
तेते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्॥

—चरक

तर्थात क्वाथों में भावना देकर शिलाजीत का प्रयोग करें। शिलाजीत के उपरांत स्वर्णमाक्षिक की भस्म का प्रयोग भी कराना हितकर होता है।

२. लक्षण—रोगी लड़खड़ाने लगता है, ढंग से बातों का जवाब नहीं दे पाता, अधिक ठंडा पसीना आता है, चेहरा पीला पड जाता है क्रोध आने लगता है, एक दम भूख सी लगती है, बेहोशी या अर्ध चेतना सी होती है।

३. उपाय—रोगी को तुरन्त शक्कर दें, अथवा यदि पी सकें तो उसे शर्बत, फलों का स्वरस, गुड, मधु इत्यादि दें, इतने पर भी यदि रक्त की शर्करा न बढ़े तो उसे ग्लूकोज का नस द्वारा I.V. इन्जेक्शन दें और देखें कि दशा सुधरी या नहीं।

२. मन गिरासा, अर्ध चेतना (Drowsines) अत्यन्त प्यास लगती है, पेशाब बार-बार आता है, चेहरा त्वचा लाल सी हो जाती है, वमन होती है मुंह से मीठी गन्ध आती है (शराब जैसी) जोर-जोर से सांस लेने में कुछ कठिनाई सी होती है, और अर्ध चेतना तथा बेहोशी भी हो जाती है।

३. यदि यह पता नहीं कि इसके रक्त में शर्करा कम है अथवा अधिक तो उसे थोड़ी शक्कर युक्त पीने का पानी दें। यदि १५ मिनट में लाभ न हो तो आगे बताये गये डायबिटीज कीटोसिडोसिस की चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करें।

मधुमेह जनित रक्त शर्कराधिक्य (कीटोसिडोसिस) का चिकित्सा क्रम—प्रथम रोगी को कम से कम ५ लिटर नारमल सैलाइन देकर जलाभाव दूर करें। इसका लाभ यह भी होगा कि इन्सुलिन रक्त में जलाभाव के कारण अपना कार्य (शर्करा को कम करने का) नहीं कर पा रही थी उसे अपना प्रभाव करने का अवसर मिलेगा। मूत्र की शर्करा भी कम हो जाएगी।

अब रक्त शर्करा की जांच करें और इन्सुलिन की मात्रा को नार्मल सैलाइन में ०.१ मिलीग्राम प्रति किलो ग्राम भार के हिसाब से प्रति घंटे देते रहना चाहिये। अथवा एक साथ ५० यूनिट इन्सुलिन ५०० मि. लि. सेलाइन में मिलाकर अतिशीघ्र ५ से १५ मिनट में दे देना चाहिये। अगर शंका हो तो उतनी ज्यादा मात्रा में इन्सुलिन एक बार में न देकर वही पहले वाली ०.१ से ०.२ यूनिट प्रति किलोग्रामके हिसाब से देते रहना चाहिये।

इससे यदि रक्तशर्करा दो घण्टे में कम नहीं होती है तो सेलाइन युक्त इन्सुलिन चढ़ाने की गति दुगनी कर देनी चाहिये। ज्यों-ज्यों शर्करा की मात्रा कम होते-होते २५० से ३०० मि.ग्रा. प्रतिशत हो जाय तो समझ लें कि अब जो इन्सुलिन दे दिया गया है वह शर्करा को और भी कम कर देगा, ऐसा नहीं कि रक्त में शर्करा की मात्रा बिल्कुल ही न रहे, अतः नॉर्मल सेलाईन रोककर अब उसे ग्लूकोज ५% वाला देना शुरू कर देना चाहिये, इससे रक्तशर्काल्पता का भय नहीं रहेगा तथा उसका जलीयांश भी बढ़ेगा। यदि अवस्था और रक्तशर्करा की उपस्थिति अभी है तो इन्सुलिन को अभी और ८ से २४ घण्टे तक चलने देना चाहिये ताकि कीटोसिडोसिस पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय।

अब नस द्वारा दी जाने वाली इन्सुलिन को बन्द करके ½ घण्टे पहले थोड़ी-सी इन्सुलिन और दे देनी चाहिये।

यदि जलाभाव बहुत ज्यादा न हो तो मांस द्वारा भी ½ यूनिट से ०.१ यूनिट प्रति मि.ग्रा. भार के हिसाब त्वचा के नीचे देने से लाभ होते देखा गया है। साथ में नॉर्मल सेलाईन दें।

इस प्रसंग को यहां ही समाप्त करके कुछ अन्य आवश्यक बातों को जैसे गर्भिणी का मधुमेह, बालकों का मधुमेह, मधुमेह से विशेष जानने योग्य और ध्यान देने योग्य क्या-क्या बातें होती हैं उनका संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(१) बालकालीन मधुमेह—भारत में कुल मधुमेहियों में बाल्यकालीन मधुमेह लगभग ·०७ से १·४% मधुमेह प्रारम्भ से १५ वर्ष की आयु के बच्चों को होता है। और जैसा कि पहले लिख आये है उसको प्रायः आयु पर्यन्त इन्सुलिन पर ही आश्रित रहना, बार-बार चिकित्सक के पास जाने, उचित व्यायाम और खाने-

उनके अंग स्वयं इन्सुलिन बनाने में सक्षम हो जाते हैं और वे प्रायः ठीक ही रहते है। किसी-किसी में स्थाई मधुमेह भी उसी शैशव काल से प्रारम्भ हो जाता है।

द्वितीयक मधुमेह—यह क्लोम के रोगग्रस्त होने के उपरान्त होता है क्लोम में पथरी सी बन जाती है X ray में क्लोम साफ अपारदर्शक दिखाई देता है। एवं बार-बार उदर शूल जो मधुमेह होने से पहले भी कभी-कभी होता है।

उसके अतिरिक्त अतःस्रावी ग्रन्थियों के विकार, वंशज ऐसे कारण जिससे मांस पेशियों और स्नायुविक दुर्बलता आनी शुरु हो जाती है, तथा एक ऐसा रोग बहुमूत्र (बिना शर्करा के) तथा मधुमेह दोनों साथ-साथ भी हो जाते है उसमें नेत्रों पर, कानों पर भी पड़ सकता है। इतना सब कुछ लिख चुकने पर हम बाल्यकाल के मधुमेह की रोक थाम के प्रबन्ध के बारे में कुछ कहेंगे।

उपाय—अधिक दिनों तक उपद्रवों से जीवन भी संकटमय बना रहता है, अत. संक्षेप में चार बातों का ध्यान रखना चाहिये, जो मधुमेह को रोकने में परम सहायक होती है।

१. इन्सुलिन, २. आहार, ३. परिश्रम व्यायाम, ४. अपने रोग के प्रति सजग रूप से सभी बातों को सुचारु रखें। उचित नियन्त्रण से ही अच्छे परिणाम निकलने की आशा करनी चाहिये।

रक्ताल्प शर्करा का अभाव और शर्कराधिक्य रक्त दशा एवं बच्चे की बढ़वार समुचित तौर से होने लगे, खाने से पूर्व की रक्त शर्करा १८० मिलीग्राम प्रतिशत से कम होनी चाहिये। इन्सुलिन देते रहने से मधुमेह के उपद्रवों का अभाव एवं बच्चा स्वयं अपनी चिकित्सा के प्रति सचेत रहे।

यदि इन्सुलिन देना है तो पहले यह निश्चय करलें कि कौन सी इन्सुलिन देनी है, कब देनी है और कितनी शक्ति की देनी है। भारत में इन्सुलिन ४० यूनिट की प्रायः अधिक मिलती है। और वह थोड़ी देर तक रक्त में अपना कार्य करती है (साधारण, घुलनशील Soluble) ही प्राप्य है, अपेक्षाकृत इसका मूल्य भी कम होता है। प्रायः बच्चों को यही दी जाती है। दीर्घकालीन प्रभाव वाली (लोंगएक्टिंग) इन्सुलिन से यदि रात में शर्करा कम हो गयी तो सोते हुए पता नहीं चलेगा। अतः उसे न दे।

बच्चों में इन्सुलिन (घुलनशील Soluble) वाली ०.५ से २ यूनिट प्रति किलोग्राम भार के हिसाब से कम ज्यादा भी कर सकते हैं। पांच वर्ष के बच्चों तथा वयस्क जिन्हें ४० यूनिट तक देना पड़े उन्हें दिन भर में सब मात्रा एक बार में दे देनी चाहिए। यह अच्छा होगा कि पहले थोड़ी मात्रा से आरम्भ करके फिर उसके रक्तशर्करा पर प्रभाव के अनुसार मात्रा बढ़ा सकते है। इन्सुलिन की उचित और सही मात्रा उसे ही जानना चाहिये जितनी मात्रा से भोजन से पूर्व के मूत्र मे शर्करा न हो अथवा नाममात्र हो।

आखिर इन्सुलिन ही नहीं देते रहना चाहिये, क्योंकि इससे कालान्तर मे मोटापा भी आ सकता है, रोगी अधिक खाने लगता है, एवं रक्त शर्करा शून्य भी हो जाती है।

आहार—बच्चो के आहार को बड़ों के आहार केलोरी के हिसाब से नियंत्रण में रखना चाहिये। आहार भी मधुमेही की चिकित्सा में प्रमुख स्थान रखता है। आहार पर आधी चिकित्सा निर्भर करती है। बच्चा बार-बार खाता है अतः अधिक केलोरी ग्रहण कर सकता है अतः सभी आहार को देखते हुये उसे इस हिसाब से भोजन देना चाहिये कि उसे एक वर्ष की आयु पर १००० केलोरी फिर प्रत्येक वर्ष के हिसाब से १०० केलोरी बढ़ाते रहना चाहिये।

अर्थात् यदि बच्चा १० वर्ष का है तो उसे १००० केलोरी का भोजन दें। फिर प्रत्येक वर्ष बढ़ने पर १०० केलोरी बढ़ावें अथवा प्रथम १० कि. ग्रा. पर १०० केलोरी प्रति कि. ग्रा., तदनन्तर १० से २० कि. ग्रा. बढ़ने पर प्रत्येक कि. ग्रा. पर ५० केलोरी फिर २०-७० कि. ग्रा. बढ़ने पर २० केलोरी प्रत्येक कि० ग्रा० पर भोजन करें।

बच्चों को पूरी केलोरी ५-६ बार भोजन करने के हिसाब से बांट दें। मिठाई, मधु, मुरब्बे, गुड़, चावल

शर्बत, रबड़ी इत्यादि बिल्कुल नहीं देनी चाहिये। दाल, दूध की बनी घी की वस्तुएं, कुछ सब्जी शाक तरकारी एवं मांस अण्डा ले सकता है।

मीठा करने के लिये बाजार में बहुत सी शर्करा विहीन गोलियां मिलती हैं जो दूध, चाय इत्यादि को मीठा बना देती है जैसे सेक्रीन, सोरबीटाल, स्वीटेक्स इत्यादि देखकर तभी प्रयोग करने चाहिये जब बच्चा बिना मीठे के न रह सकता है।

पहले पहले लड़के को तोलकर उसका कैलोरी मूल्य ज्ञात कर लें। फिर जो भी बच्चा खाता है वही खाना घर में बनाना चाहिये। हलुवा, पूरी एवं और विविध पकवान जहां तक हो न बनाएं अन्यथा बच्चा खाये बिना नहीं रहेगा।

ज्यादा खाने से इन्सुलिन की मात्रा भी बढ़ानी पड़ती है इन्सुलिन से भूख भी बढ़ती है अतः नपातुला भोजन ही ठीक रहता है।

व्यायाम परिश्रम—बच्चे का व्यायाम अथवा परिश्रम करना आवश्यक है परिश्रम से इन्सुलिन की मात्रा कम हो जायेगी, परिश्रम से रक्त की कुछ शर्करा खप जाती है, उसका शरीर भार नही बढ़ पायेगा, हृदय के कारोलोनरी धमनीगत रोग (Coronary artery Disease) नहीं होगा। मांस पेशियों में बल आता है इत्यादि। चूंकि परिश्रम से रक्त शर्करा एवं कार्बोहाईड्रेट का पाचन शीघ्र हो जाता है, अधिक इन्सुलिन देने से फिर रक्त बिल्कुल शर्करा रहित होकर हाइपोग्लायसीमिया होने की आशंका हो जाती है, और परिश्रम से इन्सुलिन का शरीर से शीघ्र आत्मसात हो जाता है, इसलिये उसके जिन अंगों को परिश्रम या खेलने से ज्यादा गति या परिश्रम करना पड़े उन अंगों में इन्सुलिन नहीं लगानी चाहिये।

जिन बालकों में इन्सुलिन कम दी जाती है, तथा अधिक देखभाल नहीं होती उनको परिश्रम भी कम करना चाहिये।

विशेष देखभाल—रोजाना की इन्सुलिन की मात्रा का ध्यान रखें। रक्त एवं मूत्र की शर्करा की समय समय पर परीक्षा कराते रहनी चाहिए। मूत्र संस्थान, हृदय, फुफ्फुस, रक्तदाब, नेत्र, वृक्क इत्यादि में उपद्रवों को न होने दें, इनकी जांच कराते रहना चाहिए। जहां तक हो, रोगी या घर वालों को मूत्र एवं रक्त के शर्करा की जांच करनी चाहिए, स्वयं इन्सुलिन इन्जेक्शन लगाना आना चाहिए। जब रोग जैसे ज्वर, खांसी, व्रण इत्यादि हो जाय तो चिकित्सक की सलाह से इन्सुलिन की मात्रा कुछ बढ़ा देनी चाहिए। इसकी जांच के लिये डायस्टिक्स टैस्ट इत्यादि से समय लगता है अतः Clinites (Chemi Tab) सुलभ और सुभीते के लिये अच्छे रहते है।

हमने तक्र के कल्प से बहुत दिन हुए एक मधुमेही को ठीक किया था, उसके साथ-साथ प्रचुर मात्रा में विटामिन एवं Mineral धातुओं को भी दिया गया था। बाद में वह रोगी एक दुर्घटना में मर गया। अधिक विटामिन एवं धातुओं को देने से शरीर मे नये तन्तुओं का निर्माण होता है, शरीर की रचना टूट-फूट की मरम्मत हो जाती है, उसी सिलसिले मे क्लोम (पैंक्रियाज) की भी नरचना में वृद्धि हो जाती है।

Vitamin C	500 mg.
Arovit Vit. A	150 mg.
Nutrisan मिलित Vit.	1 cap.
Yeast Tab.	4
Ostocalcium	1 गोली
Saffula Oil	2 चम्मच

यह एक दिन की मात्रा खाने के साथ देने को है, इसके साथ-साथ शुद्ध शिलाजीत १-२ ग्राम दो बार देना चाहिये।

गुड़, शक्कर, चीनी, आलू, मैदा न लें। लाभ होगा।

शिलाजीत के लिये वाग्भट में भी जोर देकर कहा गया है कि—

मधुमेहिणां मनादप्यौषधिभिः परिवर्जितः।
शिलाजतु तु नान्दाग्र्यैर्मदतिः पुनर्नवः॥

—वाग्भट चिकि० १२-४४

अर्थात् मधुमेह की अवस्था तक पहुंचा हुआ एवं वैद्यों द्वारा असाध्य कहकर त्यागा हुआ प्रमेही भी एक सौ पल शिलाजीत का सेवन करने से पुनः नया (निरोग) हो जाता है।

परन्तु हम देखते हैं कि अब शिलाजीत के प्रयोग को आधुनिक औषधोपचार के सामने कम महत्व दिया जाने लगा है। मगर वास्तविकता यह है कि यह निरापद उपद्रव रहित और आयुर्वेद की मधुमेह की उत्कृष्ट महान् प्रभावशाली औषधि है।

हमने अपने लेख में भोजन के बारे में सब कुछ लिख दिया है। पाठकगण भोजन की प्रत्येक वस्तुओं के केलोरी, प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट इत्यादि की मात्रा जानने के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध तालिका देखने का कष्ट करें। फिर भी कुछ विशेष बातें क्या न खायें या कम खायें, क्या ज्यादा खायें यह भी स्पष्ट किये देते हैं।

क्या न खायें—किसी भी रूप में शक्कर, मिठाइयां, आइसक्रीम, चाकलेट, गुड़। आलू, अरवी, शकरकन्दी, सूजी, मैदा, बिना चोकर का आटा, चावल (अल्प मात्रा मे), खोया, दही, मट्ठा, पनीर (जिसमे घी भी हो) घी, मक्खन, पूरी, पराठा, समोसा, भुजिया, पकोड़ इत्यादि। केला, चीकू, मीठा अगूर, लीची, मीठा आम इत्यादि। अण्डे के व्यञ्जन, यकृत्, वृक्क, मस्तिष्क का मांस इत्यादि और मदिरा तथा बीयर न लें।

गर्भावस्था का मधुमेह—इन्सुलिन से पहले गर्भावस्था का मधुमेह सुनने में नही आता था या तो जांच के अभाव में अथवा अन्य कारणों से माता की मृत्युदर में कमी हुई है, परन्तु मधुमेही माता के शिशुओं में मधुमेह एवं अन्य उपद्रवों मे बहुत कमी आई है। भारत मे लगभग १०-१४ प्रतिशत शिशुओं की मृत्यु हो जाती है। गर्भ से पहले एव प्रसवोपरान्त मधुमेह की अपनी विशेषतायें हैं।

गर्भाधान से पूर्व मधुमेह का अपने आप पता नही लगता, परन्तु जब बार-बार गर्भपात होता हो या बच्चे का भार अधिक हो अथवा मृत शिशु को जन्म देती हो–इत्यादि। ऐसे अवसर पर आहार और इन्सुलिन का यथोचित प्रयोग, रक्तशर्करा, मूत्रशर्करा की जांच, भार का नियन्त्रण एवं गर्भाधान से पूर्व सभी प्रकार से शर्करा की जांच और सावधानियां वरतनी चाहिये। कभी-कभी गर्भाधान से पूर्व जांच न हो पाने से गर्भावस्था में मधुमेह के भयकर उपद्रव हो जाते हैं। अगर रुग्णा को मधुमेह के साथ हृत्शोथ (Ischemic heart) रोग है तो गर्भधारण नही होने देना चाहिए।

प्रसवोपरान्त मधुमेह—गर्भावस्था में मधुमेह पाया जाय तो इसमें शिशु को तथा बाद में माता को खतरा रहता है। इसके लिए गर्भिणी के रक्त में शर्करा की मात्रा को शून्य रखना पड़ता है। प्रसवोपरान्त भी किसी-किसी को कालान्तर में मधुमेह रहता है और गर्भभ्रूण में विकार आना भी सम्भव होता है।

गर्भिणी के उपवास के समय रक्तशर्करा १४० मि. ग्रा. से अधिक हो और ग्लूकोज सहन परीक्षा (Glucose tolerance test) मे शर्करा २०० मि. ग्रा. से ज्यादा हो तो निश्चित् रूप से मधुमेह समझना चाहिये।

जाच से पूर्व रोगी को १२-१४ घण्टे तक उपवास करना चाहिये, तदुपरान्त १०० ग्राम ग्लूकोज देकर जाच करनी चाहिये।

उपद्रवो मे गर्भावस्था का Ketosis हो सकता है, आखो मे खराबी Retinopathy हो सकती है एव मधुमेहजनित वृक्क रोग तथा हृत्शोथ भी उपद्रव रूप से हो सकता है। विशेष उपद्रव माता को रक्तदावाधिक्य, सर्वाङ्गशोथ, मूत्ररोग, गर्भाशय में ही भ्रूण की मृत्यु, श्वसन-सस्थान मे विकारजन्य (Pulmnery Hypertension) होने की सम्भावना बनी रहती हे।

गर्भिणी के मधुमेह मे स्वय गर्भिणी एवं उसके गर्भस्थ बच्चे को भी हानि होने की भी आशका रहती है, बच्चे के अङ्ग विकृति, गर्भ में ही मृत्यु एवं सबसे बड़ी बात यह है कि कभी-कभी यह बच्चा मोटा हो जाता है।

गर्भिणी के मधुमेह का प्रबंध अगर देखा जाय तो गर्भ धारण से पहले ही किया जाना चाहिये फिर अगर गर्भ धारण होगया तो गर्भावस्था में करना चाहिए,

और गर्भ धारण से लेकर प्रसव तक की अवधि में सावधानी बरतें फिर प्रसव और प्रसवोपरान्त एवं दूध पिलाने की अवधि में भी रोग का प्रबन्ध करना चाहिये।

गर्भ पूर्व प्रबन्ध में उचित आहार, इन्सुलिन, थोड़ा परिश्रम और रक्त शर्करा पर नियंत्रण रखना चाहिये। गर्भ धारण से प्रसव तक गर्भिणी की परीक्षा करके सन्तुलित आहार इन्सुलिन और थोड़ा बहुत व्यायाम परिश्रम करना, जो कि बहुत आवश्यक है। परिश्रम के अन्तर्गत भोजनोपरान्त २० मिनट तक जल्दी-जल्दी चलना। ताकि भोजन पचे। भोजनोपरांत रक्तशर्करा के कम होने से इन्सुलीन भी कम देनी पड़ेगी। यदि रक्तदाबाधिक्य हो और हृदशोथ रोग हो, वृक्क रोग, अथवा अल्प रक्तशर्करा हो या पेट में दो बच्चे हो तो परिश्रम ज्यादा नहीं करना चाहिये। इन्सुलिन की जरूरत उन गर्भिणी स्त्रियों को होती है जिन्हें आहार की चिकित्सा से लाभ नहीं होता, उनके लिये यदि उपवास की दशा में रक्तशर्करा १४० मि.ग्रा. प्रतिशत से अधिक हो तो जो भी इन्सुलिन देना हो उसे १२-१२ घण्टे के अन्तर से आधा आधा करके दें। प्रातः और सायं के खाने से पहले। दूध में घुलनशील और मध्यावधि तक कार्य करने वाली इन्सुलिन मिलाकर देनी चाहिये।

जब प्रसव हो रहा हो तब इन्सुलिन के साथ ग्लूकोज देने का विधान है इसमें प्रसव के समय रक्त-शर्करा की हीनता बनी रहेगी तथा बच्चे के शरीर में रक्त शर्कराधिक्य नहीं होगा।

कुछ शब्द वृद्धावस्था में होने वाले मधुमेह के बारे में लिखना अप्रसांगिक नहीं होगा ? संक्षेप में—

बुढ़ापा वृद्धों का मधुमेह मात्र भोजन की उचित व्यवस्था ज्यादा (शर्करा रहित भोजन) करने से ठीक हो जाता है। बहुधा मुख द्वारा दवा देने से काम चल जाता है। इन्सुलिन की प्रायः बहुत कम आवश्यकता पड़ती है अगर जरूरत भी पड़े तो घर के किसी व्यक्ति को इन्जेक्शन लगाना सिखा देना चाहिये, जो ठीक समय पर ठीक मात्रा में इन्सुलिन लगा दिया करें।

वृद्धों को भी तथा अन्य प्रौढ़ मधुमेहियों को सबसे ज्यादा ध्यान अपने पांव की सफाई, चोट लगने, कांटा लगने, नाखून काटते समय मांस न कटने का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि देखा गया है कि पांव में एक बार व्रण होने के बाद फिर यदि गैंग्रीन हो गया तो भगवान ही मालिक होता है।

इस अवस्था में युवाओं की अपेक्षा अति रक्तशर्कराल्पता होने पर तत्पश्चात बेहोशी होने का अधिक भय रहता है। यदि भूल से मुख द्वारा अधिक मात्रा में दवा खा लेने से रक्तशर्करा हीन हो जाती है (हाइपोग्लाइसीमिया) यह भी एक विकट उपद्रव है। कभी-कभी इसे समझ लेने में गलती हो जाती है। ऐसे में ग्लूकोज देने से कुछ दशा सुधर जाती है। रोगी को तुरन्त अस्पताल में दाखिल करा देना चाहिये।

मन्थर ज्वर

श्री पुण्यनाथ मिश्र, आयुर्वेदाचार्य, चिकित्सक–रामानन्द चेरिटी औषधालय
५ महेश्वर मुखर्जी फीडर रोड, अरियादह, कलकत्ता–७०००५७

मन्थर ज्वर के नाम से आयुर्वेद का मुख्य ग्रन्थ चरक—सुश्रुत तथा वाग्भट्ट रचित 'अष्टाङ्ग हृदय' आदि प्राचीन चिकित्सा पद्धतियों और भावप्रकाश, आदि संग्रह ग्रन्थों में भी कोई रोग की चर्चा नहीं है, किन्तु यह एक विशेष प्रकार का ज्वर अवश्य है।

मैं ३५ वर्षों से चिकित्सा अध्ययन, अध्यापन, लेखन आयुर्वेद मन्थन से मन्थरज्वर का गहन अध्ययन प्राप्त किया हूं।

यह रोग ऐसा प्रतीत होता है, कि मन्थरज्वर मनुष्य के शरीर मे स्वतन्त्र रूप से अथवा प्रभाव डालकर स्थिर एवं समानगति से त्रिदोष दूष्य से प्रभावित करता है। यह रोग कड़ैत जैसे महाविषधर के समान उसके दंष्ट्रगत विष न उतरने वाला, उसी प्रकार यह रोग ज्वरघ्न औषधोपचार से भी बिना अवधि तनिक भी न उतरने वाला होता है।

यह ज्वर कठोर पृष्ठावरण के सदृश मनुष्य के शरीर को आवरित कर अपने बचाव के लिये ज्वर को ढककर तीन अंग रक्षक वात-पित्त और कफ इन त्रिदोष के रूप में मन्थर गति से चलने वाला जिसका रूप देखने को मिलता है उसी को हम 'मन्थर ज्वर' कहते हैं।

यद्यपि ज्वर पृथक्-पृथक् वात-पित्त, कफ, द्वन्द्वज भिन्न-भिन्न तीन प्रकार का, साधारण सन्निपात की संख्या तेरह, सन्निपात के विशेष लक्षणयुक्त भिन्नता चौदह प्रकार और कुम्भीपाकादि घोर सन्निपात ज्वरों की संख्या तेरह होती है। इसके अतिरिक्त सात धातुगत ज्वर, शीत ज्वर, आगन्तु ज्वर आदि ज्वर भेदों के अन्तर्गत मन्थर ज्वर का उल्लेख नही मिलता है। किन्तु विषमज्वर के पांच भेदों में प्रथम–'सन्तत ज्वर' पर मेरा लक्ष्य स्थिर हो जाता है।

यह ज्वर विषमज्वर में होते हुए भी इसको उससे परे कहा गया है क्योंकि विषमज्वर अपना समय निर्धारित कर रोगी को घरता है और छोड़ता है किन्तु यह तो—

बैसिलस टायफोस से होने वाला एक मर्य्यादित स्वरूप का ज्वर है जोकि सतत, सन्ततज्वर का ही लक्षण मिलता है। इसको 'अष्टांग हृदय' अध्याय के दूसरे निदान स्थान में इस प्रकार लिखा है—

> "वात-पित्त कफै सप्त दश द्वादश वासरान्।
> प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय व वधाय च॥"

तीनों दोषों से युक्त यह मन्थरज्वर को रोका नही जा सकता है, क्योंकि यह अपनी मर्यादा को कभी तोड़ नही सकता, इसलिये इस रोग का परिचय होने पर पर इसकी मर्यादा को निरस्त करने वाली ज्वर शामक औषधोपचार क्रिया अवश्य करते रहना चाहिये ताकि ज्वर का रूप विकृत न होने पावे'। तभी यह ज्वर निरस्त चतुष्पाद कार्य कुशलता के साथ २८ दिन में अपने आप रोगी को छोड़ चला जाता है।

अन्यथा—उक्त अवधि में रोगी बड़े कष्ट के साथ प्रतिक्षण मृत्यु की अवस्था पर लटका रहता है, इसलिये अग्निवेश ने कहा भी है—

"वाते सप्तरात्रेण दशारात्रेण पैत्तिकः श्लेष्मिको द्वादशाहेन अशुद्धयस्तु वधाय रोगीभारणाय पूर्वोक्तमेव मर्यानुयाति" ॥इति॥

रोगी को किञ्चित् भी असंयम हो गयी तो उसकी मृत्यु निश्चित हो जाती है। मन्थरज्वर का पर्यायवाची नाम–मन्थरज्वर आन्त्रिकज्वर, मोतीझरा तथा अंग्रेजी में Typhoid Fever कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह ज्वर त्रिदोष दूषित एक भयंकर रूप का होता है।

निदान —सड़े-गले, शाक, मांस, आदि विपरीत भोजन ज्वरयुक्त होकर, अधिक भोजन कर दिन में शयन, रात्रि जागरण, अध्यशन, दूषित जल, दूषित आहार-विहार, खाद्य वस्तुओं पर ध्यान न देकर यत्र-तत्र कुछ खा लेना, जीवाणुयुक्त मल-मूत्रादि से जीवाणुओं के हवा में या रजकणों में मिले जल या जलाशय किंवा अन्य खाद्यपदार्थों एवं पेयद्रवों के सम्पर्क में आने से और जीवाणु युक्त मक्षिका से उत्पन्न होकर शरीर में प्रवेश कर जाती है। मक्षिका जीवाणु युक्त मल पर बैठकर फिर खाद्य पदार्थ पर बैठती है, उसके पैर तथा शुण्डा में जीवाणु अवलम्बित रहते हैं फिर वही जीवाणु खाद्य वस्तुओं में प्रवेश पाकर आहार के साथ मनुष्य में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति—उक्त जीवाणु जब मुख से होकर शरीर के महाकोष्ठ में प्रविष्ट होता है तब आमाशय अम्लीभूत लसीका से होकर क्षुद्रान्त्र में पहुंच जाते हैं। वहीं से उनकी वृद्धि होनी आरम्भ हो जाती है और वहीं से अन्त्रगत लसीका पिण्डों में प्रवेश पाकर अन्त्रकला (Mesentry) से होकर रक्त में और रक्त से प्लीहा में प्रवेश करती है, तत्पश्चात् सम्पूर्णधातुओं में भी व्याप्त हो जाती है।

क्षुद्र तथा स्थूलान्त्र की श्लेष्म कला इस रोग के कारण रक्तवर्ण की हो जाती है, इस प्रकार लसीका ग्रन्थियां भी विकृत हो जाती है। यही मन्थर ज्वर का सम्प्राप्ति का मूलभूति कारण जान पड़ता है।

मन्थरज्वर में मुख्यतया पूर्वरूप इस प्रकार देखा जाता है—प्रलाप, अनिद्रा, आंत में ऐंठन, अरुचि, कर्ण नाशा और मुख से भीषण प्रदाहयुक्त निश्वास का बोध, नाड़ी की गति—तीव्रता के साथ चलती है, तापमान एकसौ तीन से—एकसौ पांच के अन्तर से रोगी के शरीर में विद्यमान—रहती है, किन्तु नाड़ी की गति समानरूप में एकसौ चालीस से एकसौ साठ की जीवन चक्र पर प्रति मिनट चलती रहती है।

अम्लवात मध्यपित्त और अन्तस्थ कफ का प्रकोप हो तो रोगी के शरीर में रूक्षता, मुख का सूखना, विरस कषैला रहना, नाड़ी की गति में वक्रता, दस्त मटमैला और लाल रंग का फेनयुक्त होता है, मूत्र लाल तथा फेन मिश्रित होता है। शरीर में दर्द, ऐंठन, बेचैनी, अनिद्रा तथा प्रलाप आदि अतिरिक्त लक्षण दीखता है।

अम्लपित्त मध्यवात कफ की न्यूनता लक्षण में अधिक बेचैनी रोगी की शरीर तपती रहती है, नाड़ी की गति सर्वाकार अत्यधिक तेजी के साथ गतिशील। रक्त निष्ठीवन, पतले हरे-पीले रंग का दस्त होता तथा मूत्र में भी पीलापन होता है। दस्त के साथ रक्त मिश्रण, आन्त्रप्रदाह, अधिक प्यास आदि विशेष लक्षण प्रगट होता है।

कफ अम्ल मध्यवात और पित्त की न्यूनता में रोगी की नाशा बन्द रहती है, कफ उसके कण्ठ में अटक जाती है, शरीर जकड़ जाता जोड़ों में वेदना होनी, ज्वर का वेग धीमा, मलावरोध, अरुचि, किन्तु—अन्तर्हित ज्वर का वेग उसी प्रकार बना रहता है, केवल बाह्यनाड़ी की गति धीमी चलती है, रोगी का मूत्र कुछ सफेद दिखाई देता है।

मन्थरज्वर-वात-पित्त और कफ ये तीन दोषों के प्रकोप से होता है और यह रस और रक्त धातु को दूषित कर यकृत् और प्लीहा के साथ आन्त्र में अपना स्थान बनाकर इस शरीर के मुख्य स्थान को ही विकृत कर रोग अति गम्भीर हो जाता है। इस ज्वर के विषय

में कहा भी गया है—जिसको चरकाचार्य ने इस प्रकार कहा है—

"सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाह मथापिवा।
सन्नत्यायो विसर्गी स्यात् सन्तत: स निगद्यते॥"

अर्थात् यह ज्वर बारहवें दिन रोगी को किंचित् काल के लिये छोड देता है, किन्तु पुन: प्रगट होने लगता है, इसका शान्त होना कठिन ही नहीं दुर्लभ सा जान पडता है। और इस ज्वर की अनुवृति दीर्घ-काल तक बनी रहती है। पुन: उपरोक्त भावार्थ को चरकचार्य ने इस प्रकार पुष्टि करते हैं—

"विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसे व्यक्त लक्षण:।
दुर्लभोप शम: कालं दीर्घ मेवानु वर्तते॥"

मन्थरज्वर के प्रथम सप्ताह में रोगी को प्लीहा-वृद्धि और उसमें कठोरता आ जाती है। दूसरे सप्ताह में प्लीहा की कठोरता मृदुता में परिवर्तित हो जाती, किन्तु यकृत् का बढना, आमाशय शोथ, पित्ताशय शोथ, आन्त्रकला की लसीका ग्रन्थियों का शोथ, हृदय की दुर्बलता एवं मृदुता, श्वास-प्रश्वास की नलिकाओं में भी सूजन आ जाती है। रोगी को अधिक दिन तक शय्यागत रहने से रोगी को हृदयगत भारीपन बोध होता है।

यह ज्वर बारह दिन तक अनजान रूप में रहता है और उतरता भी नहीं है, उसी समय बिना सोचे समझे ज्वर को रोकने की कड़ी दवा असंयम के तहत खान-पान से रोग विकृत हो जाता है। यदि रोग शामक औषधोपचार मात्र संयम के साथ दी गयी तो रोग — बारहवें दिन एक बार अवश्य उतर जाता है और पुन: चढ जाता है रोगी में इस तरह की दशा का अव-लोकन कर चिकित्सक को मन्थर ज्वर है ऐसा निर्णय लेना चाहिये।

इस ज्वर का बारह रोज बीत जाने पर मन्थर का अपना पूर्वरूप रोगी में शिथिलता, अल्पता, अरुचि, बेचैनी, घबडाहट, शिर:शूल, नासिका से रक्तस्राव, ये अतिरिक्त रोग का स्वरूप परिलक्षित होता है।

आधुनिक मत से रोग का लक्षण—प्रथम सप्ताह में ज्वर की गति धीरे-धीरे बढ़ती है, संध्या समय रोगी में दो अंश ज्वर चढ़ता है और प्रात: समय दो अंश ज्वर कम हो जाता है। इस प्रकार सन्ध्या होते ही ज्वर का तापमान एकसौ, एकसौ पांच पर स्थिर हो जाता और सुबह दो अंश कम होकर रोगी को एकसौ तीन पर आकर दिनभर वह ताप-मान स्थिर रहता है। इस तापमान को चार्ट पर लिख कर रखने से एक सीढ़ी की तरह रेखाङ्कित बन जाती है और रोग स्पष्ट हो सामने आ जाती है।

ज्वर की तापमान के अनुपात से नाड़ी की गति नहीं बढ़ती किन्तु थर्मामीटर से अहर्निशि रोगी को एकसौ चार डिग्री तापमान होने पर भी नाड़ी की नब्बे प्रतिमिनट स्थिर रहती है, किन्तु श्वास-प्रश्वास की गति नाड़ी की अपेक्षाकृत अधिक जान पड़ती है।

जिह्वा को देखने से उसका रंग बिल्कुल मटमैला, शुष्क, और श्वेत दिखाई देता है। होठ और मुख सूखता रहता है। दांत ओष्ठ और मसूड़े पर मैल के पडत पड़ जाते हैं। जठराग्नि एकदम मन्द पड़ जाती है। उदर में आध्मान तथा आटोप, गुड़गुड़ाहट का शब्द होना, दस्त कभी पतला कभी विबन्धयुक्त होता है।

इस ज्वर में रोगी की त्वचा शुष्कता एवं उष्णता से जलती रहती है, और त्वचा पर लाल-लाल सूक्ष्म फुंसियां भी उत्पन्न हो जाती हैं, यह सात रोज से बारह रोज तक निकलनी आरम्भ होती हैं, रोगी को उदर और छाती पर ये फुंसियां विशेष-तया दिखाई पड़ती हैं। अन्य जगह उसकी अपेक्षा कम होती हैं। मन्थर ज्वर के तीसरे सप्ताह के बीत जाने तक ये फुंसियां निकलती और मिट जाती हैं।

रोगी प्रथम सप्ताह में ही रुग्न चेष्टारहित उदा-सीन दिखाई देता है, नेत्र के चमक के साथ पुतलियां विस्फारित एक तरफ टिकी रहती हैं। मुख आभा-हीन, कपोल रक्ताभ, ओष्ठ कृष्णाभ तथा शुष्क दिखाई देते हैं, और रोगी का मुख अनवरत अधखुला सा रहता है।

द्वितीय सप्ताह में ज्वर का वेग उच्चतम सीमा तक बढ़कर स्थिर हो जाता है, नाड़ी की गति बढ़ जाती है दुर्बलता भी बढ़ जाती है, शिर का शूल क्रमशः कम होने लगता है उदर में आध्मान, अतीसार, आंव के साथ आन्त्रग्रन्थियों के सड़े-गले टुकड़ों तथा आंव युक्त उत्सर्ग होता है, अपक्व मल के साथ रक्तकण रक्त-मल के साथ साथ दिखाई देता है। अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा परीक्षा करने पर मल में जीवाणु भी पाये जाते हैं।

उस अवस्थागत रोगी की प्लीहावृद्धि निद्रानाश हृदय में धड़कन ये मुख्य लक्षण विद्यमान रहता है।

तृतीय सप्ताह में रोगी का मन्थर ज्वर धीरे-धीरे उतरने लगता है, इस समय रोगी बिल्कुल शववत दिखाई देता, अपने से करवटें बदलना भी दुष्कर हो जाती हैं। किन्तु उसकी दशा में क्रमिक सुधार नजर आता है। दुर्बलता जन्य प्रलाप, तन्द्रा, शरीर का कांपना तथा मल-मूत्र का अनैच्छिक उत्सर्ग हो जाना ये लक्षण स्पष्ट होता है। पाचन संस्थान की मन्दता, रोगी की जिह्वा-ओष्ठ सूखना उस पर पपड़ी पड़ जाती है। रोगी के पेट में वायु भरा रहता है एवं आन्त्र के व्रणों से रक्त का स्राव दस्त के साथ उत्सर्ग होता है, और आंत्रच्छेदनवत पीड़ा भी रह-रह कर होती रहती है।

चौथे सप्ताह में—रोगी में ज्वर का रूप मन्द पड़ जाता है और शरीर का तापक्रम स्वाभाविक से भी कम तथा नाड़ी क्षीणता अत्यधिक हो जाती है। रोगी वैद्य-परिचारक और औषधि इन चतुष्पाद के संयम-शील कार्य कौशल से रोगी कदाचित स्वस्थ हो गया तो यह समझना चाहिये कि साक्षात् पीयूषपाणि ने स्वयं रोगी को स्वयं प्राणदान दिया है, ऐसा समझना चाहिये।

यदि चौथे सप्ताह में रोगी अच्छा हो गया तो निश्चय ही बच जाता है। यह रोग इतना कठिन होता है कि तन्द्रा-प्रलाप आंत्रभेद आदि कतिपय उपद्रवों के साथ रोगी द्वितीय सप्ताह में ही काल कवलित हो जाता है।

मन्थर ज्वर के सामान्य लक्षणों के साथ शरीर के किसी अङ्ग के विकृत होने की आशंका रहती है, विशेष-

तया वृक्क, फुफ्फुस तथा मस्तिष्क में या ज्ञानेन्द्रिय को नाश कर देता है।

इस रोग में कदाचित मनुष्य बच पाता है, क्योंकि यह ज्वर जीवनरूपी रक्तपरिवहन का ही आश्रय लेकर बढ़ता-चढ़ता और दीर्घकाल तक बना रहता है। यदि जीवन लीला समाप्त हो गयी तो भी कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यदि रोगी बच गया तो समझना चाहिए कि दोषों (वात-पित्त-कफ) की गति निर्बल या उपद्रव रहित थी अथवा औषधोपचार अत्यधिक आस्था के साथ उसकी आयु बलवान थी ऐसा जानना चाहिये।

क्या शिशु अथवा गर्भवती स्त्री को मन्थर ज्वर होता है? ऐसा प्रश्न उठने पर यह कहना पड़ता है कि—शिशुओं में कदाचित उसके कुपोषण या अनेक प्रदूषण वातावरण के कारण जरूर होता है।

शिशु में तीव्रज्वर के साथ कर्णमूलग्रन्थिशोथ, पित्ताशयशोथ, आंत्रपुच्छशोथ, फुफ्फुस के कारण श्वसनक (निमोनिया) का उसमें अतिरिक्त लक्षण विद्यमान रहते हैं।

मूत्र में रक्त का मिश्रण स्मृतिनाश, अस्थ्यावरण शोथ, पित्ताश्मरी, सन्धिशोथ, कशेरुका (रीढ़) में शोथ या उत्पन्न होना भी देखा जाता है।

यदि गर्भिणी के तापमान में गर्भस्थ शिशु या भ्रूण उसे सहन न करने के कारण उसे मे मारता है और वह पतन हो जाता है।

एक वर्ष के शिशु और गर्भवती स्त्री को यदि मन्थर ज्वर हो गया तो वह कभी नहीं बच पाते हैं, क्योंकि गर्भवती स्त्री को गर्भपात के पश्चात् धनुष्टंकार (टिटनेस) का भयंकर रोग होने की आशंका व्याप्त रहती है। एक वर्ष तक के शिशु की मासूम शरीर में वज्राघात के समान उग्र मन्थरज्वर उसे नष्ट किये बिना नहीं रहता है।

वृद्ध भी इस रोग से उनके [illegible] और [illegible] के बीच उसकी जीवन लीला [illegible] रहती है। किन्तु और [illegible] मनुष्य यदि बलवान हो तो अधिक सम्भव है [illegible] बच जाते हैं।

मन्थर ज्वर अपना रूप हठात् नहीं पकड़ता—अपितु साधारण ज्वर की अवहेलना करते असंयम करते-करते चिरकाल तक रहते वही विषम ज्वर का रूप लेता और उसे यदि रोगी ला परवाही करे तो वही उग्ररूप में रस से रक्तानुगत होकर मन्थर ज्वर का प्रादुर्भाव हो शरीर को नाश की ओर अग्रसर करता है।

चतुष्पाद की तत्परता से सबल रोगी की एक वर्ष से ऊपर की उम्र के शिशु से १५ वर्ष की किशोर तक रोग सुसाध्य होता है। और १५ वर्ष से २५ वर्ष पर्यन्त साध्य कहा गया है। किन्तु मद्यपायी, गर्भिणी स्थूल हृदय विकार से पीडित और वृक्क विकार जनित रोगियों में यदि मन्थर ज्वर हो जाता है तो उसे दुःसाध्य मानने का मत व्यक्त किया है।

इसके अतिरिक्त मन्थर ज्वर की उग्रता होने पर प्रथम सप्ताह से ही ज्वर की स्थिति बिगड़ जाय किम्वा विपाक्त हो जाय, जैसे—प्रलाप, कम्प, तन्द्रा अत्यधिक तापक्रम, नाड़ी की गति, व्यतिक्रम, हृदय-दौर्बल्य, आंत्रभेद, रक्तस्राव आध्मान, अतीसार, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसनक ज्वर का अतिरिक्त उपद्रव रोगी में व्याप्त हो जाय तो रोग घातक और असाध्य कहा जायगा।

ज्वर में दैवी आराधना, स्वच्छता, पवित्रता और बड़ों का आशीर्वाद, शुभ कामना—शिव की पार्थिव लिंग की पूजा के साथ रोगी के घर में संध्या समय माहेश्वर धूप का विधान है जिससे ज्वररूपी ताप से मनुष्य दूर हो जाता है या ज्वर उसके शरीर से चला जाता है—शिवपुराणान्तर्गत—लिखा हुआ इस प्रकार है—

"रुद्रजटा गोशृङ्ग बिड़ालविष्ठोरगस्य निर्मोकः।
मदनफल जटामांसी वंशत्वगुद्र निर्माल्यम्॥
घृत यवमयूरपुच्छच्छगलक लोमानि सर्षपाः सवचा।
हिंगुगयास्थिमरीचाः समभागाश्छागमूत्रसंपिष्टाः॥
धूपन विधिना शमयन्त्येते सर्वाञ्ज्वरं नियतम्।
ग्रह डाकिनी पिशाच प्रेतविकारांश्च धूपः॥"

जटाधारी, गोशृङ्ग, बिलारविष्ठा, सर्प का केंचुल, मैनफल, जटामांसी, बांस की छाल, शिव के ऊपर का चढ़ा निर्माल्य, गोघृत, यव, मोरपुच्छ, छाग-रोम, वच, सरसों, हींग, गौका अस्थि और गोलमिर्च इन घटकों को समान भाग में लेकर छाग मूत्र में पीस सुखाकर रख लें और उसका धूप निश्चित ज्वर का नाश कर डालता है ऐसा कहा गया है। उक्त माहेश्वर धूप को शिशु आदि पीड़ित ग्रह, डाकिनी, पिशाचादि प्रेतग्रसित होने पर सत्वर लाभ करता है।

पवित्र कुशासन या कम्बल पर बैठकर गंगाजल से सिक्तकर रोगी को सामने एवं नैष्ठिक ब्राह्मण के द्वारा तीन कुश लेकर उक्त ज्वर नाशक मन्त्र से ज्वर को संध्या समय झारना चाहिये—वह इस प्रकार कहा गया है—

"सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते—विषमज्वरान्॥"

भावार्थ—पवित्र होकर उमा सहित नन्दी आदि गणों से युक्त मातृगण के साथ विराजमान श्री महेश्वर का पूजन और यह मन्त्रोपचार करने से मनुष्य के सभी प्रकार के ज्वर सहित विषम ज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

कोई भी ज्वर से प्रथमतः वायु का शरीर में शमन की चेष्टा करनी चाहिये—जैसा कि त्रायमाण, कुटकी श्वेत एवं कृष्ण अनन्तमूल—समान भाग में १-१ तोला लेकर एक सेर जल काढ़े की विधि से पकायें चतुर्थांश रहने पर छानकर एक दिन के लिये रख लें—

ज्वरांकुश रस १ गोली, ज्वरराज ½ गोली, हिंगुलेश्वर रस १ गोली, सबको खरल कर १ मात्रा के हिसाब से रोगी को मधु से चटाकर ऊपर १ औंस काढ़ा दिन में चार बार पिलाना चाहिये।

आहार में बार्ली बनाते समय पटोलपत्र दो नग उसमें डाल मिश्री मिला पतला बार्ली रोगी को तीन-चार बार चम्मच से देना चाहिये।

पित्त की अधिकता में—अनन्तमूल, मुस्तक, कुटकी और पत्र समभाग में लेकर काढ़ा तैयार करें, उसके साथ—

सौभाग्यवटी 'सन्निपात' (भै० र०) १ गोली, प्रवाल भस्म (र० र० स०) १ रत्ती, गिलोय सत्व २ रत्ती की मात्रा में एक खराक के [illegible]

चाहिये क्योंकि यह उसका कर्त्तव्य माना गया है किन्तु उसके परिवार को रोग असाध्य की जानकारी अवश्य करा देनी चाहिये।

इन दवाओं के साथ वार्ली, यवागू-पेया तक ही आहार के साथ दिन के मध्य भाग में मौसम्मी का रस, वेदाना का रस और आम का पानी स्थिति के अनुसार देना रोगी को सबल बनाने के लिये अच्छा रहेगा। संध्या समय यदि उपलब्ध हो सके तो काले अंगूर का रस देना अच्छा होता है, यदि वह बिल्कुल मीठे हों।

रोगी यदि चौथे सप्ताह मे अति निर्बल और ज्वर की मन्दता में गुजर रहा है उस समय उसकी कशेरुका पर लाक्षादि तेल की मालिश करने से ज्वर शीघ्र छोड़ देता और मेरुदण्ड में ताकत मिलती है। ज्वर के उपरान्त बला तेल शरीर पोषण में महत्वपूर्ण काम करता है।

रोगी को चौथे सप्ताह में ज्वर की गति कम हो जाय तो उसे पतला साबूदाना, बिना मलाई का दूध, पटोल को उबाल कर बीज रहित छिलका उकार नमक गोलमिर्च के साथ देना चाहिये।

गोमूत्र में तीन दिन भावित कर जोंगी हर्र को सुखा कर पुनः उसे गोघृत मे भर्जित कर रख लें रोगी को दिन-रात में दो से तीन खाने से आन्त्रव्रण में रोपण हो जायगा और आंतों में चिपका मल निकल जायगा तथा यकृत् का कार्य सुचारु रूप से होगा।

यदि शिशु और उसे मन्थर ज्वर हो गया तो औषध वही किया जायगा किन्तु अवस्थानुसार उसकी मात्रा पर अवश्य विचार करना होगा। और उसकी मात्रा चौथाई हो जायगी। और उसकी दवा में कुमारकल्याण रस, बालरोगान्तक रस, बालार्क रस, रस पीपरी का मिश्रण भी देना होगा, क्योंकि यह उसकी खास दवा है।

मन्थरज्वर से पीड़ित रोगी को बिल्कुल स्वच्छता के साथ रखना चाहिये। जिस घर में वह रहता हो प्रकाश आना चाहिये। स्थान हवादार हो, सूर्य किरण का भी प्रकाश पड़े। अनुभवी वैद्य के द्वारा चिकित्सा उपचार और अल्पाहार, कोमल शय्या, मनोरंजक वातावरण होना चाहिये। चिन्ता, हादसा, क्रोध, और किसी घबड़ाने की बात वहां नहीं होनी चाहिये क्योंकि रोगी की हालत अत्यन्त नाजुक रहती है, उसे हृदय पर आघात होने से खतरा हो सकता है। वैद्य परामर्श के बिना औषधि किम्वा उपचार व्यवस्था रोगग्रस्त अवधिकाल पर बल प्रयोगात्मक व्यवहार या अपने मन से औषध का अधिक बार देना, या कोई अट-पट आहार देने से भी रोगी को खतरा पैदा हो सकता है।

रोगी के पाचन संस्थान को बल देने वाली षड़ङ्ग पाणीयमुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकारिष्ट भोजनोत्तर देते रहना हितकर होता है।

निम्बादि काढ़े से नित्य रोगी का शरीर अच्छी तरह कोमल वस्त्र या तौलिया से पोंछना चाहिये। और उसी से उसको कुल्ला कराना चाहिये। दिन-रात पारिवारिक या परिवार के सदस्य एक न एक रोगी के पास बैठ कर मौजूद रहने चाहिये।

रोगी को आहार में जलवत बार्ली सोडावाटर औटा हुआ जल मिलाकर लेमोनेड सण्डा, ग्लूकोज, वार्ली वाटर देना चाहिये। गाय का दूध मलाई रहित देना चाहिये।

शिशुओं में भी यही सब व्यवस्था समझनी चाहिये किन्तु रोगी को यदि मलावरोध हो जाय तो विरेचन की दवा न देकर मलमार्ग पर साबुन प्रवेश कराना या उसके पानी से वस्ति हर तीसरे दिन देना हितकर है।

आध्यमान में तारपीन का तेल मिलाकर गरम जल से उदर सेक करना चाहिये।

शरीर का तापमान अधिक होने पर सिर पर बर्फ की थैली रखने की पाश्चात्य विधान भी कहा गया है।

रोगी को रोगमुक्त होने के बाद उसके शरीर की ताकत के लिये लौह और चूना के साथ जीवनीय शक्ति वाले औषधोपचार से उसके शरीर की रक्षा करनी चाहिये।

मन्थर ज्वर—अनुभव

वैद्य श्री चन्द्रशेखर व्यास, आयुर्वेद-विशारद, चूरू (राजस्थान)

मधुर ज्वर लक्षणम्

ज्वरो दाहो भ्रमो मोहोऽह्यतीसारो वमीस्तृषा ।
अनिद्रा च मुखं रक्तं तालु जिह्वा च शुष्यति ।।
ग्रीवायां परिदृश्यन्ते स्फोटकाः सर्षपोपमाः ।
एभिस्तु लक्षणैर्विद्यान्मन्थराख्यं ज्वरं नृणाम ।।

ज्वर, दाह, भ्रम, मोह, अतिसार, वमी, तृषा (प्यास) व नींद नहीं आना, मुख का वर्ण लाल होना, तालु तथा जीभ का सूखना, गर्दन के पास सर्षप जैसे छोटे-छोटे सफेद दाने दिखाई देना, यह मधुर ज्वर, मोतीझरा का रूप है ।

मैंने ६० वर्ष के अनुभव में आये हुये मोतीझरा के अनेक रोगियों की चिकित्सा की है, उनमें से केवल ४ रोगियों का चिकित्सा क्रम लिखने का प्रयास किया है । मधुरज्वर सन्निपातिक ज्वर ही है । मुझे गुरुचरण की कृपा से इस रोग की चिकित्सा में सफलता प्राप्त हुई है । ऐसे-ऐसे जटिल बीमार ठीक हुए कि मुझे भी उनके ठीक होने में सन्देह था । परन्तु मैंने तो एक ही सिद्धांत या पालन किया—

व्याधे तत्व परिज्ञान वेदनायाश्च निग्रह ।
एतत् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्य प्रभुरायुषः ।।

सर्व प्रथम—एक रुग्णा की चिकित्सा का वर्णन लिख रहा हूं ।

रुग्णा का नाम—श्रीमती रामदेव जी टाईवाल उम्र २८ वर्ष सन् १९४२ अप्रैल महीने की बात है । मेरे पास घर पर ही श्री रामदेव जी टाईवाल सुबह ८ बजे आये । मैं श्री भवानी शंकर की पूजा से उठा ही था तो बैठक में उनको देखा । पूछ, क्यों कैसे आना हुआ तो कहने लगे, घर में बुखार है पेट में भयंकर दर्द है उसे चल कर देखना है । मैं उनके साथ गया । देखा पेट में भयंकर दर्द, सिर में भी दर्द था । नाड़ी-ज्वर वेगेन धमनी सोष्णा वेगगति भवेत् । ज्वर १०४ था मलावरोध भी था ४ दिन से दस्त नहीं हो रहा था । मैंने कहा, आप चिकित्सालय आओ मे व्यवस्था पत्र बनाकर दवा दूंगा ।

व्यवस्था पत्र—सुबह शाम दशमूल क्वाथ ६ माशे, उन्नाव ३ दाना, मुलैहठी २ माशा, गांजवा १ माशा, गुलबनफशा १ माशा, मुनक्का ५ नग ।

उपरोक्त क्वाथ एक पाव जल में औटाकर पांच तोला जल शेष रहने पर देना है । साथ में नारदीय लक्ष्मी विलास रस १ वटी पीसकर मधु में उपरोक्त दवा दो दिन तक दी गई, कब्ज दूर हुई, शिरःशूल भी कम हो गया परन्तु ज्वर १०३-१०४ ही रहा है । दो दिन बाद जब देखने गया तो जीभ देखी तो जीभ पर सफेदी बहुत थी तथा छोटे-छोटे दाने भी थे । गर्दन के आस-पास मोती के सदृश दाने स्पष्ट दिखाई दे रहे थे । पेट में पीड़ा थी, प्यास अधिक थी । दवा बदलनी पड़ी, कारण मौक्तिक ज्वर के लक्षण स्पष्ट दीख रहे थे ।

दूसरा व्यवस्था पत्र—सुबह-शाम २-२ वटी संजीवनी वटी, ४ लवग, २ रत्ती सोंठ, ४ रत्ती ब्राह्मी की पत्ती, इन सबको पत्थर पर पीस कर २ + २।। तोला

जल तैयार करके जल को गरम करके छानकर गुनगुने छते हुए जल से दी गई।

दोपहर में २ बजे, रात के ८ बजे लक्ष्मीनारायण रस १ रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती मधु से यह क्रम १ सप्ताह चला। अब मोतीझरे के दाने सारे के सारे अदृश्य हो गये। यह अरिष्ट लक्षण सामने आया तो १ नर लौंग थोड़ा पीसकर २ तोले जल में औटाकर १ वटी हंसारूढी ब्राह्मीवटी की दी गई। यह उपचार २ दिन चला। दाने बाहर आ गये। ज्वर १०३° सुबह रात के ८ बजे से १०४ रहता: था—संज्ञा सब तरह से थी। दवा उपरोक्त चालू थी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ होगा परन्तु—

सप्ताहाद्वादशाहाद्वाद्वादशाहमथापिदा—
पुनर्घोरतोभूत्वा प्रशमं यान्ति हन्ति वा॥
अथ द्वितीय सप्ताहे प्रवृत्तस्तिष्ठति ज्वरः
तदास्युररतिस्तन्द्रामुख शोषः प्रमीलकः।
कासः प्रलापोदौर्बल्यमाध्मानं च विशेषतः॥
जिह्वा च रक्त पर्यन्ता कर्कशा स्फुटितोपमा।
सन्तापोऽप्यधिकरु चापि धमनी नाति चंचला।
सान्निपातिक लिंगानमन्येषां चापि संभवः॥

उपरोक्त लक्षण सामने आये। श्री रामदेव जी घबराने लगे।

मैंने कहा घबराने की जरूरत नहीं है यदि जी नहीं जमता है तो डाक्टर को बुला लो। श्री रामदेव जी बोले डाक्टर को आप चाहो तो बुला लो मुझे तो आपसे ही इलाज करवाना है। ऐसी दृढ़ता देखी तो दवा देने का साहस बढ़ा। जिह्वा पर तुलसी के बीज पीस कर लेप किया गया। दवा पूर्ववत् चालू थी। लौंग, सोंठ, ब्राह्मी का घासा, मुक्तापिष्टी, लक्ष्मी नारायण रस ही चालू रहा। कोई उपद्रव नहीं था। तीसरे सप्ताह के आदि में अतिसार हो गया। ज्वर केवल सूक्ष्म में ही रह गया। परन्तु प्रलाप कम नहीं हुआ। अतिसार तो था परन्तु साथ में आध्मान था संज्ञाहीन अवस्था हो गई। अतिसार इतना भयकर कि बारम्बार दस्त होने लगे। सिद्ध प्राणेश्वर रस २ रत्ती मधु में दिया गया कुछ लाभ प्रतीत हुआ।

परन्तु रात के २ बजे हालत बहुत ही गम्भीर हो गई। श्री रामदेव जी के सत्तर मुझे बुलाने आये तो रुग्णा को देखर स्तब्ध रह गया। पर फिर ध्यान आया—"यावत् कण्ठगता प्राणा, तावत् कार्या प्रतिक्रिया" इस सूत्र को आधार मान कर औषध मंजूषा खोलकर आनन्दभैरव रस १ वटी, कनकसुन्दर रस १ वटी, मृतसंजीवनी वटी २ वटी यह एक मात्रा सूखा पोदीना, अतीस ४-४ रत्ती, बेलगिरी २ रत्ती इसके घासे के साथ उपरोक्त ४ रत्ती दी गई। आधा घण्टे के बाद जो पसीना आ रहा था बन्द हो गया। ज्वर भी १०० हो गया, आंखें भी खोली। मुझे विश्वास हो गया कि अब खतरा नहीं है। ४ बजे घर आया तथा यह कह कर आया कि यही दवा ५ बजे देना। जिस समय मैं रुग्णा के घर पहुंचा था उस समय रुग्णा की नाड़ी रुक-रुक कर चल रही थी।

"स्थित्वा स्थित्वा चलति सा स्मृता प्राणघातिनी" शीतांग सन्निपात के लक्षण मिल रहे थे।

हिम-सदृश-शरीरो वेपथु-श्वास-हिक्का-
शिथिलित-सकलांगो खिन्नानादोग्रताप:॥
क्लवथु-द्रवथु-कास-च्छर्दतीसार युक्त-
स्त्वरित-मरण-हेतुः शीत गात्र-प्रभावात्॥

उपरोक्त लक्षणों में हिम सदृश-शरीर था। अतिसार था ही। यह सब अरिष्ट के ही चिह्न थे। उपरोक्त औषधियों के योग से दिन-प्रतिदिन लाभ होता गया। चौथा सप्ताह पूरा होने में आया, तब सुबह रुग्णा ने कहा मुझे भूख लगी है। परन्तु मुझे दीखता नहीं है। रामदेव जी घबराये हुये मेरे पास आये, कहने लगे—होश हवास दुरुस्त है, भूख की इच्छा है, परन्तु दिखाई नहीं देता है। मैंने कहा, ऐसा इसमें होता है। घबरायें नहीं, अन्न देने के बाद दिखाई देने लगेगा।

रामदेव जी ने पूछा—खाने को क्या देवें। मैंने कहा, मैं देखकर कहूंगा? मैं देखने गया तो रुग्णा रोने लगी कारण, अपनी छोटी बच्ची को देख नहीं सकती थी। मुझे दिखाई नहीं देता है। मैंने कहा, आज शाम तक दिखाई देने लगेगा। उसने कहा, भूख बहुत जोर से लग रही है। मैंने कहा—भूख लगी है तो आप दूध देवें।

दशमूल साधित दूध १ छटांक (५ तोला) दिया गया। दूध पच गया। शाम को १॥ छटांक दूध दशमूल साधित दिया गया दूसरे दिन मुद्ग यूष दिया गया। यूष देने के बाद १ घंटा तक नींद नहीं लेने को कहा गया। तीसरे दिन यानी रुग्णा को बीमार हुए आज पूरे ३५ दिन हो गये थे। आज बाजरे का खाखरा बनवा कर उसकी पापड़ी पोदीने की चटनी के साथ दी गई। खाखरे की पापड़ी देने के बाद दीखना चालू हो गया। अब रुग्णा दिन प्रतिदिन ठीक होने लगी। ४५ दिन पूरे हुए तो छाया पात्र देकर रोग मुक्त स्नान कराया गया। भूख खूब लगने लगी, मूंग की दाल, बाजरे का खाखरा पोदीने की चटनी दी जाती थी। दूध सुबह, रात को दिया जाता कमजोरी दूर करने को चन्दनादि लौह २ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा मिलाकर मधु में दिया जाता था। रात को सोते समय चौंसठ पहरी पीपल एवं बसन्त मालती १-१ रत्ती मिलाकर मधु में देने लगे तथा दूध तो देते ही थे। इस तरह पूर्ण रूपेण स्वास्थ्य लाभ हुआ। मैं तो श्री गुरु के चरण की कृपा ही मानता हूं। ऐसी जटिल स्थिति में मेरी हिम्मत नहीं टूटी।

२. रोगी का नाम—मोहनलाल श्रीमाल, उम्र १६ वर्ष सन् १६४२ के नवम्बर में उपरोक्त स्थिति में श्री फूलचन्द श्रीमाल मेरे पास श्री रामदेव जी टाईवाले को साथ लेकर आये। कहने लगे मोहन बहुत बीमार है। आप चलकर देखो। मैं फूलचन्द जी के साथ गया और मोहन को देखा वह घोर सन्निपात में झूल रहा था। अपने वस्त्रों को दोनों हाथों से फाड़ रहा था। संज्ञाहीन था प्रलाप बहुत था, दन्त बन्द, (जबड़े बन्द) उठ-उठ कर भागना जैसा कि—माधव निदान में चित्तभ्रम सन्निपात के लक्षण लिखे हैं—

> यदि कथमपि पुंसां जायते कायपीडा
> भ्रम-मन्द परितापो मोह-वैकल्य-भावः।
> विकल-नयन-हासो गीत-नृत्य प्रलापोऽ-
> भिदधति तमसाध्यं केऽपि चित्तभ्रमाख्यम्॥

मैंने मोहन को देखकर उसके पिता—श्री फूलचन्द जी से पूछा यह कितने दिन से बीमार है तो कहने लगे १५ दिन हो गये हैं। इतने दिन से दवा कौन देता था—चिकित्सक का नाम क्या है—तो कहने लगे कि डालूराम जी की मां दवा दे रही थी संजीवनी गोली, लौंग, सोंठ के साथ। आज जो हालत है यह कब से है। मैंने श्री रामदेव जी टाईवाले से कहा—आप मेरे साथ चलें मैं एक दवा दूंगा तथा एक क्वाथ लिख कर दूंगा।

यह व्यवस्था पत्र दिया—ग्रन्थ्यादि क्वाथ १ तोला जल २० तोला में औटा कर चतुर्थांश रहने पर दोनों समय देना साथ में "सौभाग्यवटी" १-२ देना दिन में २ बजे, रात के ८ बजे, योगेन्द्र रस १ रत्ती, खताई पिष्टी १ रत्ती मधु में उपरोक्त उपचार १३ दिन तक चालू रहा। मोहनलाल मौत के मुख से निकल गया। सोचता हूं यह सफलता दैवयोग से ही प्राप्त हुई। १३ दिन बाद मुद्ग यूष दिया गया। १५ वें दिन याने मेरी चिकित्सा में १५ दिन रहा वैसे पथ्य ३१ वें दिन दिया गया।

मैंने मधुर ज्वर में ही सन्निपात देखे हैं। स्वतन्त्र सन्निपात तो मैंने आज तक नहीं देखा है। प्रायः मौक्तिक ज्वर में ही सन्निपात होते देखा गया है। सन्निपात १३ लिखे हैं परन्तु इन तेरह के अलावा और भी सन्निपात हैं—"कुम्भीपाकादि सन्निपातानि"।

(१) कुम्भीपाक सन्निपात—जिस सन्निपात में रोगी की नाक से काला लाल एवं गाढ़ा रुधिर निकलता हो और वह अपने सिर को इधर-उधर बारम्बार गिराता हो तो उसे कुम्भीपाक सन्निपात से पीड़ित समझना चाहिए।

(२) प्रोर्णुनाव सन्निपात—जिस सन्निपात ज्वर में रोगी अपने हाथ-पैर आदि अंगों को बारम्बार ऊपर को उठा कर इधर-उधर को फेंकता हो तथा अत्यन्त जोर से श्वास लेता हो तो उसे अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले प्रोर्णुनाव सन्निपात से पीड़ित समझना चाहिए।

(३) प्रलापी सन्निपात के लक्षण—प्रलापी सन्निपात के लक्षण ज्वर वाले रोगी के पसीना, दाह, शरीर में तोड़ने की सी पीड़ा, कम्प, नखादिक में

दाह, वमन, कण्ठ में पीड़ा और शरीर में भारीपन ये सब लक्षण प्रगट होते हैं।

(४) अन्तर्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस ज्वर में रोगी के शरीर के अन्दर दाह हो और ऊपर से सर्दी भी मालूम पड़ती हो तथा शोथ हिचकी श्वास भी हो एवं उसे अपना शरीर जलते हुये के समान प्रतीत होता हो तो उसे अन्तःर्दाह सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिये।

(५) दण्डपात सन्निपात लक्षण—जिस ज्वर में रोगी को दिन में या रात्रि में कभी नींद न आती हो और वह बुद्धि के भ्रम से आकाश की तरफ किसी वस्तु को पकड़ने के लिये जैसे कोई हाथ पसारता है, उस भांति बार-बार पसारता है और एकाएक उठकर दण्ड भांति बार-बार गिर पड़ता हो एवं भ्रम से युक्त चारों तरफ घूर्णन करता हो तो उसे दण्डपात सन्निपात से पीड़ित समझना चाहिए।

(६) अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण—अन्तक ज्वर सन्निपात वाले रोगी के शरीर में चारों तरफ गांठें निकल आती हैं और उदर वायु से भर जाता है तथा वह निरन्तर श्वास से अत्यन्त पीड़ित हो जाता है—एवं संज्ञा से रहित भी हो जाता है।

(७) एणीदाह सन्निपात ज्वर के लक्षण—जिस रोगी को एणीदाह सन्निपात ज्वर होता है तो उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है तथा उसे अपने शरीर के ऊपर सांप तथा हरिण समूह दौड़ रहे हों ऐसा प्रतीत होता है और शरीर में कम्पदाह भी होता है।

(८) हारिद्र सन्निपात—जिस ज्वर में रोगी का शरीर अत्यन्त पीला हल्दी से पुते हुए के समान हो जाता है तथा उसकी अपेक्षा नेत्र अधिक पीले हो जाते हैं एवं नेत्रों से भी बढ़कर मल अधिक पीला हो जाता है। और शरीर के अन्दर दाह होता है किन्तु ऊपर से सर्दी प्रतीत होती है तो उसे हारिद्रक सन्निपात कहते हैं।

(९) अजघोष सन्निपात—अजघोष सन्निपात ज्वर होने से रोगी के नेत्र तांबे के समान लाल हो जाते हैं और उसके शरीर में बकरे के समान गन्ध आने लगती है। कन्धों में पीड़ा होती है तथा गले का छिद्र अवरुद्ध हो जाता है।

(१०) भूतहास सन्निपात—जो रोगी अपनी ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदिक विषयों को नहीं ग्रहण करता है अर्थात् जो देख सुन नहीं सकता है और हंसता है तथा कर्कश स्वर से प्रलाप करता है तो उसे भूतहास सन्निपात ज्वर से पीड़ित समझना चाहिए।

(११) यन्त्र पीड़ा सन्निपात—जिस ज्वर में रोगी को अपना शरीर बार-बार ज्वर के वेग से कोल्हू में पेरने की तरह पीड़ित प्रतीत होता हो और उसे रक्त सहित पित्त का वमन होता हो तो वह यन्त्रपीड़ा सन्निपात ज्वर कहलाता है।

(१२) सन्यास सन्निपात—सन्यास सन्निपात ज्वर में रोगी प्रलाप करता है तथा उसका नेत्रमण्डल देखने में उग्र हो जाता है एवं उसे अतिसार और वमन होता है तथा वह धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करने लगता है। एवं बहुत देर तक अपने अङ्गों को इधर उधर फेंकता है।

(१३) संशोषित सन्निपात ज्वर—संशोषित सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर अधिक दस्त आने से काला पड़ पड़ जाता है तथा दोनों नेत्र भी अत्यन्त काले हो जाते है और शरीर में सफेद-सफेद फुन्सियों का मंडल उत्पन्न हो जाता है। इन सब सन्निपात ज्वरों में नारायण ही प्रधान रूप से वैद्य रह जाते हैं और औषधि में केवल गंगाजल रह जाता है। और आरोग्य होने के लिए एकमात्र श्री मृत्युञ्जय भगवान शंकर का ध्यान मात्र रह जाता है। अर्थात् अत्यन्त भयंकर होने से बड़ी कठिनाई से रोगी के प्राण बचते हैं। मुझे भगवान श्री शंकर जी की कृपा से ही मधुर ज्वर में होने वाले सन्निपातों पर सफलता प्राप्त हुई है। मैं सफलता में प्रभु को ही सहायक मानता हूं।

रोगी का नाम—नन्दकिशोर मोटेका उम्र १८ सन् १९५४ के सितम्बर मास की बात है। मैं श्री गणपति चिकित्सालय सुबह ८ बजे पहुंचा ही था कि श्री डालूराम जी मोटेका चिकित्सालय में आये कहने

लगे भाई जरा "नन्दू" को देख कर आना है। मैंने कहा मैं १० बजे जरूर देख लूंगा। श्री दालूराम जी, चले गये १५-२० मिनट बाद फिर आये कहने लगे मेरे साथ ही चलो तो ठीक है। मैंने कहा ऐसी क्या बात है। उन्होंने कहा वह बहुत ही बकता है। कपड़े चूटता है ऐसा प्रतीत होता है जैसे सन्निपात में आ गया हो। नन्दू की मां बहुत घबराई हुई है। दूसरा कोई है नहीं वह अकेला है। मैं उनके साथ गया देखा वह तो प्रलाप कर रहा था। मैंने पूछा कितने दिन से बीमार है। कहा —एक सप्ताह से बीमार है। दवा क्या देते हो तो कहा—दवा तो एक कम्पोण्डर की थी वह कहता था मौसमी बुखार है। बुखार की दवा दी गई थी। मैंने देखा तो ज्वर १०४ था गर्दन के नीचे छोटे-छोटे मोती के मानिन्द दाने स्पष्ट दीख रहे थे। अंगुली से दबाने पर फूटते नहीं थे। सिर में दर्द प्यास, पेट में दर्द तथा बेचैनी थी। मैंने व्यवस्था पत्र इस प्रकार लिखा—सुबह-शाम—संजीवनी वटी २-२, लवंग ३, सोंठ ३ रत्ती, ब्राह्मी की पत्ती ४ रत्ती लवंग की टोपी उतार कर तीनों औषधियों को मोटी-मोटी कूटकर एक छटांक पानी में औटाकर जब २ तोला शेष रहे छान कर देवें।

साथ में संजीवनी वटी देवें। दिन में २ बजे रात के ८ बजे। मुक्तापिष्टी १ रत्ती, विद्रुम पिष्टी १ रत्ती मधु से देवें।

उपरोक्त क्रम एक सप्ताह तक चालू रहा। सप्ताह के बाद कफ की वृद्धि हुई तो—दशमूल क्वाथ ३ माशा उपरोक्त दवा पूर्ववत् दी गई। मुक्ता, विद्रुम पिष्टी के साथ १-१ वटी लक्ष्मीनारायण रस की दी गई।

दूसरे सप्ताहान्त में नन्दकिशोर का चाचा देवी-दत्त साहिबगंज से आया। मेरे पास आकर अपनी इच्छा प्रकट की। कहा आपकी जंचे तो श्री मनिराम जी को रतनगढ़ से बुलाकर ले आऊं मैंने कहा मैं पत्र लिख देता हूं। पत्र लेकर देवीदत्त रतनगढ़ गया। मेरा पत्र पढ़ते ही वे तुरन्त पधारे। नन्दू को देखा। दवा क्या-क्या दे रहे हो, मैंने दवा का सारा क्रम बताया। वे प्रसन्नतापूर्वक देवीदत्त से कहने लगे दवा की व्यवस्था उत्तम है। आप घबरावें नहीं। वे तृ

रात रहे दूसरे दिन, दिन के ११॥ बजे रतनगढ़ चले गये। नन्दू की तबियत ठीक हो रही थी। २१ वें दिन शाम को ज्वर १०४·४॥ हो गया। प्रलाप था। ४ दिन से दस्त नहीं आ रहा था। ज्वर विशेष था। अतः अष्टादशांग क्वाथ ६ माशे. जल १० तोला शेष २॥ तोला रहने पर रात के ८ बजे दिया गया। दवा-इयां सभी पूर्ववत् चालू थी। केवल क्वाथ ही अतिरिक्त था। ५ बार क्वाथ देने पर ज्वर १०१॥ हो गया। प्रलाप नहीं था। परन्तु होठों पर पपड़ी जमी हुई थी। इन पर आयुर्वेदिक ग्लेसरीन (मुनक्का के बीज निकालकर महीन पीस लें थोड़ा सा शुद्ध गोघृत मिलाकर होठों पर लेप करें) यह ग्लेसरीन चक्रदत्त का योग है। नन्दकिशोर जी को ३१ दिन बाद मूंग का पानी दिया गया था। भोजन ३५वें दिन दिया गया। नन्दकिशोर पूर्णरूपेण ठीक हुआ।

नं० ४—मदनकरणसिंह, उम्र ५५ वर्ष। यह भी मौक्तिक ज्वर का बीमार था, दूसरे सप्ताह के अन्त में इसके पिता मेरे पास आए, कहने लगे मदन बहुत बीमार है। चलकर देखना है। मैं देखने गया। उस समय दिन के १०॥ बजे थे महीना आश्विन का था। देखा तो मधुर ज्वर के ही लक्षण थे। भयंकरता बहुत थी। मैंने पूछा इतने दिन किस वैद्य का इलाज था तो बताया कोई ग्रामीण वैद्य दवा दे रहा था। लवंग, सोंठ, का क्वाथ देता था तथा मोतीझरा ठसक गया। अतः १ दाना सच्चा मोती भी दिया गया।

मैंने कहा यह हालत कब से है। कहने लगा तीन दिन से यह हालत है। डाक्टर को भी दिखाया गया पर डाक्टर की दवा से कोई लाभ नजर नहीं आया।

मैंने सोचा सदा सन्निपातों के लक्षण मिलाये तो अभिन्यास सन्निपात नजर आया।

अभिन्यास ज्वर के लक्षण —

> ये प्रकुपिता दोषाः उरः स्रोतोऽनुसारिणः।
> आमान्वितत्वाद् बलिनो बुद्धीन्द्रियमनोगताः॥
> जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम्।
> [illegible]॥
> न च [illegible]।
>
> —[illegible] ३३४ पर।

मन्दाग्नि

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद, आयुर्वेद-बृहस्पति, "विशेष सम्पादक"
आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध-संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

★

परिचय—"अथातो मन्दाग्नि व्याधि नामाध्यायं व्याख्यामो यथोचुरात्रेय धन्वन्तरि आचार्य महेश्वर प्रभृतयः।"

"आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्य मुत्साहो पचयो प्रभा।
ओजस्तेजोग्नयः प्राणाश्चोक्त देहाग्नि हेतुकाः॥
शान्तेऽग्नौ, मृयते युक्ते चिरंजीवत्यनामयः।
रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥"
(च० चि० १५ का ३४)

अभिप्राय यह है कि आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य उत्साह, उपचय, प्रभा, ओज, तेज, धात्वाग्नियां, प्राणादि का मूलभूत देहाग्नि या जाठराग्नि है। इस जाठराग्नि के शांत हो जाने पर प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते है। इसके युक्त रूप में रहने पर प्राणी दीर्घजीवी रहते हैं तथा इसके (जाठराग्नि के) विकृत होने पर प्राणी व्याधिग्रस्त हो जाते हैं। अतः शरीर की इस मूल अग्नि की रक्षा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।

"अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफो भावात्फेनभूत मुदीर्यते॥"
(च० चि० अ० १५)

अभिप्राय यह है कि षड्रस युक्त भोजन का भी जब हम मुंह में चबायेंगे तो उसका पहला पाक मधुर ही होगा तथा मुख में चबाया हुआ भोजन लालास्राव के मिश्रण से फेनयुक्त हो जाता है तथा यह मधुर रूप में आमाशय में पहुंचता है।

"परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥"
(च० चि० अ० १५)

अभिप्राय यह है कि आमाशय में पहुंचे हुए मधुर भोजन में अम्ल (उदहरिकाम्ल, Hcl.) मिलकर भोजन विदग्ध होकर आमाशय से छोटी आंत के प्रारम्भिक भाग में पहुंचता है तथा इसमें अग्नि ग्रंथि का अच्छपित्त अर्थात् श्वेत पित्त तथा पित्ताशय का पीत पित्त मिश्रित होकर भोजन का दूसरा पाक पूरा होता है।

आयुर्वेद में 'अग्नि' शब्द में जाठराग्नि, धात्वाग्नि, भूताग्नि आदि त्रयोदशाविध अग्नियों का अन्तर्भाव होता है। ये एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित तथा मूलतः जाठराग्नि पर निर्भर रहते हैं। इतना ही नहीं जाठराग्नि के द्वारा ही दूसरे प्रकार की अग्नियों का नियन्त्रण होता है जिस तथ्य को चरक चि. चि. अ. १५ श्लो. ३६ में सुश्रुत अ. २१ के श्लो. १० तथा अष्टांग हृदय के सूत्र अ. १२ में देखने को मिलता है।

भुक्तान्न के पचने का कार्य जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कोष्ठस्थ जाठराग्नि या जठरपित्त के द्वारा होता है। आमाशय में भुक्तान्न पहुंचते ही वात की प्रेरणा से पित्तस्राव की ग्रन्थियों से अम्लता विशिष्ट स्वच्छ पित्त का स्राव होताता है और मन्द, तीक्ष्ण, विषम और सम प्रकार में से स्वस्थावस्था में समाग्नि द्वारा भुक्तान्न का पाचन होता है। किन्तु मिथ्या

मन्यास्तंभ एक ऐसी व्याधि है जो दिन में अधिक सोने, नीचे, ऊंचे या तिरछे तकिया पर सिर रखने, तिरछा या ऊपर की ओर अत्यधिक देर तक देखते रहने, सोने के समय पसीना चलने पर ग्रीवा के पीछे के भाग पर ठंडी हवा लगने, जन्म के समय पेशी पर आघात लगने, योषापस्मार के फलस्वरूप मस्तिष्कावरण शोथीय-निद्रालसी (Encephalitis Lethargica) के फलस्वरूप धनुस्तम्भ के पूर्व रूप में उरःकर्णमूलिका (Storno mastoid) पेशी का वातज संकोच होने आदि कारणों द्वारा शीतादि गुणों से वात दोष प्रकुपित होकर गर्दन की पीछे वाले भाग मे रहने वाली पेशियों में स्तब्धता अर्थात् जकड़ाहट उत्पन्न कर देता है। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ज्ञात हुआ है कि जीर्णकोष्ठबद्धता वाले व्यक्ति में अत्यधिक क्रोध करने या ग्रीवा में ठण्ड लगने पर भी यह व्याधि उत्पन्न हो जाती है जिसे पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में टॉर्टिकॉलिस (Torticollis) या राई नेक (Wry neck) नाम से सम्बोधित किया जाता है जिसका अर्थ होता है ऐंठा हुआ या स्तम्भित गर्दन की मांसपेशियों सहित तन्त्रिका, धमनी एव शिरा आदि की शाखा-प्रशाखाएँ एव केशिकाएँ और विशिष्ट यन्त्र ग्रीवा में लगाकर तथा तन्त्रिका को शक्ति देने वाली दवायें खिला कर, सूचीवेध लगा कर, स्थानीय मालिश कर, मेरुदण्ड पर मलहर या दवा सिद्ध तैल का विधिवत् मर्दन और सेंक कर इस व्याधि की क्षणिक स्थायी चिकित्सा की जाती है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार स्पष्ट है कि इस व्याधि में आवरण दोष स्निग्धत्व एव शीतत्व प्रधान होने के कारण कफ तथा आवृत होने वाला दोष शीतत्व एवं रूक्षत्व प्रधान होने के कारण वात है तथा दूष्य घटक मज्जा, स्रोतस घटक मज्जावह, व्यक्ति स्थान मन्याप्रदेश तथा स्रोतस दुष्टि प्रकार कफ द्वारा स्रोतोरोध एवं वायु को आवृत्त किया जाना है। इसमे गर्दन के पीछे भाग की पेशियों का प्रसार संकोचादि क्रिया से नष्ट होकर ग्रीवा की पेशियों का उद्वेष्टन हो जाता है परिणामस्वरूप ग्रीवा के पश्चात् भाग में स्थित तन्त्रिकाएं (नाड़ी) तथा मांसपेशियां स्तब्ध हो जाती है जिससे उरःकर्ण मूलिक (Sterno-mastoid), शिरोग्रीवा विपर्तनी (Splenius), पृष्ठच्छदा (Trapezius) तथा गर्दन के पीछे और बगल (पश्चात् एवं पार्श्व) की पेशियों में अनाम्यता एवं कठोरता (कड़ापन) आ जाता है। इस प्रकार की विकृति कभी एक ओर की तथा कभी दोनों ओर की पेशियों में भी उत्पन्न होती है। जब एक ओर की मन्या नामक ग्रीवा पेशियों मे विकृति होती है तब माथा विपरीत दिशा की ओर घूम जाता है, मुख ऊपर की ओर हो जाता है तथा स्कन्ध भी अपेक्षाकृत ऊपर की ओर उठे रहते है। किन्तु जब दोनों ओर की मन्या नामक ग्रीवा पेशियों मे विकृति हो जाती है तब माथा पीछे की ओर खिंच जाता है, गर्दन की पार्श्वीय गति (बगल मे घूमने की वाली) पूर्णरूपेण अवरुद्ध हो जाती है तथा दर्द होता रहता है। कभी-कभी ग्रीवा की मर्म प्रदेश में रहने वाली पेशियों का अथवा स्नायुओं का कुछ चल कर एक दूसरे पर चढ़ जाने की 'स्प्रेस' क्रिया होने के कारण भी मन्यास्तम्भ नामक विकार हो जाता है।

मन्यास्तम्भ में आवरक दोष कफ को दूर करने के लिये रूक्षत्व, उष्णत्व प्रधान चिकित्सा तथा आवृत्त दोष वात को दूर करने के लिये स्निग्धत्व, उष्णत्व प्रधान चिकित्सा उपक्रम करना अनिवार्य है। इसी हेतु इस व्याधि की चिकित्सा में रूक्ष स्वेदन तथा शिरो विरेचनार्थ नस्य एवं वमन कराने को लाभप्रद पाया गया है। विशिष्ट चिकित्सा में समीरपन्नग, योगराज गुग्गुलु, वात विध्वंसन रस, रास्नादि क्वाथ के साथ, षड्बिन्दु तैल नस्य, अणु तैल नस्य, महातिक्त घृत, ग्रीवा पर तैल या घी लगाकर आक के या एरण्ड के पत्तों को उस पर पुनः पुनः बालुकामय पोटली स्वेदन करना, स्तब्धता कम हो जाने पर कुक्कुट तैल, महाविषगर्भ तैल या सैन्धवादि तैल का अभ्यंग करना, स्वेदन के लिये सालवण उपनाह का प्रयोग आदि अधिक गुणकारी, निरापद एवं आशुफलप्रद पाया गया है।

परम प्रिय वैद्य श्री [illegible] महोदय ने इसके निदान तथा व्याधि की चिकित्सा के गूढ़ रहस्यों पर उत्तम प्रकाश डाला है जो उपयोगी है।

—आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद।

आहार-विहार से कफ की अधिकता होती है तो जाठराग्नि के मन्द पड़ जाने से मन्दाग्नि की उत्पत्ति होती है। मन्दाग्नि के कारण भुक्तान्न का सम्यक पाचन नहीं होता, असम्यक् पाचन से अपक्व आहार रस का निर्माण होता है, उसका आमाशय में ही अवरोध हो जाता है और इसमें कुछ ऐसे परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं कि जिसके परिणामस्वरूप विजातीय या विषाक्त द्रव्यों की उत्पत्ति हो जाती है एवं विषाक्त तत्व दूसरे द्रव्यों के साथ में विकारों को उत्पन्न करता है, इसे ही आम कहते हैं। निम्नांकित संकेत-चित्र इसे स्पष्ट करते हैं।

मन्दाग्नि ——— मिथ्या आहार-विहार
↓
असम्यक पाचित (अपक्व) भोजन
↓
अपक्व आहार रस
|
विशेष प्रकार के परिवर्तन
↓
आम उत्पत्ति ———→ वातादि दोष धातु एवं मलों की दुष्टि

मन्दाग्नि को आयुर्वेद में अग्निमांद्य, मंद पाचकाग्नि, उर्दू में भूख की कमी, यूनानी हिकमत में बुतलानु शेहवत या नुकसानु मेहवत, हिन्दी में जाठराग्नि मांद्य, पाचन क्रिया की मंदता, मंद पाचकाग्नि कहते हैं।

कारण— मिथ्या आहार, अनियमित भोजन, गरिष्ठ भोजन, अधिक चटपटे मसालेदार भोजन का सेवन, बासी भुक्तान्न का सेवन, मद्य, मांस, भांग, हशीस, हीरोइन का तथा अन्य नशीली खाद्य-पेय का सेवन, कब्ज, वात-पित्तादि दोषों की विषमता, अधिक मैथुन, दुष्ट दोषों की प्रतिलोमता, आंत्र में अधिक मल संचय जिससे दुर्गन्धित वान्ति उत्पन्न होना, आमाशय की भित्तियों की विकृति, अम्लस्राव की असम्यकता, पित्ताशय की विकृति से पित्तरस का सम्यक रूप से स्राव नहीं होना आदि मन्दाग्नि के कारण हैं। इनके अतिरिक्त भोजन, वसा वाले खाद्य-पेय का अधिक सेवन, मानसिक तनाव, रात्रि जागरण, गद पर गद भोजन, शारीरिक श्रम का अभाव, चिन्ता, क्रोध, शोक, दुःख, व्यथा आदि भी इसके कारण हैं।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से लालाग्रन्थि, आमाशय, यकृत्, अग्न्याशय एवं पित्ताशय की क्रिया मन्द होकर उनसे निकलने वाले स्राव अनियमित और मंद पड़ जाते हैं जिससे जाठराग्नि मन्द हो जाती है।

लक्षण—भोजन, पेय में अरुचि, अपचन, उत्क्लेश, कार्श्य, उद्विग्नमन, दाह, तृषा, चलने-फिरने में अशक्ति, उदरशूल, आध्मान, उदर में गुरुता, भूख की कमी, मुख से बारम्बार लालास्राव, आम की उत्पत्ति, अतिसार आदि।

चिकित्सा—"शरीरानुगते सामे रसे लंघन पाचनम्।" मन्दाग्नि की चिकित्सा में सर्वप्रथम १२ से २५ ग्राम सैन्धव लवण को आधालिटर उष्ण जल में भलीभांति मिलाकर रुग्ण को पिलायें तथा उसे कण्ठ में तर्जनी और मध्यमा अंगुली डालकर वमन करने का आदेश दें। तब जब तक खूब भूख न लगे तब तक लंघन (उपवास) करायें। पाचन के लिये पंचकोल चूर्ण ५०० मि. ग्राम से ७५० मिलीग्राम भोजन के बाद दिन में दो बार दें। यदि शीघ्र भूख जगाना हो तो आर्द्रक स्वरस ४ से १० मिलीलिटर समभाग मधु मिलाकर हर २-३ घण्टे पर चटाते रहें।

उदर में गुरुता, मुंह से बारम्बार लालास्राव हो रहे हों तो काली मिर्च का चूर्ण ५०० से ७५० मिलीग्राम, कृष्ण तुलसी के पत्तों का रस तथा मधु प्रत्येक ३ से ६ ग्राम—इन्हें एकत्र मिला चटनी बना २-२ या ३-३ हर घण्टे पर खिलायें।

सोंठ, मिर्च और पिप्पली को समभाग में लें, चूर्ण कर एकत्र इसके एक भाग को सेंधा नमक चूर्ण १ भाग में मिलाकर रखें। इसको १ से १॥ ग्राम उष्ण जल से आवश्यकतानुसार दिन में २-४ बार सेवन करायें तो अत्यधिक भूख लगेगी।

जम्बीरी नीबू तथा कागजी नीबू का स्वरस समभाग में लेकर आग पर पकाकर गाढ़ा घन बनावें। गोली बनने योग्य गाढ़ा हो जाने पर २५० मिलीग्राम की वटियां बना लेवें। आवश्यकतानुसार ½ से २ वटी

हर ३-४ घण्टे पर सेवन करायें। यह पाचन शक्ति को बढ़ाती, आम को पचाती तथा जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है। प्रातः आर्द्रक को निर्धूम अंगारों पर सेक कर सैन्धे लवण के साथ दांतों से काटकर और खूब चबाकर खायें तो मन्दाग्नि दूर होकर आध्मान अजीर्ण शान्त होते हैं।

विशिष्ट औषधियां—(१) हरे ताजे आंवलों का स्वरस १२५ मि. लि. समभाग मधु मिलाकर दिन में दो बार भोजन के साथ सेवन करायें तो मन्दाग्नि, अम्लपित्त, अजीर्ण, अरुचि, मलावरोध, वमन, आध्मान और अतिसार दूर हो।

(२) नीम के पत्तों का स्वरस, भृङ्गराज पत्र स्वरस, ताजे हरे आंवलों का स्वरस, कड़वे परवल के पत्तों का स्वरस, गुडूची के ताजे काण्ड का स्वरस मधु—प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र मिला रख लें। प्रतिदिन भोजन के बाद ६० मि. लि. पिला दें और ऊपर से छोटी इलायची के बीज, लवंग, तेजपत्ता, दालचीनी और मिश्री—प्रत्येक समभाग का कपड़छान चूर्ण एक चुटकी खिला देवें। ऐसा दिन में २-३ बार करें। मन्दाग्निहर है।

आमपाचन के लिए नागरमोथा या सोंठ का चूर्ण ३ से ६ ग्राम उष्ण जल से दें।

(३) अजवायन, वायविडंग, बालबिल्व, सोंठ, जीरा, भृङ्गराज पत्र, आम की गुठली, चित्रक, वच और छोटी इलायची के बीज प्रत्येक १० ग्राम ले कपड़छान चूर्ण कर रखें। बच्चों को २५० मि. ग्रा. तथा बड़ों को ५०० मि. ग्रा. से १ ग्राम चूर्ण मधु से दिन में २-३ बार सेवन करायें। मन्दाग्नि को शीघ्र दूर करता है।

(४) प्रवाल पंचामृत, स्वर्णसूतशेखर रस प्रत्येक २५० मि. ग्रा., कान्तलौह भस्म १२५ मि. ग्रा. तथा अविपत्तिकर चूर्ण २ ग्राम—एकत्र मिला ऐसी एक मात्रा सुबह, शाम और दोपहर को आंवला के स्वरस एवं मधु से सेवन करावें।

शास्त्रोक्त औषधियां—(१) हिंग्वष्टक चूर्ण अथवा हिंग्वादि चूर्ण वातावस्थानुसार १ से १½ ग्राम [illegible] से ६ से ८ ग्राम [illegible] भोजन के प्रथम ग्रास में मिलाकर दिन और रात में भोजन-काल में खिलावें।

(२) अग्नितुण्डी रस ३१ मि. ग्रा. से ६२ मि. ग्रा. उष्ण जल से दिन में ३ बार खिलायें।

(३) वड़वानल चूर्ण ६७५ से ८०० मि. ग्रा. उष्ण जल से दिन में ३ बार प्रतिदिन सेवन करायें।

(४) अग्निकुमार रस ६२ मि. ग्रा. से २५० मि. ग्रा. एक आर्द्रक स्वरस एवं मधु प्रत्येक ३ से ६ ग्राम मिले हुए के साथ दिन में ३ बार दें।

(५) शंखवटी १२५ मि. ग्रा. से २५० मि. ग्रा. तक आर्द्रक स्वरस और मधु प्रत्येक ३ से ६ मि. लि. एकत्र मिले हुए के साथ दिन में ३ बार चटायें।

(६) कसीस भस्म १२५ से २५० मि. ग्रा. को मक्खन १ ग्राम और मधु ३ ग्राम के मिले हुए के साथ दिन में २-३ बार आम-पाचन के लिए सेवन करायें।

(७) लवण भास्कर चूर्ण १ ग्राम से ३ ग्राम ईषत् उष्ण जल से भोजन के पूर्व और बाद में दिन में ४ बार दें।

स्वानुभूत दिव्य योग—(१) सूखा आंवला, जीरा, अजवायन, मंगरैला, सोंठ, काली मिर्च, सैन्धव लवण, भृङ्गराज पत्र, द्रोणपुष्पी पत्र, बालबिल्व चूर्ण, नीम की अन्तरछाल, चित्रक मूलत्वक्, इन्द्रयव, हरा पुदीना पत्र, टमाटर सूखा (सेंका हुआ), तुलसी की जड़ की छाल, दालचीनी प्रत्येक २५ ग्राम तथा नौसादर, काला नमक, घृत में भुनी हींग, यवक्षार, शंख भस्म प्रत्येक ५ ग्राम लें। इनमें से काष्ठौषधियों का प्रथम चूर्ण कर फिर हरे पत्तों को इसी में रख हाथों से घोंट कर भलीभांति मिला लेवें। पश्चात् शेष द्रव्यों को भी मर्दन करते हुए मिला देवें। तब २५० मि. ग्रा. की गोलियां बनाकर सुखा लेवें। आवश्यकतानुसार १ से २ गोली ईषत् उष्ण जल से दिन में २-३ बार खिलावें।

(२) मन्दाग्निहर महौषधम्—योग: भुना हुआ जीरा, घृत भर्जित हींग, शुद्ध [illegible], सूखे आंवलों का कपड़छान चूर्ण, शुद्ध [illegible], [illegible] भुनी हुई [illegible], [illegible], [illegible] के चूर्ण [illegible],

अजवायन, छोटी कण्टकारी चूर्ण, सोंठ, नागरमोथा, वायविडङ्ग, राई, प्रत्येक १० ग्राम तथा काला नमक सैंधानमक, नौसादर, मूलीक्षार, यवक्षार, नीमछाल की भस्म, सज्जीक्षार, द्रोणपुष्पी पत्र की भस्म, नीबू सत्व प्रत्येक १ ग्राम लें। नि० वि० : सर्वप्रथम काष्ठौषधियों को खरल में घोटकर सूक्ष्म चूर्ण निर्माण करें। पश्चात् शेष द्रव्यों को इसमें डाल दृढ़ हाथों से कई घण्टे तक खरल करें। जब समसर्वांश हो अति सूक्ष्म चूर्ण बन जाय तो इन्हें २५ मि. ग्रा. वाले खाली रंगीन कैप्सूलों में भरकर रख लें। से० वि० : १ से २ कैप्सुल्स ईषत् उष्ण जल या मधु से भोजन के पूर्व, साथ या बाद में जैसी आवश्यकता हो ३-४ बार सेवन करायें। गुण—हर प्रकार की जाठराग्नि विकृति, मन्दाग्नि, अरुचि, कृमि, अजीर्ण एवं उदरशूल में लाभप्रद।

(३) आर्द्रक, काली मरिच, सफेद जीरा प्रत्येक ५ ग्राम तथा अन्तर्जिह्वा (अंकुर) निकाले हुए लहसुन ५० ग्राम ले एकत्र पीस मिलाकर अल्पमात्र सैंधालवण डाल चटनी निर्माण करें। भोजन के साथ दिन में ३ बार इसे खिलाये तो मन्दाग्नि दूर होगी।

(४) आर्द्रक स्वरस १० ग्राम, पुदीने के पत्तों का स्वरस ५ ग्राम, नीबू का स्वरस ४ ग्राम, तुलसी के पत्तों का स्वरस ३ ग्राम, बेल के पत्तों का स्वरस २ ग्राम तथा काला नमक १ ग्राम—इन्हें एकत्र मिलाकर इनकी दो मात्राएँ बनाये। इसे २४ घण्टे में दो बार भोजन के बाद पिलायें तो मन्दाग्नि, अपच एवं आध्मान दूर होकर अच्छी भूख लगती है।

आसव-अरिष्ट में मुस्तकारिष्ट, द्राक्षासव, लोहासव, जीरकाद्यरिष्ट, पिप्पल्यासव, कर्पूरासव में से प्रथम पांच मे कोई एक १५ से २० मि. लि. समभाग जल मिलाकर तथा छठा ५ से १० बूंद दिन में ४-५ बार शतपुष्पार्क में मिलाकर भोजन के बाद पिलायें।

योगसाधानात्मक चिकित्सा

सूर्योदय से २ घण्टे पूर्व नित्यक्रिया से निवृत्त हो समस्त शरीर में पीली सरसों के तैल की स्वयं दृढ़ हाथों से मालिश करके स्नान करें। पश्चात् स्वच्छ वस्त्र एवं कच्छा पहनकर वज्रासन, शीर्षासन एवं भ्रमण प्रत्येक १५ से ३० मिनट तक करें। वज्रासन तो ३० मिनट तक अवश्यमेव करें। ऐसा प्रतिदिन करें तथा आधा पेट भोजन करें। तैल, लाल मिर्च, खट्टी, मधुर चीजों के मौखिक सेवन से परहेज करें। स्त्री प्रसंग भी पूर्ण वर्जित है।

●●

[पृष्ठ ३२९ का शेषांश]

न घ्राणं न च सस्पर्श शब्द वा नैवबुध्यते ॥
शिरो लोण्ठयतेऽभीक्ष्णमाहार नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥
अस प्रभाषते किंचिद्भिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥
अभिन्यास ज्वर प्रतीत हुआ।

व्यवस्था-पत्र शृंग्यादि क्वाथ—भावप्रकाशोक्त सुबह, शाम शृंग्यादि क्वाथ १-१ तोला, २० तोले जल में औटाकर ४ तोले शेष रहने पर दें। मकरध्वज आधा रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, विद्रुमपिष्टी १ रत्ती मिलाकर यह एक मात्रा हुई। क्वाथ से पूर्व १ पुड़िया मधु में चटाकर काढ़ा पिलावे।

२१वे दिन रुद्रकरणसिंह को होश हुआ, भूख की इच्छा प्रगट की। मैंने उनके पिता से कहा कि भोजन में कुछ जव देना। परन्तु मेरी बात की उपेक्षा करके भोजन दे दिया गया। भोजन देने के १ घण्टा बाद बीमार की हालत बहुत नाजुक हो गई। उसका पिता ऊँट लकर बुलाने आया, मैंने पूछा कि तुम लोगो ने कोई गड़बड़ की है, तो बोला गड़बड़ तो नहीं की है। परन्तु काढ़ा बनाते समय छीके में पड़ी रोटी का टुकड़ा गिर गया हो तो पता नही। मैंने कहा यह तो असम्भव बात है। तुम लोगों ने उसे खाने को दिया है। जाकर देखा तो कर्णमूल पर शोथ था—

सन्निपात ज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥

मैने एक लेख "वैद्य जीवन" में से लिखा हुआ बनाकर उसका लेप करवाया—

रास्ना, सोंठ, बिजोरे की जड़, चित्रक, दारुहल्दी, अग्निमन्थ इन सब को समभाग लेकर कूट-छानकर इस चूर्ण को जल से पीसकर लेप कराया गया। शोथ कम हुआ। तीन दिन बाद ठीक हो गया।

●●

मन्यास्तम्भ

वैद्य चन्द्रकान्त सोवारे, अधिव्याखाता भा० सा० आयुर्वेद महाविद्यालय, सावंतवाड़ी

परिभाषा—

मन्या—"ग्रीवा पश्चात् भागः" ग्रीवा के पिछले भाग को मन्या कहते हैं।

स्तम्भ—स्तम्भो वाहु-उरु-जंघादीनां संकुचना-द्यभावः। —अरुणदत्त

संधियों तथा मांसपेशियों की संकोचादि क्रिया नष्ट होना तथा उनका जकड़ जाना।

इस रोग में ग्रीवा के पश्चात् भाग की मांसपेशियों की संकोचादि क्रियायें नष्ट होती हैं तथा जकड़ जाती हैं यह रोग ग्रीवा की पेशियों का उद्वेष्टन माना जाता है। यह स्वतंत्र व्याधि होने के साथ-साथ अन्य व्याधियों के लक्षण रूप में भी देखा जाता है।

इसमें वायु और कफ की विशेषता रहती है। 'मन्यास्तम्भ' के लिये आधुनिक परिभाषा में Torti-callis or Wry-Neck कहते हैं।

इसमें ग्रीवा के पिछले भाग में स्थित नाड़ी तथा मांसपेशियां स्तब्ध हो जाती है। इसे ग्रीवा की अनाम्यता या कठोरता भी कह सकते है।

रोग उत्पत्ति के कारण—

दिवास्वप्न असमस्थानविकृ
(त्) तउर्ध्व निरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव
श्लेष्मणाऽऽवृतः॥
(सु. नि. १ ६४)

(१) दिवास्वप्न—दिन में अधिक सोना। ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त सब ऋतुओं में विशेषकर (शीत ऋतु में) दिन में सोना (शास्त्रानुसार) निषिद्ध है। गर्मियों के दिनों में जरासा परिश्रम करने पर अधिक थकावट होती है। दिन बड़े और रात छोटी होती है। जिससे दिन भर के परिश्रम के लिए जितना विश्राम रात में निद्रा के रूप में मिलना चाहिये उतना नहीं मिलता इसलिये दिन में निद्रा सेवन की विधि बतलाई है। दिन में भोजन के बाद लेटे-लेटे करवट बदलते रहते हुए आराम करना (आसीन प्रचलायित) अपरिहार्य माना गया है। दिन में निद्रा लेने से विशेषतः कफ का प्रकोप होता है। दिवास्वाप स्निग्ध होने से तथा पित्त की अपेक्षा कफ में स्निग्धत्व प्रधान-गुण होने से कफ का प्रकोप विशेष होता है।

(२) असमस्थान—नीचे या ऊंचे तकिया पर सिर रखने से।

(३) विकृत उर्ध्व निरीक्षणैः—तिरछा या ऊपर की ओर ज्यादा देर तक देखते रहने से।

(४) सोते समय पसीने पर ग्रीवा पश्चात् भाग में ठण्डी वायु लगने से।

(५) अभिघात—(जन्मज-Congenital) जैसा कि जन्म के समय पेशी पर आघात होने से मन्यास्तम्भ होता है।

(६) योषापस्मार (Hysteria) के परिणाम स्वरूप।

(७) मस्तिष्कावरण शोथीय—निद्रागामी (Encephalitis Lethargica) के परिणाम स्वरूप मन्या-स्तम्भ की स्थिति पाई जाती है।

(८) धनुःस्तम्भ के पूर्वरूप में भी उरःकर्ण मूलिका (Sternomastoid) पेशी का संकोच (वातज संकोच) होता है।

हेतु क्र० ४ से ८ तक आधुनिक शास्त्र में कहे गये हैं।

सु. सं. डल्हण टीका (यादव जी त्रिकम जी आचार्य/नारायण राम आचार्य द्वारा संशोधित) में हेतु के बारे में 'असम स्थान' क बदले में 'आसन स्थान' ऐसा पाठभेद दिखाई देता है। (डल्हण टीका—आसनम् उपवेशमं, स्थानम् उर्ध्वीभवनं) तथा "विकृत-उर्ध्वनिरीक्षणैः" के बदले में 'विवृताध्वनिरीक्षणै" ऐसा पाठभेद दिखाई देता है। (डल्हण टीका—विवृताध्व-निरीक्षणैः वक्रमार्गावलोकनैः। स्व. एव वायुः।)

रोग के विविध लक्षण—इसमें उरःकर्णमूलिका (Sterno-mastoid), शिरोग्रीवा विवर्तनी (Splenius), पृष्ठच्छदा (Trapezius) तथा ग्रीवा के पश्चात् एवं पार्श्व पेशियों में कडापन आ जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि मन्या से ग्रीवा के पश्चात् पार्श्व की पेशियों और उनकी प्रदाय करने वाली वातवह नाड़ियों का ही ग्रहण करना चाहिये। उक्त विकृति कभी एक ओर की और कभी दोनों ओर की पेशियों में भी होती है। एक ओर की मन्या (ग्रीवा-पेशियों) में विकृति होने पर सिर विपरीत दिशा की ओर घूम जाता है। मुख ऊपर को हो जाता है। कन्धे भी अपेक्षाकृत ऊपर को उठे रहते है। उभय-पार्श्वीय (Bilateral) विकृति में सिर पीछे की ओर को खिच जाता है। ग्रीवा की पार्श्वीय गति पूर्णतया अवरुद्ध हो जाती है और पीड़ा रहती है। कभी-कभी ग्रीवा की मन्याप्रदेश स्थित पेशियों का अथवा स्नायुओं का स्रंस (चिञ्चित् बलित होकर एक दूसरे पर चढ जाना) होने से भी यह विकार होता है। इससे ग्रीवा की चेष्टा न्यूनाधिक नष्ट हो जाती है। इसी मे वेलन आदि फेरने से वेदना तथा स्तब्धता की निवृत्ति हुई देखी जाती है।

सम्प्राप्ति—वायु का प्रकोप दो प्रकार से होता है।

"वायोः धातुक्षयात् कोपो, मार्गस्य आवरणेन च।"
(चरक)

तात्पर्य है कि कदाचित वायु अपने कारणों से स्वतन्त्रतया विकृत होकर रोग उत्पन्न करती है और कभी-कभी वृहद कफ/और पित्तादि से आवृत्त होकर भी विकारों को उत्पन्न करती है।

मन्यास्तम्भ की सम्प्राप्ति का निर्देश करते समय ग्रंथकारों ने इस व्याधि को कफावृत्त वात प्रकोप जन्य विकृति कहा है।

"मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृत्तः॥"
(सु. नि. १-६४)

मन्या की प्रसारण आकुंचन आदि मांसधातु के माध्यम से होने वाली चेष्टाओं और गति आदि कर्मों का हेतु व्यानवायु माना गया है।

देह व्याप्नोति सर्व तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादि क्रियः सदा॥
(च. चि. २८-९)

उसी प्रकार से मा. नि. (वात व्याधि निदान श्लोक २६) में कफ के कारण (द्वारा) आवृत्त व्यान वायु के लक्षण कहते समय उससे निम्न लिखित लक्षण उपस्थित होना कहा हैं।

'स्तम्भनो दण्डकश्च अपि शूलशोथौ कफावृते।
(दण्डको दण्डवत् स्तम्भः॥" (मधुकोष टीका)

व्यानवायु के कफ से आवृत्त होने पर कुछ अंश (उदा मन्या) या सारा शरीर जकड़ कर डण्डे के समान कड़ा हो जाता है तथा शूल और शोथ भी होते हैं।

'स्तम्भने शीतः'--स्तम्भ या जकड़ाहट निर्माण करना यह शीत गुण का कर्म है। इससे गतियों में अवरोध उत्पन्न होता है तथा शिराओं का संकोच भी होता है।

उपरोल्लोखित हेतुओं द्वारा शीतादि गुणों से वात दोष प्रकुपित होकर तथा शीत स्निग्धादि गुण वाले कफ द्वारा स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने से आवरक दोष कफ द्वारा (शीत, स्निग्ध, स्थिर, मंद आदि गुणात्मक) वात दोष को (रूक्ष चल-गतिमान गुण वाले) आवृत्त

किया जाता है। आवरक दोष कफ तथा आवृत दोष वात, इनमें शीत गुण (स्तम्भ निर्माण करने वाला) समान होता है। तथापि वात दोष का यह महत्वपूर्ण गुण है। इसी कारण चरकाचार्य ने सूत्र स्थान अ० २०-१२ में शीत गुण प्रकोप से निर्माण होने वाले "स्तम्भ" इस लक्षण को वायु का आत्मरूप कहा है तथा वात प्रकोप के लक्षणों में च० चि० २८-२० में "स्तम्भ" भी एक लक्षण कहा है।

संकोच पर्वणां स्तम्भो.................. ॥

इस प्रकार शीत स्निग्धादि गुणात्मक श्लेष्मा से आवृत्त शीतादि गुणों से प्रकुपित वात दोष ग्रीवा के पश्चात् भाग स्थित पेशियों में स्तम्भ-स्तब्धता या जकड़ाहट उत्पन्न करता है। यहां आवरक दोष कफ (स्निग्धत्व-शीतत्व प्रधान) तथा आवृत्त होने वाला दोष वात (शीतत्व-रूक्षत्व प्रधान) है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष-वात—शीत गुण से प्रकोप (आवृत्त दोष)

कफ—स्निग्ध शीत गुणात्मक (आवरक दोष)

दूष्य—मज्जा।

स्रोतस—मज्जावह।

व्यक्तिस्थान—मन्याप्रदेश।

स्रोतस दुष्टि प्रकार—कफ द्वारा स्रोतोरोध एवं वायु को आवृत्त किया जाता है।

चिकित्सा सिद्धान्त—चिकित्सा करते समय आवरक दोष कफ के लिये उपयुक्त रूक्षत्व, उष्णत्व प्रधान चिकित्सा प्रथमतः कराकर आवरक को दूर करें। तत्पश्चात् आवृत्त दोष वात के लिये चिकित्सा उपक्रम करें।

स्वेदन—यह उपक्रम वात और कफ दोष के लिये अच्छी चिकित्सा मानी गई है।

(स्वेदसाध्या प्रशाम्यन्ति गदाः वातकफात्मकाः)

.च. सू. १४-३।

इसी बात को ध्यान में रखते हुये मन्यास्तम्भ की चिकित्सा में स्वेदन उपक्रम को प्राधान्य दिया गया है तथा आवरक दोष कफ (स्निग्धशीत प्रधान गुण वाला) होने से रूक्षस्वेद करने को कहा है।

१* च० सू० १२

शास्त्रीय चिकित्सा विषयक सन्दर्भ—

१—पञ्चमूलीकृतः क्वाथो दशमूलीकृतोऽथवा।
रूक्षः स्वेदस्तथा नस्यं मन्यास्तंभे प्रशस्यते ॥

(भै. र.)

२—वक्षस्त्रिकस्कन्धगतं वायुं मन्यागतं तथा।
वमनं हन्ति नस्यञ्च कुशलेन प्रयोजितः ॥

(च. द.)

३—रूक्षस्वेदं तथा नस्यं मन्यास्तम्भे प्रयोजयेत्।

(नि. र.)

मन्यास्तम्भ चिकित्सा में ग्रन्थकारों ने स्थानीय चिकित्सा उपक्रमों को विशेष प्राधान्य दिया है। (१) रूक्षस्वेदन तथा (२) शिरोविरेचन।

चक्रदत्त इस ग्रन्थ में आवरक दोष कफ के द्वारा होने वाले स्रोतोरोध को ध्यान में रखते हुये वमन कराने को कहा है।

कफ का मूल स्थान आमाशय है। वमन द्वारा आमाशय शोधन कार्य सम्पन्न होता है। चरक के मतानुसार आमाशय में कफ के मूल स्थान में जय प्राप्त करने पर संपूर्ण कफ (प्रकुपित) पर जय प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से मन्यास्तम्भ में वमन (सामान्य शोधन हेतु) समर्थनीय है।

मन्यास्तम्भ में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख शास्त्रीय एवं अनुभूत औषधियां—

आभ्यन्तर शमन औषध—

(१) समीर योगराज मिश्रण—समीरपन्नग १ भाग, योगराज गुग्गुलु ८ भाग तथा वातविध्वंस ४ भाग इन सभी को मिश्रित कर सेवन करें।

मात्रा—२५० मि० ग्रा० × ३ बार।

सेवन काल—अन्तराभक्त।

अनुपान—घृत या उष्णोदक (अनुभूत योग-चिकित्सा प्रदीप मा० वि० गोखले)।

अथवा—

(२) योगराज गुग्गुलु—

मात्रा—४०० मि० ग्रा०।

सेवन काल—प्रातः, मध्यान्ह, सायम् अन्तराभक्त।

अनुपान—रास्नादि क्वाथ अथवा दशमूल क्वाथ १०-२० मि०ली० ।

(३) वातगजांकुश रस—२-२ रत्ती ।

अथवा—

कृष्णचतुर्मुख रस—१-१ रत्ती ।

सेवनकाल—प्रातः-मध्याह्न-सायं ।

अनुपान—रास्नादि । दशमूल क्वाथ १०-२० मि० ली० (चिकित्सादर्श–राजेश्वरदत्त शास्त्री)।

२. पंचकर्मोपचार

(१) सामान्य शोधन स्वरूप–वमन कर्म करें।

(२) नस्यम् (शिरोविरेचन)–च० सि० अ० २-२२ में नस्य के योग्य व्याधियों की तालिका में मन्यास्तम्भ का उल्लेख प्राप्त होता है। यदुक्तं–

विशेषस्तु शिरोदंत मन्यास्तंम्भ ।

(१) मासादि नस्य—माष, कपिकच्छु बीज, रास्ना, बला, एरण्डमूल, रोहिणतृण और अश्वगन्धा इनके क्वाथ में हींग और सैंधव नमक मिलाकर सुखोष्ण नस्य देवें। मन्यास्तम्भ में अगर आवश्यक हो तो दिन मे दो वार नस्य देना शास्त्र सम्मत है।

"मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायं प्रातर्दिने।"

अ० हृ० सू० २०-१६।

(२) अणुतैल नस्य—२ से ४ बूंद दिन में दो वार।

(३) महामायूर घृत—(शा० सं० म० ख० ६-७४-शिरोरोगादौ)।

३. बाह्य शमन उपचार

स्वेदनम्—(रूक्ष स्वेद)।

(१) वाष्प स्वेद—निर्गुण्डी पत्र युक्त।

(२) परिषेक स्वेद—दशमूल क्वाथ अथवा पंचमूल क्वाथ के द्वारा।

(३) वालुका [पिण्ड] स्वेद—गरम वालुका की पोट्टली से जकड़ाहट वाले गात्र पर स्वेद करें। उस गात्र के नीचे थैली जैसी रख दें जिससे गात्र को आराम मिले और चिरकाल तक स्वेदन हो।

(४) तैल अथवा घी गर्दन पर लगा कर उस पर आक के पत्तों को अथवा एरण्ड के पत्तों को रख कर उसके ऊपर से वार-वार वालुकामय पोट्टली आदि से स्वेद करें।

(भा० प्र० वात व्याधि विकार २४-७५)

स्तब्धता कम हो जाने पर "कुक्कुट तैल", महाविषगर्भ तैल सैंधवादि तैल का अभ्यंग करना चाहिये। स्वेदनार्थ साल्वण उपनाह (सुरसादि गणोक्त द्रव्य + वातघ्न गण की औषधियों का कल्क + अनूपमांस + मत्स्य + अम्लकांजी + चार स्नेह + सैंधव इनको विधिवत् बांधना चाहिए) सुश्रुत ने चि० अ० ४-७४ में कहा है।

साध्यासाध्यत्व—यह व्याधि सुखसाध्य मानी गयी है।

पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र में आभ्यंतर चिकित्सा के रूप में वेदनाशामक (Analgestics) तथा मांसपेशीशैथिल्यकर(Muscele relaxant) यौगिकों का प्रयोग करते हैं। तथा स्थानीय चिकित्सा के रूप में (Relaxyl) या Medicreme ointment जैसे (Muscle relaxant) मलहर योगों का प्रयोग करते हैं। तथा इन्फ्रारेड लाईट द्वारा स्थानीय रूक्ष स्वेद देते है।

पथ्यापथ्य

अपथ्य—(१) संक्षेपतः "क्रिया निदान परिवर्जनम्" के अनुसार निदान संग्रह में कहे गये सभी कारण या हेतु वर्ज्य करें।

(२) वात कफ प्रकोप कर आहार-विहार आदि।

पथ्य—(१) स्तम्भ कम होने के बाद ग्रीवा चलन-का व्यायाम करना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्र

वैद्य छगनलाल समदर्शी, आयुर्वेदरत्न, स्त्रीरोग, बालरोग, दन्तरोग विशेषज्ञ
रायपुर (झालावाड़) राज०

मूत्र क्या है ?

"आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः ।
सिराभिस्तज्जलं नयत वस्तौ मूत्रत्वमेयात्यनुयात ।"

आचार्य चरक के अनुसार मूत्र अन्न का किट्ट है। चतुर्विध आहार के पाचन स्वरूप प्रसाद एवं किट्ट भागों की उत्पत्ति होती है। प्रसाद भाग या आहार रस धातुओं का पोषण करता है तथा किट्ट भाग स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त, कफ आदि मलों का पोषण करता है। आहार के किट्ट भाग से इन मलों की साम्यावस्था आजीवन शरीर में बनी रहती है तथा पोषण होता रहता है। पक्व आहार का सार भाग और सारहीन भाग मल द्रव कहलाता है। इसका जलीय अंश पक्वाशय में आने वाली मूत्रवह नाड़ियों द्वारा मूत्र रूप में वस्ति (मूत्राशय Urinary Bladder) में उसी प्रकार संचित होता रहता है, जिस प्रकार नदियों द्वारा सागर की जलापूर्ति होती है। वस्ति से संचित मूत्र समय समय पर मूत्र प्रसेक या मूत्र पथ (Urethra) द्वारा शरीर से बाहर निकलता रहता है।

रोग परिचय —

"मूत्रकृच्छ्रः स यः कृच्छ्रान्मूत्रयेत् वस्तिरोधकृत्"

मूत्र निर्माण एवं उत्सर्जन की उपरोक्त सतत् प्रक्रिया में विभिन्न कारणों से व्यवधान उत्पन्न होकर 'मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः' मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति होती है, तब उसे मूत्रकृच्छ्र (painful micturition or dysurea) संज्ञक रोग कहा गया है।

मूत्रकृच्छ्र मूत्रवह स्रोतस की सर्वाधिक पायी जाने वाली व्याधि है। यह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पायी जाती है। मूत्र रोगों का वर्णन आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में आया है। आचार्य चरक ने मूत्रकृच्छ्र का वर्णन त्रिमर्मीय चिकित्सा में वस्ति चिकित्सा के अन्तर्गत एवं आचार्य सुश्रुत ने अश्मरी प्रकरण में किया है। लघुत्रयी में मूत्रकृच्छ्र का वर्णन मूत्र रोगों में सबसे पहले किया गया है। वेदों में भी मूत्रकृच्छ्र का वर्णन मिलता है।

मूत्रकृच्छ्र के कारण

व्यायामतीक्ष्णौषध रूक्ष मद्य प्रसङ्ग
नित्य द्रुत पृष्ठयानात् ।
आनूप मांसाध्यशनाद जीर्णात्स्यु
मूत्र कृच्छ्राणि नृणां ॥

१. मूत्राशय पर बुरा प्रभाव डालने वाले अनुचित एवं अधिक व्यायाम, योग आसन, परिश्रम करने से।

२. तीक्ष्ण औषधियों का अधिक एवं अनावश्यक सेवन करने से।

३. रूक्ष, तीक्ष्ण एवं कच्चे फल अन्न आदि का सेवन करने से।

४. अत्यधिक मात्रा में मद्यपान करने तथा निरन्तर मद्य का सेवन करने से।

५. प्रतिदिन अनुचित प्रकार से मैथुन करने एवं वीर्य के वेग को रोक कर रखने से।

६. तेज चलने वाले घोड़े, ऊंट, साईकिल, मोटर सायकिल आदि वाहनों की नित्य सवारी करने से।

७. जलचर जीवों का मांस अधिक मात्रा में सेवन करने से।

८. भोजन पर पुनः भोजन करने से।

९. अजीर्ण आदि रोगों के होने से।

१०. अधिक एवं अनुचित प्रकार से नृत्य करने मल के वेग को रोकने से।

११. मूत्राशयगत अश्मरी, अर्बुद, तीव्र या जीर्ण मूत्राशय कला शोथ (Acute or chronic cystitis) फिरङ्ग खञ्जता (Tabes dorsalis) योषापस्मार (Hysteria) प्राङ्गोदाय के समवर्त की विकृति से उत्पन्न मूत्र की परमाम्लता (Hyperacidity of urine) तथा मूत्रकृमियों (Thread worms) का उपसर्ग होने से।

१२. मूत्रप्रणालीगत मूत्रप्रसेक शोथ (Urethritis) औपसर्गिकमेह (Gonorrhoea), शिश्नगत् मूत्रमार्ग में उपसंकोच (Urethral stricture) इत्यादि कारणों से मूत्रमार्ग का अवरोध होने से।

१३. पौरुष ग्रन्थि (prostate) की वृद्धि, अर्श, अश्मरी, वीर्य विकार जैसे रोग होने से।

१४. वृक्क प्रदेश में किसी भी आकस्मिक आघात के लगने से।

१५. मूत्रवह संस्थान में विभिन्न जीवाणु के उपसर्ग होने से मूत्रकृच्छ्र रोग की उत्पत्ति होती है।

मूत्रकृच्छ्र—सम्प्राप्ति

पृथङ्मला स्वैःकुपिता निदानैः
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तथा मूत्रयतीह कृच्छ्रात्॥

उपरोक्त वर्णित मूत्रकृच्छ्र के कारणों से मूत्र के सङ्घटक तत्वों का वैषम्य या विकृति होती है। मूत्र-निर्माण, धारण, संग्रह एवं संवहन मूत्रवह स्रोतस का कार्य है। इस कार्य में व्यवधान उत्पन्न करने वाली दोष गुण समान आहार-विहार के सेवन से अपने अपने कारणों से प्रकुपित वातादि दोष पृथक्-पृथक् या एक साथ मिल कर विजातीय तत्वों (Fereign matters) में परिणत होकर जब बस्ति में पहुंच कर मूत्रमार्ग में संकोच, दबाव या क्षोभ, अवरोध, प्रदाह, शोथ, क्षत आदि उत्पन्न करते है तब मूत्र त्याग करते समय रोगी को कष्ट होने लगता है, जिसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। इस व्याधि मे संक्षेप मे (१) दोष–वात, पित्त, एवं कफ, दूषित होकर, (२) दूष्य–मूत्र को (३) स्रोत–मूत्रवहस्रोतस मूत्र में दूषित कर शर्करा, वीर्य, अश्मरी, रक्त आदि के साथ कष्टमय मूत्र त्याग करने का कारण बनते हैं।

मूत्रकृच्छ्र के भेद

मूत्रकृच्छ्र मे मूत्रत्याग म अवरोध कम किन्तु पीड़ा या दाह आदि कष्ट अधिक होते है। आचार्य सुश्रुत ने शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का वर्णन पृथक् से किया है। परन्तु उसका अन्तर्भाव आगे लिखे अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र म ही हो जाता है। इस प्रकार यह दोष भेदानुसार आठ प्रकार का होता है। यथा—

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र

तीव्रार्तिरुग्वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।

वातिक मूत्रकृच्छ्र मे वक्षण, वस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय मे भयंकर पीड़ा होती है और बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्र आता है। वातिक मूत्रकृच्छ्र म मूत्रविसर्जन की इच्छा मूत्रत्याग के पश्चात् भी बनी रहती है। मूत्र का रंग अलसी तैल के सदृश भासित होता है। इस रोग मे पीड़ा की ही विशेषता रहती है, अतः इसे वातिक मूत्रकृच्छ्र (Nervous dysurea) कहते है।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्।

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में मूत्र पीला तथा कभी-कभी रक्तयुक्त होता है। मूत्रत्याग में पीड़ा तथा दाह का अनुभव होता है। यह प्रायः शोथात्मक अवस्थाओं (Inflammatory conditions), औपसर्गिक मेह

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में सभी दोषों के लक्षण विद्यमान रहते हैं। यह अत्यन्त कष्टसाध्य रोग है। सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र प्रकृतिसमसमवारब्ध रोग है, अतः लक्षणों में वैचित्र्य नहीं मिलता है।

(५) शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वाभिहतेषु वा ।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत ।

शरीर के अन्दर पीड़ा पहुंचाने वाली आभ्यन्तर या बाह्य वस्तु ही शल्य कहलाती है। इस प्रकार के आभ्यान्तर शल्य से अथवा बाह्य आघात लगने से मूत्रवाही स्रोतों में पूययुक्त क्षत हो जाने पर शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र होता है। इसमें वातज मूत्रकृच्छ्र के समस्त लक्षण विद्यमान रहते हैं। यह भयंकर मूत्रकृच्छ्र रोग है।

(६) शकृद्विघातज मूत्रकृच्छ्र

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ।
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च ॥

मल के वेग को रोकने के परिणामस्वरूप वायु विलोम (कुपित) होकर उदर में आध्मान, मूत्राशय में शूल, मूत्रावरोध, जांघों में पीड़ा कर देती है। जिससे पेशाब कष्ट से उतरता है। इस प्रकार के मलावरोधज या पुरीष विग्रहजन्य मूत्रकृच्छ्र में मूत्र-विसर्जन के पश्चात् रोगी को कुछ शान्ति का अनुभव होता है।

(७) अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत ।
हृत्पीड़ा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः ॥
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ।

अश्मरी (पथरी) शर्करा का कारण (एषाऽश्मरी मारुत भिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती) प्रतीत होती है। किन्तु वस्तुतः शर्करा (Gravels) के समूह से ही अश्मरी का निर्माण होता है। शर्करा-रूप में अश्मरी के टुकड़े मूत्रमार्ग में आ जाने पर मूत्रत्याग करने में वेदना के कारण बनते हैं तथा इनके बाहर निकल जाने पर वेदना की शान्ति होती है। अश्मरी ही पित्त से परिपाचित होकर और वायु से शुष्क हो जाने के कारण तथा कफरूपी जोड़ने वाली वस्तु (संश्लेषण कार्य कफ का ही है, उसके क्षीण होने से संश्लेष नष्ट हो जाता है) के नष्ट हो जाने पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाहर निकलती है। जिसके कारण हृदय प्रदेश में पीड़ा, कम्पन, कुक्षि में शूल, अग्नि की दुर्बलता, मूर्च्छा तथा भयंकर मूत्रकृच्छ्र होता है।

(८) शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गं विधाविते ।
सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद् बस्तिमेहनशूलवान् ॥

अपूर्ण सम्भोग या अपूर्ण हस्तमैथुन करने अथवा अन्य कारणों से अपने स्थान शुक्राशय से च्युत हुआ वीर्य जब स्खलित न हो सके तब वह दोषों के प्रकोप से अवरुद्ध होकर बस्तिमुख और मूत्रमार्ग में रुक जाता है। यही रुका हुआ वीर्य शुक्रज अश्मरी अथवा विकृत रूप में जब मूत्र के साथ बाहर निकलता है, तब बस्ति और मेढ् में पीड़ा होती है और वीर्य सहित मूत्रत्याग कष्ट के साथ होता है।

आचार्य सुश्रुत ने अश्मरी जन्य मूत्रकृच्छ्र के स्थान पर शर्कराज मूत्रकृच्छ्र एवं शुक्रज के स्थान पर यकृदज एवं क्षताभिघात के स्थान पर रक्तज मूत्रकृच्छ्र का वर्णन किया है तथा आचार्य विजयरक्षित ने अश्मरी जन्य शर्कराज को एक ही माना है।

मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम प्रकार में पंचकर्म एवं सामान्य आहार-विहार द्वारा तथा द्वितीय प्रकार में औषधियों द्वारा चिकित्सा कर रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है। यहां हम दोनों विधियों का वर्णन करेंगे ताकि पाठक बन्धु समय, देश, वातावरण के अनुसार उचित चिकित्सा कर लाभान्वित हो सकें।

१. पंचकर्मादि चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र के अष्टविध प्रकारों में स्नेह, स्वेदनादि पंचकर्म का किस प्रकार में कौनसा प्रयोग करें एवं पथ्य और अपथ्य आहार एवं विहार में क्या लें तथा

वया नहीं लें, इन्हें निम्नांकित द्वारा भली प्रकार देख कर उपयोग में लाया जा सकता है—

मूत्रकृच्छ्र के भेद

वातज—अभ्यंग, स्नेहन; स्वेदन, उपनाह, उष्ण-प्रलेप, उदरावस्ति, (कैथीटर) का प्रयोग करें। अमृता-साधित शुंठी मिश्रित गो दुग्ध का प्रयोग करें।

पित्तज—शीतल जल परिषेक, शीत जल अवगाहन, शीतल पेय सेवन, नारियल का पानी पीने में प्रयोग करें। तृणपंचमूल साधित शीतल दुग्ध देना लाभप्रद है। मधुर युक्त आमलकी स्वरस लेवें।

कफज—स्वेदन, उष्ण सेंक, वमन कर्म, निरूह वस्ति का प्रयोग करें। छोटी इलायची ५-७ नग गो मूत्र या कदली स्वरस से देवें।

सन्निपातज—वात पित्त, एवं कफ में से जिस दोष की अधिकता हो उसके अनुसार वात पित्तादि मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा करें।

शल्याभिघातज—उपनाह, सुखोष्ण सेंक करें। गोदुग्ध में मिश्री एवं गोघृत डालकर स्नेहनार्थ पिलावें।

शकृद्विघातज—अभ्यंग, स्वेदन-विरेचन एवं वस्ति कर्म का प्रयोग करें। तृणपंचमूल सिद्ध दुग्ध सिता सहित पिलाना चाहिये।

अश्मरीज—उत्तर वस्ति का प्रयोग करें। इस रोग में भी तृणपंचमूल से सिद्ध किया मिश्री युक्त गोदुग्ध देना लाभदायक है वीरतर्वादिगण साधित घृत दुग्ध हितकारी है।

शुक्रज—आस्थापन, अनुवासन, एवं उदर वस्ति का प्रयोग करें। उष्ण गोदुग्ध, पान करावें।

पथ्य—पुरातन रक्त शालि, यव, मुद्ग, गो दुग्ध, गोघृत, गोदधि, गोखरू, द्राक्षा, खजूर, नारियल, आमलकी, अनार, लोनच्छी, अनुदाल, पपीता, परवल, चोलाई, ककड़ी, लौकी, मूली के पत्ते, अभ्यंग, शीत-परिषेक अवगाहन, लेप, स्वेदन, वस्ति, उत्तर वस्ति।

अपथ्य—मांस, तिल, सर्षप, उड़द, गो दुग्ध के अलावा अन्य दुग्ध, छुहारा, कपित्थ, आम, केला, चित्त, वृन्ताक, करेला, आलू, टमाटर, नवीन गुड़, हींग अदरक, म्बुल, मत्स्य मांस, लवण, मद्य, श्रम, मैथुन, हाथी, घ ऊंट की सवारी, वेगावरोध, धूप, तेज हवा।

२. दोषानुसार चिकित्सा

(क) वातज मूत्रकृच्छ्र—[१] गिलोय, पुनर्नवा, एवं पाषाण भेद को समान भाग में लेकर सम्मिलित २० ग्राम का क्वाथ कर प्रातः सायं सेवन करावें।

[२] महानारायण तैल का अभ्यंग करावें।

[३] लघु पंचमूल द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध मांसरस सेवन करावें।

[४] पुनर्नवा, एरण्डमूल, अश्मरी, पर्कटी की छाल, वरियारा मूल, पाटला, गम्भारी, अग्निमन्थ, श्योनाक, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कुलत्थ एवं बेर का चतुर्थांश क्वाथ बनाकर सेंधानमक एवं सुअर और भालू की चर्बी की वसा एवं गो घृत में स्नेहपाक कर प्रयोग करें।

[५] मूत्रकृच्छ्रान्तकरस ५०० मिलिग्राम + १ माशा प्रातः सायं मधु के साथ चटाकर ऊपर से अपामार्ग की जड़ ६ ग्राम को तक्र के साथ पीसकर कल्क बना पिलावें।

[६] अमृतादि क्वाथ ५० ग्राम की मात्रा में प्रातः ८ बजे दें।

[७] गोक्षुरादि चूर्ण १-१ ग्राम भोजनोपरान्त जल से दें।

[८] श्वेतपर्पटी २ ग्राम + १ माशा चीनी के शर्बत के साथ दिन में ४ बजे और रात्रि में सोते समय देवें।

(ख) पित्तज मूत्रकृच्छ्र—१. खीरे के बीज के मग्ज का शर्बत बनाकर पिलावें।

२. नारियल का जल पिलावें।

३. दूध में घृत डालकर तथा शर्करा मिलाकर पिलावें।

४. अंगूर का रस, गन्ने का रस एवं विदारीकन्द आदि पित्तनाशक द्रव्यों का प्रयोग करावें।

५. तृणपंचमूल क्वाथ (कुश, काश, सरकंडा, दर्भ, और ईख के मूल का समभाग क्वाथ) मात्रा में ५० मि. लि. ताजा गोदुग्ध १०० मि. लि. और मिश्री १० ग्राम को मिलाकर पिलावें।

६. विदारी कन्द, गोक्षरु, मुलेठी और नागकेशर को सम भाग लेकर क्वाथ बनाकर मधु एवं रससिंदूर मिलाकर सेवन करावें।

७. चन्द्रकला रस ५०० मिलिग्राम + १ मात्रा प्रातः सायं आंवला स्वरस के साथ देवें।

८. हरीतक्यादि क्वाथ ५० ग्राम की मात्रा में प्रातः ८ बजे देवें।

९. गोक्षुरादि चूर्ण १-१ ग्राम भोजनोपरान्त जल से देवें।

१०. श्वेतपर्पटी ६ ग्राम + १ मात्रा चीनी के शर्बत में ४ बजे तथा रात्रि को सोते समय देवें।

(ग) कफज मूत्रकृच्छ्र—१. गोघृत, १ चम्मच, केले के काण्ड का स्वरस, १ चम्मच तथा छोटी इलायची का सूक्ष्म चूर्ण, १२५ मि०लि० ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार देवें।

२. यव से निर्मित यवागू का सेवन करावें।

३. तक्र का सेवन करावें।

४. मूत्रकृच्छ्रान्तक रस ५०० मिलिग्राम × १ मात्रा अपामार्ग को तक्र में पीस कर छान लें तथा प्रातःसायं सेवन करावें।

५. व्योषादि चूर्ण ७ ग्राम + १ मात्रा जल के साथ प्रातः ८ बजे देवें।

६. श्वेतपर्पटी २ ग्राम + १ मात्रा, १ ग्राम चीनी के साथ फांक कर एक घूट गरम जल के साथ ४ बजे, दोपहर तथा रात्रि को सोते समय दें।

(घ) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र—अग्निदोषजन्य में प्रथमतः वायु की फिर पित्त की तत्पश्चात् कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। किन्तु वैषम्य में 'कफ उल्वण होने पर वमन, पित्त उल्वण होने पर पहिले विरेचन और वात उल्वण होने पर पहिले वस्तिकर्म करना चाहिये।

२. लघुकंटकारी फल, श्वेतजीरक, शुद्धगन्धक, कुमारीरस में फूंका हुआ कलमी शोरा समान भाग में लेकर सबका कपड़छन चूर्ण बनाकर गेंदे के पत्तो के रस में सात बार घोट कर झडबेरी प्रमाण गुटिका बनावें। दिन में ३ बार २ से ४ गोली तक देवें। इस योग का नाम दीर्गण्यादि गुटिका है।

३. बृहती, पृश्निपर्णी, पाठा, यष्ठीमधु, इन्द्रयव का समभाग क्वाथ बनाकर प्रयोग करें।

४. सत्यानाशी का रस २५ ग्राम लेकर इसे लोहे की कढ़ाही में डालकर अग्नि पर रखें। इसमें कलमी शोरा २५ ग्राम डालकर शोरा मात्र रहने के बाद नीचे उतार कर शीतल होने दें। यह पका हुआ कलमी शोरा २ ग्राम मिश्री १० ग्राम तथा नींबू का रस ५ ग्राम तीनों को ४० ग्राम पानी मिलाकर पीवें। कम से कम एक सप्ताह प्रयोग करें।

(ङ) शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र—१. गोदुग्ध में मिश्री एवं गोघृत डालकर सेवन करावें।

२. आंवला और इक्षुरस को समान मात्रा में थोड़ा शहद मिलाकर पिलावें।

३. सद्योव्रण चिकित्सा का प्रयोग करें।

४. पित्तज मूत्रकृच्छ्र में मिली औषधियों का प्रयोग करें।

(च) शकृद्विघातज मूत्रकृच्छ्र—(१) गोक्षरू का क्वाथ ५० ग्राम में ५ ग्राम जवाखार मिलाकर पिलावें।

(२) उष्ण गोदुग्ध में गोघृत डालकर सेवन करावें।

(३) ईख स्वरस में मधु डालकर पिलावें।

(छ) अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र—(१) गोक्षरू, अमलतास, दाभ, जवासा, पाषाण भेद तथा हरड़ का क्वाथ ५८ मि० लि० में मधु २५ ग्राम मिलाकर सेवन करावें।

(२) छोटी कटेरी का स्वरस १०० मि० लि० यवक्षार ५ ग्राम, मधु १० ग्राम को मिलाकर प्रातः-सायं सेवन करावें।

(३) तिलनाल क्षार ५०० मिलिग्राम, श्वेतपुनर्नवा क्षार ५०० मि० ग्रा० वरुण की छाल का क्वाथ ५० मिलि० लि० में मिलाकर दिन मे दो बार सेवन करावें।

(४) वरुण की छाल, गोक्षरु, सोंठ, मूसली, कुल्थी प्रत्येक १०-१० ग्राम, तृणपंचमूल ५० ग्राम का चूर्ण कर १६ गुने जल में क्वाथ करें। यह क्वाथ ४० ग्राम, यवक्षार ५ ग्राम, शक्कर १० ग्राम मिलाकर प्रातःकाल पिलावें।

(५) आंवला स्वरस २० ग्राम में समभाग मिश्री मिलाकर दिन में २ बार पिलाने से अथवा आंवला में थोड़ा शहद मिलाकर पिलाने से अथवा आंवला स्वरस ५० ग्राम में इलायची चूर्ण मिलाकर पिलाने से कम मूत्र होना, बूंद-बूंद उतरना तथा मूत्रदाह आदि विकार दूर होते हैं।

(६) आंवले के चूर्ण को जल के साथ घोट कर पीने तथा उसी जल की पिचकारी देने से सुजाकजन्य मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है। व्रणों का रोपण होकर पूय तथा रुधिर आना बन्द हो जाता है।

(७) इलायची, पाषाणभेद तथा पीपल के चूर्ण को चावलों के पानी के साथ थोड़ा शिलाजीत मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

(८) इलायची के बीज ३० ग्राम के साथ वंश-लोचन समभाग मिलाकर कपड़छान चूर्ण कर चन्दन के तैल में खरल कर १४ गोलियां बनावें। प्रातः-सायं १-१ गोली ५० ग्राम जल के साथ सेवन करावें।

(९) इसबगोल की भूसी ८ ग्राम लेकर ४०० ग्राम जल में मिला ढांक कर १० मिनट तक आग पर रखें फिर उसे छान कर निचोड़कर इस जल को लगभग ५० ग्राम की मात्रा में ३-४ बार पिलाने से लाभ होता है।

(१०) ककड़ी का रस २० ग्राम में जीरा चूर्ण ४ ग्राम तथा थोड़ा नींबू का रस, मिश्री या शक्कर मिलाकर पिलाने से रोग अच्छा हो जाता है।

(११) ककड़ी के बीजों के साथ गोखरू, पाषाण-भेद, इलायची, केशर तथा सेंधव लवण समभाग पीस-कर महीन चूर्ण बनावें। इसे ४ से ६ ग्राम की मात्रा में चावल के धोवन के साथ सेवन करावें।

(१२) कुष्माण्ड के २० ग्राम रस को २५० मि० ग्रा० यवक्षार तथा ६ ग्राम शक्कर या गुड़ के साथ सेवन कराने से मूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

(१३) खस के साथ ईख की जड़, कुश की जड़ तथा रक्तचन्दन मिला क्वाथ या फाण्ट बनाकर पिलाने से लाभ होता है।

(१४) गोरखमुण्डी के फल का चूर्ण २० ग्राम तथा गोखरू छोटा, कलमी शोरा, छोटी इलायची के दाने, पाषाण भेद १०-१० ग्राम तथा मिश्री ५० ग्राम सबको एकत्र खरल कर चावल के साथ सेवन कराने से मूत्र-कृच्छ्र तथा मूत्र के साथ होने वाले रक्तस्राव में लाभ होता है।

(१५) पलास के फूल तथा श्वेत जीरा ३०-३० ग्राम, चने की दाल २० ग्राम लेकर १ किलो पानी के साथ मिट्टी के पात्र में लगभग ८ पहर तक भिगोकर प्रातः इसमें से १००-१०० ग्राम जल छानकर पीने से लाभ होता है।

(१६) दारुहल्दी के चूर्ण के साथ ककड़ी के बीज तथा मुलहठी का चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में चावल के धोवन के साथ या आंवलों के रस के साथ थोड़ा शहद मिलाकर सेवन करने से लाभ होता है।

(१७) धनियां ६ ग्राम घोट-छानकर उसमें मिश्री तथा बकरी का दूध मिलाकर पिलाने से आराम होता है।

(१८) धमासा, पाषाण भेद, हरड़ कटेरी छोटी, मुलहठी तथा धनियां, इनके समभाग क्वाथ में मिश्री मिलाकर सेवन कराने से अतिशीघ्र लाभ होता है।

(१९) यवक्षार १।।-१।। ग्राम की २ पुड़िया तथा १००-१०० ग्राम कच्चे दूध के दो गिलास अपने पास रख कर प्रथम आधा नींबू दूध में निचोड़कर और यवक्षार की एक पुड़िया मुख में डाल तत्काल पीवें फिर दूसरी पुड़िया मुख में डालकर शेष आधे नींबू को दूध में निचोड़कर पीवें इस प्रकार ३ दिन प्रयोग करने से मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है।

(२०) शतावरीमूल, गोखरूमूल तथा आंवला तीनों का स्वरस मिला कर १०-१० ग्राम २-२ घण्टे पर दिन में २-३ बार लेने से लाभ होता हैं।

(२१) सत्यानाशी का रस २५ ग्राम लेकर और कलमी शोरा मिला इसे लोहे की कढ़ाई में डालकर अग्नि पर रखें। इसमें कलमी शोरा मात्र रह जाय, तब नीचे उतार कर शीतल होने दें। अब यह पका हुआ कलमीशोरा २ ग्राम, मिश्री १० ग्राम तथा नींबू का रस ५ ग्राम तीनों को ४० ग्राम पानी में मिला पीने से कैसा भी मूत्रकृच्छ्र हो, लाभ करता है।

(२२) यदि मूत्र मार्ग में शोथ हो तो हरमल का फाण्ट या चूर्ण २-३ ग्राम २-२ घण्टे पर २ या ३ बार शहद के साथ देने से लाभ होता है।

(२३) शुद्ध आंवलासार गन्धक ४ ग्राम, यवक्षार ४ ग्राम तथा मिश्री १० ग्राम मिला २५० ग्राम के साथ सेवन करने से असाध्य मूत्रकृच्छ्र भी नष्ट होता है।

(२४) पुराने घृत में केशर को पीसकर पिलाने से शर्करा जन्य मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है।

(२५) बबूल की कोंपल १० ग्राम का रस निकाल कर पिलाने से लाभ होता है।

(२६) बरगद का दूध बताशे में भरकर ३ दिन तक प्रातःकाल सेवन करने से मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है।

अनुभूत एवं परीक्षित प्रयोग—[१] मकई के रेशे १० ग्राम को ३२० ग्राम जल में चतुर्थांश क्वाथ करें। फिर इसे छान लें और ३ भाग करके २-२ घण्टे पर १-१ भाग देने से रुका हुआ मूत्र साफ हो जाता है और मूत्रकृच्छ्रजन्य पीड़ा दूर हो जाती है।

—र. त. सा. द्वि. भाग से।

[२] अमलतास का काला मग्ज ६ ग्राम, फिटकरी (बिना भुनी) २० ग्राम को आधा किलो, गाय का दुग्ध और ५ किलो में मिलाकर खूब फेंट लें। तदनन्तर जितना रोगी पी सके, उसे पिला दें तथा बचा हुआ एक-एक घण्टे के अन्तर से पिलाते रहें। इससे मूत्रकृच्छ्र दूर होकर मूत्राशय और मूत्रप्रणाली स्वच्छ होकर लाभ हो जाता है।

—माधवाचार्य कवले द्वारा धन्वन्तरि अनुभवांक से।

[३] मूत्र विरेचन चूर्ण—शीतलचीनी, रेवन्द चीनी, छोटी इलायची तथा जीरा १०-१० ग्राम, कलमी शोरा २० ग्राम तथा मिश्री ६० ग्राम मिलाकर कूट कपड़छन करलें। यह चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में दूध-जल की लस्सी के साथ दिन में ३-४ बार २-२ घण्टे पर देना चाहिये। यह चूर्ण मूत्रोत्पत्ति को बढ़ाता है। इस चूर्ण को ३ दिन सेवन करने से मूत्रमार्ग साफ हो जाता है। —र. त. सा. द्वि. भाग।

[४] सूर्यावर्तक्षार—२½ किलो जल जिसमें आ जाय उतनी बड़ी एक मिट्टी की हांडी लेकर उसके आधे भाग में हाथी दांत का चूर्ण दबाकर भर दें। फिर इस पर आधा किलो कलमी शोरा रखें पश्चात् उसके ऊपर हाथी दांत का चूर्ण भरकर ढक्कन लगा कर खुले मैदान में जलती हुई अंगीठी पर रखें। शनैः-शनैः हाथी दांत जलने लगेगा जिसमें दुर्गन्धयुक्त धूआं निकलने लगेगा साथ-साथ शोरा फूटने लगता है जिससे जोर-जोर से आवाज होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि हांडी फूट गयी है किन्तु हांडी नहीं फूटती और शोरा भी नहीं उड़ता इस तरह हाथी दांत पूर्ण रूप से जल जाने पर धूआं निकलना बन्द हो जाता है फिर हांडी को उतार लेवें ऊपर से हाथी दांत का भस्म को अलग करलें और तले में बैठे हुए शोरे को निकाल कर पीस लें। इसे १२५ मि. ग्रा. तक जल के साथ लेने पर मूत्रदाह दूर होता है। इस क्षार के ताजा गोभी के पत्ते २० ग्राम स्वरस में मिलाकर पिलाने से मूत्रकृच्छ्रता दूर हो जाती है।

—र. त. सा. द्वि. भाग से।

[५] कृच्छ्रकृपाल चूर्ण—इन्द्र जौ सोंठ, कलमी शोरा, बहरोज का सत्व, शीतलचीनी, हजरत जहूर इन पांचों को समान भाग लेकर रखलें। इसमें से १२ ग्राम की मात्रा में लेकर दूध की लस्सी के साथ प्रातः सायं पिलावें। यह मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, मूत्र जलन आदि में उपयोगी है। अनेक बार का परीक्षित है।

विशेष—(१) शोरा जो उपरोक्त प्रयोग में डाला जाता है इसके लिये शोरा लेकर उससे पांच गुने जल में छोड़ दें और गल जाने पर पानी छान लें और ठंडा होने दें। उसमें नीचे जो शोरा मिलेगा, वही शोरा लें।

(२) बहरोजे को आम की पत्ती, सिन्दूर, गिलोय तीनों के क्वाथ में दोलायन्त्र में पोटली डालकर पकावें। बहरोजा डालकर क्वाथ में गिर जायगा वही व्यवहार में लावें।

(२) गाय का दूध २५० ग्राम, जल २५० ग्राम, मिश्री ५० ग्राम मिलाकर खूब उलटें-पलटें, झाग उठने पर पीलें। यही सर्वोत्तम लस्सी है।

—पं० गिरिजादत्त जी पाठक द्वारा
धन्वन्तरि अनुभूत योगांक से।

[६] आचार्य गुग्गुल—शुद्ध गुग्गुल ५० ग्राम, बबूल का गोंद, कतीरा, गोखरू का चूर्ण, छोटी इलायची के बीज प्रत्येक १०-१० ग्राम, हरीतकी के छिलके का चूर्ण १० ग्राम, सफेद चन्दन का चूरा १० ग्राम, शुद्ध फिटकरी ३ ग्राम, चन्दन का इत्र आवश्यकतानुसार लेकर समस्त औषधियों के चूर्ण में चन्दन का इत्र मिलाकर खरल में मर्दन करें, जब गोली बनाने योग्य हो जाय तब १-१ ग्राम की गोली बना लें। दिन में रोगी को आवश्यकतानुसार २-२ घण्टे के अन्तर से दूध की लस्सी, जल अथवा नारियल के पानी के साथ देना चाहिए। इससे मूत्रकृच्छ्र में लाभ होता है। मूत्र त्याग करते समय की दाह शान्त होती है तथा पेशाब खुलकर आता है। —डा० बी० एस० थापर द्वारा
धन्व० गु० सि० प्र० से।

[७] मूत्रकृच्छ्रहर वटी—माजूफल, छोटी इलायची के दाने, वंशलोचन, असली शीतलचीनी, सत् बिरोजा, कत्था पपड़ी प्रत्येक ६-६ ग्राम लेकर सबको कपड़छान कर रख लें और असली मैसूर के सन्दल में १२५-१२५ मि०ग्रा० की गोली बना लें। यदि गोली न बनती हों तो थोड़ा-सा जल मिलाकर गोली बनावें। जल के साथ दिन में ३ बार १-१ गोली सेवन करावें। यह मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात एवं पूयमेह में लाभदायक योग है। —पं० कालीशंकर वाजपेयी द्वारा
गुप्तसिद्ध प्रयोगांक, भाग ४ से।

[८] मूत्ररोधान्तक वटी—हजरत यहूद भस्म, स्फटिक भस्म, यवक्षार, अपामार्गक्षार, तिलनालक्षार, कण्टकारी क्षार, वरुणा का घनसत्व, गोपाल कर्कटी मूल चूर्ण प्रत्येक ४०-४० ग्राम, कलमीशोरा, नौसादर, कंघी की जड़ का चूर्ण, बेर की मिंगी का चूर्ण, तृणपंचमूल चूर्ण, पाषाणभेद चूर्ण, पुनर्नवा की जड़ का चूर्ण, गोखरू घनसत्व, आंवला घनसत्व, इलायची बीज, सत्व शिलाजीत प्रत्येक २०-२० ग्राम, कान्तलोह भस्म, शृङ्गभस्म, नागभस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, शम्बूक भस्म प्रत्येक १०-१० ग्राम लेकर समस्त द्रव्यों को खरल कर छोटी कटेरी के रस की सात भावना देकर २५०-२५० मि०ग्रा० की गोलियां बना छाया में सुखा लें। ५-१० वर्ष के बच्चों को १ गोली, वयस्क स्त्री-पुरुषों को नित्य २ से ४ गोली ताजे जल से निगलवायें अथवा गोखरू क्वाथ से सेवन करावें। मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में परम उपयोगी है। नियमित सेवन से अश्मरी भी बाहर निकल जाती है। —श्री हर्षुल मिश्र द्वारा
सुधानिधि जटिल रोग चिकित्सांक से।

मूत्रकृच्छ्र नाशक प्रमुख शास्त्रीय योग—

रस—

(१) चन्द्रकला रस (र० र० स०)–२५० मि० ग्रा० दिन में दो बार, हरीतक्यादि क्वाथ + मधु से, पित्तज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२) त्रिनेत्र रस (र० र० सु०)–२५० मि० ग्रा० दिन में २ बार, मधु से, शुक्रनिरोधज में उपयोगी।

(३) मूत्रकृच्छ्रान्तक रस (व० त० सा०)–२५० मिली ग्राम दिन में २ बार, गोक्षुरचूर्ण + मधु से, वात कफज नाशक।

(४) कामदुधा रस (र० यो० सं०)–१२५-२५० मि० ग्रा० दिन में २ बार, सिता + शर्करा, पित्तजन्य में उपयोगी।

भस्म—

(५) मौक्तिक पिष्टी (र० त०)–६० मिलीग्राम दिन में २ बार, मधु + हरीतक्यादि क्वाथ, पित्तज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(६) प्रवाल भस्म (र० त०)–१२५-२५० मिलीग्राम दिन में २ बार, मधु + तण्डुलोदक, कफज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

वटी—

(७) चन्द्रप्रभावटी (शा० सं०)–२ से ४ गोलीं + बार, शीतल मिर्च + गोक्षुरादि क्वाथ, वात-पित्तजन्य नाशक।

(८) सौराज्यादि वटी (सि० भैं० म०)-१ वटी प्रातः, गोदुग्ध, पित्तज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

चूर्ण—

(९) व्योषादि चुर्ण (यो० र०)–३ ग्राम दिन में २-३ बार, गोमूत्र + मधु, कफज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(१०) खर्जूरादि चूर्ण (यो० र०)–३ ग्राम दिन में २-३ बार, मधु, + तण्डुलोदक, शुक्रनिरोधज मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी।

योग—

(११) खसारक योग (सि० भैं० म०)–२५० मि० ग्राम दिन में १-२ बार, शीतल चीनी + जल. सर्वमूत्रकृच्छ्र नाशक।

(१२) एलादि योग (र०र०)–२ ग्राम दिन में १-२ बार, अतिबलामूल क्वाथ, शुक्रनिरोधज नाशक।

(१३) इक्षुरसादि योग (यो० र०)–५ ग्राम दिन में १-२ बार, इक्षुरस, रक्तज में उपयोगी।

(१४) कुटजादि योग (यो० र०)–१० ग्राम दिन में १-२ बार, अजादुग्ध, रक्तज में उपयोगी।

(१५) रसादि योग (र० सा० सं०)–१ ग्राम × २ बार, शर्करा + तक्र, कफज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(१६) दाडिमादि योग (यो० र०)–१० + ५ बार, शर्करा + तक्र, कफज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(१७) नारिकेलादि योग (यो० र०)–१० ग्राम + ५ बार, शर्करा + तक्र, कफज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

गुग्गुल—

(१८) गोक्षुरादि गुग्गुल (शा० सं)– १ से २ गोली + ३, गोदुग्ध, वातज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

क्वाथ—

(१९) त्रिकंटकादि क्वाथ (भै. र.)–४० ग्राम का क्वाथ दिन में ३-४ बार, मधु, वातज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२०) वीरवर्तादि क्वाथ (सु० नं)–२० ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार, २५० मिलीग्राम शिलाजीत से, वातज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२१) अमृतादि क्वाथ (भैं० र०)–२० ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार, २५० मिलीग्राम शिलाजीत से, वातज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२२) यवादि क्वाथ (यो० र०)–२० ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार, २५० मिलीग्राम शिलाजीत से, वातज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२३) हरीतक्यादि क्वाथ (यो० र०)–२० ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार, मधु, पित्तज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२४) शतावर्यादि क्वाथ (यो. र.)–२० ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार, मधु, पित्तज मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(२५) तृणपंचमूल क्वाथ (भै. र.)—दिन में २-३ बार मधु से. पित्तज में उपयोगी।

(२६) दुरालभादि क्वाथ (ग. नि.)—दिन में २-३ बार मधु से, वात पित्तज में उपयोगी।

आसव अरिष्ट—

(२७) उसीरासव (शा. सं)—१५-२० मि. लि. भोजनोत्तर समान जल मिलाकर, पित्तज मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी।

(२८) चन्दनासव (भै. र.)—१५-२० मि. लि. भोजनोत्तर समान जल मिलाकर, पित्तज मूत्रकृच्छ्र में

(२९) देवदार्वाद्यरिष्ट (शा. स.)—१५-२० मि. लि. भोजनोत्तर समान जल मिलाकर, उपदंशजन्य में।

घृत—

(३०) त्रिकण्टकाद्यघृत (भै. र.)—१०-२० ग्राम दिन में २ बार सिता + कवोष्ण दुग्ध, वातज मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी।

(३१) शतावर्यादि घृत (च. द.)—१०-२० ग्राम दिन में २ बार सिता + कवोष्ण दुग्ध, पित्तज में उपयोगी।

अवलेह—

(३२) कूष्माण्डावलेह (भै. र.)—१०-२० ग्राम दिन में २ बार दुग्ध, सर्व मूत्रकृच्छ्र नाशक।

(३३) गोक्षुरादि अवलेह (भै. र.)—१०-२० ग्राम दिन में २ बार दुग्ध, सर्वमूत्रकृच्छ्र नाशक।

पर्पटी—

(३४) शीतल पर्पटी (सि. भै. म.)—२ ग्राम + २ मात्रा भ्रष्ट जीरक चूर्ण + जल, सर्व मूत्रकृच्छ्र नाशक।

क्षार—

(३५) यवक्षार (र. त.)—३-१० ग्राम दिन मे २ बार तिल क्षार + निम्बुक स्वरस, सर्व मूत्रकृच्छ्र नाशक।

लेप—

(३६) श्वष्टादि लेप (यो. र.)—यथेष्ट प्रातः मूत्राशय पर कांजी मे पीस कर लेप करें, मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

(३७) सोरक (र. तं.)—३ ग्राम प्रात., वरपत्र कल्क में पीसकर मूत्राशय पर लेप करें। मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

मूत्रकृच्छ्र नाशक प्रमुख पेटेण्ट आयुर्वेदीय योग

(१) सिस्टोन टेवलेट (हिमालय ड्रग)–२-२ गोली दिन मे २-३ वार जल से, यह अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र के लिये उपयोगी है। अन्य कारणो से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में भी उपयोगी है।

(२) कैलकुरी टेवलेट (चरक)—२-२ गोली दिन में २-३ बार जल से, यह अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र के लिये उपयोगी है। अन्य कारणो से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र मे भी उपयोगी है।

(३) औरीक्लिन टेबलेट (चरक)—१-२ गोली दिन मे ३-४ वार, यह अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र के लिये उपयोगी है। अन्य कारणो से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र मे भी उपयोगी है।

(४) स्टोनसोल (मार्तण्ड)—१-२ गोली दिन में ३-४ बार, यह अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र के लिये उपयोगी है। अन्य कारणों से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र मे भी उपयोगी है।

(५) वंगशिल (अलारसिन)—१-२ गोली दिन मे ३-४ बार, मूत्रकृच्छ्र, दाहयुक्त एवं कष्टयुक्त पुनः-पुनः मूत्रप्रवृति में उपयोगी है। मूत्राशय शोथ जन्य मूत्रावरोध में भी लाभकर हैं।

(६) मूत्रल पाउडर (वैद्यनाथ)—अवस्थानुसार, यह मूत्र खुलासा लाता है। अश्मरीजन्य मलावरोध को दूर कर शूल को शमन करता है।

(७) के. वी. पिल्स [कैल्सीलेक्स डी] (गंम्बर्स)—२-२ गोली तीन बार जल से, अश्मरीजन्य मूत्रावरोध मे उपयोगी है।

(८) फैलक्युरोसिन कैप० (वान)—१-१ कैपसूल दिन मे ३ बार जल से, मूत्रकृच्छ्र तुरन्त नष्ट करता करता हैं।

(९) फैलक्युरोसिन सीरप (वान)—२-२ चम्मच दिन मे २ से ३ वार, मूत्रकृच्छ्र तुरन्त नष्ट करता है।

(१०) उष्णवातघ्न कैप. (गर्ग वनौषधि भंडार)—१-१ कैपसूल दिन में ३ वार जल या चन्दनासव से, पूय जन्य मूत्रकृच्छ्र मे विशेष उपयोगी है।

(११) गोनारि कैप० (ज्वाला आयु०)—१-१ कैपसूल दिन मे ३ बार जल या चन्दनासव से, पूयजन्य मूत्रकृच्छ्र मे विशेष उपयोगी।

(१२) बैनोमिक्चर (झण्डू)—२-४ मि. लि. दिन में ३-४ वार वार, मूत्रावरोध तथा मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी।

(१३) मूत्रकृच्छ्रान्तक (जी.ए. मिश्रा, १-२ मि.-लि. मासपेशी मे लगाये, मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

(१४) अपामार्ग सूचीवेध (बुन्देलखण्ड)—१-२ मि० लि०, मासपेशी मे लगाये, मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

(१५) गोखरू सूचीवेध (बुन्देलखण्ड)—१-२ मि० लि० मांसपेशी मे लगायें, मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

(१६) उसवा सूचीवध (बुन्देलखण्ड)—२-२ मि० लि० मासपेशी में लगायें, मूत्रकृ० नाशक।

(१७) उसवा सूचीवेध (ए० वी० एम०)—१-२ मि०लि० मासपेशी मे लगायें, मूत्रकृ० नाशक।

(१८) कण्टकारी सूचीवेध (बुन्देलखंड)—१-२ मि० लि० मासपेशी में लगाये, मूत्रकृ० नाशक।

(१९) श्वेतचन्दन सूचीवेध (जी० ए० मिश्रा)—१-२ मि०लि मांसपेशी मे लगाये, मूत्रकृ० नाशक।

(२०) पुनर्नवा सूचीवेध (मार्तण्ड)—१-२ मि.लि. मांसपेशी में लगायें, मूत्रकृच्छ्रता नाशक।

मूत्रकृच्छ्रता नाशक प्रमुख एलोपैथिक योग

इञ्जेक्शन—

(१) टेरामाइसीन, कम्बायोटिक, वेन्जाइल पैनिसिलीन इत्यादि एण्टीबायोटिक इञ्जेक्शन, निर्देशित मात्रानुसार लगायें।

(२) लैसिक्स (मूत्र न आने पर अथवा कम आने पर (हैक्स्ट कं०)–२ मि. लि. आवश्यकतानुसार १-२ बार मांस या नस में लगायें।

(३) वैरालगन [दर्द हो तो] (हैक्स्ट कं०)–२-४ मि. लि. दें।

कैपसूल—

(४) कोई भी एण्टीबायोटिक कैपसूल जैसे

टेरामाइसीन (फाइजर)–१-१ कैपसूल ४-४ घण्टे पर देवें।

क्लोरम्फाइसीन (पी. नोल)–१-१ कैपसूल ४-४ घण्टे पर देवें।

इण्टेरोफ्युराण्टीन (डेज)–१-१ कैपसूल ४-४ घण्टे पर देवें।

टेबलेट—

(५) पाइरीडेमिल या पाइरीडेसीड एन. एफ. टी. (ईथनर)–१ गोली दिन में ४ बार देवें।

(६) फ्युराडेण्टीन (एस. के. एफ.)–५ से ८ मि. ग्रा. प्रति कि. ग्रा. वजन के हिसाब से कई खुराकों में बांटकर देवें।

(७) डायुटेरिण्टन (इण्डोफार्मा)–१ गोली नित्य प्रातः देवें।

पेय—

(८) अल्कासीट्रान (ग्लूकोनेट)–१ से २ चम्मच दवा दिन में ३ बार थोड़े से पानी में घोलकर देवें।

(९) साइट्रालका (पार्कडेवीस)–१ से २ चम्मच दवा दिन में ३ बार थोड़े से पानी में घोलकर देवें।

मूत्रकृच्छ्र में पथ्यापथ्य

गोदुग्ध, गेहूं की रोटी, दलिया, खिचड़ी, छिलके युक्त मूंग की दाल, मिश्री, पालक, बथुआ, मेंथी, चौलाई, कद्दू, करेला, परवल, नारङ्गी, अनार, ईख, मधु, मौसम्बी, नीबू, पुनर्नवा, पुराने साठी चावल, शालिधान्य, जौ, चना, मसूर, अरहर, मौठ की दाल, चिरौंजी, खजूरा, सौंफ, आंवला, नारियल का पानी, करेला, सिघाड़ा, कैथ, कमलकन्द, कमल ककड़ी, फालसा, बिल्वपत्र, चिरायता, तरबूज, सत्तू, दाख इत्यादि पथ्य है।

व्यायाम, मार्गगमन, धूप का सेवन, वेगरोध, किसी तेज धक्का लगने वाली सवारी में बैठना, रक्तमोक्षण, मद्य सेवन, लहसुन, कटु अम्ल एवं लवण रस वाले पदार्थ, विदाहकारी अन्य पदार्थ हानिकारक है। अतः इनका त्याग करें।

—संदर्भ ग्रन्थ—

१. चरक संहिता, २. सुश्रुत संहिता, ३. माधव निदान, ४ धन्वन्तरि मासिक पत्रिका के विभिन्न अंक एवं विशेषांक, ५. सुधानिधि पत्रिका के विभिन्न अंक एवं विशेषांक द्वारा इस लेख के लिखने में सहायता ली गई है। अतः लेखक इनके लेखकों, प्रकाशकों एवं सम्पादकों का हृदय से आभारी है।

मलावरोध

डा० जहानसिंह चौहान, डी० एस० सी० ए०, मु० पो० ठठिया (फर्रुखाबाद)

व्याधि परिचय—आयुर्वेद के अनुसार पुरीष वेग का अवरोध करते रहने से मलाशय तथा बड़ी आंत का वायु विकृत अथवा असमर्थ हो जाता है जिससे वह मल को यथावत नहीं फेंकता है।

(सु० उ० ५५ श्लोक ३५-३८)

इस रोग में मलप्रवृत्ति सम्यक नहीं होती है। मल कठिन और कम मात्रा में निकलता है। सामान्य भाषा में इसे कब्जियत या कब्ज कहते हैं। शास्त्रों में इसे मलप्रवृत्ति, बद्धविट्कता, विड्ग्रह, विड्विबद्धता, बर्चोनिरोध आदि शब्दों से इङ्गित किया जाता है। कोष्ठबद्धता भी इसके लिये शब्द उचित प्रतीत होता है। 'सुश्रुत' ने (३०५६-२०) अनाह शब्द का प्रयोग विबंध के लिये किया है। (आमं शकृद् वा निचितंक्रमेण) जब कि चरक ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग से वायु की अप्रवृत्ति को 'अनाह' कहते हैं (सू. १८-३९) मलावरोध के सम्बन्ध में 'अनाह' का शब्द अधिक प्रचलित नहीं हैं। मृदुकोष्ठ, मध्यकोष्ठ एवं क्रूरकोष्ठ शब्द भी मलावरोध अथवा उसके भेदों के लिये प्रचलित है। यथा—

पित्तेन मृदुकोष्ठःस्यात क्रूरो वात कफान्वितः।

इतना सबकुछ होते हुए भी कोष्ठबद्धता का आयुर्वेद में वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता है।

आधुनिक दृष्टि से—मल विसर्जन कर्म या रिफलेक्स (Reflex) २४ या ४८ घण्टों में नियमित रूप से एक बार न हो तो उसे मलावरोध कहा जाता है। इससे शौच साफ नहीं होता है। मल सूखा और कम निकलता है। सभ्यता के साथ साथ कोष्ठबद्धता भी बढ़ती जाती है।

प्राकृत अवस्था में मल का एक विशिष्ट संहनन होता है, वह न अधिक कठिन होता है और न अधिक द्रव रूप में। प्राकृत मल संहत होता है (Well formed Stool)। आहार पाचन की अम्लीभाव की स्थिति में ग्रहणी में प्रायः पूर्ण पाचन हो जाता है और आहार रस शोषित हो जाता है। किट्ट भाग द्रव रूप में पक्वाशय में जाता है। इसके प्रारम्भिक भाग उण्डुक (Appendix) में स्थित मलधरा कला, वात के रूक्ष गुण तथा पित्त के उष्ण गुण के सहयोग से उपदंश (जल) का शोषण करती है। इसके बाद मल संहत होकर आगे मलाशय (Rectum) में जाता है। यदि पित्त, वायु अपना मलधरा कला की विकृत से जलयांश का अधिक शोषण हो जाय तो मल अधिक कठोर हो जाता है और बहुत अल्प मात्रा में कष्ट के साथ निकलता है। यदि किसी कारण से पुरीष का वेगावरोध हो जाय तो मल (Stool) अधिक समय तक रुका रहता है। जिसके परिणाम स्वरूप उसमें से जलीयांश का शोषण होता है और मल अधिक शुष्क तथा कठोर हो जाता है। कई रोगों की अवस्थाओं में मलावरोध लक्षण के रूप में रहता है।

मलावरोध एक ऐसी अवस्था है जिसमें मुक्त आहार का अवशेष (Residu) ४८ घण्टों के समय में भी बाहर नहीं निकलता है। सामान्य स्वस्थ व्यक्ति में मलत्याग की संख्या प्रति व्यक्ति भिन्न-भिन्न होती है। वैसे शास्त्र में चौबीस घण्टों में २ बार मलत्याग के लिये जाते हैं। जबकि कुछ व्यक्ति दूसरे-तीसरे दिन मलत्याग करते है। सामान्य रूप से २४ घण्टों में १५० ग्राम मल आता है।

व्याधि के कारण–'चरक ने वर्चोविधि स्रोतों के दूषित होने मे निम्नलिखित कारण बतलाये हैं–

वेग विधारण, अधिक आहार लेना, अजीर्ण, अध्यशन एवं अग्निमांद्य (विधारणदत्यशनाद जीर्णाध्यशनात्तथा, वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ।

(च. वि. ५-२९)

चरक ने सूत्रस्थान ७वें अध्याय में विवन्ध का कारण वेगधारण बताया है। इसके साथ ही अन्यत्र चरक ने ही सिद्धस्थान ९ वें अध्याय में वेगधारण के साथ-साथ मलावरोध के अन्य कारण भी बताये हैं यथा—

(१) अकाल भोजन।

(२) अकाल अथवा अनिश्चित समय में पुरीष-त्याग एवं–

(३) अकाल विहार।

इन उपरोक्त कारणों से मल शुष्क तथा ग्रथित हो जाता है और अल्प मात्रा में निकल पाता है। शास्त्र में उदावर्त के उत्पादक कारण भी प्रायः मलावरोध के कारणों से मिलते जुलते हैं। उदावर्त के कारणों में कषाय रस, विशिष्ट आहार, वेगधारण, अभोजन तथा अति मैथुन को भी गिना है। यह सभी मलावरोध के भी उत्पादक कारण हैं। इन सभी व्याधिमूलक कारणों से अपान वायु की विकृति एवं परिणामस्वरूप शुष्क मल का त्याग अल्प मात्रा में होता है।

चरक सिद्ध स्थान ११वें अध्याय में ब्राह्मण, राजभृत्य, वेश्या एवं बनिया को मलावरोध रहता है ऐसा स्पष्ट किया है। इसका कारण यह है कि इन व्यक्तियों को अपने कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण, लज्जा या भय वश अथवा मर्यादावश वेग धारण करना पड़ता है जिससे उन्हें सदैव मलावरोध की शिकायत बनी रहती है।

वक्तव्य–चरक ने इस रोग का वर्णन किसी अध्याय में स्वतन्त्र रूप से नहीं किया है। बल्कि विबन्ध शब्द का उपयोग चरक संहिता में कई स्थलों पर देखने को मिलता है। यथा–चरक सूत्र स्थान १४/२९, २७/१६६, १८०, १८५, १८८, २९३, ३००, चरक चिकित्सा स्थान ५/३०,५१,९९, १५१, १७९, २८/७०, ११/२१।

मलावरोध के कारणों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है–

भोजन की भूलें—१. शुष्क आहार अर्थात ऐसा भोजन जिसमें हरी सब्जियां एव तरल पदार्थ न हों, अथवा क्षोभक (Irritant) भोजन हो, ऐसा आहार मलावरोध उत्पन्न करता है।

२. आन्त्र की पुरःसरण (peristalsis) गतियों में विकार–चिन्ता, शोक, मानसिक अवसादन (ईर्ष्या-भय क्रोध परिप्लुतेन-च) वेकार बैठे रहना (शय्यासन सुखेरतिः-च), दुर्बलता, वार्धक्य, मलवेग को धारण करने अथवा रोके रहने (न वेगान् धारयेत् धीमान् जातान् मूत्रपुरीषयोः-च) से मलाशय (Rectum) की संवेदना (Sensation) शक्ति घट जाती है। बृहदन्त्र की दुर्बलता (Atony) एव ज्वरावस्था, अवटु की अल्पक्रियता (हाइपोथाइरोडिज्म), मस्तिष्क अर्बुद आदि व्याधियों से आन्त्र की उपरोक्त गति मन्द पड जाती है। इसी प्रकार से अहिफेन, लोह (Iron), सीसा (Lead) आदि से भी आन्त्र की पुरःसरण क्रिया प्रभावित होकर उसकी गति मन्द पड जाती है। (वाफूफं शोषणंग्राहि श्लेष्मघ्नम्—भा० प०)।

३. पित्त या आन्त्रस्रावों की अल्पता—यकृत् में बाधा आने, अत्यधिक वमन, त्वचा या वृक्कों से अधिक तरल का ह्रास, स्तम्भक पदार्थ आदि भी रोग के उत्पादक कारण हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण से—(१) उच्च प्रकार की रिफाइण्ड (Highly refined) अथवा निम्न फाइबर वाले भोजन तथा द्रव पदार्थों के अधिक सेवन से।

(२) शरीर की अक्षमता—परिश्रम न करने, घर में बेकार बैठे रहने, शय्या पर अधिक समय तक विश्राम करने से।

(३) चिन्ता, भय, शोक आदि।

(४) यकृत् के रोग।

(५) गर्भावस्था।

(६) औषधियाँ—अनस्थीसिया (बेहोश करने वाली औषधियां), एन्टेसिड, आइरन साल्ट्स तथा अफीम आदि।

(७) रात्रि जागरण, तेज काँफी या चाय एवं दूसरी नशीली चीजों का खाना।

(८) मलाशय की प्रेरणा (Reflex) की अवहेलना करने से मलाशय में मल के आ जाने पर भी मल त्याग के लिये न जाना। इससे शनै: शनै: मलाशय में मल के प्रवेश से उत्पन्न होने वाली संवेदना या बेचैनी की प्रतीति उत्तरोत्तर हल्की पड़ जाती है जिस से मलाशय में मल जमा होकर शुष्क हो जाता है।

(१०) विटामिन 'बी' की न्यूनता से आन्त्र की प्रेरक शक्ति मन्द पड़ जाती है जिससे मलबन्ध हो जाता है।

(११) पालिस किये हुये भोजन मलावरोध के सहायक कारण हैं।

(१२) वनस्पति, शाक, फल आदि में सैलूलोज का अंश होता है, अतः उसका सेवन सर्वदा न किया जाय तो भी मलावरोध हो जाता है।

(१३) शरीर में मेदावृद्धि हो जाने पर अथवा पाण्डु रोग होने पर या मधुमेह में अथवा वृद्धावस्था के कारण भी आंतों का निर्बल हो जाना स्वाभाविक है जिससे मलावरोध रहता है। इसे एरोटिक या कोलोनिक कांस्टीपेसन कहते हैं।

(१४) पित्ताशय, एपेन्डिक्स, गुदा-गर्भाशय में शोथ होने से भी बड़ी आंत में स्तम्भ (Spasm) होकर मलावरोध हो जाता है। बवासीर (piles) के मस्सों के सूज जाने तथा प्रोस्टेट ग्रन्थि में शोथ होने पर भी बड़ी आंत में स्तम्भ होकर मलावरोध हो जाता है। आंत में कैंसर होने पर बार-बार जाने का वेग होता है, पर मल-त्याग अपूर्ण रहता है।

(१५) पथरीली चट्टानों या पथरीले मैदानों के जिसमें चूने का पानी रहता है, जल के पीने से आंतों में कैल्शियम कार्बोनेट अधिक मात्रा में पहुँच जाता है जिसके दूषित होने पर भी मलावरोध हो जाता है।

(१६) जहां का जल भारी होता है वहां के लोगों में भी अधिकांश को मलबन्ध की शिकायत रहती है।

(१७) आज के अधिकांश व्यक्ति आदतवश सिगरेट पीने वाले शौचालय में बैठे-बैठे सिगरेट सुलगाया करते हैं तब कहीं जाकर थोड़ा सा मल त्याग होता है।

१. यह रोग प्रौढों तथा वृद्धों को अधिक परेशान करता है। शहरों में जहां जीवन में चिन्ता ने और भोजन में कृत्रिमता ने अधिक प्रवेश कर लिया है, यह रोग ग्रामों की अपेक्षा अधिक होता है। पुरुषों में मलावरोध उतना नहीं होता है जितना कि महिलाओं में।

[१] शाकाहारी प्रायः इस व्याधि से मुक्त रहते हैं, और मांसाहारी प्रायः इस रोग से जकड़े रहते हैं। मनुष्य समाज में सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मल की हाजत को रोकने की आदत बढ़ती जाती है। परिणाम यह होता है कि मलावरोध का रोग बढ़ता जाता है।

मलावरोध रोग की सम्प्राप्ति—विभिन्न कारणों से प्रकुपित अपानवायु पुरीषवह स्रोतस में मल को शुष्क कर देता है जिससे मलावरोध (विबन्ध) उत्पन्न हो जाता है। (च. चि.-२८)।

★ दोष—अपानवायु। ★ अधिष्ठान→पक्वाशय।
★ दूष्य—पुरीष। ★ स्रोतोदुष्टि लक्षण—संग।
★ स्रोतस—पुरीषवह ☆ ——(मलावरोध)।

पक्वाशय की लम्बाई ५ फीट होती है। अब द्रवक्ष्ट्रि उण्डुक (एपेण्डिक्स) में प्रवेश होता है। अब उसमें ८० % पानी की उपस्थिति रहती है। द्रवकिट्ट में प्रायः घन से. मी. जल होता है। स्थूल आन्त्र में ४०० घन से. मी. पानी शोषित हो जाता है। शेष १०० घन से. मी. पानी-मल के साथ रह जाता है। यदि इससे कम जल में हो तो मल शुष्क हो जाता है और मलावरोध उत्पन्न हो जाता है।

रोग लक्षण—आयुर्वेद में मलावरोध के लक्षण निम्न प्रकार से बताये गये—

(१) शिरः शूल।

(२) मल (पुरीष) की प्रवृत्ति भी होती है अथवा अति अल्प स्वरूप की होती है।

(३) कष्टपूर्वक अल्प मल प्रवृत्ति।

(४) शुष्क पुरीष प्रवृत्ति।

(५) पक्वाशय में शूल की अनुभूति।

(६) अविपाक।

(७) गुद वलि में शूल।

(८) पृष्ठ तथा पार्श्वशूल।

चरक ने मल [Faeces] के आंत्र में रुके रहने से उत्पन्न लक्षणों को 'न वेगधारणीय' नामक अध्याय में निम्न प्रकार दर्शाया है–

'पक्वाशयशिरः शूल वातवर्चोऽप्रवर्तनम्
'पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषेस्यात् विधारिते'
(सू. ७-८)।

अर्थात् मलावरोध (कब्ज) से पक्वाशय तथा सिर में पीड़ा होती है। जाघ की पिंडिलियों में दर्द होता है। यह दर्द ऐठन के समान होता है। साथ ही आध्मान भी रहता है।

इसके अतिरिक्त अग्निमान्द्य, रक्तन्यूनता, अनिद्रा, भारीपन, अवसादन (Depression), जिह्वा रोयेदार एवं उसका मलावृत्त होना, त्वचा पर विवर्णात्मक धब्बे चकत्ते (शीतपित्त) हो जाते हैं। जिन रोगियों में आदतन (Habitual) कब्ज रहता है उन्हे अर्श के लक्षण मिलते हैं। स्त्रियों में मलावरोध होने पर उनमें श्रोणिप्रदेश के रोग बढ़ सकते है। टागो का शोफ, गृध्रसी और अधः शाखाओं का सुन्नपन होना भी सम्भव है।

शुष्क मल के अवरोध से मलाशय फैल जाता है जिससे रोगी को मल त्याग की इच्छा समाप्त हो जाती है।

आधुनिक दृष्टिकोण से– १. इस रोग में रोगी को शौच साफ नही आता है। मल सूखा और कम मात्रा में निकलता है।

२. रोगी की भूख मारी जाती है, पेट भारी रहता है साथ ही पेट में मीटे-मीटे दर्द की अनुभूति होती है।

३. रोगी को शरीर तथा सिर में भार मालूम पड़ता है। कमर में भी दर्द मिलता है।

४. जीभ मलावृत्त रहती है। मुह का जायका खराब हो जाता है। कभी-कभी मुह से दुर्गन्ध भी आने लगती है।

५. आलस्य, सुस्ती, अनिन्द्रा तथा ज्वर आदि लक्षण भी मिलते है।

६. बहुत दिनों तक कब्ज की शिकायत करने से रोगी को बवासीर तथा गृध्रसी आदि रोग भी हो जाया करते हैं।

★ पुराने विचार धारा के लोगों का विचार है कि–

(१) मलावरोध से मस्तिष्क तथा नाड़ी मण्डल में अवसाद रहता है। मानसिक तथा शारीरिक शक्ति कम हो जाती है। अर्थात उनमें स्वाभाविक स्फूर्ति नही रहती है।

(२) मलावरोध का रक्त पर प्रभाव होने पर रक्तभार (Blood Pressure) बढ़ जाता है। पांडुता हो जाती है जिससे शरीर का रग फीका पड़ जाता है।

(३) आंत में गैस बनने से रोगी की नीद बीच में ही खुल जाती है।

(४) जननेन्द्रिय सम्बन्धी अवयवो पर गैस का दबाव पड़ने से स्वप्नदोष हो जाता है।

★ इसके विपरीत इन लक्षणों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। वस्तुतः इनमें से बहुत से विचार गलत हैं। सत्य तो यह है कि विरेचन गुण वाली औषधियों का नित्यप्रति प्रयोग करने से बड़ी आत मे मल तरल हो जाने से उनमे से बाह्य इन्टोक्सीकेशन का भय अधिक रहता है। वैज्ञानिको का विचार है कि मलावरोध के उपर्युक्त अवसाद आदि लक्षण मलाशय के अन्दर दबाव (डिस्टेन्शन) के बढ जाने मे होते हैं, टोक्सीमिया से नही।

मलावरोध के भेद—

★ बृहदन्त्रीय (Colonic) कोष्ठबद्धता।

★ उद्वेष्ट (Spastic) कोष्ठबद्धता।

★ सकष्ट मलत्याग (Dyschezia)।

[१] बृहदन्त्रीय (Colonic) कोष्ठबद्धता–जब बृहदन्त्र में प्रणोदन (Propulsve) गतियां अपर्याप्त होती है तब मल अधिक समय आंत्र में ही टिका रहता है।

[२] बृहदन्त्र या उसके किसी भाग मे उद्वेष्ट (Spasm) होने पर भी अन्त्रस्थ पदार्थ आगे नही बढ़ पाते हैं।

[४] सकष्ट मल त्याग (Dyschezia)—मलारोध के एक चौथाई ऐसे रोगी होते हैं जिनमें मल अवग्रह (Siqmoid) बृहदन्त्र या मलाशय में टिका रहता है। वहां मल गांठ--सुद्दे बनकर फंसा रहता है।

यथोक्तम् —पुरीषं ग्रथितं रूक्षम् (च.सु. १३-५७)

★ सकष्ट मल त्याग सर्वाधिक पायी जाने वाली कोष्ठबद्धता है। ऐसे रोगियों में प्रायः यथा समय मलत्याग करने की आदत नही होती है।

रोग की परीक्षा—

★ शुष्कमल के अवरोध से मलाशय फैला हुआ मिलता है।

★ अवग्रह (Siqmoid) बृहदन्त्र पर स्पर्श द्वारा शुष्क पुरीष को टटोला जा सकता है।

★ क्ष किरण (X-Ray) द्वारा इस अवस्था के कारणों को जाना जा सकता है।

मलावरोध की सामान्य चिकित्सा—आयुर्वेद का आदेश है कि मलावरोध होने ही नही देना चाहिये। अतएव तरल द्रव्यो का यथेष्ट मात्रा मे सेवन, भोजन में हरी एव पत्तो वाली सब्जियो का होना तथा पके हुये फल जैसे-अमरूद, आम, पपीता का प्रतिदिन प्रयोग परम उपयोगी है। कोष्ठबद्धता के रोगी को पके अमरूद तथा उबली देशी गाजर का सेवन सर्वोत्तम रहता है। भोजन में दाल की अपेक्षा सब्जी, पालक, बथुआ आदि शाकों का विशेष रूप से सेवन करना चाहिये।

कोष्ठबद्धता अर्थात् मलावरोध के रोगी को ८-१० ग्लास द्रव पदार्थ (Fluids) नित्य लेना चाहिये। रोगी को नियमित रूप से दोनों समय मल त्याग के लिये जाना चाहिये। अथवा एक प्याला चाय या दूध लेकर मल त्याग के लिये जाया जाय। मल त्याग के निश्चित समय को कभी नही टालना चाहिये। यदि निश्चित् समय पर मल त्याग न हो तो ग्लिसरीन की बत्ती (ग्लिसरीन सपोजीटरी) १-२ लेकर ८-१० मिनट बाद पुनः जाना चाहिये अथवा ४ ड्राम ग्लिसरीन को बराबर जल मे मिलाकर ग्लिसरीन सिरिन्ज से उसे रोगी के गुदा मे प्रविष्ट कर १० मिनट बाद मल त्याग करना चाहिये। उक्त ग्लिसरीन आदि को न ले कर तैलादि का प्रयोग.सन करना उपयुक्त रहता है। इससे पेल्विक कोलन में हरकत होकर मल त्याग की संवेदना होती है। आंतों को नरम रखने के लिये घृत आदि स्नेहन द्रव्य भी लाभकारी होते हैं (सर्पिस्तैल वसामज्जा सर्वस्नेहोत्तमामता। एष्वश्चोत्तमं सर्पिः—च. सू. १३)। थोड़े समय के लिये लिक्विड पैराफिन का प्रयोग किया जा सकता है। मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों के लिये दुग्ध, इक्षुरस, त्रिफला, मुनक्का, उष्ण जल आदि से ही विरेचन होने लगता है। त्रिवृत्त सुख विरेचनीय द्रव्यों में श्रेष्ठ माना है —च०। सनाय का उपयोग भी निरापद है। विशेष अवस्थाओं मे निरूहण बस्तियों का प्रयोग किया जाता है।

(१) मलावरोध के रोगी को कम चिकनाई वाले आहार जैसे—गाय का दूध, पनीर, सूखा फुलका लेना चाहिये। चोकर मिले आटे की रोटी विशेष उपयोगी रहती है। आंतों में खुश्की न हो, इसके लिये रोगी को आहार के अतिरिक्त ३-४ लीटर जल प्रतिदिन लेना चाहिये। नियमित रूप से प्रातःकाल पेट तथा पेरीनियम प्रदेश की मांसपेशियों को हरकत देने वाली कसरत करनी चाहिये।

(२) रोग की चिकित्सा में औषधियों से कुछ समय के लिये ही सहायता लेनी चाहिये, औषधियों पर निर्भर नही हो जाना चाहिये। क्योंकि कुछ समय के बाद वही औषधि निष्फल हो जाती है। औषधियों में जो आंत का स्नेहन (लुब्रीकेशन) करती है मलावरोध के लिये विशेष उपयोगी रहती है।

(३) कुछ रोगियों का कहना होता है कि उनका मेदा बहुत सख्त है इसीलिये उन्हें मल बहुत सख्त आता है, उन्हें रात में १ बड़ा ग्लास गर्म दूध में ५०-६० ग्राम देशी गुड़ मिलाकर पी लेने से चमत्कारिक प्रभाव दिखायी देता है। यह लिक्विड पैराफीन जैसा काम करता है।

सामान्य चिकित्सा एक दृष्टि में—

आयुर्वेदिक—

(१) अभ्यंग तथा स्वेदन।

(२) स्नेहन, विरेचन एवं अनुवासन।

(३) वर्ति प्रयोग। बच्चों को साबुन की वर्ति लगाकर मल त्याग कराना,

(७) सनाय, सौंफ, हरीतकी, कालानमक समान मात्रा में लेकर पीस लें। गर्म पानी से नित्य सेवन करने से मलावरोध दूर होता है।

(८) मधुयष्ट्यादि चूर्ण १-१।। ग्राम की मात्रा में रात को लेने से सुबह दस्त साफ आता है।

(९) त्रिफला समभाग पीसकर उसका चौथाई हिस्सा काला नमक मिलाकर ६ ग्राम नित्य प्रातः सेवन करें। कुछ ही दिनों में मलावरोध दूर हो जाता है।

(१०) जमालगोटे का तेल हाथ या पांव के नाखूनों में लगा देने से दस्त आने लगते हैं और धो देने पर बन्द हो जाते हैं। दस्त आने का यह सबसे अच्छा उपाय है।

(११) अमलतास, नागरमोथा, कुटकी तथा हरीतकी—प्रत्येक २-२ ग्राम पानी मे काढ़ा बनावें और उसमें शहद मिलाकर पियें। यह भी मलावरोध को दूर करता है।

(१२) हरीतकी का वक्कल (छिलका), सोंठ, विधारा १४-१४ ग्राम, वीख, जमीकन्द ८०-८०ग्राम, पुराना गुड़ ४० ग्राम—सबको कूट पीस झरबेरी के बराबर गोली बनालें। १ गोली नित्य प्रातः गर्म पानी के साथ सेवन करें। इससे कुछ ही दिनों में स्थायी मलावरोध दूर हो जाता है।

(१३) शिशु के मलावरोध में गुलकन्द ६ ग्राम को ३० मि.ली. जल में घोल कर १-१ चम्मच २-२ घण्टे बाद पिलाया जाये तो मल साफ आता है।

प्लीहा और यकृत रोग में मलावरोध होने पर—

★ प्लीहा शार्दूल रस—यकृत और प्लीहा के नीचे बढ़ जाने से मलावरोध रहने पर यह औषधि प्रातः दी जाती है। मात्रा–१२० मि. ग्राम, पीपल चूर्ण और मधु के साथ।

★ प्लीहारि रस—प्लीहा यकृत बढ़ जाये और मलावरोध रहे तो इस औषधि को १२० मि. ग्रा. की मात्रा में अर्द्रक रस + मधु से दें।

★ यकृतप्लीहारि लौह—यकृत और प्लीहा बढ़ जाने जाने पर मलावरोध रहने पर एवं उदर रोग में कोष्ठ में कठिनाई रहने से इस औषधि को २४० मि. ग्रा. की मात्रा में जल या अर्द्रक रस के साथ दें।

अम्लपित्त में मलावरोध की चिकित्सा—

★ हरीतकी खण्ड—अम्लपित्त में मलावरोध रहने पर एवं उसके साथ में प्रबल शूल, वमन, हाथ पैर में दाह आदि उपद्रव होने पर यह औषधि प्रति दिन प्रातः दी जाती है। इसे उष्ण दुग्ध या उष्ण के साथ देना चाहिये।

★ अगस्त्य चूर्ण—अम्लपित्त रोग मे मलावरोध एवं साथ मे वमन, हाथ पैर में जलन, प्रबल वेदना, और शिर चकराने आदि में यह औषधि विरेचन के लिये दी जाती है। मात्रा—अवस्था विशेष में प्रतिदिन या २-३ दिन के अन्तर से जल या नारियल के पानी के साथ देना चाहिये।

अर्श रोग में मलावरोध की चिकित्सा—

★ नाराच चूर्ण—वातिक एवं वातश्लैष्मिक अर्श रोह मे रोगी को मलावरोध एवं उदर मे वायु हो तो यह औषधि रोगी को देनी चाहिये। यदि रोग मे मल अधिक आठन हो तो यह औषधि देनी चाहिये। इसे भोजन से पूर्व मधु के साथ दिया जाता है।

★ हरीतकी खण्ड—वातज तथा पित्तज अर्श में मलावरोध तथा मलकठोरता मे यह औषधि प्रातः काल उष्ण जल से देनी चाहिये।

★ अगस्त्य चूर्ण—वातिक या वात पैत्तिक अर्श रोग में मलावरोध और मल की कठिनता दीखने पर यह औषधि जल के साथ देनी चाहिये।

● कुसुमार मोदक (योग चिकित्सा)—वात कफ के प्रयोग से अर्श रोग में मलावरोध होने पर, गांठदार मल आ रहा हो तब इस औषधि की १ गोली प्रातः काल उष्ण जल से देना चाहिये।

(१) हर्बोलेक्स टे० (हिमालय ड्रग्स कम्पनी)—१-२ गोली रात को सोते समय। स्ट्रांग टे० १-२ गोली। बालक को आयु के अनुसार।

(२) रेगुलेक्स टे० साधारण (चरक फार्मास्युटिकल्स)—१-२ गोली रात को सोते समय जल के साथ। बच्चों तथा सुकुमार व्यक्तियों में विशेष लाभकारी।

(३) रेगुलेक्स स्ट्रांग (चरक फार्मास्युटिकल्स)—पिल रात में सोते समय जल के साथ। यह सामान्य मलावरोध में विशेष लाभकारी है। गर्भवती को न दें।

(४) इथीलिवर फोर्ट (मेडिकल इथिक्स)—२ गोली दिन में ३ बार। सीरप तथा ड्राप्स भी उपलब्ध।

(५) अभयासन (झण्डू फार्मास्युटिकल्स)—४-८ गोली दिन में २ बार गर्म जल या दूध के साथ दें।

(६) कोष्ठवद्धारिं वटी (राजवैद्य शीतलप्रसाद एण्ड सन्स)—२ गोली रात सोते समय दें। नये पुराने दोनों मलावरोध में उपयोगी है।

(७) सरलभेदी वटिका (धन्वन्तरि कार्या०)–१-२ गोली गुनगुने जल के साथ रात को सोते समय दें।

(८) हैपीलेक्स (मेहता रसायनशाला)—२ गो० रात सोते समय गर्म जल से दें।

(९) जुलाविन (डावर प्रा० लि०)—२ गोली रात सोते समय दें। इससे आदत नहीं पड़ती है।

(१०) वाइलेरिब (भारतीय महौषधि संस्थान)—२-४ गोली दिन में ३-४ बार दें।

(११) रैस्टोलेक्स (हर्बल लेबोरेटरीज)—१-२ गोली रात सोते समय दें।

(१२) लैक्साविल [कोटेड] (देवेन्द्र आयुर्वेद आश्रम)—१-२ गोली रात को सोते समय गर्म दूध या गर्म जल से दें।

(१४) टफरिन [कोटेड] (देवेन्द्र आयु० आश्रम)-१-२ गोली दिन में २ बार जल से दें।

(१४) डी-लेक्स [कोटेड] (आर्य औषधि फार्मास्युटिकल वर्क्स)—२-२ टिकिया रात सोते समय। यह एक सर्वोत्तम सुरक्षित विरेचक है। गर्भावस्था में निषेध है।

(१५) हर्बोकार्मिन (आर्य औषधि फार्मास्युटिकल वर्क्स)—२-२ चम्मच प्रातः-सायं भोजनोपरान्त। बच्चों को १-१ चम्मच। पुरानी कब्ज में विशेष उपयोगी है।

(१६) लिवोलेक्स (यूनेक्सो)—१ टि० दिन में ३ बार दूध या जल से दें।

(१७) वायोलेक्स [कोटेड] (यूनेक्सो)—१ टि० सोते समय जल से दें। बच्चों एवं गर्भवती स्त्रियों के लिये वर्जित है। यह प्रायिक कोष्ठबद्धता (Habitual Constipation) में उपयोगी है।

(१८) विबन्धहारी कैपसूल (ज्वाला आयुर्वेद भवन)—१-१ कैप० दूध या जल के साथ सोते समय दें।

(१९) अग्नि संदीपन (जी० ए० मिश्रा आयुर्वेदिक फार्मेसी)—१-२ कैपसूल दिन में २ बार दें।

(२०) कार्मीनोल-जी (गोवा फार्मास्युटिकल्स)-१-२ कैपसूल भोजन से पहले या बाद में जल से दें।

(२१) पर्गोलेक्स (गोवा फार्मास्युटिकल्स)—१-२ कैपसूल सोते समय जल या दूध से दें।

(२२) वैद्यनाथ कब्जहर (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन) ५-१० ग्राम, गुनगुने पानी के साथ सोते समय दें।

मलावरोध नाशक पेटेण्ट तरल औषधियां—लिवोमिन ड्राप, लिवोमिन सीरप, पेडीलेक्स, इथीलिवर फोर्ट, गैसनोल, विरेचनी (युवा, बाल, स्त्री), लिवरोल, आरग्वध, लि० एक्सट्रेक्ट, द्राक्षोजाइम, वाइलेरिन, शिवा ओरेन्ज, कार्मीजाल, शिवा लिवा सीरप (जीर्ण मलावरोध) गुडमैन्स गैसटोन कम्पाउड, लिवस्टोन, पाचनामृत।

पेटेण्ट चूर्ण—मन्दाग्नि चूर्ण, मारकन्दयादि चूर्ण, त्रिफलावलेह।

आयुर्वेदिक सूचीवेध—अदरक, अग्निसंदीपन, अजवाइन, उदरोल, एरण्ड, सनाय, चोवचीनी, जिमीकन्द, जरियानी, तापीकर, तालपत्र, नीबू आदि आयुर्वेदिक सूचीवेध मलावरोध नाशक है।

नोट—विस्तृत जानकारी के लिये लेखक की 'आयुर्वेद की पेटेण्ट औषधियां' नामक पुस्तक देखें।

मलावरोध की आधुनिक चिकित्सा—जनरल प्रेक्टिस में चिकित्सक के पास मलावरोध के अनेक रोगी आते हैं। मलावरोध की अनेक स्थितियां हो सकती हैं, अतः चिकित्सा स्थितियों के ही अनुरूप करनी चाहिये। इस रोग की निम्न स्थितियां होती हैं—

(१) मल का नियमित रूप से प्रतिदिन न होना अथवा अल्प मात्रा में होना।

(२) मल का सख्त होना।

(३) कठोर एवं बड़े मलपिण्ड (Faecal Mass) कारण मलावरोध।

(४) अस्थायी कोष्ठबद्धता।

१. मल का कम मात्रा में नित्य होना—ईसबगोल की भूसी १०-१५ ग्राम की मात्रा में सोने से पूर्व जल या दूध में मिलाकर लें।

अथवा—आइसोजिल (Isogel) नि० ग्लैक्सो।

मात्रा—१-२ बड़ी चम्मच, दिन में २ बार, २५० मि. ली. दूध या जल के साथ।

नोट—'आइसोजेल' ईसबगोल का ही एक उत्तम योग है।

अथवा—मेटामूसिल (वेजीटेबिल म्यूसीलेज)।

मात्रा—१-२ चम्मच, १ गिलास जल के साथ, दिन में १-२ बार।

अथवा—कारबिण्डोन (Carbindon) नि० इण्डो-फार्म।

मात्रा—१-२ गोली, रात सोते समय गर्म जल से।

नोट—यह सनाय + फिनोफ्थलीन का योग है।

२. मल का सख्त होना—मलावरोध की इस अवस्था में निम्न औषधि का प्रयोग करना चाहिये—

क्रीमाफिन ह्वाइट (Cremaffin white)।

मात्रा—वयस्कों तथा १२ साल से अधिक आयु के बालकों को ½-१ बड़ी चम्मच। ५-१० साल के बालकों को १-२ चम्मच। १-५ वर्ष के बच्चों को ½-१ चाय चम्मच, रात सोने से पूर्व दूध के साथ दें।

अथवा—क्रीमाफिन पिंक (Cremaffin Pink)।

मात्रा—वयस्कों तथा १२ साल से अधिक आयु के बालकों को ½-१ से १ बड़ी चम्मच। ५-१२ साल तक १-२ चम्मच। २-५ साल तक ½-१ चम्मच। सब को रात सोने से पूर्व दूध के साथ दें।

नोट—पिंक (गुलाबी) क्रीमाफिन अपेक्षाकृत अधिक तीव्र होती है।

निषेध—२ साल से कम उम्र के बालकों में नहीं।

अथवा—टेबलेट बीसा कोडाइल।

व्या० नाम—टेबलेट डल्कोलेक्स (Dulcolex)।

मात्रा—२ गोली, रात को सोते समय दें।

अथवा—परसेनिड विद डी० ओ० एस०।

मात्रा—२ गोली, रात सोने से पूर्व गर्म दूध के साथ दें।

अथवा—मिल्क आफ मैगनेसिया १० मि. ली. + लिक्विड पैराफिन १५ मि. ली. + बबूल का गोंद आवश्यकतानुसार + एनीसी वाटर ३० मि. ली. ऐसी १ मात्रा × सोते समय दें। यह मल को चिकना कर बाहर निकालता है। मिल्क आफ मैगनेसिया की ५-६ गोली रात को सोते समय ली जा सकती हैं।

३. कठोर एवं बड़े मलपिण्ड के कारण उत्पन्न मलावरोध में—वृद्धों एवं बहुत दिनों से किसी दीर्घकालिक रोग से पीडित व्यक्ति में जिन्हें शैय्या पर ही अधिकांश समय तक लेटना पड सकता है, उनका मल अत्यन्त कठोर तथा इतना मोटा हो जाता है कि उसका गुदा से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में मुखमार्ग से रेचक औषधियों का प्रयोग विशेष लाभकारी नहीं होता। इस स्थिति में मलाशय का उद्दीपन तत्काल लाभकारी होता है। इसके लिये ग्लिसरीन सपोजीटरी अथवा एनीमा का उपयोग करना चाहिये।

ग्लिसरीन सपोजीटरी २ ग्राम या ४ ग्राम की आती हैं।

मात्रा—१ या दो सपोजीटरी आयु के अनुसार गुदामार्ग से मलाशय में प्रविष्ट कर देने के १० मिनट बाद मलत्याग के लिये जाना चाहिये। अथवा साबुन + जल का एनीमा दें : अथवा प्रैक्टोक्लिस एनीमा दें।

४. अस्थायी मलावरोध—जब हल्के कार्य की आवश्यकता होती है विशेषकर ज्वर आदि में—

कैस्टर आइल (Castor Oil)।

मात्रा—५-१५ मि. ली., आयु के अनुसार गर्म में रात सोते समय। बालक को १ चाय चम्मच। शिशु को १/८-१/२ चाय चम्मच दें।

नोट—इसका प्रयोग मासिकधर्म से युक्त स्त्री तथा बवासीर से पीडित रोगी में नहीं करना चाहिये। ★★